कृष्णदास संस्कृत सीरीज ११७

# नवीनवैदिकसञ्चयनम्

## (न्यू वैदिक सेलेक्शन)

( सान्वय, पदपाठ, सायणभाष्य, हिन्दी अनुवाद, सविमर्श सहित )

डॉ. जमुना पाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१९७
*****

# नवीनवैदिकसञ्चयनम्

## (न्यू वैदिक सेलेक्शन)

( सान्वय, पदपाठ, सायणभाष्य, हिन्दी अनुवाद, सविमर्श व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित )

( प्रथमः भागः )

सम्पादक एवं व्याख्याकार
**डॉ० जमुना पाठक**
एम. ए., पी-एच्. डी. (संस्कृत)
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
एवं
**डॉ० उमेश प्रसाद सिंह**
एम. ए., पी-एच्. डी. (संस्कृत)
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

**चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी**

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०६७, सन् २०१०
मूल्य : रु. २६०.००

ISBN : 978-81-218-0182-6 (द्वितीय भाग)
978-81-218-0183-4 (सेट)


पुस्तक-प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बाक्स नं. ११९८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
निकट गोलघर (मैदागिन)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (०५४२)२३३५०२०

*अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्*
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
(गोपाल मन्दिर के उत्तरी फाटक पर)
पोस्ट बाक्स नं. १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (०५४२)२३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२ एवं २३३५०२० (आवास)
Fax : 0542-2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
Web-site : www.chowkhambaseries.com

# प्राक्कथन

वेद विश्वसाहित्य के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थरत्न हैं। मानव संस्कृति के प्राचीनतम रूप तथा विकास को समझने के लिए, वेदों का परिशीलन अपरिहार्य है। मानवजाति के इतिहास के ज्ञान के लिए, भारतीय संस्कृति को समझने के लिए और भाषा-वैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक माना जाता है। वेद भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य निधि हैं जो आज भी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बीच अपने ज्ञान-गौरव की अक्षुण्णता का निर्बाध रूप से उद्घोष कर रहें है। वेदों के ही आधार पर भारतीय दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक ज्ञान के भव्य प्रासाद को प्रतिभा सम्पन्न वाक्-शिल्पियों ने खड़ा किया है। अत एव वेदों का अनुशीलन तथा उनके मौलिक सिद्धान्तों और तथ्यों का उद्घाटन ज्ञान के संवर्धन एवं उन्नयन के लिए विशेष उपयोगी है।

वेदों में पारलौकिक तथा इहलौकिक विषयों का उद्घाटन हुआ है। इस प्रकार वेद सम्पूर्ण ज्ञानराशि के कोष हैं। पारलौकिक ज्ञान के साथ-साथ इहलौकिक विषयों का भी समावेश होने से वेद इहलौकिक समस्याओं के समाधान के लिए भी उपयोगी हैं, वह समस्या सामाजिक हो, राजनैतिक हो, ऐतिहासिक हो, वैज्ञानिक हो अथवा अन्य किसी प्रकार की हो। आज के परिवेश में भीं उठने वाली समस्त समस्याओं का समाधान वेदों द्वारा किया जा सकता है। अत: वेदों के ज्ञान की जितनी आवश्यकता वैदिक-काल में थी, उतनी ही नहीं, प्रत्युत उससे भी अधिक आवश्यकता आज है। वेदों के ज्ञान और उसके अनुसार आचरण करने से मानव-जाति ही क्या, समस्त प्रकृति के चराचर जगत् के सम्मुख कोई समस्या ही नहीं रह जाएगी।

वेद-ज्ञान की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर ही आज भी प्राय: सभी भारत के विश्वविद्यालयों की स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में वेदों का अध्ययनाध्यापन हो रहा है। नवीनवैदिकसञ्चयनम् के इस द्वितीय भाग में स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले वैदिकमन्त्रों का सङ्कलन किया गया है। इस सङ्कलन में मन्त्र, पदपाठ, ऋग्वेद और अथर्ववेद के मन्त्रों पर सायणभाष्य, अन्वय, पदार्थ, अनुवाद तथा व्याकरणात्मक टिप्पणी दी गयी है जिससे अध्यापक और अध्येक्षा दोनों लाभान्वित हो सकें। विद्यार्थियों के लिए उपयोगी भूमिका में वैदिक साहित्य का सामान्य परिचय तथा सङ्कलित मन्त्र के देवताओं का परिचय दिया गया है। इस संस्करण से वैदिक अध्येताओं का अल्पमात्र भी लाभ हुआ तो किया गया परिश्रम सार्थक हो जाएगा।

इस ग्रन्थ की पूर्णता में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के कर्मठ सञ्चालक टोडर भइया विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस सङ्कलन को लिखने के लिए प्रोत्साहित किया और प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय अपने कन्धे से वहन किया।

स्वरयुक्त वैदिक मन्त्रों की अक्षरसज्जा अत्यन्त दुरुह कार्य है। इस दुरुह कार्य को पूर्ण संलग्नता और परिश्रमपूर्वक सम्पादित करने का श्रेय वेङ्कटेश कम्प्यूटर कॉम्प्लेक्स, जानकीबाग कालोनी, लंका, वाराणसी, के निदेशक श्री केशव किशोर कश्यप जी एवं उनके कर्मचारीगणों को जाता है, एतदर्थ बधाई व धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री सुशील कुमार पाठक और श्री सुधीर कुमार पाठक ने प्रूफ संशोधन में परिश्रम-पूर्वक विशेष सहयोग प्रदान किया है, अत एव ये दोनों भी आशीर्वाद के पात्र हैं। अन्त में उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिनका इस सङ्कलन के लेखन और प्रकाशन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है।

अन्त में सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे इस सङ्कलन के विषय में अपने सत्परामर्श द्वारा हमें लाभान्वित करने का कष्ट करें जिससे अगले संस्करण को और अधिक सजाया जा सके।

गुरु पूर्णिमा, २००५
काशी

—व्याख्याकार

# भूमिकास्थविषयानुक्रमणी

# भूमिका

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहा जाता है। 'मननात् मन्त्राः' के अनुसार जिनके द्वारा यज्ञ-यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है तथा जिनमें उल्लिखित देवताओं की स्तुति का विधान किया जाता है, उन्हें मन्त्र नाम से अभिहित किया जाता है। मन्त्र का सङ्कलन संहिताओं में किया गया है। ब्राह्मण से ग्रन्थविशेष अभिप्रेत है। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न ब्रह्मन् शब्द का अर्थ है– वर्धन, विस्तार या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थ सामान्य रूप से ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण के तीन भाग है– ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इस प्रकार वेद के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् समाहित होते हैं। वेदाङ्ग वेद के उपकारक हैं। अतः वैदिक वाङ्मय में उनका भी समाहार किया जाता है।

विद् ज्ञाने धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न वेद शब्द का अर्थ है– ज्ञान। किन्तु सभी ज्ञान की वेद संज्ञा नहीं है। सायण के अनुसर 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिक-मुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है, वह वेद है। आचार्य विष्णुमित्र के अनुसार 'विद्यते ज्ञायते लभ्यते धर्मादिपुरुषार्थ इति वेद' अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान वेद कहलाता है। यद्यपि वेद ज्ञानार्थक है किन्तु उसका अभिधान संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के लिए किया गया है तदुपकारक होने के कारण वेदाङ्ग भी वैदिक वाङ्मय में समाहित हैं।

**चार वेद**— मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है। पहले वेद एक ही था। यज्ञ के अनुष्ठान को दृष्टि में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए वेदव्यास ने वेद का चतुर्धा विभाजन किया। ऋत्विक् होता के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन ऋग्वेदसंहिता में, अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन यजुर्वेद संहिता में, उद्गाता ऋत्विक् के लिए सामवेद संहिता में तथा ब्रह्मा ऋत्विक् के लिए उपयोगी मन्त्रों का सङ्कलन अथर्ववेद संहिता में किया और इनको क्रमशः पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु और जैमिनि को पढ़ाया।

**चार ऋत्विक्**— वस्तुतः यज्ञ के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रहमा। (१) **हौत्रकर्म** का सम्पादन होता नामक ऋत्विक् करता है जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करके उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है जिसका

पारिभाषिक नाम है– शस्त्र। (२) **अध्वर्यु** यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विक् होता है। उसी के विशिष्ट कर्म के लिए यजुर्वेद की संहिता सङ्कलित की गयी। (३) **उद्गाता** तत्तत् देवताओं की स्तुति में सामवेद की संहिता के मन्त्रों का गायन करता है जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। (४) **ब्रह्मा** ऋत्विक् का कार्य यज्ञ की बाहंरी विघ्नों से रक्षा करना, स्वरों में सम्मान्य त्रुटियों का परिमार्जन करना तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के दोषों के लिए प्रायश्चित का विधान करना है। इसीलिएं ब्रहमा यज्ञ का अध्यक्ष होता है जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों को पूर्णरूपेण निरीक्षण तथा त्रुटिमार्जन करना होता है। यज्ञ निरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व सम्भालने वाला ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता है परन्तु उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है।

**वेदत्रयी**— ऋक्, यजुः और साम– इस स्वरूप के भेद से वेद का त्रिधा विभाजन हुआ है। **'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था'** (जै०सू० २.१.३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है। **'गीतीषु सामाख्या'** (जै०सू० २.१.३६) अर्थात् इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं। **'शेषे यजुः शब्दः'** (जै०सू० २.१.३७) इन ऋचाओं और सामों से अन्य मन्त्रों को यजुष् कहा गया है। **'गद्यात्मको यजुः'** के अनुसार यजुष् गद्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना तीन विधाओं में हुई है– ऋक्, यजुष्, और सामन्। इन्हीं के आधार वेद को ऋक्, यजुः, साम– इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद ऋचात्मक, सामवेद सामात्मक (गेयात्मक) और यजुर्वेद यजुषात्मक (गद्यात्मक) हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अथर्ववेद वेदत्रयी के अन्तर्गत नहीं है। वस्तुतः अथर्ववेद के मन्त्रों का छन्दोबद्ध भाग ऋक् (ऋचा) और गद्यात्मक भाग यजुष् के अन्तर्गत समाहित है।

## वेद के विभाग

सभी वेदों के मुख्य चार विभाग हैं– (१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) अरण्यक (४) उपनिषद्। यहाँ संहिता का अर्थ है– वह ग्रन्थ जिसमें वेदमन्त्र सङ्कलित किये गये हैं। ऋक्, यजुष्, साम तथा अथर्व (अथर्वन्) रूपात्मक मन्त्रों के चारों सङ्कलन ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ही संहिता के नाम से कहे जाते हैं।

**संहिता**— संहिता-ग्रन्थों की संख्या चार है। जिस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट-ऋक् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है, उसे ऋग्वेद-संहिता; जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में प्रयुक्त होने वाले यजुष् मन्त्रों का सङ्कलन किया गया उसे यजुर्वेद-संहिता, जिस ग्रन्थ में यज्ञ-यागादि में गाये जाने वाले साममन्त्रों का सङ्कलन हुआ है, उसे सामवेद-संहिता एवं शान्तिक तथा पौष्टिक कार्यों से सम्बन्धित मन्त्रों का जो सङ्कलन तैयार किया गया, उसे

अथर्ववेद-संहिता कहा गया। यद्यपि ऋक्-लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में प्राप्त होते हैं, फिर भी जिस सङ्कलन में केवल ऋक्मन्त्रों (ऋचाओं) का ही सङ्कलन है, उसे ऋग्वेद-संहिता कहते हैं। जिस सङ्कलन में यजुष् मन्त्रों की अधिकता है और साथ ही कतिपय ऋक्-लक्षणयुक्त मन्त्र भी गद्य रूप में पढ़े जाते हों, वह सङ्कलन यजुर्वेद-संहिता कहलाता है। इसी प्रकार स्तोम एवं गान के आधारभूत कतिपय ऋचाओं एवं स्तोम-लक्षण कतिपय मन्त्रों के साथ ही उसमें 'साम' का ही सङ्कलन प्राधान्य प्राप्त कर चुका है, उसे सामवेद-संहिता कहते हैं। इस प्रकार पद्य, गद्य एवं साम के आधार पर जो संहिताएँ सङ्कलित की गयीं उनका नामकरण तो हो गया, परन्तु अन्य सङ्कलन का नामकरण क्या हो, इस समस्या का समाधान उन मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वा और ऋषियों के नाम से 'अथर्वांगिरस् संहिता' अथवा अथर्ववेद-संहिता नाम रखकर कर लिया गया है।

**ब्राह्मण**— संहितागत मन्त्रों के व्याख्यापरक ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाते हैं। इन ग्रन्थों में संहितागत मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही उनका विविध याज्ञिक कर्मों में विनियोग भी बतलाया गया है। 'ब्रह्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें 'मन्त्र' और 'यज्ञ' अर्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या के साथ ही साथ यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा उनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देय समझा गया है। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञों की वैज्ञानिक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। विश्व-साहित्य में गद्य का आविर्भाव तो यजुर्वेद से ही हो गया था परन्तु उसे परिष्कार मिला है ब्राह्मणग्रन्थों में। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विविध प्रकार की ललित कथाओं के माध्यम से यज्ञ में होने वाले विविध कर्मकाण्डों का औचित्य समझाने का सफल प्रयास किया गया है। सभी ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ का विधान कब किया जाय, कैसे किया जाय, उसमें कौन-कौन से साधन आवश्यक हैं, उन यज्ञों के अधिकारी कौन हैं इत्यादि विषयों को सुलझाने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विवेच्य विषय है– विधि। स्थान-स्थान पर अनेक आख्यान प्रस्तुत करके यजमानों के अन्तःकरण में यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का एक प्रयोजन है। यत्र-तत्र कतिपय शब्दों का निर्वचन करके ये ब्राह्मण ग्रन्थ अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हुए हैं। सभी संहिताओं के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

**आरण्यक**— जिन ग्रन्थों का प्रणयन विशेष रूप से अरण्य में पढ़ने के लिए किया गया था वे आरण्यक कहलाये। आरण्यक-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ न होकर उनके अन्तर्गत विद्यमान आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा है। प्राणविद्या की भी महत्ता इन आरण्यक ग्रन्थों में प्रतिपादित की गयी है। आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थों का परिशिष्ट भी कह सकते हैं।

**उपनिषद्**— भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-धारा को सरल प्रवाही रूप में प्रस्फुटित करने का गौरव उपनिषद् साहित्य की ही प्राप्त हुआ है। वेद का अन्तिम भाग होने से एवं संहिता-ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के सारभूत तत्त्वज्ञान को प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं। उपनिषदों की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है। गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य ग्रन्थ उपनिषद् ही हैं। उपनिषद् वाङ्मय भारतीय-संस्कृति के आध्यात्मिक चिन्तन का चरम निदर्शन है। दाराशिकोह जैसे इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उपनिषदों को अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनाया है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में भी उपनिषद् विश्व के अध्यात्म-गुरु का स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

वेदों के उपर्युक्त चतुर्धा विभाग का एक विशेष कारण भी है। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमारा सम्पूर्ण जीवन चार आश्रमों में विभाजित था– (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास। इन आश्रमों का वर्ष-विभाजन भी किया गया था। सामान्यतः प्रारम्भ से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, उसके बाद ५० वर्ष की अवस्था तक गृहस्थाश्रम तत्पश्चात् ७५ वर्ष की अवस्था तक वानप्रस्थ आश्रम और शेष आयु संन्यास आश्रम में व्यतीत करने का विधान था। ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिता-ग्रन्थों का पढ़ना एवं कण्ठाग्र करना विहित था। गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए यज्ञ-यागादि करने का विधान था। वानप्रस्थाश्रम में पति-पत्नी को पुत्रों पर परिवार का भार सौंपकर जङ्गल में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन एवं तदनुरूप कार्य करना पड़ता था। जीवन की अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करके केवल आध्यात्मिक सुधा-धारा का पान करने के लिए उपनिषदों का अध्ययन, मनन एवं प्रवचन करते हुए लोकोपकार करने का विधान था।

## संहिता-ग्रन्थ

**ऋग्वेद-संहिता का महत्त्व**— अधोलिखित कारणों से उपर्युक्त चारों संहिताओं में ऋग्वेद-संहिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है–

१. भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से विचार करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद-संहिता अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

२. भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं भी वेदों का प्रसङ्ग आया है वहाँ ऋग्वेद का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। "अभ्यर्हितं पूर्वम्" न्याय के अनुसार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण का ही सर्वप्रथम उल्लेख होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वत्र सर्वप्रथम उल्लिखित होने के कारण ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

३. अन्य सभी वेदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को निःसंकोच रूप से ग्रहण किया है। यजुर्वेद के मन्त्र-काण्डों में स्थान-स्थान पर ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ उपलब्ध

होती हैं। अथर्ववेद के बारह सौ मन्त्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। सामवेद के सभी साम ऋगाश्रित हैं। वस्तुतः सामवेद (कौथुम शाखा) के पचहत्तर मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

४. सभी वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने द्वारा कथित अर्थ में विश्वास को दृढ़ करने के लिए "इस प्रकार ऋक् ने भी कहा है"– यह कहकर ऋक् को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

५. यज्ञ के अङ्गों को दृढ़ करने के कारण भी ऋग्वेद महत्त्वपूर्ण है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा के अध्येता घोषित करते हैं– "यज्ञ का जो कार्य साम या यजुः के द्वारा किया जाता है वह शिथिल होता है; किंतु जो ऋक् के द्वारा किया जाता है वह दृढ़ होता है।"

६. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में पुराण-विज्ञान (Mythology) की दृष्टि से भी ऋग्वेद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के सूक्तों का मूल्य इसलिए है कि इनमें अभी देवगाथाओं का निर्माण हो ही रहा है– देवता हमारी आँखों के सामने देवत्व प्राप्त करते हुए दिखलायी पड़ रहे हैं। इस प्रकार भारतीय धर्म की उत्पत्ति ऋग्वेद से ही हुई है।

**वेदों की शाखाएँ**— भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक मूल वेद को चार संहिताओं में संकलित किया था। संहिताओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने इस संहिताओं को अपने चार शिष्यों को पढ़ाया– पैल को ऋग्वेद-संहिता, जैमिनि को सामवेद-संहिता, वैशम्पायन को यजुर्वेद-संहिता और सुमन्तु को अथर्ववेद-संहिता। इन चारों शिष्यों ने इन चारों संहिताओं को अनेक शिष्यों को पढ़ाया और उन शिष्यों ने अपने शिष्यों को पढ़ाया। इसी क्रम से अध्यापन-अध्ययन मौखिक रूप से चलता रहा।

संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। यद्यपि संहिताओं के अध्यापकों और अध्येताओं ने संहिताओं के मन्त्रों को अपरिवर्तित रखने का अथक परिश्रम किया, तथापि परिवर्तन हो ही गये। इसके परिणामस्वरूप एक-एक संहिता की अनेक संहिताएँ बन गयीं। एक मूल संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गयी– एक परम्परा से अनेक परम्पराओं का आविर्भाव हुआ।

एक वेद की विभिन्न शाखाओं में परस्पर दो प्रकार के अन्तर हैं– (१) उच्चारण-विषयक अन्तर और (२) कतिपय मन्त्रों का एक शाखा में उपलब्ध होना और दूसरी शाखा में उपलब्ध न होना। एक वेद की शाखाओं में परस्पर अत्यल्प अन्तर उपलब्ध होता है। संहिताओं में सूक्तों और मन्त्रों का क्रम प्रायः समान ही होता है। कतिपय शब्दों

अथवा मन्त्रों तक ही अन्तर सीमित होता है। ऐसे उदाहरण अल्प ही हैं जहाँ एक शाखा में दूसरी शाखा की अपेक्षा कतिपय अधिक सूक्त हैं। शाखाएँ प्राचीन सूक्तों के स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु एक ही मूल-संग्रह के विभिन्न संस्करण हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की एक ही शाखा (शाकल) की संहिता अब तक उपलब्ध हुई है। भविष्य में यदि ऋग्वेद कीं अन्य शाखाओं की संहिताओं के हस्तलेख उपलब्ध होते हैं तो उन हस्तलेखों के आधार पर शाकल-संहिता में ही अन्य संहिताओं के पाठ-भेदों को पाद-टिप्पणियों में दिखलाये जाने से कार्य चल जायेगा।

वेदों की शाखाओं की संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में परस्पर-विरोधी उल्लेख मिलते हैं। अस्तु, पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस (२१), यजुर्वेद की एक सौ एक (१०१), सामवेद की एक हजार (१०००) और अथर्ववेद की नौ (९) शाखाएँ हैं। इनमें से अधिकतर शाखाएँ विनष्ट हो गयी हैं। आजकल अधोलिखित शाखाओं की संहिताएँ ही उपलब्ध हैं–

ऋग्वेद — शाकल

यजुर्वेद (शुक्ल) — (१) काण्व; (२) माध्यंदिन।

यजुर्वेद (कृष्ण) — (१) तैत्तिरीय; (२) मैत्रायणी; (३) कठ; (४) कपिष्ठलकठ (अंशतः उपलब्ध)।

सामवेद — (१) कौथुम; (२) जैमिनीय।

अथर्ववेद — (१) शौनक; (२) पैप्पलाद (अंशतः उपलब्ध)।

**ऋग्वेद की शाखाओं का विवरण**— ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में पाँच मुख्य हैं— (१) शाकल; (२) बाष्कल; (३) आश्वलायन; (४) शाङ्खायन और (५) माण्डूकायन।

**१. शाकल-शाखा**— ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध संहिता शाकल-शाखा की है। इस शाखा के प्रवर्तक वेदमित्र शाकल्य हैं। इनके द्वारा प्रोक्त शाखा तथा इनके शिष्य शाकल कहलाते हैं। वेदमित्र शाकल्य के पाँच शिष्य थे— मुद्गल, गालव, खालीय, वात्स्य और शैशिरि। इन शिष्यों ने पाँच उपशाखाओं का प्रवर्तन किया. इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं हुई है।

शाकल-संहिता में १०१७ सूक्त हैं। दस मण्डलों की सूक्त-संख्या क्रमशः इस प्रकार हैं— १९१+४३+६२+५८+८७+७५+१०४+९२+११४+१९१ = १०१७। इनके अतिरिक्त अष्टम मण्डल में ग्यारह सूक्त (८.४९-५९) भी हैं, जो 'बालखिल्य' कहलाते हैं।

**२. बाष्कल-शाखा**— पैल के दूसरें शिष्य बाष्कल थे। बाष्कल के चार शिष्य हुए— बौध्य, अग्निमाठर, पराशर तथा जातूकर्ण्य। इन चारों ने अपनी-अपनी उप-शाखाओं का प्रवर्तन किया। किन्तु अब तक न बाष्कल-शाखा की संहिता उपलब्ध हुई और न किसी उपशाखा की संहिता। बाष्कल-शाखा की विशेषताओं का उल्लेख आश्वलायन-गृह्यसूत्र, शाङ्खायन-गृह्यसूत्र, अनुवाकानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इनसे ज्ञात होता है कि शाकल-संहिता के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र "समानी व आकूतिः" है तथा बाष्कल-संहिता के अनुसार "तच्छंयोरावृणीमहे" है। शाकल-संहिता के अनुसार सूक्तों की संख्या १०१७ है। बाष्कल-संहिता में आठ सूक्त अधिक हैं। इस प्रकार बाष्कल-संहिता में १०२५ सूक्त हैं। बाष्कल-संहिता में प्रथम मण्डल के मन्त्रों का क्रम भी कहीं-कहीं शाकल-शाखा के क्रम से भिन्न है।

**३. आश्वलायन-शाखा**— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इस शाखा के श्रौतसूत्र (आश्वलायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (आश्वलायन-गृह्यसूत्र) ही मिलते हैं।

**४. शाङ्खायन-शाखा**— इस शाखा की संहिता अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इस शाखा के ब्राह्मण (शाङ्खायन-ब्राह्मण), आरण्यक (शाङ्खायन-आरण्यक), श्रौतसूत्र (शाङ्खायन-श्रौतसूत्र) और गृह्यसूत्र (शाङ्खायन-गृह्यसूत्र) उपलब्ध हैं।

**५. माण्डूकायन-शाखा**— इस शाखा को कोई भी ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुआ है।

**ऋग्वेद-संहिता**— 'ऋग्वेद' सूक्तों का वेद है। सूक्त का अर्थ है– सुभाषित या उत्तम वचन अर्थात् जिन मन्त्रों में उत्तम वचन होते हैं, उनके समूह को सूक्त कहा गया है। वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन, महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक है। इसमें किसी भी विद्वान् को किञ्चितमात्र भी विप्रतिपत्ति नहीं है; क्योंकि लगभग सम्पूर्ण सामवेद (७५ मन्त्रों को छोड़कर) और यजुर्वेद का पद्यात्मक अंश तथा अथर्ववेद के कतिपय अंश ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। ऋग्वेद-संहिता को संक्षेप में 'ऋग्वेद' भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ छान्दोबद्ध है। छन्दोबद्ध या पद्यात्मक मन्त्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहते हैं। ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने इस वेद की इक्कीस शाखाओं का निर्देश किया है– **एकविंशतिधा बाह्वच्यम्**। किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में केवल ५ शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होता है। ये शाखाएँ हैं– शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, साङ्ख्यायन और माण्डूकायन। किन्तु सम्प्रति उपलब्ध एवं प्रचलित शाखा 'शाकल' है। इस शाखा की संहिता

में कुल मिलाकर १०१७ + ११ (बालखिल्य) = १०२८ सूक्त हैं। इस ग्रन्थ में लगभग १०६०० ऋचाएँ हैं।

**ऋग्वेद का विभाजन—** ऋग्वेद-संहिता का दो प्रकार से विभाजन किया गया है— अष्टकक्रम और मण्डलक्रम।

**(१) अष्टकक्रम—** सम्पूर्ण ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ ६४ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय अवान्तर विभागों में विभाजित है जिसे वर्ग कहा जाता है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय का नाम है। वर्ग में ऋचाओं की संख्या निश्चित नहीं है। ऋग्वेद में वर्गों की कुल संख्या २००६ है।

**(२) मण्डलक्रम—** ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। ऋग्वेद का यह विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। १० मण्डलों में विभक्त होने के कारण ऋग्वेद को 'दशतयी' भी कहा जाता है। ऋग्वेद कुल ५८ अनुवाक, १०१७ सूक्त हैं। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त बालाखिल्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में कुल १०५८० ऋचाएँ हैं और ऋचाओं में कुल शब्दों की संख्या १५३८२६ तथा अक्षरों की संख्या ४३२०००० है। यह गणना कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी के आधार पर की गयी है।

ऋग्वेद की भाषा तथा विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इस अंश को 'वंश-मण्डल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध एक-एक ऋषि के साथ है। द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्सपद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम मण्डल के ऋषि वशिष्ठ हैं। नवम मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है। दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है; क्योंकि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर मण्डलों के सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। भाषा की दृष्टि से भी इस मण्डल को अन्य मण्डलों से अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है।

**प्रतिपाद्य—** ऋग्वेद का अर्थ है– ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही नाम ऋक् या ऋचा है। वेद का अर्थ ज्ञान है। अतः ऋग्वेद का शाब्दिक अर्थ हुआ– ऋचाओं का ज्ञान। यद्यपि अन्य वेदों में भी ऋचाओं का सङ्कलन हुआ है परन्तु ऋग्वेद में केवल ऋचाओं का ही सङ्कलन है। ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों को पढ़कर देवताओं की स्तुति करना ही इस वेद का मुख्य प्रयोजन है। किन्तु ऋग्वेद में देवस्तुति के साथ ही साथ ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं

मान्य-ताओं के उद्घाटन भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक-रीति-रिवाज, पशु-पक्षी तथा वृक्षों आदि से सम्बद्ध कुछ मन्त्र भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र ४० सूक्त इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपरिकथित विषय अनुस्यूत हैं, अन्यथा ऋग्वेद देवताओं की स्तुतिओं से सम्बन्धित मन्त्रों से परिपूर्ण ग्रन्थ है।

ऋग्वेद में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व मूलरूप में विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुतः हिन्दू धर्म और दर्शन की आधारशिला है। भारतीय कला एवं विज्ञान के उदय का सङ्केत भी यहीं पर प्राप्त होता है। विश्व के मूल में रहकर विश्व को नियन्त्रित करने वाली मूलसत्ता के व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में विश्वास, मन्त्र, यज्ञ आदि से अनेक पूजन, यजन और मौलिक धार्मिक तत्त्व ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वों की जिज्ञासा, तत्त्वों के रूपकात्मक वर्णन, मानवजीवन की आकाङ्क्षाओं, आदर्शों तथा मान्यताओं आदि पर ऋग्वेद के अध्ययन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दर्शन की मूल समस्याओं-ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, पुनर्जन्म आदि के ज्ञान के स्रोत भी ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं। देववाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद आदि दार्शनिक वादों का बीज भी ऋग्वेद में ही दिखलायी पड़ता है।

**(२) यजुर्वेद—** जिस वेद में 'यजुषो' का सङ्कलन है उसे यजुर्वेद कहा जाता है। 'यजुष्' का अर्थ है– गद्यात्मक मन्त्र। 'गद्यात्मको यजुः' या 'अनियताक्षरावसानो यजुः' ये वाक्य 'यजुष्' का लक्षण निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि इस वेद में भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का सङ्कलन है परन्तु वे मन्त्र कहीं-कहीं किञ्चित् परिवर्तन के साथ भी ग्रहण किये गये हैं। यह ग्रन्थ 'पद्धतिग्रन्थ' है जो पौरोहित्य प्रणाली में यज्ञक्रिया को सम्पन्न करने के लिए संगृहीत हुआ है। 'पद्धतिग्रन्थ' होने के कारण यह अध्ययन का सुप्रचलित विषय बन गया है। इसकी अनेक शाखाओं का सङ्केत प्राप्त होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'एकशतमध्वर्युशाखा' कहकर इसके १०१ शाखाओं की ओर सङ्केत किया है। यजुर्वेद में मानवमात्र को प्रशस्ततम कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले मन्त्र सङ्कलित है।

**यजुर्वेद के सम्प्रदाय—** यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं– शुक्लयजुरसम्प्रदाय और कृष्ण यजुरसम्प्रदाय। शुक्ल यजुस्सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्लयजुर्वेद तथा कृष्णयजुस्सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्णयजुर्वेद है।

१. शुक्लयजुर्वेद-संहिता अधिक क्रमबद्ध होने से शुक्ल कहलाती है। २. इस

संहिता में ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रात्मक गद्य-पद्य के साथ ही साथ ब्राह्मणात्मक गद्य का भी पर्याप्त समावेश है। मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद का एक भेद 'कृष्ण' तथा सम्मिश्रण से रहित शुद्ध मन्त्र होने के कारण द्वितीय भेद 'शुक्ल' नाम से अभिहित हुआ।

**शुक्ल-यजुर्वेद**— शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार आदित्य-यजुः शुक्ल-यजुष् के नाम से प्रसिद्ध है, तथा याज्ञ बल्क्य के द्वारा आख्यात हैं (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते— शत० ब्रा० १४.९.५.३३)। अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है, तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। यजुर्वेद के शुक्ल कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही तन्नियोजक ब्राह्मणों संमिश्रण है। मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व का कारण है, तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अमिश्रित रूप ही शुक्लत्व का मुख्य हेतु है। कृष्णयजुः की प्रधान शाखा 'तैत्तिरीय' नाम से प्रख्यात है, जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है। गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया और गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उस वान्त यजुष् का भक्षण किया। सूर्य का प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुल्क-यजुष् की उपलब्धि की।

पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से 'याज्ञवाल्क्य' एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्त्वज्ञ प्रतीत होते हैं, जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ०३ और ४)। ये मिथिला के निवासी थे, तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सम्मान था। इसके पिता का नाम देवराज था, जो दीनों को अन्न दान देने के कारण 'वाजसनि' के अपर नाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेदचतुष्टय का अध्ययन किया; अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन सम्पन्न किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि नामक तत्कालीन प्रौढ़ दार्शनिक से वेदान्त का परिशीलन किया था। आरुणि ने एक बार इनसे वेदान्त की प्रशंसा में कहा था कि यदि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तना) को सींचा जाय तो उसमें भी पत्तियाँ निकल आती हैं। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्य ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिखलाया। इनकी दो पत्नियाँ थीं— मैत्रेयी तथा कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थी और घर छोड़ कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पाण्डित्य, अपूर्व

योगबल तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे। यजुर्वेद में मुख्यरूपेण कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है।

**माध्यन्दिन-संहिता**— शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता का नाम है– 'वाजसनेयिसंहिता'। परम्परानुसार मध्य दिन में इनका ज्ञान दिये जाने के कारण माध्यन्दिन-संहिता भी इस संहिता को कहा जाता है। यजुर्वेद में यजुषों का सङ्कलन है। 'यजुष्' का शाब्दिक अर्थ है– यज्ञ, पूजा, श्रद्धा, आदर आदि। इस प्रकार वेद का वह भाग जिसका सम्बन्ध यज्ञ, पूजा आदि से है 'यजुष्' कहलाता है। इस वेद के मन्त्रों का पाठ यज्ञ में 'अध्वर्यु' संज्ञक पुरोहित-वर्ग करता है। इसकी वाजसनेयि-संहिता में चालीस अध्याय हैं। प्रारम्भिक २५ अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में 'दर्श' एवं 'पौर्णमास' यज्ञ के मन्त्र सङ्कलित हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक 'अग्निहोत्र' तथा 'चातुर्मास्य' यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय पर्यन्त 'अग्निष्टोमादि' सोमयज्ञों एवं पशुबलि से सम्बन्धित मन्त्र प्राप्त होते हैं। कतिपय एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञ भी सोमयज्ञों की परम्परा में प्राप्त हैं। इनमें 'वाजपेय' सर्वप्रधान है। इस यज्ञ का सम्पादन राजा अथवा योद्धा लोग करते थे। सोमयज्ञों की ही परम्परा में राजाओं द्वारा सम्पाद्य 'राजसूय यज्ञ' भी है। उपर्युक्त दो प्रकार की प्रार्थनाएँ वाजसनेयि-संहिता के नवम तथा दशम अध्याय में की गयी है। एकादश से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं तथा विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। 'अग्निचयन' के निमित्त निर्मित होने वाली 'अग्निवेदिका' का भी वर्णन इसमें प्राप्त होता है। उन्नीसवें तथा बीसवें अध्याय में 'सौत्रामणि उत्सव' के प्रयोग से सम्बन्धित मन्त्रों का सङ्कलन है। इक्कीसवें से पच्चीसवें अध्याय तक अश्वमेध' यज्ञ की प्रार्थनाओं का संग्रह किया गया है। छब्बीस से चालीस तक की रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। इसमें छब्बीस से पैंतीस अध्याय तक 'खिल-सूक्त' हैं। 'खिल' का अर्थ 'परिशिष्ट' है। ३०वें अध्याय में यद्यपि किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं है तथापि पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन इसी अध्याय में है। पुरुषमेध यज्ञ में बलि के उपयुक्त व्यक्तियों की गणना करायी गयी है। ३१वाँ अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसी में ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुषसूक्त सङ्कलित है। ३२वें अध्याय से ३४वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचाएँ हैं। ३६वें से ३९ अध्याय तक 'प्रवर्ग्य यज्ञोत्सव' की प्रार्थनाएँ सङ्कलित हैं। ४०वाँ अध्याय प्रसिद्ध उपनिषद् 'ईशावास्योपनिषद्' के नाम से विख्यात है।

**काण्वसंहिता**— शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व हैं। काण्व शाखा का प्रचार आज कल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उत्तर भारत में, परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था, क्योंकि

एक मन्त्र में (११.११) कुरु तथा पञ्चालदेशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एष वः कुरवो राजा, एषं पञ्चालो राजा)। महाभारत के आदिपर्व (६३.१८) के अनुसार शकुन्तला को पोष्यपुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम 'मालिनी' नदी के तीर पर था, जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के नाम से विख्यात एक छोटी सी नदी है। अतः काण्वों का प्राचीन सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दृष्टिगत होती।

काण्वसंहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तर्गत किसी 'आनन्दवन' नगर तथा औंध से प्रकाशित हुआ है जिसमें अध्यायों की संख्या ४०, अनुवाकों की ३२८ तथा मन्त्रों की २०८६ है, अर्थात् माध्यन्दिन-संहिता के मन्त्रों (१९७५) से यहाँ १११ मन्त्र अधिक हैं। काण्व शाखा का सम्बन्ध पाञ्चरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पाञ्चरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना गया है।

**कृष्णयजुर्वेद**— मन्त्रब्राह्मणात्मक कृष्णयजुर्वेद में कुल १८००० मन्त्र मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता ही इसकी प्रधान संहिता है जिसमें ७ अष्टक हैं। प्रत्येक अष्टक में ७,८ अध्याय हैं। अध्याय का दूसरा नाम 'प्रश्न' तथा अष्टक का दूसरा नाम 'प्रपाठक' भी है। प्रत्येक अध्याय में अनेक अनुवाक हैं तथा अनुवाकों की सम्पूर्ण संख्या लगभग ७०० है। 'चरणव्यूह' के अनुसार 'कृष्णयजुर्वेद' की ८६ शाखाएँ थीं। 'कृष्णयजुर्वेद' का विषयवस्तु शुक्लयजुर्वेद से मिलता-जुलता है। अतः उपर्युत विवेचन से ही कृष्णयजुर्वेद के प्रतिपाद्य का भी आभास मिल जाता है।

विषय-विवेचन के कृष्ण-यजुर्वेद की संहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्रायः एक समान ही हैं शुल्कयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है, वहाँ कृष्णयजुः में मन्त्रों के साथ तद्विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित हैं। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की ८५ शाखायें हैं जिनमें आज केवल ४ ही शाखायें तथा सत्सम्बद्ध पुस्तकें उपलब्ध होती हैं– (१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायिणी, (३) कठ, (४) कपिष्ठल-कठा शाखा।

**तैत्तिरीय संहिता**— तैत्तिरीय संहिता का प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड़ देश इसी शाखा का अनुयायी है। समय वैदिक ग्रन्थों— संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्ट्य स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्य-सूत्र को बड़ी तत्परंता से अक्षण्य बनाये रक्खा है। तैत्तिरीय संहिता का परिमाण कम नहीं है। यह काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में ७ काण्ड, तदन्तर्गत ४४ प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। विषय वहीं शुक्ल-यजर्वेद में वर्णित विषयों के

समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी। इसलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्व-प्रथम निबद्ध किया, परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (११वीं शताब्दी) है, जिनका 'ज्ञान-यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ के अतिरिक्त अध्यात्म तथा अधिदैव पक्षों में भी मन्त्रों का अर्थ स्थान-स्थान पर किया गया है।

**मैत्रायणी संहिता**— कृष्ण यजुर्वेद की अन्यतम शाखा मैत्रायणी की यह संहिता गद्यपद्यात्मक है, अर्थात् अन्य कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं के समान यहाँ भी मन्त्र तथा ब्राह्मणों का संमिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड हैं— (१) प्रथम (आदिम) काण्ड– ११ प्रपाठकों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः दर्शपूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय का वर्णन है। (२) द्वितीय (मध्यम) काण्ड के १३ प्रपाठकों में काम्य इष्टि, राजसूय तथा अग्निचिति का विस्तृत विवरण है। (३) तृतीय (उपरि) काण्ड के १६ प्रपाठकों में अग्निचिति, अध्वर विधि, सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेघ का विस्तृत वर्णन अन्तिम पाँच प्रपाठकों में (१२-१६) किया गया है। (४) चतर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से विख्यात है, जिसके १४ प्रपाठकों में पूर्वनिर्दिष्ट राजसूय आदि यज्ञों के विषय में अन्य आवश्यक सामग्री संकलित की गई है। समग्र संहिता में २१४४ मन्त्र हैं जिनमें १७०१ ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। प्रत्येककांड में ऋग्वेद से मन्त्र उद्धृत हैं और ये मन्त्र ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों में पाये जाते हैं। यहाँ उधृत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (४१९ मन्त्र), दशम (३२३ मन्त्र) तथा षष्ठ मण्डल (१५७ मन्त्र) से विशेष रखते हैं। मैत्रायणी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसलिए इस संहिता के मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में उपलब्ध होना आश्चर्य की घटना नहीं है। अनेक मन्त्र माध्यन्दिन तथा काण्व यजुः संहिता में यजुष् होने के नाते मिलते हैं।

**कठसंहिता**— यजुर्वेद की २७ मुख्य शाखाओं में कठ शाखा अन्यतम है। पुराणों में काठक लोग मध्यप्रदेशीय या माध्यम के नाम से विख्यात हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे प्राचीन काल में मध्य-देश में निवास करते थे। पतञ्जलि के कथनानुसार कठसंहिता का प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्राम में था (ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते— महाभाष्य ४.३.१०१), जिससे प्राचीन काल में इस संहिता के विपुल प्रसार का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परन्तु आज कल इसके अध्येताओं की संख्या नगण्य है। इसके प्रचार वाले प्रान्त का भी पता नहीं चलता।

कठसंहिता में पाँच खण्ड हैं, जो क्रमशः इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या काण्ड तथा अश्वमेधाद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध है। इन खण्डों के नाम से प्रसिद्ध है। इन खण्डों के टुकड़ो का नाम 'स्थानक' है,जो नाम वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस संहिता में स्थानक की संख्या ४०, अनुवाचनों की १३, अनुवाकों की ८४३, मन्त्रों की ३०९१ तथा मन्त्र-ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या १८ हजार है।

इठिमिका के १८ स्थानकों में पुरोडाश, अध्वर, पशु-बन्ध, वाजपेय, राजसूय आदि का विस्तृत वर्णन है। माध्यमिका (१२ स्थानक) में सावित्री, पञ्चचूड, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य आदि विवेचन है। ओरिमिका काण्ड (१० स्थानक) में पुरोडाश ब्राह्मण, यजमान ब्राह्मण, सत्र प्रायश्चित्ति, चातुर्मास्य, सव, सौत्रामणि, आदि का वर्णन हैं और इसी के भीतर चतुर्थ काण्ड को भी गतार्थ समझना चाहिए। अन्तिम काण्ड में १३ अनुवचन हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं को सामान्य प्रकृति के अनुसार इस संहिता में भी मन्त्र तथा ब्राह्मणों का एकत्र मिश्रण है। इन निर्दिष्ट मुख्य भागों तथा इष्टियों में कतिपय प्रमुख याग ये हैं— दर्श पौर्णमास, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, आधान, काम्य इष्टि, निरूढ पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेघ।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में केवल स्वरूप हीं की एकता नहीं है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत ही अधिक साम्य है और यह होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न शाखा की मन्त्र-संहितायें एक ही मूलभूत वेद की अवान्तर शाखायें हैं, जो अध्येतृगणों की विशिष्टता तथा विभिन्नता के कारण ही भिन्न सी हो गयी है।

**कपिष्ठल कठ-संहिता**— चरण-व्यूह के अनुसार चरकशाखा के ही अन्तर्गत कठाः, प्राच्यकठाः तथा कपिष्ठलकठाः का उल्लेख मिलता है, जिससे इनके शाखा-सम्बन्ध का पूरा परिचय मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि विशेष का नाम है जिसका उल्लेख पाणिनि ने 'कपिष्ठलो गोत्रे' (८.३.९१) सूत्र में किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को कपिष्ठलो वासिष्टः' कहा है (अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः— निरुक्त टीका ४.४) सम्भवतः यह किसी स्थान विशेष का अभिधान था। इस संहिता के सम्पादक का अनुमान है कि कपिष्ठल ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि 'कैथल' नामक ग्रन्थ है जो कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी से थोड़ी ही दूर पूरब की ओर था। इस ग्राम का उल्लेख काशिका (ऊपर सूत्र की व्याख्या) तथा वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (१४.४) में किया है।

इस शाखा की संहिता की एक ही प्रति और सो भी अधूरी ही उपलब्ध होती है वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय में और यहीं से इसकी प्रतिलिपि यूरोप के वैदिक विद्वानों के अनुशीलन के लिए समय-समय पर भेजी गई थी।

काठकसंहिता से इस संहिता में अनेक बातों में पार्थक्य तथा वैभिन्य है। इसका मूल ग्रन्थ काठकसंहिता के समान होने पर भी उसकी स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार कापिष्ठल कठसंहिता पर ऋग्वेद का ही सातिशय प्रभाव लक्षित होता है।

**(३) सामवेद**— जिस वेद में गेय मन्त्रों का विशिष्ट प्रकार से सङ्कलन किया गया है उसे सामवेद कहा गया है। सामवेद का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए 'बृहद्देवता' नामक ग्रन्थ में कहा गया है– 'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'। अर्थात् जो व्यक्ति साम को जानता है, वही वेद के तत्त्व का ज्ञान है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं को 'सामवेद स्वरूप' कहा है– वेदानां 'सामवेदोऽस्मि'।

अनेक ग्रन्थों में 'साम' शब्द का प्रयोग ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले 'गान' के लिए प्राप्त होता है तथा ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र प्राप्त होता है। सामवेद के मन्त्रों को यज्ञ के अवसर पर 'उद्गाता' नामक पुरोहित तार स्वर से आवश्यकतानुसार गान करता है।

वैदिक संहिताओं में साम का महत्त्व नितान्त गौरवमय माना जाता है। बृहद्देवता' का कहना है कि जो पुरुष साम को जानता है वहीं वेद के रहस्य को जानता है— "सामानि यो वेत्ति से वेद तत्त्वम्"। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सामवेद को अपना ही स्वरूप बतलाया है— "वेदानां सामवेदोऽस्मि"। गीता में "प्रणवः सर्ववेदेषु" तथा अनुगीता में "ओङ्कारः सर्ववेदानाम्" कह कर जो ओङ्कार के सर्व वेदों से श्रेष्ठ होने की बात कही गई है, उससे पूर्व वाक्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं घटित होता, क्योंकि छान्दोग्य के कथनानुसार '(साम्न उद्गीथो रसः)' उद्गीथ सम्पूर्ण सामवेद का सार बतलाया गया हैं। यह सुप्रसिद्ध है कि उद्गीथ ओङ्कार का ही दूसरा नाम है। अतः ओङ्कार के सब वेदों में भगवद् रूप होने का तात्पर्य सामवेद के महत्त्व-प्रतिपादन में ही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी साम की प्रशस्त प्रशंसा की गई मिलती है। एक मन्त्र की स्पष्ट उक्ति है कि जो विद्वान् मनुष्य जागरणशील है उसी को साम प्राप्त होते है, परन्तु जो निद्रालु हैं वह साम-गायन में कभी प्रवीण नहीं हो सकता। एक दूसरे मन्त्र में पक्षियों का गायन साम-गायन के समान मधुर बतलाया गया है। अंगिरा ऋषि के साम का उल्लेख अनेक बार मिलता है।

**शाखाएँ**— सामवेद में ७५ मन्त्रों को छोड़कर सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। भारतीय विद्वानों के अनुसार सामवेद की एक हजार शाखायें थीं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' कहा है। 'चरणव्यूह' में शौनक सामवेद के १००० शाखाओं को निर्दिष्ट करते हैं जिनमें से अनेक शाखाएँ अनध्याय के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र द्वारा वज्रप्रहार करके नष्ट कर डाली गयीं– **सामवेदस्य किल सहस्र भेदाः भवन्ति एष**

**अनध्यायेषु अधीयानः ते शतक्रतुः वज्रेणाभिहतः** । सम्प्रति इन शाखाओं में से आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेदा, प्राचीनयोग्य, ज्ञानयोग्य तथा राणानीय आदि नामों का ही उल्लेख मिलता है।

**(१) कौथुम शाखा**— इसकी संहिता सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसी का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। इसी की ताण्ड्य नामक शाखा भी मिलती है, जिसका किसी समय विशेष प्रभाव तथा प्रसार था। शङ्कराचार्य ने वेदान्त-भाष्य के अनेक स्थलों पर इसका नाम निर्देशन किया है, जो इसके गौरव तथा महत्त्व का सूचक है। पच्चीस काण्डात्मक विपुलकाय ताण्ड्य-ब्राह्मण इसी शाखा का है। सुप्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् भी इसी शाखा से सम्बन्ध रखती है। इसका निर्देश शङ्कराचार्य ने भाष्य में स्पष्टतः किया है।

**(२) राणायनीय शाखा**— इसकी संहिता कौथुमों में कथमपि भिन्न नहीं है। दोनों मन्त्र-गणना की दृष्टि से एक ही हैं। केवल उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य उपलब्ध होता है। कौथुमीय लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' कहते हैं, वहाँ राणायनीय गण 'हाबु' तथा 'रायी' उच्चारण करते हैं। राणायनीयों की एक अवान्तर शाखा सात्यमुग्रि है जिसकी एक उच्चारण विशेषता भाषा-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त आलोचनीय है।

**(३) जैमिनीय शाखा**— हर्ष का विषय है कि इस मुख्य शाखा के समग्र अंश संहिता, ब्राह्मण श्रौत तथा गृह्यसूत्र— आजकल उपलब्ध हो गये हैं। जैमिनीय संहिता नागराक्षर में भी लाहौर से प्रकाशित हुई है। इसके मन्त्रों की संख्या १६८७ है, अर्थात् कौथुम शाखा से एक सौ बयासी (१८२) मन्त्र कम हैं। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मन्त्र हैं जो कौथुमीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैमिनीयों के सामगान कौथुमों से लगभग एक हजार अधिक हैं। कौथुमगान केवल २७२२ हैं, परन्तु इनके स्थान पर जैमिनीय गान छत्तीस सौ इक्यासी (३६८१) हैं। इन गानों के प्रकाशन होने पर दोनों की तुलनात्मक आलोचना से भाषाशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। तबलकार शाखा इसकी अवान्तर शाखा है, जिससे लघुकाय, परन्तु महत्त्वशाली, केनोपनिषद् सम्बद्ध है। ये तबलकार जैमिनि के शिष्य बतलाये जाते हैं।

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं। इनमें प्राप्त होने वाली (७५ को छोड़कर) सभी ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गयी हैं। इन ऋचाओं को पृथक् करने पर ऋचाओं की वास्तविक संख्या १५४९ रहती है। ७५ को छोड़कर शेष सभी ऋचाएँ ऋग्वेद-संहिता के अष्टम एवं नमव मण्डल से ली गयी हैं। इन ऋचाओं की रचना गायत्री एवं

प्रगाथ छन्द में हुई है।

सामवेद-संहिता के पूर्वार्चिक में ६५० ऋचाएँ हैं। इसमें ६ प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में अग्नि-विषयक ऋचाओं का संग्रह है अतः इसे 'आग्नेयकाण्ड' कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक 'ऐन्द्रपर्व' कहा जाता है यहाँ पर इन्द्र से सम्बन्धित ऋचाएँ हैं। पञ्चम प्रपाठक में सोमपरक ऋचाएँ हैं अतः इसे 'पवमानपर्व' कहा गया है। छठाँ प्रपाठक आरण्यकपर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य जैमिनि गीति (गेयता) को ही साम मानते हैं। गीति के प्राण हैं– स्वर। ऋचाओं को साम गान तथा मूलाधार या योनि कहा गया है।

सामवेदीय ऋचाओं को संगीतमय करने के लिए कतिपय शब्दों को जोड़ा जाता है, इन्हें 'स्तोभ' कहा गया है। कतिपय 'स्तोभ' शब्द इस प्रकार है– हाऊ, औ, हो, होई। ये स्तोभ उसी प्रकार कार्य करते हैं जैसे संगीतज्ञ आलाप के लिए कुछ शब्दों का उच्चारण करता है। इन्हें सामविकार भी कहा गया है। ये विकार ६ प्रकार के हैं– विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ।

**(४) अथर्ववेद**— वेदों में अन्यतम अथर्ववेद की अपनी एक महिमा है; क्योंकि इसका प्रतिपाद्य विषय अन्य तीन वेदों के प्रतिपाद्य विषयों से पृथक् है। ऋग्वेद एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है जिसमें हमारे अतीत की संस्कृति एवं सामाजिक स्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। यजुर्वेद का मुख्य विषय कर्मकाण्ड का है। सामवेद का विषय गायन है। इसमें यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले वैदिक मन्त्रों का संकलन है। अथर्ववेद का विषय इन तीनों से सर्वथा भिन्न है। अन्य तीन वेदों का यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु अथर्ववेद में यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र नहीं है। इसलिए इसे पृथक् करके तीन वेदों को कहीं-कहीं वेदत्रयी कहा गया है। अथर्ववेद में वैदिक विषयों के साथ-साथ लौकिक विषयों का भी प्रतिपादन है।

### अथर्ववेद के विविध नाम

अथर्वन् शब्द की व्याख्या और निर्वचन निरुक्त में मिलता है। निरुक्त के अनुसार थर्व् धातु गत्यर्थक है। थर्वन् का अर्थ है गतिशील और अथर्वन् का अर्थ है निश्चल, स्थिर। गोपथब्राह्मण के अनुसार 'अथार्वाक्' (अथ अर्वाक्) से अथर्वा शब्द बना है। अथर्वा प्रजापति का नाम है। पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार अचल या स्थिर भाव रखने वाले व्यक्ति को अथर्वा कहते है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार शुभ कर्मों के प्रतिपादक मन्त्रों के लिए अथर्वन् शब्द प्रयुक्त है और अभिचार आदि से सम्बद्ध मन्त्रों के लिए अङ्गिरस शब्द है।

विभिन्न ग्रन्थों में अथर्ववेद के नौ नाम उपलब्ध होते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

**(क) अथर्ववेद**— अथर्वन् ऋषि के नाम पर इस वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा है। अथर्ववेद में १६१२ मन्त्रों के द्रष्टा अथर्वन् ऋषि हैं। गोपथब्राह्मण का कथन है कि अधिकांश मन्त्रों के द्रष्टा अर्थवन् ऋषि हैं और उनके वंशज हैं अत: इस वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा।

**(ख) आङ्गिरस वेद**— गोपथब्राह्मण का कथन है कि आङ्गिरस ऋषि और इनके वंशजों ने इन मन्त्रों का दर्शन किया, अत: इसका नाम आङ्गिरस वेद पड़ा। गोपथब्राह्मण का कथन यह भी है कि आङ्गिरस के वंशज २० ऋषि थे। ये १० प्रकार-के सूक्तों के द्रष्टा हैं।

**(ग) अथर्वाङ्गिरस वेद**— अथर्ववेद का प्राचीन नाम अथर्वाङ्गिरस वेद है। अर्थवन् और अङ्गिरस् ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों के संग्रह के कारण इसका यह नाम पड़ा। स्वयम् इस वेद में भी यह नाम प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण में भी यह नाम मिलता है। ब्लूम-फील्ड व विण्टरनित्स ने इस नाम की व्याख्या इस प्रकार की है– अवेस्ता का अथर्वन् इसका प्रतिनिधि है जिसका अर्थ है– पुरोहित। यह अग्निपूजा करता था। अथर्ववेद भी अग्निपूजा का यज्ञ में विश्वास करता है। अथर्वन् पौरोहित्य के साथ जादू का काम करते थे। अङ्गिरस भी प्रागैतिहासिक काल के पुरोहित है।' दोनों यज्ञ के साथ जादू में भी निपुण होते थे। अथर्वन् और आङ्गिरसों में अन्तर यह है कि अथर्वन् के मन्त्रों में सुख-शान्ति और भलाई वाले जादू हैं। इनमें रोग-निवारण आदि के लिए भी मन्त्र हैं। आङ्गिरस मन्त्रों में कृत्या-प्रयोग, अभिचार-कर्म, शत्रुनाशन आदि के मन्त्र है।

**(घ) ब्रह्मवेद**— अथर्ववेद का एक प्राचीन नाम ब्रह्मवेद भी है। स्वयम् इस वेद में भी इस नाम का उल्लेख है। गोपथब्राह्मण में भी यह नाम पठित है। अथर्ववेद के ८६३ मन्त्र ब्रह्मा के द्वारा दृष्ट है। इसके साथ ही अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें ब्रह्म का वर्णन बहुत विस्तार से हुआ है।

**(ड.) भृग्वङ्गिरोवेद**— गोपथब्राह्मण में अथर्ववेद का नाम भृग्वङ्गिरोवेद भी मिलता है। भृग्वङ्गिरा ४५५ मन्त्रों के द्रष्टा हैं। अथर्ववेद को भृग्वङ्गिरोवेद कहने का अभिप्राय यह है कि भृगु और अङ्गिरस्' वंश वाले ऋषि इस वेद के मुख्यत: द्रष्टा हैं। पुराणों में भृगु और अङ्गिरस् वंश वाले जिन ऋषियों का नाम है, उनमें से अधिकांश अथर्ववेद के मन्त्रों के द्रष्टा हैं।

**(च) छन्दोवेद**— अथर्ववेद का एक प्राचीन नाम छन्दोवेद भी है। अथर्ववेद में इसके लिए छन्दस नाम दिया गया है है।

(छ) **महीवेद**— अथर्ववेद का एक नाम महीवेद भी प्राप्त होता है। इसमें मही अर्थात् महती ब्रह्म-विद्या का वर्णन है।

(ज) **क्षत्रवेद**— शतपथब्राह्मण में अथर्ववेद को क्षत्रवेद कहा गया है। इसको क्षत्रवेद कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें क्षात्रधर्म, राष्ट्ररक्षा, राज्य, युद्ध इत्यादि का वर्णन है।

(झ) **भैषज्यवेद**— अथर्ववेद में इसको भैषज्यवेद भी कहा गया है। इसको भैषज्यवेद या भिषग्वेद कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें अनेक प्रकार की चिकित्साओं, औषधियों आदि का वर्णन है।

## अथर्ववेद की शाखाएँ

पुराणों के अनुसार वेदव्यास जी ने जिस शिष्य को अथर्ववेद का अध्ययन कराया उसका नाम था– सुमन्त। भागवत में लौकिक अभिचार आदि के मुख्य आचार्य होने के कारण सुमन्त "दारुणमुनि" की उपाधि से विभूषित किये गये हैं। सुमन्तु ने दो संहिताएँ अपने शिष्य कबन्ध को दिया जिनके दो पटु शिष्य थे– पथ्य और देवदर्श। पथ्य के तीन शिष्य थे– जाजलि, कुमुद और शौनक। देवदर्श के चार शिष्य थे– मोद, ब्रह्मबलि, पिप्पलाद और शौणकायनि। इसमें शौनक के शिष्य बभ्रु तथा सौन्धवायन बतलाये जाते हैं। इन्हीं मुनियों द्वारा अथर्ववेद का विशेष प्रचार सम्पन्न हुआ।

पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में "नवधाथर्वणोवेदः" लिख कर इस वेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह तथा सायणभाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में अभिन्नता होने पर भी इनके नामों में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इनकी तुलना करने पर इनके अभिधान इस प्रकार निश्चित किये जा सकते हैं–पिप्पलाद, तौद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श, चारणवैद्य। इन शाखाओं में पिप्पलाद और शौनक शाखा के कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं के तो नाममात्र शेष है।

### (१) पैप्पलाद

पिप्पलाद शाखा का अन्य नाम पैप्पलाद, पैप्पलादक, पैप्पलादी, पैप्पल, पिप्पल, पैप्पलायन इत्यादि है। ये सभी नाम आचार्य पिप्पलाद के नाम पर रखे गये है। अथर्ववेद के कश्मीरी शाखा के अभिलेख के अन्त में "अथर्वणिक्-पैप्पलाद-शाखा" नाम पाया जाता है। अथर्वपरिशिष्ट जो कि रॉथ के अनुसार कश्मीरी ग्रन्थ है, के मन्त्र-समुदायों के अन्त में भी उपर्युक्त नाम पाया जाता है और यही नाम "अमेरिकन जनरल ऑफ फिलोलाजी" में भी पाया जाता है। प्रश्नोपनिषद् के अन्त में "इतिश्री पिप्पलादर्थवण्-शाखायां प्रश्नोपनिषद् सम्पत्" लिखा हुआ है। वैतानसूत्र के चौदहवें अध्याय के अन्त

में "इति अथर्ववेदवैतानसूत्रे प्रायश्चित्तप्रसंगे चतुर्दशोध्याय........श्रीमद्गुरु अथर्वणाचार्य-पिप्पलादसयुमथर्वणाय नम........श्रीमद्गुरु अथर्वणाचार्यपिप्पलायनसम्पतोऽयम्" वाक्य प्राप्त होता है। पिप्पलाद शाखा "शन्नो देवी........." से प्रारम्भ होता है, जो सम्भवतः कश्मीरी शाखा का प्रारम्भिक मन्त्र है। अथर्वपरिशिष्ट में भी इस बात का उल्लेख हुआ है। पैप्पलाद नाम पाणिनि, गणकर्त्ता, महाभाष्य, शुक्लयजुर्वेद, चरणव्यूह तथा पुराणो में भी पाया जाता है।

(२) तौद

चरणव्यूह और अथर्वपरिशिष्ट (२३.३) में तौदायन नाम अथर्ववेद के लिए आया है। अब तक के उपलब्ध समस्त आर्थवणिक साहित्य में यह और कही नाम प्राप्त होता है। चरणव्यूह में तौदायन या तोदायन नाम प्राप्त होता है। देवीपुराण में भूतायन नाम भी पाया जाता है।

(३) मौद

अथर्वपरिशिष्ट में अथर्ववेद की एक अन्य शाखा का नाम मौद प्राप्त होता है। अथर्वपरिशिष्ट में मौद और जालद का पैप्पलाद और शौनक के द्वारा आलोचना प्राप्त होती है जो इस प्रकार है– "पैप्पलादं गुरुं कुर्यात् श्रीराष्ट्र-आरोग्यवर्धनम्। तथा शौनकीम् काऽपि देवमंत्रविपचितम्।..........पुरोधा जालदो यस्य मौदं वा स्यात् कथं सनां। अब्दाद् दक्ष्यो मसेभ्यो राष्ट्रभ्रंकम् सा गच्छति। मौदायन, पैप्पलायन, तौदायन और जालदायन की तरह ही अथर्ववेद भी परम्परा प्राप्त नाम है। पाणिनि, गणकर्त्ता और महाभाष्य भी मौद को पैप्पलाद के अत्यन्त निकट बतलाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद चरणव्यूह के बहुत से अभिलेखों में दामोद शब्द पाया जाता है। दामोद का दा शब्द पैप्पलाद के दा से लिया गया प्रतीत होता है और भ्रम उत्पन्न करता है कि दामोद भी अथर्ववेद के शाखा का नाम था।

(४) शौनकीय

कौशिकगृह्यसूत्र (८५.८) में अथर्ववेद की एक अन्य शाखा का नाम शौनकीय प्राप्त होता है। वैतानसूत्र में कहां गया है कि शौनक बलि वही कर सकता है जो जादू सीखना चाहता है। कौशिकगृह्यसूत्र में वैतानसूत्र को शौनकीयसूत्र कहा गया है। अथर्ववेद के प्रकाशित प्रातिशाख्य का नाम शौनकीया चतुरध्यायिका है। अथर्वपरिशिष्ट में इस शाखा के सदस्यों के लिए शौनकीया शब्द प्रयुक्त है। इस पुस्तक में आचार्य शौनक का नाम कई स्थानों पर तथा शौनकीय नाम एक स्थान पर आया है। सायण ने अथर्ववेद के भाष्य के परिचय में कहा है कि कौशिक चार शाखाओं के विधि-विधानों का ग्रन्थ हैं और इन चारों में शौनक प्रमुख है।

सम्पूर्ण शौनकशाखीय अथर्वसंहिता में बीस काण्ड हैं। सभी काण्डों को ३८ प्रपाठकों में विभक्त किया गया है। इसमें ७६० सूक्त और लगभग ६००० मन्त्र हैं। किसी-किसी शाखा से सम्बन्धित संहिता में अनुवाकों के आधार पर भी विभाग प्राप्त होते हैं। अनुवाकों की संख्या ८० है।

**(५) जाजल**

अथर्वपरिशिष्ट में इस वेद की अन्य शाखा का नाम जाजल प्राप्त होता है– "बहुमात्रा देवदर्शैः जाजलैः उरुमातिका।" महाभाष्य में इस शाखा के प्रवर्तक आचार्य जाजल कहा को गया है। अथर्वशाखा के बाद के साहित्य में कई बार जाबल शब्द प्राप्त होता है, जो अथर्वपरिशिष्ट में भी पाया जाता है। रॉथ जाजल नाम का उल्लेख करते है जो शायद जाबल का ही नाम है और यह जाबल वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर पाया जाता है।

**(६) जालद**

जालद नामक शाखा का उल्लेख अथर्वपरिशिष्ट में प्राप्त होता है। अथर्वपरिशिष्ट में इसके शाखा के प्रवर्तक का नाम जालदायन बताया गया है— "(जालदायनैः वितश्तीर सोदैस तीतु भार्गवाः)।" शङ्कर पण्डित के अनुसार जालद अथर्ववेद की शाखाओं का एक भेद है और कौशिक इसका गृह्यसूत्र है।

**(७) ब्रह्मवेद**

यह नाम केवल चरणव्यूह में पाया जाता है। शङ्कर पण्डित ने भी इस नाम का उल्लेख किया है और कुछ द्वितीयक साहित्य भी इसका नाम थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ लेते हैं– ब्रह्मवल, ब्रह्मबाला, ब्रह्मप्ताका इत्यादि।

**(८) देवदर्श**

कौशिकगृह्यसूत्र में शौनकीय के साथ-साथ देवदर्श नाम भी पाया जाता है। पाणिनिगणसूत्र में देवदर्शिनः शब्द पाया जाता है। अथर्वपरिशिष्ट में अथर्ववेद की इस शाखा का नाम पाया जाता है। बाद के साहित्य में दिवदर्श, देवर्षि अथवा देवदर्श नाम प्राप्त होता है।

**(९) चारणवैद्य**

अथर्ववेद की इस शाखा का नाम केशव में कौशकि के स्थान पर पाया जाता है। तथा अथर्वपरिशिष्ट में भी पाया जाता है– चारणवैद्यैर जंघ का मौदेन अष्टङ्गुलानिका।

## अथर्ववेद का प्रतिपाद्य

उपलब्ध अथर्ववेदसंहिता शौनकीय शाखा का है। इसमें २० काण्ड, ७३० सूक्त और ५,९८७ मन्त्र हैं। इनका अध्ययन करने पर इस वेद के समस्त विषयवस्तु को निम्न

श्रेणियों में रखा जा सकता है—

**(क) भैषज्यानि**

अथर्ववेद के बहुत से मन्त्र भैषज्य या रोगों के निवारण से सम्बन्धित हैं। ये मन्त्र या तो सीधे-सीधे रोग को सम्बोधित किये गये हैं या रोग को पैदा करने वाले राक्षसों या दुष्टात्माओं को सम्बोधित किये गये हैं। कुछ मन्त्र औषधियों और जड़ी-बूटियों को सम्बोधित किये गये हैं। अथर्ववेद के ये रोगनाशक मन्त्र अथवा तत् निवारक जादू-टोने भारतीय चिकित्साविज्ञान की सबसे प्राचीन पद्धति है। इसी कारण आयुर्वेद का उपवेद कहते हैं। रोगों के लक्षण इन मन्त्रों में बहुत ही स्पष्ट ढंग से व्यक्त किये गये हैं जैसे– तक्मन् (बुखार) को जो कि बाद के चिकित्सा ग्रन्थों (सुश्रुतग्रन्थ) में रोगों का राजा कहा गया है, अथर्वेवैदिक काल में भी भयानक बीमारी माना जाता था। वहाँ कहा गया है कि यह साँप के समान खतरनाक होता है। इसके आने पर व्यक्ति अत्यन्त ठण्डक का अनुभव करता है। ठण्ड से वह काँपने लगता है। तत्पश्चात् वह अत्यन्त गर्मी महसूस करता है। यह तक्मन् उसके शरीर को आग की तरह जलाता है। यह बुखार कभी-कभी प्रतिदिन एक ही समय पर आता है, कभी-कभी दो-दो दिन पर और कभी-कभी तीन-तीन दिन पर भी आता है। मुख्यतः यह बरसात के मौसम में होता है, लेकिन कभी-कभी दूसरे मौसम में भी होता है। रोगी मनुष्य पीला हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर इसे मलेरिया बुखार कहा जा सकता है। इस बुखार का उपचारक अथवा झाड़ने वाला व्यक्ति मन्त्रोच्चारण करता है कि यह तक्मन् अन्य समूह के लोगों में चला जाए, अन्य क्षेत्र या देश में चला जाए। यक्ष्मा, दमा, खाँसी, पीलिया, सरदर्द, दाँतदर्द, कोढ़ इत्यादि रोगों का उल्लेख भी अथर्ववेद में प्राप्त होता है। विविध प्रकार के साँपों तथा उनके काटने पर उपचार और झाड़ने की विधि बतलायी गयी है। अथर्ववैदिक लोग शल्य-चिकित्सा से भी परिचित थे। बहुत-सी विमारियाँ कीड़ों से होती हैं– यह ज्ञान भी अथर्ववैदिक समाज को था। "विष ही विष को काटता है" यह सिद्धान्त भी इस वेद में पाया जाता है। इस तरह चिकित्साविज्ञान की दृष्टि से अथर्ववेद महत्त्वूपर्ण है। यह भारत के चिकित्साविज्ञान की प्रथम पुस्तक माना जा सकता है।

**(ख) आयुष्याणि**

वे सूक्त जिनमें दीर्घ जीवन और सुन्दर स्वास्थ्य की कामना की गयी है, आयुष्याणिसूक्त के अन्तर्गत रखे गये हैं। इन सूक्तों को आयुष् कहा जाता है। ये आयुष्य मन्त्र भैषज्य और पौष्टिकानि मन्त्रों में ही मिले हुए हैं। ऐसा नहीं कि वे कहीं अलग दिये गये हैं। इन मन्त्रों में किसी व्यक्ति के लम्बे जीवन की कामना की गई है। आदर्श आयु १०० वर्ष मानी गयी है। अथर्ववेद में १०० या १०१ प्रकार के मृत्यु से १०० वर्ष तक बचे

रहने की प्रार्थना देवताओं से की गई है। सुन्दर स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए ये प्रार्थनायें किसी पारिवारिक उत्सव के सन्दर्भ में ही बहुधा किये गये हैं। जैसे कि बच्चों के मुण्डन संस्कार के समय, युवकों के प्रथम बार दाढ़ी काटने के समय इत्यादि। सम्पूर्ण सत्रहवाँ काण्ड तथा कतिपय अन्य काण्डों में ये मन्त्र पाये जाते हैं।

**(ग) पौष्टिकानि**

पौष्टिकानि मन्त्र वे हैं जिनमें धन-धान्य, व्यापार, कृषि इत्यादि की बृद्धि की कामना की गयी है। उचित समय पर वर्षा, जुआ में जीत, जानवरों की बढ़ोत्तरी, सुखद यात्रा की प्रार्थना भी इन मन्त्रों में की गई है। राजा की रक्षा, सोने के पूर्व दुःस्वप्न से रक्षा के लिए, शारीरिक कुशलता के लिए भी इन मन्त्रों में प्रार्थना की गयी है। अनेक प्रकार के रोगों तथा दुःखों से रक्षा ताबीज बाँधकर भी किये जाते थे। इस प्रकार के मन्त्रों के लिए अथर्ववेद का सोलहवाँकाण्ड समर्पित है। इसके अतिरिक्त अन्य जगहों पर भी अनेक ये मन्त्र पाये जाते हैं।

**(घ) प्रायश्चित्तानि**

नैतिक नियमों का उल्लंघन करने पर, देवताओं के प्रति किसी ढंग की त्रुटि होने पर, यज्ञादि में त्रुटि होने पर अथर्ववेद में प्रायश्चित्त के लिये मन्त्र दिये गये हैं। यदि मनुष्य कोई पाप करता था, तो उन प्रायश्चित्तों को करके पाप-मुक्त हो जाता था। जाने-अनजाने कोई, अपराध हो जाना, द्यूत के लिए कर्ज लेकर नहीं चुकाना, बड़े भाई से पहले छोटेभाई की शादी के लिए कर्ज लेना या किसी भी प्रकार का कर्ज लेकर नहीं चुकाना पाप समझा जाता था और इन पापों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

**(ङ) सांमनस्यानि**

राक्षसों, डायनों या कुत्सित आत्माओं के प्रभाव से या किसी अन्य कारण से परिवार में झगड़ा होने पर उसकी शान्ति के लिए, परिवार मे पुनः सामञ्जस्य बैठने के लिए भी अथर्ववेद में मन्त्र पाये जाते हैं। पत्नी-पति, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-भाई, भाई और बहन के बीच भी समझौता के लिये मन्त्र दिये गये है। राजा या जमींदार के क्रोध का कम करने के लिए, सभा को प्रभावित करने के लिए या न्यायविद् को प्रभावित करने के लिए भी मन्त्र दिये गये हैं।

**(च) स्त्रीकर्माणि**

अथर्ववेद में विवाह और प्रेम के लिये भी मन्त्र पाये गये हैं। ये मन्त्र दो प्रकार के हैं– एक प्रकार के मन्त्र वे हैं, जो अच्छे उद्देश्यों जैसे प्रेम की प्राप्ति, शादी, बच्चे का जन्म, गर्भवती स्त्री की सुरक्षा इत्यादि के लिये हैं। दूसरे प्रकार के मन्त्र वे हैं जो दूसरों

का नुकसान करते हैं। इन मन्त्रों में सबसे भयानक मन्त्र वे माने गये हैं, जिनमें किसी आचारविहीन स्त्री की बंध्यता की कामना की गयी है अथवा किसी असामाजिक पुरुष के प्रजनन क्षमता को नष्ट करने की कामना की गयी है।

**(छ) राजकर्माणि**

अथर्ववेद को क्षत्रवेद भी कहा गया है, क्योंकि इसमें बहुत से मन्त्र एसे हैं जो राजा के चुनाव, देश निकाले हुए राजा का पुनर्चुनाव, राजा का सिंहासनारोहण, उसकी रक्षा, युद्ध में सफलता, कुशल राजव्यवस्था की कामना की गयी है। इतना ही नहीं राजा का कर्त्तव्य भी विस्तार से बताया गया है। प्राचीन भारत में प्रत्येक राजा एक राजपुरोहित रखता था जो राजा के विजय और पराक्रम, शौर्य और वीर्य तथा उन्नति के लिए कामना करता था तथा यज्ञादि करवाता था।

**(ज) ब्रह्मण्यानि**

अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहा गया है, क्योंकि इसके अनेक सूक्त आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों का विवेचन करते हैं। इन सूक्तों की दार्शनिक मान्यताएँ उच्चकोटि की हैं। इसमें एक तत्त्व की धारणा को स्पष्टतः स्थापित किया गया है। वही तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माता, पालक और संहारकर्ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, तप, सत्, असत्, प्राण, मन, काल इत्यादि विविध दार्शनिक विषयों का विवेचन भी किया गया है।

प्रथम काण्ड से लेकर सातवें काण्ड तक मन्त्रों का क्रम विषयानुकूल नहीं है। केवल मन्त्रों की संख्या के अनुसार सूक्तों का क्रम बाँधा गया है। प्रथम काण्ड में चार-चार मन्त्रों का क्रम है। दूसरे में पाँच-पाँच का, तीसरे में छः-छः का, चौथे में सात-सात का परन्तु पाँचवें में आठ से अठारह मन्त्रों का क्रम है। छठें में तीन-तीन का क्रम है। सातवें में बहुत से अकेले मन्त्र हैं और ग्यारह-ग्यारह मन्त्रों तक का भी समावेश है। आठवें से लेकर बीसवें काण्ड तक लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जो संख्या में पचास, साठ, सत्तर तथा अस्सी तक चले गये हैं।

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड तक विषयों का कोई क्रम निश्चित नहीं है। उनमें विशेष रूप से प्रार्थनाएँ हैं, मन्त्र हैं और प्रयोग तथा विधियाँ हैं। इन विधियों और प्रयोगों से सब तरह के भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि से रक्षा की जाती है, जादू-टोना करने वालों; सर्पों, नागों और हिंसक जन्तुओं से तथा रोगों से बचाव होता है। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोगों के लिए भी मन्त्रों का सङ्कलन इसी भाग में हुआ है। चौदहवें काण्ड में विवाह की रीतियों का वर्णन है। पन्द्रहवें, सोलहवें तथा सत्रहवें काण्डों में कतिपय विशिष्ट मन्त्र हैं। अठारहवें में अन्त्येष्टि क्रिया की विधियाँ तथा पितरों के श्राद्ध की रीतियाँ हैं। उन्नीसवें में विविध मन्त्रों का सङ्कलन है।

बीसवें में इन्द्र सम्बन्धी सूक्त हैं, जो ऋग्वेद में भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेद शत्रु-विनाश, आत्मरक्षा तथा विपद्निवारण आदि कार्यों के मन्त्रों से भरा पड़ा है। वर्तमान तान्त्रिक प्रयोगों का उद्भव भी इसी वेद से हुआ है। सृष्टि-प्रक्रिया तथा ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित अनेक रहस्यपूर्ण तथ्य भी इस वेद में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं जिनका और विकास आगे चलकर ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में हुआ।

## ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान आता है। ये ग्रन्थ वैदिक साहित्य के अभिन्न अङ्ग माने जाते हैं। 'ब्रह्म' का अर्थ है मन्त्र, यज्ञ आदि। वैदिक साहित्य का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद-मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति, विवरण व्याख्या आदि प्रस्तुत करना है और जिसमें स्थान-स्थान पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं का समावेश है 'ब्राह्मण' कहलाता है– **ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।**

वास्तव में यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं। अनेक वैदिक विद्वान् ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी 'वेद' कहते हैं। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण भाग का सामूहिक नाम 'वेद' है। शबरस्वामी ने ब्राह्मग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस प्रकार बतलाया है—

**हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।**
**परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।**
**उपमानं दशैते तु विषया ब्राह्मणस्य च।।** —शाबर-भाष्य २.१.८

अर्थात् यज्ञ क्यों किए जाँय, कब किएं जाँय, किन साधनों से किए जाँय, यज्ञ के अधिकारी कौन हैं, कौन नहीं है, इत्यादि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ के वर्ण्यविषय को चार भागों में बाँटा जा सकता है– १. विधिभाग २. अर्थवाद भाग ३. उपनिषद् भाग तथा ४. आख्यान भाग। **विधिभाग** में यज्ञों के विधानों का वर्णन है। इसमें यज्ञीय कर्मों का अर्थ तथा अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गयी है। **अर्थवादभाग** में यज्ञों के माहात्म्य को समझाने के लिए प्ररोचनात्मक विषयों का समावेश है। इसमें यज्ञीय कार्यों के समर्थन में सुन्दर-सुन्दर कथाएँ कही गयी हैं। मीमांसाकार जैमिनी ने अर्थवाद के भी तीन भेद बतलाये हैं– गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। ब्राह्मणग्रन्थों के उपनिषद् भाग में ब्रह्मतत्त्व का विवेचन है। इसमें रमणीय कथाओं के माध्यम से आत्मा, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित विषयों का मनोहारी वर्णन

है। आख्यान भाग में प्राचीन ऋषिवंशों, आचार्यवंशों तथा राजवंशों की कथाएँ वर्णित हैं।

प्रत्येक वेद से सम्बन्धित ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। अब क्रमशः इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

**ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ**— ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं– (१) ऐतरेय ब्राह्मण (२) कौषीतकी ब्राह्मण।

**१. ऐतरेय-ब्राह्मण**— ऐतरेय-ब्राह्मण सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं पाँच-पाँच अध्यायों की आठ पञ्चिकाएँ हैं। इनके रचयिता 'महीदास ऐतरेय' हैं, इनका जन्म इतरा नामक दासी से हुआ था। इसमें सामयज्ञ का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले 'अग्निष्टोम' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन हैं। १७वें तथा अठारहवें अध्यायों में तीन सौ साठ दिनों में समाप्त होने वाले 'गवामयन' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है। अवशिष्ट सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा कतिपय अन्य विषयों का समावेश है। इन ब्राह्मण के तेईस से चालीसवें अध्याय तक राजपुरोहित तथा राज्याभिषेक आदि की स्थितियों का भी वर्णन है।

**२. कौषीतकी ब्राह्मण**— 'कौषीतकी ब्राह्मण' का दूसरा नाम 'सांखायन ब्राह्मण' भी है। यह ब्राह्मण ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों का विकसित रूप ही प्रतीत होता है। इस ब्राह्मण में तीस अध्याय हैं। इसमें कतिपय विशिष्ट आख्यानों की सत्ता भी पायी जाती है। प्रो० बेवर ने 'ईशान' एवं 'महादेव' से सम्बन्धित सूक्तों के आधार पर कहा है कि यह ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की रचना के अन्तिम काल में रचा गया है। इसी ब्राह्मण की सातवीं पञ्चिका में 'शुनःशेप' आख्यान है जो संक्षेप में इस प्रकार है– राजा हरिश्चन्द्र वरुण देव को प्रसन्न करके एक पुत्र प्राप्त करते हैं। पुत्र का नाम रोहित है। शर्त यह थी कि वरुण जब चाहेंगे अपने पुत्र को वापस माँग लेंगे। पुत्र रोहित जब पूर्ण युवा हो जाता है, वरुण उसे माँगता है। परन्तु राजा 'वरुण' का बलि देना चाहता है, वरुण यह सुनकर जङ्गल में भाग जाता है। इसके पश्चात् राजा को वरुण के शाप से 'जलोदर' का रोग हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्व को समझाकर लौटने नहीं देता। इस प्रकार वह पाँच वर्षों तक जङ्गल में घूमता रहता है। छठें वर्ष रोहित को 'अजीगर्त' ऋषि अपने तीन पुत्रों- 'शुनुःपुच्छः', 'शुनःशेप', तथा 'शुनोलाङ्गूल', और अपनी पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित एक पुत्र के बदले ऋषि को सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त अपने मध्यम पुत्र 'शुनःशेप' को रोहित के लिए दे देते हैं। वरुण क्षत्रिय 'रोहित' की अपेक्षा ब्राह्मण

'शुन:शेप' को बलि के लिए श्रेष्ठ समझकर स्वीकार कर लेता है। राजसूय यज्ञ में पशु के स्थान पर शुन:शेप की बलि का आयोजन होता है। इसी समय एक समस्या खड़ी हो जाती है कि ब्राह्महत्या का पाप अपने सिर पर कौन लेगा? अजीगर्त स्तम्भ में बाँधने के बदले सौ गायें तथा मारने के बदले सौ गायें लेकर उपस्थित हो जाता है। इसी समय शुन:शेप वेदों की शरण में जाकर उनसे प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग भी ठीक हो जाता है। इसके बाद पुरोहित वर्ग यज्ञमहोत्सव में शुन:शेप का स्वागत करता है। हरिश्चन्द्र यज्ञ के 'होता' बनते हैं तथा अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा करके 'शुन:शेप' को पुत्र बनाकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र, पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय कहा गया है।

## शुक्ल-यजुर्वेद के ब्राह्मण

**शतपथब्राह्मण**— शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय तथा काण्व शाखाओं के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ हैं। दोनों ही 'शतपथ' के नाम से विख्यात हैं। माध्यन्दिनशतपथ में सौ तथा काण्वशतपथ में एक सौ चार अध्याय हैं इसीलिए इनका नाम शतपथ है। यह ब्राह्मण विस्तृत एवं सुव्यवस्थित है। माध्यन्दिन शाखा के ब्राह्मण का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्डों में वाजसनेयि संहिता के प्रारम्भिक अठारह अध्यायों की व्याख्या है। इस ब्राह्मण के रचयिता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। दशम काण्ड में अग्निरहस्य का विवेचन है। ग्यारहवें काण्ड में आठ अध्याय हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड तक उपनयन, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि सर्वमेध आदि का विवेचन है। इसका चौदहवाँ कांण्ड आरण्यक है। इसके प्रथम तीन अध्यायों में 'प्रवर्ग्य' उत्सव का वर्णन है। इसी चौदहवें काण्ड के अन्त में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' प्राप्त होता है।

शतपथ-ब्राह्मण में पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्यों की उपलब्धि होती है। इसमें अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं जिन्हें महाभारत की अनेक कथाओं का स्रोत कहा जा सकता है। रामकथा, कद्रू-सुपर्णा की कथा, पुरूरवा उर्वशी का प्रेमाख्यान, अश्विनीकुमारों द्वारा च्यवन ऋषि को यौवनदान आदि कथाएँ शतपथब्राह्मण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृत-साहित्य के काव्य, नाटक, चम्पू आदि अनेक विधाओं के सूत्र ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान है।

## कृष्ण-यजुर्वेद का ब्राह्मण

**तैत्तिरीयब्राह्मण**— यह ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेदीय शाखा का एक मात्र ब्राह्मण है। शतपथब्राह्मण के समान इसका पाठ स्वरों से युक्त है। परिणामत: अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। यह ब्राह्मण तीन काण्डों में मिभक्त है। इसके प्रथम और द्वितीय काण्ड में आठ

अध्याय है जो प्रपाठक नाम से अभिहित होते हैं तथा तृतीय काण्ड में बारह अध्याय हैं जिनके अवान्तर विभाग अनुवाक नाम से प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन हुआ है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि, बृहस्पतिसव, वैश्वसव इत्यादि अनेक सत्रों का विवेचन हुआ है। प्रत्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्-मन्त्रों को निर्दिष्ट किया गया है। नासदीयसूक्त (ऋ० १०.१२९) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य होम निमित्त प्रस्तुत किया गया है।

तृतीयकाण्ड अर्वान्तर कालीन रचना माना जाता है जिसमें सर्वप्रथम नक्षत्रेष्टि का सविस्तार वर्णन है। चतुर्थकाण्ड में पुरुषमेध के उपयोगी पशुओं का विवेचन हुआ है जो कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में अनुपलब्ध है, उसे माध्यन्दित संहिता से उद्धृत किया गया है। इस काण्ड के अन्तिम तीन अनुवाक (१०-१२) प्रपाठक काठक नाम से यजुर्वेदियों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। सम्भव है– यह अंश काठक शाखीय ब्राह्मण का हो और किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत हो। नचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ विशेषरूप से वर्णन हुआ है जिसमें अग्निविद्या के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करने का निर्देश है। द्वादश प्रपाठक में चतुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का विवेचन हुआ है। वैश्वसृजयाग एक प्रतीकात्मक याग है जिसमें समस्त पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है।

## सामवेदीय ब्राह्मण

सम्प्रति सामवेद से सम्बन्धित चार ब्राह्मण ग्रन्थों की सत्ता प्राप्त होती है। ताण्ड्य या पश्चविंशब्राह्मण, षड्विंशब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण तथा सामविधान ब्राह्मण। **ताण्ड्यब्राह्मण** पच्चीस अध्यायों से संवलित होने के कारण 'पञ्चविंश' भी कहलाता है। इसमें सामान्यतः सोमयज्ञ का वर्णन है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ तथा प्राचीन है। इसमें 'ब्रात्यस्तोम' नामक यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ से ब्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके उन्हें ब्राह्मणों अथवा आर्यजातियों के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता था। इसके रचयिता सम्भवतः ताण्ड नामक कोई ऋषि हैं अथवा 'ताण्ड' ऋषि की शाखा से इस ब्राह्मण (ताण्ड्य) का सम्बन्ध है। **षड्विंश-ब्राह्मण** को कुछ विद्वान् 'ताण्ड्यब्राह्मण' का अंग स्वीकार करते हैं। इसके अन्तिम अध्यायों को 'अद्भुतब्राह्मण' कहा जाता है, जिसमें इन्द्रजाल तथा अन्य अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है। देवताओं के 'रुदन' तथा 'हास्य' का भी सङ्केत इसमें यत्र-तत्र प्राप्त होता है। **जैमिनीय-ब्राह्मण** का सम्बन्ध सामवेद की 'तवलकार' शाखा के साथ है। इसके रचयिता जैमिनि नामक कोई ऋषि रहे होंगे। इसमें पाँच मण्डल हैं। प्रथम तीन मण्डलों में यज्ञ-विधियों का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण है। पाँचवें मण्डल का नाम आर्षेयब्राह्मण है इसमें सामवेदीय ऋषियों के नामों की एक लम्बी सूची प्राप्त

होती है। धर्म तथा आख्यान के इतिहास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। चतुर्थ **सामविधान-ब्राह्मण** में जादू, टोना, शत्रु-निवारण, धनोपार्जन तथा नानाविध उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन एवं कतिपय अनुष्ठानों के विधान का वर्णन है। इसीलिए इसको सामविधान नाम प्राप्त हुआ है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं, जिसमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चितों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त सामवेद से सम्बन्धित कतिपय अन्य ब्राह्मणों का नाम भी होता है जैसे– दैवतब्राह्मण, संहितोपनिषद्ब्राह्मण, वेशब्राह्मण, उपनिषद्ब्राह्मण आदि।

## अथर्ववेदीय ब्राह्मण

अथर्ववेद से सम्बन्धित एकमात्र 'गोपथ-ब्राह्मण' प्राप्त होता है। इसके दो भाग हैं– 'पूर्वगोपथ' एंव 'उत्तरगोपथ'। प्रथम भाग पाँच अध्यायों से युक्त है तथा द्वितीय छः अध्यायों से। इस ब्राह्मण में 'शिव' शब्द की प्राप्ति तथा अति परिष्कृत व्याकरणसम्मत शब्दावली इसको अर्वाचीन सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस पर 'शतपथब्राह्मण' का पर्याप्त प्रभाव दिख-लायी पड़ता है। इसमें ऋग्वेदीय ब्राह्मणों से भी विषय-सामग्री को ग्रहण किया गया है।

ब्राह्मणसाहित्य के गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदीय 'ब्राह्मण ग्रन्थ' ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाले 'होता' नामक पुरोहित-वर्ग के यज्ञीय कार्यों की व्याख्या करते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थ यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले अध्वर्यु, संज्ञक पुरोहित-वर्ग के कार्यों की व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय ब्राह्मणग्रन्थ क्रमशः उद्गाता तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित-वर्गों के कार्यों की व्याख्या करते हैं।

## आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मणों तथा उपनिषदों का मध्यवर्ती साहित्य आरण्यक है। आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों की ही भाषा-शैली में लिखे गये उनके पूरक ग्रन्थ हैं। आरण्यक ग्रन्थों का अध्ययनाध्यापन नगरों तथा ग्रामों से दूर अरण्यों (जङ्गलों) में होता था। तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में कहा गया है—

**अरण्याध्यायनादेतद् आरण्यकमितीर्यते ।**
**अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते ।।**

भारतीय आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम में संहिताग्रन्थ, गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण-ग्रन्थ बानप्रस्थ-आश्रम में आरण्यक ग्रन्थ एवं संन्यासाश्रम में उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन विहित था। वानप्रस्थी व्यक्ति जङ्गलों में जाकर आरण्यक-ग्रन्थों का ही अध्ययन एवं मनन करता था।

आरण्यक-ग्रन्थों के अध्यायों का प्रारम्भ ब्राह्मणग्रन्थों के समान ही है, किन्तु वर्ण्यविषय में सामान्य अन्तर दिखलायी पड़ता है जो क्रमशः रहस्यात्मक दृष्टान्तों या रूपकों के माध्यम से दार्शनिकचिन्तन में बदल गया है। साधारणतः धार्मिक क्रिया-कलापों और रूपकों वाले भाग ही आरण्यक कहलाते हैं एवं दार्शनिक भाग उपनिषद् कहलाते हैं। आरण्यक-ग्रन्थ धार्मिक क्रिया-कलापों का वर्णन करते हैं तथा यत्र-तत्र उनकी रहस्यपूर्ण व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वेदभाष्यकार सायणाचार्य का कथन है कि आरण्यक-ग्रन्थ साधुओं का पाठ्य ब्राह्मण-ग्रन्थ था। प्रो० कीथ का मत है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति आरण्यक-ग्रन्थ भी पुरोहित वर्ग का पाठ्य-ग्रन्थ था। दोनों में अन्तर केवल रहस्यों का था, जो कि ब्राह्मणों में न होकर आरण्यक-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

रामायण में उल्लेख है कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करने के अनन्तर तीन मार्गों में से किसी एक का चयन कर सकता था– १. अपने गुरु के साथ आजीवन रहना २. गृहस्थ बनना ३. अरण्यवासी साधु बनना। इस तृतीय मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति वैखानस या बानप्रस्थ (वनवासी) कहलाता था। सम्भवतः इसी श्रेणी के व्यक्तियों कि लिए अध्ययन विहित था। आरण्यक-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

**ऋग्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ**— ऋग्वेद के दो आरण्यक-ग्रन्थ हैं— **ऐतरेय** तथा **कौषीतकि**। ऐतरेय-आरण्यक का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण के साथ है। इसके पाँच खण्ड प्राप्त होते हैं। दूसरे और तीसरे को उपनिषद् कहा जा सकता है। दूसरे के उत्तरार्द्ध के चार परिच्छेदों में वेदान्त का प्रतिपादन है। इसीलिए यह ऐतरेय उपनिषद् कहलाता है। ऐतरेय-आरण्यक के प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शस्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में ध्वनि-विज्ञान से सम्बन्धित पदपाठ, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यञ्जन के स्वरूप का विवेचन है। चौथे तथा पाँचवें में कतिपय अन्य विषयों के साथ 'निष्कैवल्य-शास्त्र' का वर्णन है। कतिपय विद्वान् उपर्युक्त पाँच खण्डों को पाँच आरण्यक मानते हैं। इनके अनुसार पाँच आरण्यकों का संश्लिष्ट रूप ही ऐतरेय-आरण्यक है।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक कौषीतकि या सांखायन-आरण्यक है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में कर्मकाण्डीय तथ्य सन्निविष्ट हैं। तीसरा खण्ड कौषितकि-उपनिषद् कहलाता है। अध्यायों की संख्या पन्द्रह है।

**यजुर्वेद के आरण्यक-ग्रन्थ**— शुक्लयजुर्वेद का एकमात्र आरण्यक बृहदारण्यक प्राप्त होता है। इसमें आत्मतत्त्व का विशद विवेचन है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीय-आरण्यक है। इसमें काण्ड हैं। काठक शाखा में बतलायी गयी आरणीय विधि का भी इस ग्रन्थ में विचार हुआ है। इसके प्रथम और तृतीय प्रपाठक में यज्ञाग्नि की

स्थापना से नियम है। दूसरे विचार में प्रपाठक में अध्ययन के नियम हैं। चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ प्रपाठकों में दर्शपूर्णमासादि तथा पितृमेधादि विषयों का विचार किया गया है। इसका सातवाँ, आठवाँ तथा नवाँ प्रपाठक उपनिषद् कहलाता है, जिनमें ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन हुआ है। प्रसिद्ध उपनिषद् कठोपनिषद् भी इसी से सम्बन्धित है।

**सामवेद के आरण्यक-ग्रन्थ**— साम्वेद से सम्बन्धित दो आरण्यक प्राप्त होते हैं— 'छान्दोग्य-आरण्यक' छः प्रपाठकों में विभक्त है। इसका सम्बन्ध छन्दोगों के साथ है। छन्दोग का अर्थ है— सामवेद-संहिता के मन्त्रों को गाने वाला व्यक्ति। इस ग्रन्थ में छन्दोगों के करणीय कार्यों का निर्देश भी हुआ है। प्रसिद्ध समावेदीय उपनिषद्, छान्दोग्यो-पनिषद् इसी का अंश है।

अथर्ववेद से सम्बन्धित एक भी आरण्यक-ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। आरण्यक-ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में जो ज्ञानकाण्ड प्राप्त होता है उनका प्रारम्भ आरण्यकों में ही हो गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गृहस्थों के लिए कर्मकाण्डों का विवेचन है, किन्तु वृद्धावस्था में जब वही गृहस्थ वनों का आश्रय ग्रहण करता है तो कर्मकाण्ड के स्थान पर उसे अन्य वस्तु के अध्ययन करने या व्यवहृत करने की आवश्यता प्रतीत होती है। आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करने वाले ग्रन्थ है। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण-विहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों में विहित दार्शनिक चिन्तन के मध्यवर्ती संक्रमण काल की शृङ्खला के रूप में हैं।

## उपनिषद्-ग्रन्थ

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थानों में उपनिषद् का सर्वप्रमुख स्थान है। उपनिषद् वह साहित्य है, जिसमें जीवन और जगत् के रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। उपनिषद् वैदिक-साहित्य की चरमपरिणति रूप ग्रन्थ है। वैदिक साहित्य के अन्तिम ध्येय ब्रह्मतत्त्व का निरूपण होने से इसे वेदान्त भी कहा गया है। यहाँ पर कतिपय प्रमुख उपनिषद्-ग्रन्थों का संक्षेप परिचय दिया जा रहा है—

**१. ऐतरेयोपनिषद्**— इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। यह अत्यन्त लघुकाय है। ऐतरेय-ब्राह्मण के द्वितीय आरण्यक के चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों को ऐतरेयोपनिषद् कहा गया है। इसमें तीन अध्याय हैं, इनमें क्रमशः सृष्टि, जीवात्मा तथा ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है। इसमें विश्व को आत्मा से उद्भूत बतलाया गया है।

**२. कौषीतकि उपनिषद्**— इस उपनिषद् का भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। कौषीतकि-आरण्यक के तृतीय एवं षष्ठ अध्यायों को मिलाकर कौषीतकि उपनिषद् कहा गया है। इसका उपदेश सम्भवतः कुषीतक नामक ऋषि ने किया था। इस उपनिषद् में

ब्रह्म-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें कतिपय ऐसे याज्ञिक विधानों का भी निरूपण है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति करने में सफल होता है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है।

**३. श्वेताश्वतरोपनिषद्**— यह उपनिषद् कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इसमें विश्व को ब्रह्मकृत तथा माया का प्रतिरूप माना गया है। इसमें यत्र-तत्र योग के सिद्धान्तों का सम्यक्रूपेण प्रतिपादन प्राप्त होता है। इसकी रचना कठोपनिषद् के बाद की है, क्योंकि इसमें कठोपनिषद् के अनेक अंश उद्धृत हैं। इसकी रचना से स्पष्ट होता है कि यह उपनिषद् अनेक रचनाकारों की कृतियों का संग्रह है।

**४. कठोपनिषद्**— यह भी कृष्णयजुर्वेदीय-उपनिषद् है। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा से है। इसमें दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय तीन-तीन बल्लियों में बँटा है। इस उपनिषद् में प्रसिद्ध 'यम-नचिकेता' आख्यान के माध्यम से जीव, जगत् और परमतत्त्व का सरल, हृदयग्राही एवं हितसाधक उपदेश मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया गया है। श्रेय अर्थात् आत्मकल्याण (मोक्ष) मार्ग तथा प्रेय अर्थात् सांसारिक बन्धनों के मार्ग का विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् का मत है कि मनुष्यों के समक्ष श्रेय तथा प्रेय दोनों वस्तुएँ उपस्थित होती हैं। उनमें से जो व्यक्ति धीर अर्थात् आत्मकल्याण का इच्छुक होता है, वह श्रेयमार्ग का वरण करता है तथा कुत्सित संस्कार वाला व्यक्ति प्रेयमार्ग का वरण करके मानवजीवन के वास्तविक लक्ष्य से च्युत हो जाता है। इस उपनिषद् में रथ-रथी के रूपक द्वारा शरीर, आत्मा, मन तथा इन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाते हुए असत्कार्यों से सदैव पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है। अतिथि-सत्कार, पितृपरितोष आदि का महत्त्व भी इस उपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है।

**५. तैत्तिरीयोपनिषद्**— कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ को तैत्तिरीय ब्राह्मण कहते हैं। इस ब्राह्मण का अन्तिम भाग तैत्तिरीय-आरण्यक कहलाता है। इसके सात से नौ प्रपाठकों को तैत्तिरीय-उपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रपाठकों को क्रमशः शिक्षा का माहात्म्य, ब्रह्मतत्त्व निरूपण तथा वरुण द्वारा अपने पुत्र को दिया गया उपदेश सङ्कलित है।

**६. मैत्रायणोपनिषद्**— इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के साथ है। इसमें सात अध्याय हैं। इस उपनिषद् की रचना अधिकांश रूप में गद्यमय है। इस उपनिषद् में सांख्य-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

इस उपनिषद् की विषयसाम्रगी तीन प्रश्नों के उत्तर में निहित है। प्रथम प्रश्न में पूछा गया है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश करता है; उत्तर स्वरूप कहा गया है कि स्वयं प्रजापति अपने द्वारा विरचित शरीर में जीवन-सञ्चार करने के लिए पञ्च प्राणों के रूप

में प्रविष्ट होता है। दूसरा प्रश्न है— परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है; इस प्रश्न का समाधान सांख्यसिद्धान्तानुसार देने का प्रयास किया गया है, जिसके अनुसार आत्मा प्रकृति के गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को विस्तृत कर जाता है परिणामतः आत्मज्ञानार्थ प्रयासरत रहता है। तृतीय प्रश्न है कि सांसारिक दुःखों से मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है; उत्तर में कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्वस्था के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान ही दुःखों से मुक्ति दिला सकता है।

**७. बृहादारण्यकोपनिषद्**— यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित है। शतपथ-ब्राह्मण के अन्तिम छः अध्याय ही इस उपनिषद् के नाम से कहे गये हैं। यह पर्याप्त विशालकाय होने से अन्वर्थनामा भी है। यह तीन भागों में विभक्त है; प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में बँटा हुआ है। प्रथम भाग 'मधु-काण्ड' है। द्वितीय भाग 'याज्ञवल्क्य-काण्ड' है तथा तृतीय भाग 'खिल-काण्ड' है, जो परिशिष्ट मात्र माना जाता है। इस उपनिषद् में प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति तथा आत्मा की प्रकृति का निरूपण है।

**८. ईशावास्योपनिषद्**— यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है। शुक्लयजुर्वेद का अन्तिम चालीसवाँ अध्याय ही यह उपनिषद् है। इसका प्रथम मन्त्र 'ईशावास्यमिदम्....' से प्ररम्भ होता है, अतः यह ईशावास्योपनिषद् कहलाता है। इसमें केवल अठारह मन्त्र हैं। परन्तु इसमें उपनिषदों के सभी विषयों का समावेश संक्षेप में ही हो गया है। इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हुए तथा संतुष्टि का आश्रय ग्रहण करते हुए जीवनयापन करने का उपदेश दिया गया है।

**९. केनोपनिषद्**— यह सामवेद की जैमिनीय-शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नवम अध्याय है। इसका प्रारम्भिक मन्त्र **केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचिमां वदन्ति श्रोत्रं चक्षुः कउ देवा युनक्ति।** है इसी आधार पर इसका नाम केनोपनिषद् पड़ गया है। केनोपनिषद् में अत्यन्त सबल भाषा में कहा गया है कि परमतत्त्व सभी इन्द्रियों का इन्द्रिय है तथा इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं। परमतत्त्व समस्त देवताओं का देवता है एवं समस्त उपास्यों का उपास्य है। परम-तत्त्व का ज्ञाता सभी पापों से मुक्त हो जाता है परिणामतः शाश्वत अमरपद का अधिकारी हो जाता है।

**१०. मुण्डकोपनिषद्**— यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनक शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभक्त है; तथा प्रत्येक मुण्डक दो-दो अध्यायों में विभक्त हैं। इस उपनिषद् का नामकरण सम्भवतः 'मुण्ड' साधुओं के नाम हुआ है जो

जैन तथा बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन साधुओं की भाँति सिर मुड़ाये रहते थे। इस उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन किया गया है।

**११. माण्डूक्योपनिषद्**— यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित एक अति संक्षिप्त उपनिषद् है। इसमें कुल बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकर की महिमा का प्रतिपादन किया गया है—

**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।**

अर्थात् जो कुछ भूत, भविष्यत्, वर्तमान है, सब ओंकार ही है तथा जो कुछ इन तीन कालों से परे है वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् का उपसंहार भी ओंकार तत्त्व की महिमा के साथ हुआ है।

**१२. प्रश्नोपनिषद्**— अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के साथ सम्बन्धित यह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण उपनिषद् गद्यमय है; कहीं-कहीं पद्य भी प्राप्त होते हैं। इसमें पिप्पलाद ऋषि ने भरद्वाज के पुत्र सुवेश्म, शिवि के पुत्र सत्यवान्, कोशलदेशीय आश्वालयन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबन्धी इन छः जिज्ञासु ऋषियों के छः प्रश्नों का विचारपूर्ण उत्तर प्रस्तुत किया है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न हैं— प्रजाओं के शरीर धारण करने वाले देवताओं से सम्बन्धित, शरीर में प्राणों के प्रवेश एवं निर्गमन से सम्बन्धित, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता, निद्रा, जागरण तथा स्वप्न आदि के विषय में, ओंकार की उपासना के सम्बन्ध में तथा षोडश कलाओं से सम्पन्न पुरुष के सम्बन्ध में। इन्हीं प्रश्नों के उत्तरस्वरूप आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक उपनिषदों की सत्ता प्राप्त होती है। परवर्ती उपनिषद् मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नामों की सूची दी गई है। इन सभी उपनिषदों का संग्रह निर्णयसार प्रेस बम्बई से गुटका के रूप में प्रकाशित हुआ है। अड्यार लाईब्रेरी मद्रास से प्रकाशित उपनिषद् संग्रह में एक सौ उन्यासी उपनिषदों की गणना करायी गयी है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित 'उपनिषद्वाक्य महाकोश' में दो सौ तेईस उपनिषदों का नामोल्लेख है। इनमें कालक्रम के अनुसार उपनिषदों को 'प्राचीन' तथा 'अर्वाचीन' दो भागों में बाँटा जा सकता है।

अर्वाचीन होने का सबसे स्थूल किन्तु निश्चित लक्षण यह है कि ये अर्वाचीन उपनिषदें साम्प्रदायिक हैं, इनमें तत्तत् सम्प्रदायों के उपास्य देवता, उपासना पद्धति इत्यादि की ही प्रचुरता है एवं प्राचीनतम उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैक्यवाद, माया, सृष्टि इत्यादि का विवेचन नहीं के बराबर है।

## वेदाङ्ग

वेदों के सहायक-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष इन छः शास्त्रों को वेदाङ्ग कहा गया है। जिस प्रकार अङ्गविहीन शरीर असम्भव है, उसी प्रकार इन छः अङ्गों के अध्ययन के अभाव में वेदाध्ययन असम्भव है। वेदों के शुद्धपाठ, अर्थज्ञान, यज्ञों में मन्त्रों की उपयोगिता, यज्ञ के लिए उचित समय का ज्ञान तथा वेदि-निर्माण की सही प्रक्रिया का ज्ञान वेदाङ्गों के अभाव में सम्भव नहीं है। पाणिनि-शिक्षा में कहा गया है कि 'ज्योतिष्' वेदों के लिए आँख है, निरुक्त क़ान है, शिक्षा घ्राण है, व्याकरण मुख है, कल्प हाथ है, तथा छन्द पाँव हैं—

**छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।**
**ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।**
**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।**
**तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।**

— पा०शि० ४१, ४२

इस प्रकार जैसे आँख, कान, नाक, मुख, हाथ तथा पाँव से शरीर में पूर्णता रहती है, उसी प्रकार इन षड्वेदाङ्गों के अध्ययन से वेदाध्ययन में परिपूर्णता आती है। अब क्रमशः वेदाङ्गों का संक्षित परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

**शिक्षा**— षड्वेदाङ्गों में शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथम वेदाङ्ग है। इसको वेदों की 'नासिका' कहा गया है— 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'। यह शुद्ध उच्चारण का शास्त्र है— **स्वरवर्णोच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा**। जिस शास्त्र में मन्त्रों के स्वर एवं व्यञ्जनों के शुद्ध उच्चारण को जाना जाता है। वह 'शिक्षा' कहलाता है। स्वर तथा व्यञ्जनों का ठीक-ठीक उच्चारण ही मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का अवबोधन कराता है।

यह शास्त्र यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है; परन्तु इस पर लिखे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। एक अनुश्रुति के अनुसार 'जैगीषव्य' के शिष्य 'बाभ्रव्य' इस शास्त्र के प्रवर्तक हैं। ऋग्वेद के क्रमपाठ की व्यवस्था भी इन्होंने ही की थी। 'महाभारत-शान्तिपर्व' के अनुसार आचार्य 'गालव' ने एक शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण किया था। अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना' से 'भारद्वाज-शिक्षा' का प्रकाशन हुआ है; जिसके रययिता 'भरद्वाजमुनि' माने जाते हैं। वेदों के शाखा भेद के कारण शिक्षाएँ भी विविध प्रकार के उच्चारण विधानों को प्रस्तुत करती हैं। पाणिनि ने भी एक शिक्षा-ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो पाणिनि-शिक्षा के नाम से प्राप्त होता है। वाराणसी से 'शिक्षा-संग्रह' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें अनेक शिक्षाएँ

एकत्र संगृहीत हैं। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षाएँ हैं। आज केवल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद-शिक्षा, अथर्ववेद की माण्डूकी शिक्षा ही सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त भी नारदीय-शिक्षा, गौतम-शिक्षा, केशवी-शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा, आपिशलि-शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका-शिक्षा इत्यादि अनेक शिक्षाग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

ध्वनि का आरोह-अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन आदि शिक्षा के मुख्य विषय हैं। इसके वर्ण्य-विषयों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इन छः तत्त्वों की गणना की जाती है। वर्णों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न आदि के अतिरिक्त 'साम' अर्थात् श्रुतिमधुर पाठ तथा 'सन्तान' अर्थात् सन्धि को भी कतिपय शिक्षा-ग्रन्थों में विवेच्य विषय बनाया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों को भी इसी वेदाङ्ग में रखा जाता है।

**कल्प**— षद्वेदाङ्गों में दूसरा वेदाङ्ग 'कल्प' नाम से प्रसिद्ध है। 'कल्प' का मुख्य विषय है— धार्मिक कर्मकाण्डों का प्रतिपादन, यज्ञों का विधान और संस्कारों की व्याख्या। इससे सम्बन्धित ग्रन्थ 'सूत्र-ग्रन्थ' कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में कल्प (यज्ञ-विधान) संगृहीत हैं इन्हें कल्पसूत्र कहते हैं। इनके चार विभाग हैं— श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा सुल्वसूत्र। श्रौतसूत्रों में श्रौतयज्ञों का विवेचन है। श्रौत्रयज्ञ दो प्रकार के हैं— सोमसंस्था' तथा 'हविःसंस्था'। गृह्यसूत्रों में गृह्ययज्ञों का विधान है। इसे 'पाकसंस्था' कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों के सातषोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम। हविःसंस्था के प्रकार हैं— अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य और पशुबन्ध। पाकसंस्था के प्रकार हैं— सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ और अष्टका। कुल मिलाकर कल्पसूत्रों में बयालिस कर्मों का प्रतिपादन है। चौदह श्रौतयज्ञ, सात गृह्ययज्ञ, पाँच महायज्ञ और सोलह संस्कारयज्ञ।

श्रौतसूत्रों में कात्यायन-श्रौतसूत्र सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। इसमें छब्बीस अध्याय हैं। शतपथब्राह्मण के प्रारम्भिक नौ काण्डों में विहित क्रियाओं का विधान इसके प्रारम्भिक अठारह अध्यायों में किया गया है। उन्नीसवें अध्याय में सौत्रामणी, बीसवें में अश्वमेध, इक्कीसवें में पुरुषमेध, पितृमेध और सर्वमेध, बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें अध्यायों में एकाह, अहीन तथा सत्र आदि याज्ञिक क्रियाएँ वर्णित हैं। पच्चीसवें में प्रायश्चित एवं छब्बीसवें में 'प्रवर्ग' पर विचार किया गया है। श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों का विवेचन किया गया है।

गृह्यसूत्रों में घरेलू यज्ञों तथा परिवार के लिए आवश्यक धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है। गृह्यसूत्रों के तीन भाग हैं। प्रथम में छोटे यज्ञों का वर्णन है, दूसरे भाग में षोडश-

संस्कारों का वर्णन है। तीसरे में कतिपय मिश्रित विषय हैं, जैसे गृहनिर्माण सम्बन्धी कर्म, श्राद्धकर्म, पितृयज्ञ तथा अन्य लघुक्रियाएँ। 'कौशिक-गृह्यसूत्र' में चिकित्सा तथा दैवी-विपत्तियों को दूर करने के उपायों का भी समावेश है। इसकी भी संख्या वेदों की शाखाओं पर आधारित है। ऋग्वेद से सम्बन्धित सांख्यायन, तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र, सामवेद से सम्बन्धित गोभिल, खादिर और जैमिनि गृह्यसूत्र, शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित-पारस्कर-गृह्यसूत्र, कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्धित-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस तथा अथर्ववेद से सम्बन्धित-कौशिक-गृह्यसूत्र प्राप्त होते हैं।

धर्मसूत्रों में यज्ञों का वर्णन न होकर धार्मिक आचारों तथा व्यवहारों का वर्णन प्राप्त होता है। धर्मसूत्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चारों आश्रमों का वर्णन किया गया है। साथ ही राजा, व्यवहार के नियम, अपराध सम्बन्धी तत्त्व, विवाह, उत्तराधिकार, अन्त्येष्टि क्रियाएँ, तपस्या के नियम आदि विषयों का भी समावेश है। प्रसिद्ध धर्मसूत्र पाँच हैं— आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, गौतम और वशिष्ठ।

शूल्बसूत्रों में यज्ञवेदिनिर्माण की प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। विभिन्न प्रकार की वेदियों के निर्माण की विधि रेखागणितीय आधार पर बतलायी गयी है। भारतीय रेखागणित के मूलसूत्र इन्हीं ग्रन्थों में प्राप्त हैं। शुल्व का अर्थ है– धागा। यज्ञ वेदि का निर्माण धागे द्वारा ही नापकर किया जाता था; इसलिए इन ग्रन्थों का नामकरण शुल्वसूत्र किया गया है।

**व्याकरण**— वेद पुरुष का मुख 'व्याकरण' कहा गया है। वेदाङ्गों में इसका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि का निर्धारण करके अर्थबोध कराना व्याकरणशास्त्र का ही कार्य है— **व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्** किस शब्द में कौन सी धातु है कौन सा प्रत्यय है तथा तदनुरूप शब्द का अर्थ क्या हो सकता है, इन तथ्यों का सही ज्ञान व्याकरण के अध्ययन के अभाव में सम्भव नहीं है। किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि बहुत पढ़ने के बाद भी व्याकरण का पढ़ना अनिवार्य है। अन्यथा शकृत् = विष्ठा तथा सकृत् = 'एकबार' में, सकल = सम्पूर्ण तथा शकल = खण्ड में, स्वजन = आत्मीय जन तथा श्वजन = कुत्तों में भेद करना कठिन हो जायेगा।

**यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम्।**
**स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलच्छकलः सकृच्छकृत्।।**

व्याकरण की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है, परन्तु सर्वांगपूर्ण, सुव्यवस्थित व्याकरण छठीं शताब्दी ई०पू० से प्रारम्भ हुआ जब महर्षि पाणिनि ने तीन

हजार नौ सौ छियान्बे सूत्रों से समन्वित, आठ अध्यायों से संवलित अष्टाध्यायी संज्ञक ग्रन्थ की रचना की। पाणिनिकृत अष्टाधारी 'गागर में सागर' वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाला ग्रन्थ है। इसमें कुल आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ बत्तीस पादों में विभक्त है। लौकिक संस्कृत के साथ ही साथ वैदिक भाषा का भी विवेचन पाणिनि की दृष्टि से नहीं बचा है। अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि ने विस्तृत भाष्य की रचना की है, जिसे महाभाष्य संज्ञा से विभूषित किया गया है। कात्यायन ने वार्तिक लिखकर पाणिनि की दृष्टि से कतिपय ओझल तथ्यों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इस प्रकार इन तीनों मुनियों (पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि) को पाकर व्याकरणशास्त्र परिपूर्णता को प्राप्त कर लिया है।

आचार्य वररुचि के अनुसार रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये व्याकरण के पाँच प्रयोजन हैं— **रक्षोहागमलत्वसन्देहाः प्रयोजनम्**। वेदों की रक्षा पद, वर्ण, मात्रा के स्वरूपज्ञान से सम्भव है। 'ऊह' का अर्थ है— नूतन पदों की कल्पना। 'आगम' का ज्ञान भी व्याकरण के अध्ययन के अभाव में असम्भव है। अतः व्याकरणशास्त्र का अध्ययन वेदों के ज्ञान के लिए नितान्त स्पृहणीय है।

**निरुक्त**— सायणाचार्य ने 'ऋग्वेद-भाष्य भूमिका' में कहा है— **अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्** अर्थात् वेदार्थ-बोध के लिए स्वतन्त्र रूप में कठिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके अर्थ-निर्धारण करने वाला शास्त्र 'निरुक्त' कहा जाता है। वस्तुतः 'निघण्टु' नामक वैदिक क्लिष्ट पदों के संग्रह की व्याख्या, 'निरुक्त' है। 'निघण्टु' में उन वैदिक पदों का एकत्र सङ्कलन किया गया है, जिनमें सरलता से प्रकृति और प्रत्यय का ज्ञान नहीं हो पाता। महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार 'निघण्टु' के रचनाकार का नाम 'काश्यप' है। 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः इस प्रकार की जाती है— **निश्चयेन घटयति पठति शब्दान् इति निघण्टुः**। निघण्टु पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक चतुर्थ में अनेकार्थक तथा पञ्चम में देवता वाचक विशिष्ट शब्दों का संग्रह है। निघण्टु के शब्दों की संख्या एक हजार तीन सौ इकतालिस है।

सम्प्रति उपलब्ध निरुक्त के रचयिता 'यास्क' हैं। कतिपय विद्वान् 'निघण्टु' को भी इन्हीं की रचना मानते हैं। यास्क ने निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में की है। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अगले तीन अध्यायों की है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय की व्याख्या निरुक्त के अवशिष्ट छः अध्यायों में की है। निरुक्त में कुल चौदह अध्याय हैं तथा अन्त के दो अध्याय परिशिष्ट हैं। इसमें भी तीन काण्ड हैं। निघण्टु के व्याख्याकार के रूप में 'देवराज यज्वा' का नाम भी प्राप्त होता है। सायणाचार्य ने क्षीरस्वामी तथा अन्य कई आचार्यों का नाम निघण्टु

के व्याख्याकारों के रूप में उल्लिखित किया है।

निरुक्त के प्रसिद्ध भाष्यकार के रूप में 'दुर्गाचार्य' का नाम विख्यात है। स्वयं यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक निरुक्तकारों की सत्ता स्वीकार की है। कतिपय विद्वानों के अनुसार यास्क चौदहवें निरुक्तकार हैं। यास्क के अनुसार अन्य निरुक्तकारों के नाम इस प्रकार हैं— अग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णनाभ, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि।

निरुक्त में कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दी गयी है तथा यह बतलाया गया है कि कौन सा शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में क्यों रूढ़ हो गया है। निरुक्त का विषय है— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग—

**वर्णगमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।**
**धातोस्तदर्थातिशयेन योगो तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥**

निरुक्तकार सभी शब्दों को धातुज अर्थात् धातु और प्रत्ययों के योग से उत्पन्न मानते हैं।

वैदिक देवताओं के विषय में भी निरुक्त में विवरण प्राप्त होते हैं। यास्क के अनुसार देवताओं के तीन वर्ग हैं— पृथिवी स्थानीय देवता, अन्तरिक्ष स्थानीय देवता तथा द्युलोक स्थानीय देवता।

**छन्द**— 'पाणिनि शिक्षा' में छन्द को वेद का 'पाद' बतलाया गया है— 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। जिस प्रकार पैरों के बिना किसी जीवधारी की गमन क्रिया असम्भव है, उसी प्रकार वेदमन्त्रों का पाठ छन्दोज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता। जहाँ भी पद्यात्मकता होगी वहाँ छन्दात्मकता भी अवश्य होनी चाहिए। सर्वानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में कात्यायन ने स्पष्ट कहा है— **यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः** अर्थात् छन्द से यह ज्ञान होता है कि मन्त्र का पाठ कितने अक्षरपरिमाण में किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद पद्यमय हैं। इनके पाठ की व्यवस्था छन्द पर आधारित हैं। सम्भवतः इसीलिए 'छन्दस्' शब्द वेद का पर्याय बन गया है।

'छन्द' का मुख्य प्रयोजन है— 'भाषा का लालित्य'। गद्य को सुनने से मन को वह तृप्ति नहीं मिलती, जो पद्य को सुनने से प्राप्त होती है। पद्यों में शीघ्र स्मरण होने का गुण भी रहता है। वेदाध्ययन में छन्दों का अत्यधिक महत्त्व है। छन्दों के ज्ञानाभाव में वेदाध्ययन पाप माना जाता है।

कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणिका' में सात छन्दों का उल्लेख हुआ है। गायत्री,

उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, तथा पंक्ति। गायत्री छन्द तीन चरणों का होता है, इसमें कुल अक्षरों की संख्या चौबीस होती है। उष्णिक् अट्ठाईस अक्षरों का छन्द है। अनुष्टुप् में बत्तीस अक्षर, बृहती में छत्तीस अक्षर, पंक्ति में चालीस अक्षर, त्रिष्टुप् में चौआलिस अक्षर तथा जगती छन्द में अड़तालिस अक्षर होते हैं। कात्यायन ने इस सात छन्दों के अनेक भेदों को स्वीकार किया है।

वैदिक छन्दों का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' है। पिङ्गलरचित 'छन्द:सूत्र' भी वैदिक छन्दों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। उल्लेखनीय है कि प्राय: सभी वैदिक छन्द आक्षरिक हैं तथा उनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। लौकिक छन्दों का विकास भी वैदिक छन्दों के आधार पर हुआ है।

**ज्योतिष**— ज्योतिष को वेद का 'नेत्र' कह गया है— **ज्योतिषं नेत्रमुच्यते**। याज्ञिक विधिविधान के लिए तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर के ज्ञान की अतीवावश्यकता होती है। इस आवश्यकता के लिए 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का अध्ययन अपरिहार्य है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' से सम्बन्धित दो प्रमुख ग्रन्थ प्राप्त होते हैं— १. याजुष ज्योतिष जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। २. ऋक्ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है।

'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ का प्रणयन 'लगध' नामक विद्वान् ने किया है। इसमें सत्ताइस नक्षत्रों की गणना करायी गयी है। परवर्ती काल में वराहमिहिर के 'सूर्यसिद्धान्त' ने विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, बाद में चलकर ज्योतिष और गणित ज्योतिष। कालान्तर में इसके होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त, इन पाँच अङ्गों का विकास हुआ। वेदाङ्ग ज्योतिष में ज्योतिष को वेद का सर्वोत्तम अङ्ग स्वीकार किया गया है। मयूरों की शिखा तथा सर्पों की मणि की भाँति ज्योतिष भी वेदाङ्गों का सिरमौर है—

**यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।**
**तद्वद् वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥**

इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि ज्योतिष का जानकार व्यक्ति ही यज्ञ करे क्योंकि तैत्तिरीय-आरण्यक में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्तऋतु में क्षत्रिय को ग्रीष्मऋतु में तथा वैश्य को शरदऋतु में अग्नि का आधान करना चाहिए। कुछ यज्ञ सायंकाल में कुछ प्रात:काल में, कुछ विशिष्ट मासों एवं विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं इसलिए जो व्यक्ति इस कालविधान-शास्त्र (ज्योतिष) को जानता है वही वेद को जानता है—

**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालातिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।**
**तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥**

## प्रातिशाख्य

सम्प्रति प्रातिशाख्य के नाम से छः ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं– ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य या बाजसनेयिप्रातिशाख्य, शौनकीया चतुरध्यायिका, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र। इनका परिचय दिया जा रहा है—

### ऋग्वेद प्रातिशाक्य

यह प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की शैशिरीय उपशाखा से सम्बन्धित माना जाता है। चरण से सम्बन्ध मानने वाले विद्वानों के अनुसार इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण ऋक्चरण से है। उपलब्ध सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थों में यह सर्वप्राचीन तथा आकार में विशालकाय है। विषयवस्तु के विवेचन की दृष्टि से यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह प्रातिशाख्य दो रूपों में उपलब्ध होता है। (१) छन्दोबद्ध तथा (२) सूत्रबद्ध। दोनों रूपों में उपलब्ध यह प्रातिशाख्य तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में छः पटल हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रातिशाख्य में अट्ठारह पटल हैं। छन्दोबद्ध इस प्रातिशाख्य में पाँच सौ उन्तीस कारिकाएँ तथा सूत्र रूप में निबद्ध प्रातिशाख्य में एक हजार सरसठ सूत्र हैं। इसके कर्त्ता आचार्य शौनक हैं। प्रातिशाख्य के प्रथम पटल के पूर्व में **वर्गद्वय** संज्ञक दश अन्य कारिकाएँ भी हैं।

इसके प्रथम पटल में प्रातिशाख्य के सूत्रों में विहित-विधानों के सम्यक् प्रकारेण अवबोधनार्थ संज्ञा तथा परिभाषा-सूत्रों का विधान किया गया है। ग्रन्थ के द्वितीय, चतुर्थ तथा पञ्चम पटलों में सन्धियों का विशद् एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत है। तृतीय पटल में उदात्तादि स्वरों तथा इन स्वरों की सन्धियों का विधान विहित है। षष्ठ, सप्तम, अष्टम तथा नवम पटलों में दीर्घत्व तथा दशम एवं एकादश पटलों में पदपाठ-विषयक विधान हैं। द्वादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश पटलों में वर्णोच्चारण एवं वर्णोच्चारण में होने वाले दोषों का सम्यक् वैज्ञानिक विवेचन हुआ है पञ्चदश पटल में वेदाध्ययन-विषयक विचार प्रस्तुत है। षोडश सप्तदश एवम् अष्टादश पटलों में छन्द-विषयक विधान विहित हैं।

### तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

यह कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा से सम्बन्धित है तथा चरण से सम्बन्धित मानने वालों के अनुसार यह सम्पूर्ण कृष्णयजुश्चरण की संहिताओं से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य विस्तार में ऋग्वेदप्रातिशाख्य तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य से छोटा है किन्तु विषय-वस्तु के विधान की दृष्टि से यह अधिक विस्तृत, वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक है। इस प्रातिशाख्य का सूत्रात्मक रूप उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह अध्याय हैं। इस प्रकार तैत्तिरीयप्रातिशाय में कुल चौबीस अध्याय

हैं। इसमें कुल सूत्रों की संख्या पाँच सौ सैतालिस है। दु:ख का विषय है कि इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य में प्रतिपादित विषय इस प्रकार है– प्रथम अध्याय में प्रातिशाख्य के सूत्रों को सम्यक् रूपेण समझने हेतु संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का विधान हुआ है। द्वितीय अध्याय में शब्दोत्पत्ति एवं वर्णोचाण-विषयक अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में संहितास्थ दीर्घ स्वरों के पदपाठ में ह्रस्व होने का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह स्वर विहित हैं। पञ्चम से त्रयोदश अध्याय तक सन्धि-विषयक विधान है। चतुर्दश अध्याय में द्वित्व, आगम तथा ऊष्मवर्णों के विकार का विधान है। पञ्चदश अध्याय से द्वाविंश अध्याय तक अनुस्वार, अनुनासिक तथा उनका परस्पर भेद, ओङ्कार का उच्चारण, विक्रमस्वर, कम्प, क्षैप्रादि स्वरों के स्वरूप एवं उनके उच्चारणप्रकार, अङ्गाङ्गिभाव, प्रचय स्वर, उदात्तादि स्वर एवम् उनके उच्चारणप्रकार इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। त्रयोविंश अध्याय में वाणी के सात स्थानों तथा क्रुष्टादि स्वरों का विधान है। चतुर्विंश अध्याय में चार प्रकार की संहिताओं के लक्षण तथा वेदाध्ययन-विषयक विचार किया गया हैं।

## शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिशाखा से तथा चरण से प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध मानने वाले विद्वानों के अनुसार इसका सम्बन्ध शुक्लयुश्चरण की सम्पूर्ण शाखाओं से है। अत: वाजसनेयिप्रातिशाख्य भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता आचार्य कात्यायन हैं। वाजसनेयिप्रातिशाख्य विस्तार में ॠग्वदेप्रातिशाख्य से छोटा तथा तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य से बड़ा है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है। यह प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपलब्ध होता है। अष्टम अध्याय में कतिपय विधान करिकाबद्ध हैं। मुद्रित संस्करणों में सूत्रों की संख्या समान नहीं है। सम्प्रति छपे संस्करणों में कम से कम सूत्रों की संख्या सात सौ पच्चीस तथा अधिक से अधिक सात सौ चालीस है। इसमें वर्णित विषय भी क्रमरहित तथा तितर-वितर हैं।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति, वेदाध्ययनविधि, हस्तचालन द्वारा स्वरप्रदर्शन, संज्ञा-परिभाषा, वर्णोच्चारण में स्थान एवं करण, अक्षरविभाजन तथा उदात्तादि स्वरों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत है। द्वितीय अध्याय में नाम-पदों के स्वर-विषयक विधान हैं। तृतीय अध्याय में सन्धि विहित है। चतुर्थ अध्याय में सन्धि, पादपाठ तथा स्वर-विषयक विधान के साथ-साथ कतिपय पदों के स्वरूप के विषय में भी विचार किया गया है। पञ्चम अध्याय में पदपाठ-विषयक अवग्रह के नियम विहित हैं। षष्ठ अध्याय में आख्यात तथा उपसर्ग पदों के स्वरविषयक विधान के साथ-साथ कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप भी वर्णित है। सप्तम अध्याय में परिग्रह-सम्बन्धी नियम हैं।

अष्टम अध्याय में वर्णसमाम्नाय, वेदाध्ययन-विधि, वेदाध्ययन का फल, वर्णों के देवता, पदों के प्रकार, लक्षण, गोत्र तथा देवता-विषयक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है।

**शौनकीया चतुरध्यायिका**

यह प्रातिशाख्य अथर्ववेदीय **शौनक** शाखा से सम्बन्धित है। प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरण से माने वाले विद्वानों के अनुसार यह अथर्वचरण की सभी शाखाओं से सम्बन्धित है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। शौनक-शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही **शौनकीया** और **चार अध्यायों** में विभक्त होने के कारण **चतुरध्यायिका** इस प्रकार यह प्रातिशाख्य **शौनकीया चतुरध्यायिका** नाम से प्रसिद्ध है। ह्विटनी ने इसका नामकरण अथर्ववेदप्रातिशाख्य किया है। प्रो० सूर्यकान्त ने इसका सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक शाखा से तथा अथर्ववेदप्रातिशाख्य का सम्बन्ध पैप्लाद शाखा से माना है किन्तु डॉ० जमुनापाठक के अनुसार चतुरध्यायिका ही अथर्वचरण की समस्त शाखाओं का प्रातिशाख्य है तथा अथर्ववेदप्रातिशाख्य नाम से प्रो० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित प्रातिशाख्य चतुरध्यायिका का परिशिष्ट तथा उसका पूरक है। डॉ० पाठक ने इस ग्रन्थ का नाम अथर्ववेदीया चतुरध्यायिका यह नाम स्वीकार किया है।

**अथर्व-प्रातिशाख्य**

प्रो० सूर्यकान्त के अनुसार अथर्वप्रातिशाख्य का सम्बन्ध अथर्ववेद की पैप्लादसंहिता से है तथा यह पाणिनि से अर्वाचीन है। इस प्रातिशाख्य के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। (१) लघुपाठ, (२) बृहत्पाठ। लघुपाठ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है। बृहत्पाठ में कुछ कारिकाएँ भी हैं। लघुपाठ में सूत्रों की संख्या दो सौ तेइस तथा बृहत्पाठ में सूत्रों की संख्या तीन सौ चौतीस है। दोनों पाठों के सम्यक् अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेदप्रातिशाख्य का लघुपाठ बृहत्पाठ पर आधारित है। कतिपय विद्वान् लघुपाठ को ही मूल स्वीकारते हैं, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि (१) अथर्वप्रातिशाख्य के लघुपाठ में विहित सूत्रों द्वारा किसी भी विषय का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तथा (२) लघुपाठ के सूत्रों में अनेक त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य तीन प्रपाठकों में विभक्त है।

अथर्वप्रातिशाख्य में संहिता की निष्पत्ति के लिए सन्धि-नियमों के विधान किये गये हैं। यह विधान यत्र-तत्र तीनों प्रपाठकों में उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेदप्रातिशाख्य के तीनों प्रपाठकों में स्वर-विषयक विधान बड़े विस्तार में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें पदपाठ में होने वाले विग्रह, अवग्रह तथा समापत्ति इत्यादि विषयों पर भी विचार किया गया है।

**ऋक्तन्त्र**

यह सामवेदीय **कौथुम** शाखा से सम्बन्धित प्रातिशाख्य है। इसके कर्त्ता के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कतिपय विद्वान् आचार्य शाकटायन को और कतिपय औद्व्रजि को इसका कर्त्ता स्वीकारते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच प्रपाठकों में विभक्त है, जिसमें सब मिलाकर सूत्रों की संख्या दो सौ सत्तासी है।

ऋक्तन्त्र में वर्णसमाम्नाय, वर्णोच्चारण, पारिभाषिक-संज्ञाएँ, अभिनिधान, अङ्गत्व-विचार, काल-निरूपण तथा उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभक्ति-लोप, संहिता एवं सन्धि-विषयक विधान भी विहित हैं। ऋक्तन्त्र में विहित पारिभाषिक संज्ञाओं का अपना विशेष वैशिष्ट्य है। इसकी संज्ञाओं की तीन श्रेणियाँ हैं— (१) कृत्रिमपरिभाषिक संज्ञाएँ— इसमें प्रातिशाख्यकार ने कतिपय कृत्रिम पारिभाषिक संज्ञाओं का विधान किया है जैसे- पादादि के लिए **णि** तथा संयोग के लिए **सण्** इत्यदि। (२) अपूर्ण पारिभाषिक संज्ञाएँ— प्रातिशाख्यकार ने कतिपय अपूर्ण पारिभाषिक संज्ञाओं का प्रयोग किया है। जैसे उदात्त के लिए **उत्** दीर्घ के लिए **घ** तथा लघु के लिए **घु** इत्यादि। (३) अन्वर्थ संज्ञाएँ— प्रातिशाख्यकार ने कतिपय अन्वर्थक संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है जैसे- स्वर, व्यञ्जन इत्यादि।

# देवता-परिचय

## वरुण

ऋग्वेद के देवताओं में वरुण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि सम्पूर्ण ऋग्वेद में मात्र १२ सूक्त ही वरुण की स्तुति एवं गुणगान करते हैं, तथापि इन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी वैदिक देवता वरुण से महत्तर नहीं दिखलायी पड़ता। वरुण शब्द 'वृ' आवरणे धातु से निष्पन्न हो सकता हैं, इस प्रकार 'आवरक' देव के रूप में इनको वैदिक देवकुल में अधिक महत्त्वशाली स्थान प्राप्त हो गया है।

**स्वरूप**— अन्य अनेक वैदिक देवों के समान वरुण के भी हाथ, पैर, मुँह, आँख इत्यादि अवयवों का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। सूर्य को उनका नेत्र कहा गया है। सूर्य के पास असङ्ख्य किरणें हैं। अतः वरुण को भी हजार नेत्रों वाला कहा गया है। इसी प्रकार अग्नि को वरुण का चेहरा कहा गया है। वे स्वर्णिम चादर ओढ़ते हैं। चमकीला वस्त्र धारण करते हैं। वरुण का रथ सूर्य की भाँति देदीप्यमान है। इसमें एक आसन और एक चाबुक सदैव विद्यमान रहता है। वरुण के रथ को दो सुन्दर अश्व खींचकर ले जाते हैं। वे अपने महल में बैठकर मनुष्यों के सभी कार्यों का निरीक्षण करते हैं। वज्र एवं पाश उनके प्रमुख शस्त्र हैं।

**निवास स्थान—**

वरुण सर्वोच्च लोक (स्वर्ग) में विद्यमान अपने स्वर्णमय प्रासाद में निवास करते हैं। पितृगण उसी प्रासाद में जाकर उनका दर्शन करते हैं। उनके प्रासाद में सहस्र द्वार हैं। स्वर्ग उन्हें धारण नहीं कर सकता। अपितु सम्पूर्ण स्वर्ग एवं भूलोक उनके भीतर निहित हैं। वे सबको धारण करने वाले तथा सर्वव्यापी देव हैं।

**कार्य—**

वरुण का प्रधान कार्य जल बरसाना है। नदियों को प्रवाहित करना इन्हीं के वश में है। मनुष्यों के कार्य-कलापों का निरीक्षण करना इनका नैतिक गुण हैं। ये द्युलोक एवं पृथिवीलोक को स्थिर किये हुए हैं। वे ही अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में तथा सोम को पत्थरों पर स्थान दिये हैं। वे सम्पूर्ण संसार पर शासन करते हैं। सम्पूर्ण जगत् कीं रक्षा करते हैं। सूर्य के गमनहेतु मार्ग का निर्माण वरुण ने ही किया है। चन्द्रमा और तारे इन्हीं के आदेश से अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं। ऋतुओं का नियमन करना भी वरुण का ही कार्य है। वरुण की ही शक्ति (माया) के कारण नदियाँ समुद्र में गिरती हुई भी उसे जल से परिपूर्ण नहीं कर पातीं। संसार में होने वाली सभी गुप्त से गुप्त बातों को वे जानते हैं। वे सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक आँख की पलक गिरने तक का उन्हें ज्ञान है। वरुण का साम्राज्य पक्षियों की उड़ानों से भी दूर, समुद्र तथा पहाड़ों की पहुँच से बाहर तक फैला हुआ है।

**नैतिक-नियामक—**

वरुण संसार के नैतिक अध्यक्ष हैं। वरुण देव नैतिक व्यवस्था का उल्लङ्घन करने वाले व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड देते हैं। पापकर्म करने एवं व्रत का उल्लङ्घन करने पर वे क्रुद्ध भी होते हैं। वे क्रुद्ध होकर पापकर्मी व्यक्ति को अपने भयङ्कर आयुध का पात्र बनाते हैं। उस व्यक्ति को अपने पाशों में बाँधते हैं। वरुण नैतिकता के विरोधी व्यक्ति को पाशों की मार से दण्डित भी करते हैं। वरुण द्वारा दण्डित को जलोदर का रोग हो जाता है। पापों के फलभोग के लिए वरुण द्वारा दिया गया दण्ड है।

**भौतिक आधार—**

प्रागैतिहासिक काल में यूनानी जियस् (द्यौस्) तथा औरनॉज के प्रकाश और घेरना ये दो गुण कहे गये हैं। ये दोनों ही गुण वरुण में पाये जाते हैं। वस्तुतः भारत ईरानी काल में ही वरुण का प्रभाव बढ़ गया था क्योंकि 'अहुर मज़्द' वरुण का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। कतिपय प्राच्यविद्या-विशारद वरुण का भौतिक आधार मानते हैं। वरुण देव को सातवाँ आदित्य भी कहा गया है। ओल्डेन वर्ग वरुण को सूर्य, चन्द्र तथा पञ्चग्रह का प्रतिरूप मानते हैं।

ऋग्वेद में वरुण देवता से अपनी रक्षा के लिए एवं अपने अपराधों के पापशमन के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गयी हैं।

## इन्द्र

इन्द्र ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के २५० सूक्तों में इन्द्र की स्तुति स्वतन्त्र रूप में की गयी है तथा ५० सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ भी उसे स्तुत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद का लगभग चतुर्थांश इन्द्र के ही गुणगानों से भरा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि और सूर्य क्रमशः पृथिवीलोक एवं द्युलोक के अधिपति हैं, उसी प्रकार इन्द्र अन्तरिक्षलोक के अधिपति हैं। इन्द्र देवता की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

**निरुक्ति—**

इन्द्र शब्द का निर्वचन अनिश्चित है। अतः इसका अर्थ भी अस्पष्ट है। निरुक्तकार यास्क ने निर्वचन करते हुए कहा है— इन्द्र इरा (अर्थात् अन्न के जनक मेघ) को विदीर्ण करते हैं अथवा अन्न को (वर्षण के द्वारा अंकुर उत्पन्न करके) विदीर्ण करते हैं, अथवा अन्न को प्रदान करते हैं अथवा अन्न को धारण करते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोमपानार्थ द्रुतगति से जाते हैं, अथवा इन्दु अर्थात् सोम में रमण करते हैं, अथवा भूतों को (अन्न-दान) प्रदीप्त करते हैं। आचार्य आग्रयण ने इन्द्र की निरुक्ति 'यह सब करने के कारण' को आधार बनाकर किया है। आचार्य औपमन्यव ने इस सन्दर्भ में कहा है कि इन्द्र यह सब कुछ देख लिये हैं अथवा ऐश्वर्यमुक्त होते हुए वैरियों के विदारक या परिहारक हैं अथवा यज्ञवालों के आदरकर्त्ता हैं। बृहदेवताकार शौनक ने यास्क का अनुसरण करते हुए घोषित किया है कि उपयुक्त समय पर मरुतों से संयुक्त होकर अम्बर में घोर गर्जन के साथ अन्न (के कारणभूत मेघ) को विदीर्ण करने के कारण इन्हें ऋषि 'इन्द्र' के नाम से अभिहित करते हैं।

**स्वरूप—**

ऋग्वेद में इन्द्र का चित्रण मानवाकृति रूप में किया गया है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं एवं बड़े उदर का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उसके जबड़ों एवं अधरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वह भूरे-वर्ण का देव है। यहाँ तक कि उसके केश एवं दाढ़ी भी भूरे वर्ण के ही हैं। उसका मुख सुन्दर है। उसकी भुजाएँ भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं। वह सात रश्मियों (किरणों) से युक्त है।

**जन्म एवं देवताओं से सम्बन्ध—**

ऋग्वेद के सम्पूर्ण दो सूक्तों में इन्द्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों को बतलाया

गया है। निर्ऋति तथा शवसी नामक गाय को उसकी माँ कहा गया है। उनके पिता द्यौः या त्वष्टा हैं। एक स्थल पर इन्द्र को सोम से उत्पन्न कहा गया है। अग्नि और पूषन् इनके भाई हैं। इन्द्राणी पत्नी और मरुद्गण मित्र तथा सहायक हैं। इन्द्र को वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ युग्म रूप में भी स्तुत किया गया है।

**कार्य—**

इन्द्र ने जन्म लेते ही समस्त देवताओं को अपने पराक्रम से आक्रान्त कर दिया। इसके पौरुष की महिमा से द्युलोक एवं पृथिवी-लोक काँप गये। इन आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान करके विजयी बनाता है। इसीलिए वह अपने अपूजकों और विरोधियों का वध करता है। इन्द्र अपने भक्तों की रक्षा एवं सहायता करता है। इन्द्र ने अस्थिर पृथिवी को स्थैर्य प्रदान किया। इधर-उधर उड़ते हुए पर्वतों का पक्ष-छेदन करके उन्हें तत्तत् स्थानों पर प्रस्थापित किया। उसने द्युलोक को भी स्तब्ध किया है। इस प्रकार उसने अन्तरिक्ष का भी निर्माण किया है। दो मेघों या पत्थरों के मध्य से अग्नि को भी इन्द्र ने ही उत्पन्न किया है। उसने ही सूर्य एवं उषस् को भी उत्पन्न किया है। उसने बल का प्रदर्शन करते हुए अहि को मारकर सात नदियों को प्रवाहित होने के लिए उन्मुक्त किया है। इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए शम्बर नामक असुर को ४०वें वर्ष में ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया। इन्द्र ने बल नामक राक्षस के बाड़े से गायों को बाहर निकाला था। स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण नामक असुर को भी इन्द्र ने ही अपने शरु नामक वज्र से मार डाला था।

इन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य वृत्रवध है। वृत्रवध की गाथाओं से इन्द्र-सूक्त भरे पड़े हैं। इस गाथा के वर्णन से ऋषि अघाते नहीं। इन्द्र ने सोमरस का पान करने का तो मानो व्रत ही ले लिया है। सोम-लता को पीसने, निचोड़ने एवं पकाने वाले की वह रक्षा करता है। सोमरस के पान-कर्त्ता के रूप में इन्द्र वैदिक देवताओं में अपना उपमान नहीं रखता। अचल या अनश्वर पदार्थों को चल या नश्वर बनाना भी इन्द्र के ही वश में है। इसीलिए तो योद्धागण अपनी विजय के लिए इन्द्र का आवाहन करते हैं।

**प्राकृतिक आधार—**

अनेक वैदिक विद्वान् इन्द्र को प्रकाश का देवता मानकर उसको सूर्य के साथ समीकृत करते हैं। लोकमान्य तिलक वृत्र को हिम का प्रतीक मानते हैं जिसे इन्द्र अर्थात् सूर्य नष्ट करता है। उनके अनुसार आर्यों के आदि देश उत्तर-ध्रुव में शीतऋतु में सभी नदियों की धाराएँ जल के अभाव के कारण रुक जाती है। वसन्त का सूर्य ही बर्फों को पिघलाकर जलधाराओं को प्रवाहित करता है। भारतीय परम्परा भी बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न प्रकाश (विद्युत्) को ही इन्द्र का वज्र स्वीकार करती है। चमक के कारण बादलों का क्षरण होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि बादल इन्द्र के वज्र से आहत

होकर आँसू गिराते हैं। ये बादल ही वृत्र हैं। आवरणार्थक 'वृञ्' धातु से निष्पन्न 'वृत्र' शब्द का अर्थ है आवरक या आच्छादक। 'वृत्र' को मेघ मानने पर भी इन्द्र की सूर्यरूपता स्पष्टता: बनी रहती है।

अनेक स्थलों पर मरुतों की सहायता से इन्द्र द्वारा वृत्र-वध होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि सूर्य की गर्मी से मरुत् (वायु) गर्म होकर ऊपर उठता है, जिससे वर्षा होती है।

वेदों में 'गौ:' 'गाव:' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'किरणें' भी हैं। सभी दिशाओं में इन्द्र अर्थात् सूर्य की ही किरणें व्याप्त हो रही हैं। 'पृथिवी एवं द्युलोक इन्द्र (= सूर्य) के प्रति झुक जाते हैं', इस कथन का भी तात्पर्य यही हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी चक्कर लगाती है तथा द्युलोक भी सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह नि:सन्देह कहा जा सकता है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि हैं। इसीलिए परवर्ती साहित्य में इन्द्र को देवताओं का राजा माना गया है तथा अनेक पौराणिक ग्रन्थों में इन्द्र वर्षा कराने वाले देवता के रूप में विख्यात हैं।

## सूर्य

द्युस्थानीय सौर देवताओं में सर्वाधिक स्थूल सूर्य देवता भौतिक सूर्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। लोकों को प्रकाशित करने वाला सूर्य ही देवता है। इस लिए सूर्य देवता की स्तुति में भौतिक सूर्य की ही विशेषताओं का वर्णन हुआ है। सूर्य का चमत्कार घेरा ऋषियों के लिए विशेष आकर्षण का विषय था। ऋग्वेद में १० सूक्तों में सूर्य की स्तुति की गयी है।

**निरुक्ति—**

यास्क के अनुसार सूर्य शब्द 'सृ' या 'षु' धातु से निष्पन्न है। उनके अनुसार सूर्य का निर्वचन इस प्रकार है— 'सरते वा सुवतेर्वा' अर्थात् ये अन्तरिक्ष में गति प्रदान करते हैं, लोगों को अपने-अपने कार्यों में प्रेरित करते हैं अथवा वायु के द्वारा ये भूलोक की ओर प्रेरित किये जाते हैं। इसीलिए इन्हें सूर्य कहा जाता है। बृहद्देवताकार शौनक के अनुसार ये प्राणियों के मध्य विचरण करते हैं अथवा ये उन्हें भली-भाँति प्रेरित करते हैं। उनके सभी कार्यों को सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए ये उन्हें भली-भाँति प्रेरित करने के लिए उनके मध्य गमन करते हैं।

**माता-पिता और वाहन—**

द्यौ को सूर्य का पिता और अदिति को इनकी माता कहा गया है। कहीं-कहीं उषा को उनकी माता और कहीं पत्नी कहा गया है। पुरुषसूक्त में इनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष

के नेत्रों से बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, सोम और धाता को भी सूर्य का जनक कहा गया है। सूर्य का वाहन रथ है। इसके रथ में एक या सात घोड़े जुते हुए हैं। इनके एक घोड़े का नाम एतश् है। इनके रथ में जुते हुए घोड़े हरित कहलाते हैं।

कार्य—

सूर्य अपने प्रकाश द्वारा दानवों को विनष्ट करते हैं तथा व्याधियों, दुःखस्वप्नों आदि को दूर करते हैं। ये आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्ष को चारों ओर से भर देते हैं। सूर्य को स्थावर और जङ्गम प्राणियों की आत्मा कहा गया है। इस प्रकार ये स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों में आत्म सञ्चार करते हैं। ये अपने अश्वों को जब रथ से अलग करते हैं तो रात्रि हो जाती है और संसार का समस्त कर्मजाल मध्य में ही रुक जाता है। सूर्य द्वारा ही रात और दिन का नियमन किया जाता है। ये सम्पूर्ण जगत् के स्थिरकर्ता और रक्षक हैं।

अनेक नाम—

परिदृश्यमान सूर्य के अनेक कार्य तथा रूप हैं अतः अनेक नामों से इनकी स्तुति की गयी है। जाजल्यमानमण्डल रूप में सूर्य, प्रकृति को प्रकाश देने वाली तथा मैत्रीमय शक्ति के रूप में मित्र, जीवन तथा कार्य के महान् प्रेरक के रूप में सविता, पशुओं के पोषक तथा संरक्षक के रूप में पूषा, आकाश से पृथिवी पर्यन्त तीन पादप्रक्षेपों में व्याप्त हो जाने के रूप में विष्णु, अपने आगमन से ठीक पूर्व आकाश में अनुपम सौन्दर्य युक्त आभा को प्रादुर्भूत करने के रूप में उषा तथा प्रातःकाल में सभी दिशाओं को आलोकित करने के रूप में विवस्वान् के नाम से इनकी स्तुति की गयी है।

## अश्विन्

ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या के आधार पर इन्द्र, अग्नि एवं सोम के पश्चात् विख्यात देवयुग्म अश्विनों का स्थान आता है। इनके सम्बन्ध में लगभग ५० से अधिक सम्पूर्ण तथा अनेक सूक्तांश प्रयुक्त हैं। इनके नाम का उल्लेख ४०० से अधिक बार हुआ है। ये देव यमल हैं तथा साथ-साथ रहते हैं। इसीलिए इनकी तुलना नेत्र, हस्त, पाद आदि से की जाती है, परन्तु कतिपय मन्त्र इनके पृथक्-पृथक् होने की भी सूचना देते हैं। उदाहरणार्थ, ये यहाँ-यहाँ उत्पन्न हुए, जिनमें एक विजयशील राजपुत्र था, तथा द्वितीय द्यौस् का पुत्र था। एक मन्त्र में एक ही अश्विन् का उल्लेख किया गया है। आचार्य यास्क के अनुसार एक निशापुत्र तथा द्वितीय उषापुत्र था। यास्क ने 'अश्विन्' का निर्वचन करते हुए कहा है कि ये सबको व्याप्त कर लेते हैं— इनमें एक रस से तथा द्वितीय प्रकाश से व्याप्त करता है। इस प्रकार 'अश्' धातु में 'विनि' प्रत्यय लगाकर 'अश्विन्' शब्द निष्पन्न होता है। परन्तु और्णवाभ नामक आचार्य के अनुसार अश्वों से अश्वि अर्थात् अश्विन् कहे जाते हैं। अतः 'अश्व' में 'इनि' प्रत्यय जोड़ने पर 'अश्विन्' शब्द निष्पन्न होता है।

**भौतिक आधार—**

अश्विनों के भौतिक आधार के विषय में ऋषियों ने अत्यन्त अस्पष्ट भाषा का प्रयोग किया है। फलतः ये देवयुग्म किस भौतिक दृश्य के प्रतिरूप थे, इसका उचित तथा असन्दिग्ध निर्णय यास्क तथा अन्य भाष्यकारों के लिए भी कठिन हो गया। इसीलिए यास्क अनेक मतों को उद्धृत करते हैं। कतिपय आचार्यों के अनुसार अश्विनद्वय आकाश तथा पृथिवी थे। कुछ के अनुसार रात्रि तथा दिन एवं अन्य के अनुसार सूर्य तथा चन्द्र थे। ऐतिहासिको के अनुसार पुण्यकृत्ययुक्त दो राजा थे। रॉथ का विचार है कि यास्क इन दोनों को इन्द्र तथा सूर्य मानते थे, जबकि गोल्डस्टुकर सा कहना है कि यास्क अन्धकार तथा प्रकाश के मध्य की द्वैतयुक्त अवस्था मानते थे। हॉप्किंस के अनुसार ये देवयुग्म उषःकाल के पूर्व उस मन्दप्रभ प्रकाश के प्रतिरूप हैं, जो अर्ध तमस् एवं अर्ध भास् से युक्त होता है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार ये प्रातःकालिक एवं सायंकालिक तारों के, मैक्समूलर के अनुसार प्रातःकाल एवं सायंकाल के, बेर्गाने के अनुसार स्वर्गाग्नि एवं वेद्यग्नि के, वोड्स्कोव् (Vodskov) के अनुसार वर्षा देने वाले एवं ओस देने वाले के, ब्रन्नहोफर् (Brunnhofer) के अनुसार प्रातःकालिक एवं सायंकालिक वायु के तथा वेबर के अनुसार जैमिनि तारामण्डल के उभय तारों के प्रतिरूप थे। इन सबके विपरीत गेल्डनर का यह मत है कि अश्विन् किसी भी भौतिक दृश्य के प्रतिरूप न होकर साहाय्य प्रदान करने वाले सन्तद्वय थे। अश्विनों के विषय में विद्यमान इस अनिश्चयता का एक प्रमुख कारण यह है कि ये निस्सन्देह एक प्रागैतिहासिक देव हैं। अतः ये अपने विकास-क्रम में इतने अधिक परिवर्तनों से ग्रस्त रहे हैं कि इनका मूलभूत भौतिक आधार विस्मृतप्राय हो चुका है।

**माता-पिता—**

ऋग्वेद में अश्विनों के एकाधिक माता-पिता का उल्लेख किया गया है। ये द्यौस् की सन्तान हैं। इनकी माता सिन्धु है। ये विवस्वान् तथा सरण्यू के भी पुत्र कह गये हैं। ये पूषा के पिता तथा उषा के भ्राता हैं। इनका मधुर तथा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध सूर्य की पुत्री सूर्या के साथ चित्रित किया गया है, जो इनकी पत्नी है।

**स्थान—**

अश्विनों के स्थान के रूप में द्युलोक, द्युलोक के समुद्र, अन्तरिक्षलोक, वायुलोक, वनस्पति तथा पर्वत के सर्वोच्च शिखर का उल्लेख किया गया है। इनका आविर्भाव उषा के प्रारम्भिक काल में होता है। ये दोनों अपने रथ के द्वारा उषा का अनुसरण करते हैं। ये भास्वर, युवा परन्तु पुरातन, शीघ्रगामी, अनेक रूप, सुन्दर, अरुण, शक्तिमान् तथा तीक्ष्ण मेधा-सम्पन्न हैं। 'नासत्य' तथा 'दस्र' इसके अत्यन्त प्रचलित विशेषण हैं। 'नासत्य' तो एक प्रकार से अश्विनों का पर्याय सा बन गया है।

अन्य देवताओं की तुलना में अश्विनों का मधु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके रथ के वाहक पक्षी भी मधु से सिक्त होते हैं। अश्विन् मधु से पूर्ण एक चर्म को रखते हैं। इन्होंने एक बार मधु के शत कुम्भों को गिराया तथा मधु-मक्षिका को भी मधु प्रदान किया। इन्हें 'मधुयु' (मधु का अभिलाषी) तथा 'मधुपा' कहा गया है।

**वाहन—**

अश्विनों का प्रधान वाहन रथ है, जो पूर्णरूपेण स्वर्णिम है तथा ऋभुओं द्वारा निर्मित है। यह मन से भी अधिक त्वरित गति वाला है। इस रथ का वाहन प्राय: हंस या श्येन करते हैं, परन्तु कभी-कभी अश्व भी करते हैं। यदा-कदा इस कार्य को ककुह (पंख-युक्त अश्व) तथा रासभ भी करते हैं। यह रथ द्युलोक तथा सूर्य की परिक्रमा करता है।

**कार्य—**

अश्विन् किसी भी प्रकार की आपत्ति में सद्य: सहायता प्रदान करने वाले अद्वितीय देवता के रूप में विख्यात हैं। ये असाध्य से असाध्य व्याधि को शीघ्र दूर कर देते हैं। इसीलिए इन्हें 'दिव्य भिषक्' कहा गया है। अन्धों, रुग्णों तथा पङ्गुओं की पूर्ण सहायता करते हैं। ये देवताओं तक के चिकित्सक हैं तथा इनकी अमरता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ये अपने आराधकों को अपार धन तथा प्रचुर सन्तान प्रदान करते हैं।

ऋग्वेद अश्विनों के सहायताविषयक अनेक कथाओं का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ, इन्होंने ये वृद्ध तथा तिरस्कृत च्यवन को नव यौवन प्रदान करके अनेकों कुमारियों का पति बनाया, असहाय विमद के लिए अपने रथ के द्वारा पत्नी लाये, विश्वक के लिए उसके लुप्त पुत्र विष्णापू को लाये, सागर के मध्य भयंकर लहरों से आक्रान्त सुकुमार भुज्यु का उद्धार किये, रेभ, वन्दन, अत्रि आदि को गर्त से ऊपर निकाले तथा नपुंसकभर्तृका जाया को पुत्र प्रदान किये।

ऋग्वेद के ये अन्त्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता अश्विन्द्वय भी परवर्ती साहित्य पुराणों, महाकाव्यों इत्यादि में महत्त्वहीन हो जाते हैं।

## अग्नि

वैदिक देवताओं में अग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण देवता है। ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में कतिपय मुख्य तथ्य इस प्रकार है—

**ऋग्वेद में स्थान—**

ऋक्संहिता का प्रथम मन्त्र अग्नि देवता को ही सम्बोधित किया गया है तथा प्रथम पद भी 'अग्निम्' ही है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक देवताओं में अग्नि प्रधान देवता हैं। अग्नि का अर्थ है— वह देव जो यज्ञ में प्रदान की गयी हवि को देवताओं तक पहुँचाता है। ऋग्वेद के तीन प्रमुख देवताओं में अग्नि का द्वितीय स्थान है। ऋग्वेद के २०० सम्पूर्ण सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवताओं के साथ अग्नि की स्तुति की गयी है। प्रायः ऋग्वेद के सभी मण्डलों में प्रारम्भिक सूक्त अग्नि को ही सम्बोधित किये गये हैं।

**अग्नि शब्द की निरुक्ति—**

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति 'अज्' धातु से सम्भावित है, फलतः इसका अर्थ गतिमान् होता है। निरुक्तकार यास्क अग्नि शब्द का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि अग्नि अग्रणी होता है, यज्ञों में सबसे अग्र (प्रथम) वह ले जाया जाता है। अथवा तृण या काष्ठ आदि को अपना अङ्ग बना लेता है। बृहद्देवताकार शौनक यास्क का ही अनुसरण करते हुए अग्नि का निर्वचन प्रस्तुत करते हैं। स्थौलाठीवि नामक आचार्य के अनुसार यह अक्नोपन होने के कारण स्निग्ध नहीं करता है, अर्थात् सब रसों को शुष्क कर देता है या रुक्ष कर देता है। अतएव अग्नि नाम से अभिहित होता है। शाकपूणि नामक आचार्य का मत है कि अग्नि शब्द 'इण्', 'अञ्जू' या 'दह्' और 'णीञ्' इन तीन धातुओं से निष्पन्न हुआ है। 'इण्' से अकार तथा 'अञ्जू' या 'दह्' से गकार को लेकर 'णीञ्' (नी) में मिला देने पर 'अग्नि' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

**उत्पत्ति—**

अप्, उषस्, त्वष्टा, द्यावापृथिवी और विष्णु को अग्नि का उद्भावक कहा गया है, वह दो अरणियों के संघर्ष से उत्पन्न होता है। अरणियों में ऊपर वाली अरणि को पति और नीचे वाली अरणि को पत्नी कहा गया है, जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि की उत्पत्ति होती है। अग्नि को दस युवतियों से भी उत्पन्न कहा गया है। ये दस युवतियाँ मनुष्य के हाथों की दसों अङ्गुलियाँ ही हैं। अग्नि को 'सहसः पुत्र' भी कहा गया है क्योंकि अग्नि को उत्पन्न करने के लिए सहस् (शक्ति) भी लगानी पड़ती है।

**स्वरूप—**

अग्नि का धर्म है प्रकाशित होना। वह अङ्गारमय है, प्रकाशमय है (अङ्गिरा, राजन्तम्) ऋग्वेद में अग्नि को घृत-पृष्ठ, घृत-प्रतीक, घृत-लोम, मद्रजिह्व, शौचिषकोश आदि भी कहा गया है। वे भास्वर ज्वलाओं वाले हैं। उनका वर्ण भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं। वे सूर्य की भाँति चमकते हैं। उनकी प्रभा उषा, सूर्य एवं विद्युत जैसी है।

**कार्य—**

अग्नि यज्ञ में देवताओं को बुलाता है। वह उत्तम धनादिकों का प्रदाता है। अग्नि के माध्यम से यजमान को पुष्टि यश और वीर पौत्रादि की प्राप्ति होती है। यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। कर्मफल को प्रदान करना भी अग्नि का ही कर्म है। अग्नि स्वयं प्रकाशवान् होने से रात्रि को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिए कल्याण-भावना रखता है उसी प्रकार अग्नि भी कल्याणकारी है। अग्नि यज्ञ के प्रत्येक रहस्य को जानता है, इसीलिए जातवेदस् भी कहा गया है। जिस प्रकार ऋतु और युद्धकर्म इन्द्र के अधीन हैं उसी प्रकार आर्यों के सारे गृहकृत्य अग्नि के अधीन हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि जिस यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं के पास पहुँचता है।

**प्राकृतिक आधार—**

अग्नि का प्राकृतिक आधार स्पष्ट है। हमारे सम्मुख अग्नि के मुख्यतः तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं— काठों से उत्पन्न दावाग्नि, जलों से उत्पन्न वाडवाग्नि एवं द्युलोक से उत्पन्न वैद्युताग्नि। ये अग्नि के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि जलों के सङ्घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती तथापि वडवाग्नि को ही सम्भवतः अप् से प्रादुर्भूत अग्नि माना गया है। आधुनिक युग में विद्युत शक्ति की उत्पत्ति भी जलों के द्वारा की जाती है। बादलों के पारस्परिक टकराव से उत्पन्न आकाशीय विद्युत भी तो जलों से ही उत्पन्न मानी जा सकती है क्योंकि बादल भी जलों के ही रूप हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वैदिक अग्नि देवता का प्राकृतिक आधार भी अग्नि के उपर्युक्त रूप ही है।

**मानव जीवन से सम्बन्ध—**

अग्नि का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्पूर्ण गृहकृत्य के लिए अग्नि की महती आवश्यकता है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही एक ऐसा देवता है जो मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसका साथ देता है। अग्नि के माध्यम से ही इस संसार में प्रकाश का जन्म हुआ है। वैदिक युग में ऋषियों के समक्ष अग्नि की उपादेयता सर्वाधिक सिद्ध हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्नि की सहायता से ही यज्ञानुष्ठान, भोजन-पाक तथा शीत इत्यादि से रक्षा हो जाती है।

इसलिए वैदिक ऋषि अग्निदेव से अपने उन्नति एवं कल्याण की प्रार्थना करता है।

## सवितृ (सविता)

ऋग्वेद के द्युस्थानीय देवों में सविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में इनकी स्तुति की गयी है। कुछ अन्य सूक्तों में कतिपय अन्य देवताओं के साथ भी सविता का स्तवन प्राप्त होता है। सविता शब्द 'सू' धातु से 'तृच्' प्रत्यय

लगने पर निष्पन्न होता है। 'सू' धातु 'प्रेरित करने' के अर्थ में होती है। अत: इस शब्द का अर्थ हुआ 'प्रेरक'। सविता के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

**स्वरूप—**

सविता स्वर्णमय देव हैं। इनके हाथ, जिह्वा, नेत्र सभी स्वर्णिम हैं। इनके केश पीले रंग के हैं। ये स्वर्ण की कील वाले रथ पर चलते हैं। इनका रथ भी स्वर्णजटित है। इनके रथ को शुभ्रवर्ण वाले दो चमकीले अश्व खींचते हैं। इनके शरीर से निकलने वाली किरणें भी विचित्र रङ्गों ये युक्त हैं।

**कार्य—**

अन्धकारमय लोक से आते हुए सविता देव देवों एवं मनुष्यों को अपने कार्यों में युक्त कराते हैं। रोगों को नष्ट करते हैं। सूर्य का पथ-प्रदर्शन करते हैं। सबको विविध रूपों में देखने वाले सविता देव द्युलोक एवं पृथिवी लोक के मध्यवर्ती स्थान में विचरण करते हैं। राक्षसों एवं मायावियों को नष्ट करते हुए सविता देव स्थित होते हैं। सविता देव जीवधारियों को मार्गप्रदर्शन करने वाले एवं अच्छी प्रकार से सुख प्रदान करने वाले देव हैं। इनका सर्वप्रधान कार्य रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट करना एवं सभी जीवों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करना हैं। ये अपने भक्तों की रक्षा करके उनके लिए मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हुए उन्हें पापरहित बना देते हैं। पृथिवी की आठों दिशाओं, अन्तरिक्षादि तीन लोकों एवं सात नदियों को सविता देव विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं। सविता को प्राण (शक्ति) देने वाला देव भी कहा गया है।

**निवास-स्थान—**

सविता देव का निवास स्थान द्युलोक है। ऋ. १/३५ के मन्त्र सं० ६ में एक विशेष तथ्य उद्घाटित किया गया है, जिसके अनुसार तीन लोक हैं, जिसमें से दो लोक सविता देव के समीप में स्थित हैं। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने इसका अर्थ द्युलोक एवं भूलोक किया है जिसके कारण इन दोनों लोकों का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सवितृ देव का निवास-स्थान भले ही द्युलोक है, परन्तु वह अपना कार्यस्थल भूलोक को ही बनाये हैं। मानव-हितकारिणी चन्द्र नक्षत्रादि ज्योतियाँ एवं जल सवितृलोक में ही सविता के आधार पर स्थित हैं।

**प्राकृतिक आधार—**

सविता देव को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। वास्तव में उष:काल एवं सूर्योदय काल के मध्य सविता का आगमन होता है। प्रकाशित करने का कार्य सूर्य की सर्वप्रमुख विशेषता है, अत: सवितृ को भी सूर्य मान लिया गया है। ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में सूर्य और सविता एक ही देवता के रूप में पुकारे गये हैं।

यद्यपि अनेक मन्त्रों में सविता को सूर्य से पृथक् माना गया है। जैसे...... अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ (ऋ. १/३५/९) उपर्युक्त तथ्य पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सविता सूर्य का ही एक विशिष्ट अभिधान है, क्योंकि सूर्य ही विश्व के महान् प्रेरक हैं। वे ही सम्पूर्ण प्राणियों को अपने महान् आगमन के द्वारा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सविता सूर्य की प्रेरकशक्ति के रूप में भी स्तुत हुए हैं। अतः स्पष्ट होता है कि सूर्य ही अपने पूर्णरूपेण उदय के पूर्व इस संज्ञा को प्राप्त करते हुए लोकप्रेरक बन जाते हैं। निरुक्तकार यास्क का स्पष्ट कथन है— (सविता सर्वस्य प्रसविता)।

**देवों में स्थान—**

वैदिक देवताओं में सविता देव उपासना की दृष्टि से अपना अद्वितीय महत्त्व रखते हैं। ऋग्वेद के अन्य किसी भी देवता की उपासना इतनी श्रद्धा और भक्ति से नहीं हो सकी है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि की प्रेरक शक्ति के रूप में एक अति शक्तिशाली मन्त्र का दर्शन किया है जिसे गायत्री मन्त्र के नाम से जाना जाता है। यह गायत्री मन्त्र पूज्य सविता देव की स्तुति रूप में है। इसमें सविता देव की शक्ति का आह्वान बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने के उद्देश्य से किया गया है; **ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् । भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।**

आज इस वैज्ञानिक युग में भी सविता देव के इस मन्त्र की उपासना करके अनेकानेक भक्त अपना एवं जगत् का कल्याण कर रहे हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस मन्त्र की रहस्यात्मिका शक्ति के अनुसन्धान में संलग्न होकर इसके ऊपर श्रद्धायुक्त बना हुआ है।

## उषा (उषस्)

ऋग्वेद के २० सूक्तों में उषा देवी की स्तुति की गयी है। उषा के नाम का उल्लेख तो लगभग २०० बार से भी अधिक हुआ है। उषा शब्द 'वस्' प्रकाशित होना अर्थ वाली धातु से निष्पन्न है। उषा शब्द का अर्थ है– 'प्रकाशित होने वाली देवी'। उषा के वर्णन में वैदिक ऋषि ने अपनी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। उषा से सम्बन्धित कतिपय तथ्य इस प्रकार है—

**उषा का जन्म—**

उषा को अमर तथा अजर कहा गया है। उनका स्वरूप अवि- नाशी है, परन्तु उसे अनेक स्थानों पर द्युलोक की दुहिता (पुत्री) कहा गया है। वह सुजाता है अर्थात् उसका जन्म किसी उच्च कुल में हुआ है। अनेक स्थलों पर उषा को प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली भी कहा गया है।

**उषा का स्वरूप—**

वैदिक साहित्य में उषा देवी के समान मनोहारी स्वरूप अन्य किसी भी देवता का नहीं प्राप्त होता। उषा नर्तकी की भाँति मोहक परिधान में चमचमाती हुई धरती और अम्बर में अपने प्रकाश को फैला देती है। उषा अपनी अरुणिमा, अपने रुचिर मुखचन्द्र, झिलमिलाता वक्षःस्थल, पतली-पतली लाल-लाल परियों जैसे खुली अँगुलियाँ, आकाश के रङ्गमञ्च पर नवेला नृत्य और दूधभरा हास्य, इन सबके द्वारा वैदिक ऋषि को विवश कर देती हैं अपने स्वरूप-गान के लिए तथा अपना आपा खो बैठने के लिए। उषा स्वर्णिम वर्ण वाली, सुन्दर मुख वाली तथा किरणों से अभिव्यक्त होने वाली है। वह नित्य युवती है, नवोढा है।

**अन्य देवों के साथ सम्बन्ध—**

उषा को अधिकतर सूर्य से सम्बन्धित बतलाया गया है। वह सूर्य की पत्नी है। सूर्य एक रसिक युवक की भाँति उसका अनुगमन करता है। एक स्थान पर तो उषा को सूर्य की माता तथा सूर्य को उसका कान्ति-पुत्र कहा गया है। अग्नि को भी उषा का प्रेमी माना गया है। उषा अग्नि को भड़काती है तथा अग्नि उससे मिलने के लिए अपनी लपटों को ऊपर उठाता है। अश्विनी-कुमारों को भी उषा का प्रेमी कहा गया है। रात्रि उषा की बड़ी बहन है। सविता भी उषा का प्रेमी कहा गया है।

**प्राकृतिक आधार—**

उषा को प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया गया है। सूर्योदय से थोड़ा पहले का समय ही उषा के आगमन का समय माना गया है। उषाकाल में ही धरती और अम्बर में प्रकाश का प्रसरण होने लगता है। पक्षियों का मधुर कलरव भी इसी समय प्रारम्भ हो जाता है। उषाकाल के पश्चात् ही सूर्योदय होता है, इसीलिए सूर्य को उषा के पीछे आते हुए प्रेमी के रूप में कहा गया है। उषा के आते ही सभी जीवधारी विचरणशील हो जाते हैं।

**कार्यशीलता—**

उषा का प्रमुख कार्य प्रकाश का वितन्वन करना है। प्रकाश फैलाने के साथ ही साथ वह अन्धकार को दूर भगा देती है। सभी जीवों को कार्य करने के लिए प्रेरित करना, भक्तों या उपासकों की आयु बढ़ाना, धन प्रदान करना, अपने प्रकाश से स्तोता के शत्रुओं को दूर भगाना, द्वेष करने वाले लोगों को पृथक् करना तथा दिनों का नेतृत्व करना उषा देवी के प्रमुख कार्य हैं। उषा को विविध उपहारों को प्रदान करने वाली देवी भी कहा गया है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही वैदिक ऋषि उषा देवी से अपने लिए धन, प्रदान करने, शत्रु को दूर भगाने, आयु को बढ़ाने तथा आशीर्वादों से अपनी रक्षा करने के लिए प्रार्थना करता है।

## पर्जन्य

ऋग्वेद संहिता के मात्र तीन सूक्त सम्पूर्णत: पर्जन्य के लिए कहे गये हैं तथा इनका नाम भी मात्र तीस ही बार आया हुआ है। पर्जन्य के स्तवन का आधार शुद्ध भौतिक है। निरुक्तकार यास्क के अनुसार 'तृप्' धातु से इस शब्द को व्युत्पन्न माना गया है। पर्जन्य की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

**वृष्टि का देवता—**

पर्जन्य वृष्टि करने वाला देव है। इसकी प्रधान विशेषता जल बरसाना ही है। यह जलमय रथ पर आरूढ़ होकर भ्रमण करता है। जलचर्म को ढीला करके उसे नीचे की ओर खींचकर वृष्टि करता है। पर्जन्य शीघ्र वृष्टि कराने वाला देवता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षायुक्त मेघ से युक्त कर देता ३ तब यह सिंह की भाँति गर्जन करता है। पर्जन्य अधिक समय तक होती हुई वर्षा को रोकता है।

**विश्व का पिता—**

पर्जन्य को विश्व का पिता एवं पृथिवी को माता कहा गया है। पर्जन्य ही वर्षा द्वारा पृथिवी में जलरूपी वीर्य धारण करके लोगों के लिए अन्नादि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति का प्रधान कारण कनता है। अत: इसको पिता कहना अनुचित नहीं है।

**कार्य—**

पर्जन्य देव का मुख्य कार्य तो वृष्टि करना है, परन्तु साथ ही कतिपय अन्य कार्य भी इसके द्वारा किये जाते हैं। दुष्काल (अकाल) को नष्ट करना, वज्रपात द्वारा वृक्षों को नष्ट कर डालना तथा राक्षसों का बधकर डालना भी पर्जन्य देवता के प्रधान कार्यों में गिने जाते हैं। पर्जन्य देव की महाप्रलयकारी शक्ति के सामने सम्पूर्ण चराचर जगत् नत-मस्तक हो जाता है। पृथिवी को सत्त्वयुक्त बनाना, औषधियों को पल्लवित-पुष्पित करना इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

**देवताओं से सम्बन्ध—**

पर्जन्य अन्य अनेक देवताओं के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। मरुत् एवं वात देवताओं से यह अपना अभिन्न सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में इसकी स्तुति अग्नि के साथ भी की गयी है। वर्षा के देवता के रूप में इसकी तुलना इन्द्र से की गयी है। पृथिवी को पर्जन्य की पत्नी कहा गया है, परन्तु इसकी पत्नी के रूप में 'वशा' का भी उल्लेख मिलता है। पर्जन्य को सोम का पुत्र कहा गया है।

**प्राकृतिक आधार—**

इस तथ्य से किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं होनी चाहिऐ कि पर्जन्य देव निश्चित

रूप से भौतिक पर्जन्यं (बादल) के मानवीकृत रूप हैं। प्राचीन ऋषियों को वर्षा एवं गर्जन की शक्ति के रूप में पर्जन्य देवता का दर्शन हुआ है।

## ज्ञानसूक्तम्

इस सूक्त में वेदार्थज्ञाता वैदिक विद्वान् की प्रशंसा तथा वेदार्थ न जानने वाले और अपने को वैदिक होने का दम्भ भरने वाले मूर्ख की निन्दा की गयी है जो इस प्रकार है—

**शुद्ध वक्ता की प्रशंसा—**

जिस प्रकार चलनी से उपयोगी आटा या सत्तू और भूसी अलग कर दी जाती है उसी प्रकार वेदार्थज्ञाता चिन्तनशील विद्वान् पुरुष अपने प्रज्ञान से शब्द और अपशब्द का पार्थक्य कर देते हैं। इस प्रकार पृथक् किय गये शब्द को बोलने से उनके समान ज्ञान वाले विद्वान् एक दूसरे की वाणी को समझ लेते हैं। अपशब्दवक्ता की वाणी को कोई भी समझ नहीं पाता। शुद्ध शब्द बोलने वाले की वाणी में लक्ष्मी (शब्द-शक्ति) विद्यमान रहती है अतः वे सदा कल्याण के भागी होते हैं।

**वाणी का निवास—**

वाणी का निवास ऋषियों के अन्तःकरण में विद्यमान था जिसे बुद्धिमानों ने यज्ञ द्वारा प्राप्त किया। इस कथन से स्पष्ट होता है कि ऋषियों के अन्तःकरण में विद्यमान वेदवाणी के अर्थ को यज्ञ-प्रक्रिया के ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है।

**वेदार्थज्ञाता की प्रशंसा—**

वेदार्थ को न जानने वाले कुछ अपने को वैदिक मानने वाले मूर्ख विद्वान् वेदवाणी को देखते हुए भी नहीं देख पाते, वेद के मन्त्रों को सुनते हुए भी उनका सुनना न सुनने के समान है; क्योंकि वे उन मन्त्रों को सुनते हुए भी उनका अर्थ नहीं समझ पाते। अर्थज्ञान के विना वेदमन्त्रों का देखना और सुनना व्यर्थ है। जो लोग अर्थ को वेदार्थ को जानते हैं उनके लिए वह वेदवाणी अज्ञानरूपी आवरण को हटाकर उसी प्रकार स्पष्ट हो जाती है जिस प्रकार कामेच्छा वाली युवती अपने पति के सम्मुख अपने सम्पूर्ण सुन्दर वस्त्रों को हटा देती है।

**विद्वानों की सभा में वेदार्थ ज्ञानी का सम्मान—**

विद्वानों की सभा में वेदार्थज्ञाता की सदैव प्रशंसा होती होती है। उसको कोई दूसरा शास्त्रार्थ में पराजित नहीं का सकता; किन्तु वेदार्थ न जानने वाले व्यक्ति के लिए वेदवाणी निष्फल ही रहती है। भ्रम में पड़ा हुआ अज्ञानी उसी प्रकार उपेक्षित रहता है जिस प्रकार दूध न देने वाली गाय।

**वेदज्ञाता की प्रशंसा—**

वेद लोगों का सबसे बड़ा मित्र है। अत: मित्रस्वरूप वेद का ज्ञान आवश्यक है। जो वेदज्ञान का परित्याग कर देता है वह यथार्थ वाणी को नहीं जानता। यथार्थ वाणी को वही जानता है जो वेद का ज्ञाता है। वेद के ज्ञान के विना सत्य के मार्ग का ज्ञान नहीं हो पाता। अत: सत्य के मार्ग को जानने के लिए वेदज्ञान आवश्यक है।

**प्रज्ञा में असमानता—**

यद्यपि सभी व्यक्ति समान आँख, कान इत्यादि अङ्गों से युक्त शरीर वाले होते हैं किन्तु प्रज्ञा (आन्तरिक ज्ञान) में सभी लोग समान नहीं होते। कुछ लोग अल्प प्रज्ञा वाले; कुछ लोग मध्यम प्रज्ञा वाले और कुछ लोग पूर्णप्रज्ञावान् होते हैं। पूर्ण-प्रज्ञा वाले व्यक्ति साथ-साथ चलते हैं तथा अल्प प्रज्ञा वालों को वे पीछे छोड़ देते हैं।

**अज्ञानी की निन्दा—**

अज्ञानी लोग इस लोक में विद्वानों के साथ नहीं चल पाते और परलोक में देवताओं के साथ भी नहीं चल पाते। अज्ञानी लोग यज्ञ कर्मों को न जानने के कारण पापपूर्ण से वेदवाणी का प्रचार करते हैं। वेदवाणी का यथार्थरूप से विस्तार वहीं करता है, जो ज्ञानवान् (वेद का ज्ञाता) होता है।

**यज्ञ में ऋत्विजों का कार्य—**

होता नामक ऋत्विक् ऋग्वेद के मन्त्रों को समृद्ध करता है। उद्गाता नामक ऋत्विक् शक्वरी छन्दों में गायत्र नामक साम को गाता है, ब्रह्मा नामक ऋत्विक यज्ञ को प्रत्येक अवसर पर अपना निर्णय सुनाता है और अध्वर्यु नामक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप का निष्पांदन करता है।

## पूषन्

पूषा देव सूर्य के मङ्गलकारी एवं पोषणकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'पूषा' शब्द पोषणार्थक 'पूष्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जैसा कि यास्क भी कहते हैं कि आदित्य का जो रूप रश्मियों से सबको पुष्ट करता है, वह पूषा कहा जाता है। बृहद्देवताकार शौनक भी कहते हैं कि पूषा पोषण करते हुए पृथिवी को पुष्ट करता है तथा रश्मियों से अन्धकार को दूर करता है।

**प्राकृतिक आधार—**

पूषा का 'आघृणि' विशेषण से युक्त होना, सूर्या से सम्बद्ध होना, चोरों-हिंसकों आदि का निवारण करना, उच्च आकाश में स्थित होना, सविता की प्रेरणा से विचरण करना, प्रच्छन्न धन को प्रकाशित करना इत्यादि बातें पूषा एवं सूर्य के तादात्म्य को द्योतित करती हैं। पूषा मूलत: सूर्य रहे होंगे। कालान्तर में जाति-विशेष के लोगों ने इन्हें से पृथक् करके

अभिनव रूप प्रदान कर दिया होगा तथा मौलिक सिद्ध करने के लिए सूर्येतर कतिपय वैशिष्ट्य इनमें आरोपित कर दिया होगा, जो उन लोगों की आवश्यकता के अनुरूप रहे होंगे।

**ऋग्वेद में स्थान—**

ऋग्वेद में पूषा के लिए आठ प्रयुक्त हैं तथा इनके नाम का लगभग १२० बार उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त एक सूक्त में इन्द्र के साथ तथा दूसरे सूक्त में सोम के साथ इनका स्तवन किया गया है। इस प्रकार सूक्तसंख्या की दृष्टि से पूषा विष्णु से किञ्चित् उच्च स्तर पर है।

**स्वरूप—**

धूमिल व्यक्तित्व वाले पूषा के मानवीय रूपविषयक वैशिष्ट्य न्यून हैं। इनके हस्त, घुघराले केश तथा श्मश्रु का उल्लेख किया गया है। शतपथ-ब्राह्मण में पूषा को दन्त-हीन बताया गया है। ये स्वर्णिम वर्छी वाले, नोकीले आरा वाले तथा अङ्कुश वाले हैं। ये रथ से युक्त हैं तथा सर्वोत्तम सारथी कहे गये हैं। इनके रथ का वहन बकरे करते हैं।

**पत्नी—**

पूषा सबको एक साथ स्पष्ट रूप से देखने में समर्थ हैं। इन्हें अपनी बहन का प्रणयी कहा गया है। देवताओं ने इनके इस प्रणयातिरेक को देखकर इनका परिणय सूर्या के साथ कराया। ये कामान्ध होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र में सन्तरण करने वालीं स्वर्णिम नावों के द्वारा सूर्या के दौत्य कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रस्थान किये।

**कार्य—**

पूषा का निवास-स्थल द्युलोक में है। ये सबका निरीक्षण करते हुए विचरण करते हैं। ये मार्गविषयक अपनी सुविज्ञता के कारण अपने आराधकों को अत्यन्त निर्भयतापूर्वक देवताओं के निवास-स्थान को ले जाते हैं। ये पशुओं के पीछे-पीछे चल कर उनकी रक्षा करते हैं। ये खोये हुए पशुओं को पुनः वापस लाने के लिए, मार्ग में सम्भाव्य विघ्न-बाधाओं के निवारण के लिए एवं हिंसक वृकों तथा भयंकर चारों के परिहार के लिए बार-बार प्रार्थित होते हैं। ये प्रत्येक मार्ग के परिरक्षक, अधिपति एवं निर्देशक हैं।

अन्य कतिपय देवताओं की भाँति पूषा को भी 'असुर' कहा गया है। ये अदब्ध रक्षक, संग्राम में सहायक एवं आराधक के रखा हैं। इन्हें भी 'दस्र' तथा अग्नि एवं इन्द्र की भाँति 'दस्म' कहा गया है।

पूषा की उपर्युक्त विशेषताएँ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में विद्यमान हैं। वैदिकोत्तर वाङ्मय में पूषा महत्त्वहीन हो जाते हैं। इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व सूर्य में विलीन हो जाता है। यत्र-तत्र इनके नाम का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

## सोम

'सोम' शब्द पेषणार्थक 'सु' धातु से निष्पन्न है। ऋग्वेद के अनुसार सोम पर्वतों पर उद्भूत होता था तथा इसका विशेष सम्बन्ध मूजवत पर्वत से था। ऋग्वेदानुसार वरुण सोम को चट्टानों पर रखते हैं, ऋग्दवेद में इनका आनयन एक श्येन पक्ष करते हैं। सोम सर्वोत्तम ओषधि एवं वनस्पतियों का अधिपति है तथा झुकी हुई शाखाओं वाला होता है। यह रोग का शमन करने वाला तथा दिर्घायुष्य प्रदान करने वाला है। सोम-पान अमरत्व को प्रदान करता है। ऋग्वेद में सोम 'वृत्रहन्' (वृत्राणां हन्ता) है। ऋग्वेद के अनुसार वविस्वान्, त्रित तथा आप्त्य सोम के प्रथम सवनकर्ता हैं।

**ऋग्वेद में स्थान—**

सोम ऋग्वेद के एक प्रख्यात देवता हैं, क्योंकि नवम मण्डल के सम्पूर्ण ११४ सूक्त एवं इतर मण्डलों के ६ सूक्त सोम का गुण-कीर्तन करते हैं। इनके अतिरिक्त आंशिक रूप से और चार-पाँच सूक्त सोम का गुण-वर्णन करते हुए उपलब्ध है। इन्द्र अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देवयुग्म के रूप में सोम अन्य छः सूक्तों में भी स्तुत हुए हैं।

इन्द्र तथा वरुण की तुलना में वरुण का मानवीय शरीर अत्यन्त विकसित हो सका है, जिसका मुख्य कारण यहीं है कि ऋषियों के सम्मुख सोम का वानस्पतिक रूप सर्वदा विद्यमान रहा। फलतः सोम की मानवीय काया या क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में अति न्यून उल्लेख हो सका है। नवम मण्डल में मुख्यतः स्थूल सोम का निरूपण किया गया है। सोम-लता के पीस जाने वाले भाग को 'अंशु' कहते हैं। डण्ठल से अतिरिक्त समूची सोम-लता को 'अन्धस्' कहते हैं। सोम के लिए 'इन्दु' (दीप्तिमान् बूँद) शब्द का बहुतायत प्रयोग मिलता है। 'द्रप्स' का प्रयोग सीमित स्थानों पर मिलता है। सोम-रस के लिए मधु, पितु तथा मद शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। काष्ठ-पात्रों में रखे हुए सोम-रस को अनेक स्थलों पर 'समुद्र' शब्द से अभिहित किया गया है। सोम का रंग बभ्रु, अरुण एवं अनेक बार हरित बताया गया है।

**आवास—**

सोम को ऋग्वेद में तीन आवासों वाला कहा गया है। एक स्थल पर इनके आवास को 'परमे व्योमन्' में कहा गया है। सोम का इन्द्र एवं अग्नि से घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि प्रथम, महान् सोम-पाता हैं तथा द्वितीय, सोम की ही भाँति यज्ञीय देवता हैं।

**कार्य—**

सोम को ऋग्वेद में उक्षा, वृषन् तथा वृषभ एवं त्वरित गति-युक्त कहा गया है। सोम-रस के पीतवर्ण होने के कारण इनके शारीरिक गुण को प्रकाशमान् बताया गया है। ये सूर्य की भाँति अपनी रश्मियों से पृथिवी एवं स्वर्ग को आपूर्ण कर देते हैं। ये सूर्य को

भी प्रादुर्भूत एवं प्रकाशित किये हैं तथा उषाओं को दीप्तिमती बनाये हैं। सोम-रस को अत्यधिक मादक तथा शक्तिप्रदं बताया गया है। सोम-रसपान के प्रभाव से ही इन्द्र ने वृत्र जैसे दुर्धर्ष शत्रु का संहार किया। अतएव सोम को इन्द्र के सदृश वृत्रों का हन्ता तथा पुरों का भेत्ता बताया गया है।

सोम अपने उपासकों को प्रचुर धन, भोजन, अश्व आदि प्रदान करते हैं, शत्रुओं से उनकी रक्षा करते हैं तथा राक्षसों का संहार करते हैं। इसीलिए इतर देवताओं की भाँति इन्हें भी 'रक्षोहन्' विशेषण दिया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण के अनुसार चन्द्रमा देवताओं का सोम है। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार देवताओं का अन्य सोम अर्थात् चन्द्रमा है। छान्दोग्य-उपनिषद् के अनुसार भी सोम चन्द्रमा है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के गाथानुसार चन्द्रकलाओं में परिवर्तन का कारण देवताओं तथा पितरों द्वारा (सुधारूप) सोम-रस का पान है।

## अक्ष

ऋग्वेद संहिता में जहाँ एक ओर देवताओं की स्तुति करते हुए उनसे अभीष्ट की प्राप्ति के लिए याचनाएँ की गयी हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों एवं मानवीय दुर्व्यसनों को दूर करने से सम्बन्धित सूक्तों का सङ्कलन भी किया गया है। समाज में जब भोग-विलास और शक्ति का उदय होता है, तब द्यूतकर्म भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। ऋग्वैदिक युग में जुआ खेलना एक बहुप्रचलित सामाजिक दुर्व्यसन था। ऋग्वेद के दशम मण्डल का ३४वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है।

**अक्षों की संख्या एवं खेलने का स्थान—**

ऋग्वेद में अक्षों की संख्या के लिए 'त्रिपञ्चाशः' शब्द प्रयुक्त है। विद्वानों ने इस शब्द के अनेक अर्थ किये हैं— जैसे- पन्द्रह, तिरपन एवं एक सौ पच्चीस। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में पासा फेंकने से सम्बन्धित व्याहृतियों की तालिकाएँ प्राप्त होती हैं। पासा फेंकने के लिए भूमि पर ही एक नीचा सा स्थान बना लिया जाता था। दाँव पर रखी हुई वस्तु 'विज' कहलाती थी।

**अक्षों का स्वरूप एवं प्रभाव—**

अक्षों को द्यूतकार देवता मानता है। उसके हृदय में अक्षों के प्रति वही श्रद्धा है जो शिल्पकार को अपने उपकरणों में, लेखक को अपनी लेखनी में तथा वणिक् को अपनी तुला में होती है। अक्ष किसी वृक्ष के फलों के बीजरूपी विग्रह वाले होते हैं। इनका रंग भूरा होता है। अक्षों को किसी पात्र-विशेष में डालकर भली-भाँति हिलाकर द्यूतपटल पर फेंका जाता है। द्यूतपटल पर फुदकते हुए वे अक्ष बड़े ही मनोहारी दिखलायी पड़ते हैं। अक्षों को दिव्य अङ्गार-स्वरूप एवं महाशक्तिशाली कहा गया है।

अक्ष द्यूतकार को उसी प्रकार आनन्दित करते हैं जैसे सोमरस देवताओं को। अक्ष द्यूतकार को जगाने का कार्य भी करते हैं। द्यूतकार चिन्ता के वशीभूत होकर रात भर जागता रहता है। अक्षों के अन्दर एक प्रकार की मोहिनी शक्ति होती है। द्यूतकार इसी मोहिनी शक्ति के वश में रहता है। द्यूतकार अनेक बार द्यूतकार्य से विमुख होने का निश्चय करके भी ज्यों ही द्यूतपटल पर पासों को फुदकते हुए देखता है त्यों ही अपने सङ्कल्प को भूल जाता है। अक्षगण कभी भी उग्र से उग्र व्यक्ति के समक्ष भी पराजय को नहीं स्वीकारते। अक्षों की ध्वनि को द्यूतपटल पर सुनकर जुवारी उसी प्रकार द्यूतस्थल की ओर दौड़ पड़ता है जैसे कुलटा स्त्री संकेत-स्थल की ओर दौड़ पड़ती है।

**अक्षों की विलक्षणता—**

द्यूतपटल पर पड़े हुए भी अक्ष द्यूतकार के मर्मस्थल को भेदने वाले होते हैं। स्वयं दन्तविहीन होकर भी सहस्र द्यूतकार को पराभूत करते रहते हैं। शीतल स्पर्श वाले होकर भी द्यूतकार के हृदय को जलाते रहते हैं। स्वरूप से काष्ठवत् होते हुए भी अक्ष किसी द्यूतकार को क्षणमात्र के लिए बसा देते हैं तथा किसी को उजाड़ देते हैं। विजेता द्यूतकार के लिए वे प्रसन्नतादायक तथा पराजित के लिए दुःखप्रद भी होते हैं।

**द्यूतक्रीड़ा का कुपरिणाम—**

द्यूतकार व्यक्ति को समाज निकृष्ट कोटि का व्यक्ति समझने लगता है। द्यूतकार की पत्नी, सास तथा अन्य शुभाकांक्षी व्यक्ति उससे द्वेष करते हैं। द्यूतकार के प्रति कोई भी व्यक्ति दया-भाव नहीं दिखलाता। द्यूतकार एक बूढ़े किन्तु मूल्यवान् अश्व की भाँति किसी के लिए प्रिय नहीं रह पाता। द्यूतकार अनुकूल आचरण वाली अपनी पतिपरायणा पत्नी तक को दाँव पर हार जाता है। दूसरों की पत्नियों को देखकर तथा सुसंस्कृत आवास-गृहों को देखकर वह मानसिक क्लेश पाता है। द्यूतकार्य का सबसे कठिन दुष्परिणाम तो यह होता है कि उसकी प्राणप्रिया पत्नी को दूसरे लोग आलिङ्गित करते हैं। जब दाँव हारकर द्यूतकार विजेता द्यूतकार को दाँव पर रक्खी हुई सम्पत्ति नहीं चुका पाता तो राजा के कर्मचारी उसे रज्जुबद्ध करके ले जाते हैं। उस समय उसके मित्र, पिता, माता, भाई उसको देखना पसन्द नहीं करते तथा यह भी कह डालते हैं कि हम लोग बँधे हुए इसको नहीं जानतें।

**अमर संदेश—**

अक्षसूक्त के अधिकांश भाग में द्यूतकार्य के दुष्परिणामों को बतलाकर वैदिक ऋषि एक अमर सन्देश प्रदान करता है कि अक्षों से कभी भी मत खेलो, खेती करो। कृषि द्वारा प्राप्त धन को ही आदर-भाव से अपना समझो तथा उसमें ही आनन्द का अनुभव करो। कृषि-कार्य में ही गायें हैं, पालतू पशु हैं तथा सम्पूर्ण समृद्धि है।

हे अक्षों ! हमसे मित्रता करो। अपनी मोहिनी शक्ति का प्रयोग हम पर मत करो तथा सदैव हमारी सहायता करो।

## पुरुष

ऋग्वेद-संहिता के दशम मण्डल में कतिपय ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जो देव-स्तुतियों से भिन्न हैं। पुरुष-सूक्त भी इन्हीं सूक्तों में से एक है। इस सूक्त में सृष्टि-उत्पत्ति से सम्बन्धित वर्णन किया गया है। इस सूक्त में आदिपुरुष के शरीर से देवताओं द्वारा सृष्टि का निर्माण किया जाना वर्णित है। इसमें सृष्टिरचना की प्रक्रिया को एक यज्ञ का रूप दिया गया है। कतिपय परिवर्तनों के साथ यह सूक्त सामवेद, शुक्ल-यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है।

**पुरुष का स्वरूप—**

पुरुष सहस्र शिरों, सहस्र नेत्रों एवं सहस्र पैरों वाला देव है। यहाँ पर 'सहस्र' शब्द उपलक्षण-मात्र है। सहस्र का अर्थ असङ्ख्य है। वह सम्पूर्ण भूमण्डल को व्याप्त करने के पश्चात् भी कुछ अवशिष्ट रहता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि पुरुष ही सर्वव्यापी ईश्वर है जो संसार में सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवों के सभी क्रिया-कलापों का निरीक्षण करते हुए उसे कर्मफल भी प्रदान करता है।

**पुरुष का विभाजन—**

विराट् पुरुष का एक-चौथाई भाग मायोपहित होकर जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता रहता है। उसका तीन-चौथाई भाग अपेक्षाकृत अत्यधिक उत्कृष्ट है तथा विनाश-रहित है एवं द्युलोक में स्थित है। उसका एक-चौथाई भाग ही जड़ और चेतन के रूप में व्यवस्थित होता है।

**पुरुष के द्वारा यज्ञ—**

सृष्टि की उत्पत्ति के लिए देवताओं, ऋषियों एवं साध्यों ने जो यज्ञ किया, उसमें पुरुष को ही हवि के रूप में कल्पित किया। उस यज्ञ में घृत, ईंधन एवं हविष् के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं का प्रयोग हुआ।

इस यज्ञ को मानस-यज्ञ के प्रतीक के रूप में भी मानने की अवधारणा विद्वानों में व्याप्त है। इस मानस-यज्ञ में सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुण ही प्रधान हैं। इन्हें ही आज्य, ईंधन और हवि के रूप में परिकल्पित किया गया है।

**पुरुष द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति—**

उसी पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई। पशु-पक्षी भी उसी से उत्पन्न हुए। पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य एवं दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

सूर्य, चन्द्र, इन्द्राग्नी और वायु आदि देवताओं की उत्पत्ति क्रमशः पुरुष के नेत्र, मन, मुख और प्राण से हुई है। उपर्युक्त देवों के निवास के लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी लोक की उत्पत्ति क्रमशः शिर, नाभि एवं पादों से हुई। ऋक्, यजुष्, सामन् एवं छन्दस् की भी उत्पत्ति उसी से हुई।

## हिरण्यगर्भ (प्रजापति)

ऋग्वैदिक देवताओं के स्वरूप का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में एक परम सत्ता की स्तुति विविध नामों से की गयी है। ऐसा इसलिए कि सभी देवताओं की स्तुति में गुण-साम्य दृष्टिगत होता है। हिरण्यगर्भ का स्वरूप भी इस तथ्य का अपवाद नहीं कहा जा सकता।

**प्रजापति का आविर्भाव—**

युगान्त-काल में सम्पूर्ण सृष्टि को महान् जलराशि आवृत कर लेती है। उसी से देवताओं के स्वरूप तथा बीज रूप में स्थित हिरण्यगर्भ (प्रजापति) नूतन-सृष्टि-सम्पादनार्थ अविर्भूत होता है।

**प्रजापति द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति—**

प्रजापति ने अपनी महिमा से सर्वत्र व्याप्त जल को इस योग्य बना दिया कि वह जल सृष्टि रूप में वर्तमान प्रजापति को गर्भ के रूप में धारण कर सके तथा सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ अग्नि को उत्पन्न करे। सृष्टि की समुत्पादिका जलराशि को भी उत्पन्न करने वाला प्रजापति ही है। वह जड़, चेतन-सबका उत्पादक है। वह आत्मदा, बलदा भी है। जड़, चेतन- उभयविध जगत् के आधारभूत लोकों को निर्मित करने का कार्य भी प्रजापति ही करता है। उसी ने पृथिवी एवं द्युलोक को भी निर्मित किया है।

**प्रजापति का व्यापकत्व एवं आधिपत्य—**

प्रजापति ही सम्पूर्ण सृष्टि को धारण करके उसमें व्याप्त है। वर्तमान जगत् तथा भूत जगत् को प्रजापति ने ही व्याप्त कर रखा है। सूर्य को भी धारण करने वाला प्रजापति ही है। उसी को आधार बनाकर सूर्य उदित होता है तथा प्रकाशित होता है। वह सभी द्विपद एवं चतुष्पद् जीवों का शासक है। प्राणियों के जन्म और मृत्यु उसी के अधिकार में हैं। उसके प्रभाव से द्युलोक एवं पृथिवी लोक के स्वामी काँपते रहते हैं। विभिन्न दिशाओं-उपदिशाओं पर भी उसका आधिपत्य है।

**प्रजापति की पूजनीयता—**

वैदिक ऋषि अपने उपास्य देव की पूजा करते हुए नहीं अघाता है। वह अपने सभी कार्यों की सिद्धि के लिए अपने उपास्य देव का आवाहन करता है। प्रजापति का आवाहन

करते हुए ऋषि कहता है कि हे सत्य-धर्मा प्रजापति, तुमने पृथ्वी तथा द्युलोक को उत्पन्न किया है, तथा आह्लादकारी चन्द्रमा एवं विस्तृत जलराशि को उत्पन्न किया है, अतः हमें पीड़ित मत करो। हे प्रजापति! तुमसे अतिरिक्त दूसरे किसी ने भी इस सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं किया है। मैं जिस किसी इच्छा से तुम्हें हविष् प्रदान करूँ, वे हमारी इच्छाएँ पूर्ण हों तथा हम धनों के स्वामी बन जायें।

**प्रजापति का 'क' अभिधान—**

ऐ०ब्रा० (३।२१) के अनुसार एक बार इन्द्र ने प्रजापति से अपने लिए उनके महत्त्व की याचना की। इस पर प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि मैं अपना महत्त्व तुम्हें प्रदान करके स्वयं क्या बनूँगा (अर्थात् कः स्याम्)। इन्द्र ने उत्तर दिया कि जो कुछ तुम कह रहे हो वही अर्थात् (कः) बन जाओ? इस प्रकार प्रजापति का नाम 'कः' पड़ गया।

# सूक्त-समीक्षा

## विश्वामित्र-नदी-संवाद

ऋग्वेद में अनेक संवाद-सूक्त हैं जो कला की दृष्टि से मनोरम, सरस एवं भावपूर्ण हैं। ऐसे अनेक सूक्तों में कथोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें संवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डाक्टर ओल्डेन वर्ग की पुष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी दृष्टि में ऋग्वेदीय आख्यान गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। डाक्टर श्रोदर आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटकों के अवशिष्ट अंश हैं। डाक्टर विन्टरनित्स इन्हें प्राचीन लोगगीत काव्य का नमूना मानते हैं। इन्हीं से अवान्तर काल में एक ओर महाकाव्य का उदय हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन संवाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्त्व है।

इन संवादसूक्तों में विश्वामित्र-नदी-संवाद भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त है। प्राचीन काल में विश्वामित्र पैजवन के राजा सुदास के पुरोहित हुए। वह पौरोहित्य से प्राप्त प्रचुर धर लेकर शकट से अपने घर लौटते हुए मार्ग में विपाट् (विपाशा) और शुतुद्री (सतलज) के तट पर पहुँचे। उनके पार जाने की इच्छावाले महर्षि विश्वामित्र उनकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि— पर्वतों की गोद से निकलकर खुले लगाम वाली दो घोड़ियों की तरह विपाट् और शुतुद्री दो नदियाँ समुद्र की ओर जाने की इच्छा करती हुई प्रवाह से तेजी से बह रही हैं। ऐसी श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सुन्दर विपाट्

के पास आया हूँ। बछड़े को चाटती हुई दो माताओं की तरह, एक ही स्थान समुद्र को लक्ष्य कर बहती हुई शुतुद्री और विपाट् के पास आया हूँ। इस प्रकार विश्वामित्र द्वारा स्तुत नदियाँ कहती है—

हम लोग देव इन्द्र के द्वारा निर्मित स्थान पर अपनी धारा से उमड़ती हुई बह रही है। हम लोगों की गति स्वाभाविक रूप से बहने के लिए है, रूकने के लिए नहीं। इस लिए किस इच्छा से ऋषि बार-बार नदियों की स्तुति कर रहा है। इस प्र कुशिक-पुत्र विश्वामित्र अपनी रक्षा के लिए सोमयुक्त वचनों के द्वारा नदियों को क्षणभर रुकने की बार-बार स्तुति कर रहे हैं। वज्रहस्त इन्द्र ने नदियों को घेरने वाले वृत्र को मारकर बहने के लिए हमें बाहर निकाला। इन्द्र के पराक्रमयुक्त कार्य, जो उसने अहि को मारा, अवश्य कहने योग्य है। इस कथन को विश्वामित्र नदियों से कहते हैं। इसपर नदियाँ उत्तर देती है— हे स्तुतिगायक! इस वचन को कभी भी रात भूलो, ताकि भावी युगों के लोग तुम्हारे इस वचन को सुन सके। हे ऋषि! अपनी स्तुतियों के द्वारा हमारा आदर करो तथा हमें मनुष्यों की कोटि में नीचे मत लावो। हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। इस पर विश्वामित्र नदियों को बहन सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सुन्दर बहनों मुझ कवि की बात सुनों, क्योंकि तुम्हारे पास मैं बहुत दूर से गाड़ी तथा रथ से आया हूँ। अच्छी प्रकार झुक जाओ। हे नदियो! अपनी जलधारा से अच्छ के नीचे होकर बहती हुई आसानी से पार करने योग्य हो जाओ। ऋषि विश्वामित्र की उपरोक्त प्रार्थना सुनकर नदियाँ नीचे झुक जाती है। इस पर विश्वामित्र नदियों का समर्थन चाहते हुए अपने परिजनों के साथ नदियों को पार कर रहे हैं। पार करने के उपरान्त नदियों को अपनी जगह पर पुनः प्रवाहित होने के लिए कहते हैं।

इस प्रकार यह समग्र संवाद सूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओत-प्रोत है और कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक है।

## नासदीय-सूक्त

वेदों में सृष्टि के सम्बन्ध नानाविध कल्पनाएँ हैं। सामान्यतः प्रजापति को विश्व का स्रष्टा कहा गया है। वह प्रजापति कभी इन्द्र के रूप में, कभी वायु के रूप में, कभी सूर्य के रूप में स्तुति किया गया है। सृष्टि का रहस्य समझने के लिए नासदीय-सूक्त का विशेष महत्त्व है। इस सूक्त में बताया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार ही अन्धकार था, उस समय न सत् था न असत्, न अन्तरिक्ष था न व्योम, कौन इसे आवृत कर रखा था? क्या गहन, गम्भीर वारि था? न वहाँ मृत्यु थी न अमरता, न दिन था न रात और न दिन-रात का भेद करने वाला प्रकाश ही था, वहाँ एक ही तत्त्व था, जों विना वायु के भी अपनी शक्ति से श्वास लेता था। उसके अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं था। तब तप

की महिमा से 'एक' तत्त्व प्रकट हुआ, उस 'एक' में काम उत्पन्न हुआ। यही सृष्टि का प्रथम बीज था। प्राचीन मनीषी विचारकों ने अपने अन्तःकरण में विचार कर असत् से सत् की उत्पत्ति की खोज की। क्या सचमुच कोई जानता है कि वह कौन था? और कौन बता सकता है कि वह सृष्टि कहाँ से हुई? कौन जानता है कि कौन कब कहाँ से हुआ? यह सब कुछ वही जानता है जो परम व्योम में व्याप्त है, अथवा हो सकता है, वह भी न जानता हो?

इस प्रकार नासदीय-सूक्त विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्तन धारा का मौलिक परिचय है।

## प्रजापति

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के ३२वें अध्याय में सर्वमेघ के मन्त्र उल्लिखित हैं। ३२वें अध्याय के आरम्भ में हिरण्यगर्भ का विवेचन मिलता है। उसी सन्दर्भ में प्रजापति का विवेचन है। वही अग्नि है, वही अदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही तेज है, वही प्रार्थना है, वही यह जल है, वही प्रजापति है। समय के सम्पूर्ण परिमाण प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। उसको ऊपर, तिरछे या बीच में कोई नहीं समझ सकता। उस परमात्मा का कोई प्रतिमान नहीं है, जिसकी महान् कीर्ति 'सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ.....' आदि, वे मुझको कष्ट न पहुँचावें.....' आदि, 'उनको छोड़कर कोई दूसरा उत्पन्न नहीं है......' आदि मन्त्रों में वर्णित है। निश्चित ही यह देव सभी दिशाओं को व्याप्त कर स्थित है; वही सर्वप्रथम गर्भ में उत्पन्न हुआ था, वही उत्पन्न हुआ है; वही उत्पन्न होने वाला है। हे मनुष्यों! अचिन्त्य शक्तिवाला परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में स्थित है। पुनः ऋषि प्रजापति का विवेचन करते हुए कहता है कि— जिसके पिछे कोई उत्पन्न वस्तु नहीं थी; जिसने सम्पूर्ण जीवों की कल्पना की, वह सोलह अवयव वाला प्रजापति प्रजा के साथ आनन्दित होता हुआ तीनों प्रकाशों को धारण करता है।

प्रजापति परम देवता है। वाजसनेयि संहिता, अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में उसे सृष्टि के आदि में स्थित, देवों और असुरों का स्रष्टा तथा प्रथम यज्ञकर्त्ता कहा गया है और सूत्रों में उसे ब्रह्मा ही कहा गया है। उपनिषदों में इस परम देवता का विवेचन ब्रह्म नाम से विश्वास या परम तत्त्व के रूप में किया गया है। ब्राह्मणों में प्रजापति के विषय कई आख्यानों का भी विकास होता है, जिनमें प्रजापति और उसकी पुत्री उषा का आख्यान प्रमुख है।

प्रजापतिसूक्त मानव के सत्य के अन्वेषण के प्रयत्नों का प्रतीक है। यह परम सत्ता के विषय में चिन्तन की प्रगति की एक महत्त्वपूर्ण अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। यह सूक्त अद्वैतवाद या एकेश्वरवाद के दर्शन को सबल शब्दों में प्रस्तुत करता है और इस

बात का प्रमाण है कि वैदिक दर्शन बहुदेववादी नहीं था। प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस सूक्त के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

'इसमें एक ईश्वर की धारण को इतने सशक्त और स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है कि आर्यों के मौलिक एकेश्वरवाद को हम अस्वीकार नहीं कर सकते' (हिस्ट्री ऑफ एंण्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर)।

वस्तुत: यह सूक्त अन्य सूक्तों की भावना को ही अभिव्यक्त करता है कि परम देवता एक ही है, मनीषी उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। प्रजापति के अतिरिक्त कोई अन्य देवता नहीं, जो सभी वस्तुओं को व्याप्त करता हो, सबको उत्पन्न करता हो और सबके अस्तित्व का कारण हो। अतएव केवल प्रजापति ही ऐसा देवता है, जिसके लिए हवि से विधान करना चाहिए। ऋषि ने कहा है कि प्रजापति सभी देवों के ऊपर परमेश्वर है, परम देव है और अन्त में यह स्पष्ट: उद्घोषित करता है— हे प्रजापति ! तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा इन सबके और उन उत्पन्न वस्तुओं के चारों ओर व्याप्त नहीं हुआ। हम जिस इच्छा के साथ तुम्हें हवि प्रदान करते हैं वह इच्छा हमें प्राप्त हो और हम धन के स्वामी होवें।

## शिवसङ्कल्प

शुक्ल-यजुर्वेद के ३८वें अध्याय में यह सूक्त प्राप्त होता है। इसमें ऋषि अपने मन को कल्याणकारी सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना करता है। मनोविज्ञान में मन को जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व स्वीकार किया गया है। मन के द्वारा ही सभी कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसीलिए भारतीय दर्शनों में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है। मन के द्वारा ही अप्रमेय एवं ध्रुव सत्य का दर्शन होता है—

'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।'

**मन के कार्य—**

प्रस्तुत सूक्त में वर्णित मन के कार्यों को इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है— मन जाग्रदवस्था में क्षणमात्र में अति दूर गमन कर सकता है तथा दूसरे ही क्षण प्रत्यागमन भी कर सकता है। दूरगामी शक्तियों में सर्वशक्तिमान् मन ही है। मन के द्वारा ही भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब कुछ सम्यंक्रूपेण जाना जाता है तथा मन के द्वारा ही सभी प्रकार के यज्ञ आदि सम्पन्न किये जाते हैं। जिस प्रकार रथ की नाभि में 'आरे' (तीलियाँ) प्रतिष्ठित होती हैं उसी प्रकार ऋक्, यजुष् एवं साम मन के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित होते हैं। मन ही सात होता से युक्त यज्ञ का विस्तार भी करता है। जिस

प्रकार चतुर सारथि लगाम के द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को सञ्चालित करता है।

**शिवसङ्कल्प का महत्त्व—**

प्रस्तुत सूक्त ऋग्वेद के खिल भाग (४।११) में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर इस सूक्त में १३ ऋचाएँ हैं। खिलानुक्रमणी में इस सूक्त को शिवसङ्कल्प नाम दिया गया है। अग्निपुराण में इस सूक्त के जप से मन के शान्त होने का विधान किया गया है—

**शिवसङ्कल्पजापेन समाधिं मनसो लभेत्।**
**येनेदमिति जप्त्वा समाधिं विन्दते परम्॥**

— अग्निपुराण (२५९/९३)

ऋग्विधान (४।१०४,१०५) में भी अग्निपुराण के कथन का समर्थन किया गया है—

**येनेदमिति वै नित्यं जपेत नियतव्रतः।**
**समाधिं मनसस्तेन विन्दते नैव मुह्यति॥**

मनुस्मृति १२।२५१ में शिवसङ्कल्पसूक्त को पापहारी बतलाया गया है, तथा टीकाकार मेधातिथि ने भी श्राद्ध के समय इस सूक्त के पाठ का विधान किया है—**खिलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान् श्रावयेत्** (मनु० ३।२३२ पर मेधातिथि।)

प्रस्तुत सूक्त में मन के शुभ सङ्कल्पों से युक्त होने की कामना की गयी है। यदि व्यक्ति का मन शुभसङ्कल्पों से युक्त होगा तो उसे इस जीवन में किसी प्रकार के दुःख का सामना नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि सभी दुःखों का मूलकारण मन की असन्तुष्टि ही है।

## राष्ट्राभिवर्धनम्

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य भेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। इस सन्दर्भ में पृथिवी सूक्त, रक्षा सूक्त आदि अनेक सूक्त हैं। राष्ट्राभिवर्धनम् सूक्त का भी एक विशिष्ट स्थान है। इसमें राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए ऋषि की प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे ब्रह्मणस्पति चारों ओर घूमने वाली मणि जिससे इन्द्र बड़ा हुआ उसमें हम लोगों को राष्ट्र की समृद्धि के लिए बढ़ाओ। हमारे विपक्षियों को जो हमें कुछ नहीं देने वाले हैं तथा हमसे युद्ध की इच्छा करने वाले हैं तथा दुर्व्यवहार करने वाले हैं उनको हमसे पराजित करो। पुनः ऋषि कहता है कि हे मणि सवितृ देव ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों तरफ से

समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है ताकि तुम चारों तरफ घूमकर रक्षा करने वाले बने रहो। इस प्रकार चारों तरफ घूमने वाली, विपक्षियों को पराजित करने वाली तथा उनका संहार करने वाली मणि, राष्ट्र की समृद्धि के लिए मेरे में बँधे। जिस प्रकार सूर्य नभमण्डल में ऊपर चला गया है, मेरा यह मन्त्र भी ऊपर गया है ताकि में शत्रुओं को मारने वाला, प्रतिद्वन्दीरहित तथा प्रतिद्वन्दियों को मारने वाला होऊँ। इस प्रकार प्रतिद्वन्दी को नष्ट करने वाला, प्रजाओं की इच्छा को पूर्ण करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ) ताकि मैं शत्रुपक्ष के इन वीरों का तथा अपने एवं पराये लोगों का शासक बनूँ। इस प्रकार राष्ट्रभिवर्धनम् सूक्त का अथर्ववेद में विशिष्ट महत्त्व है।

## साम्मनस्य

वेदों में अन्यतम अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवलित है। ऋग्वेद आदि तीनों वेदों में स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि परलोक सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन है जबकि अथर्ववेद में इस लौकिक जीवन को सुखमय तथा दुःखविरहित बनाने के लिए नाना अनुष्ठानों का विधान है।

इसमें शान्ति तथा पौष्टिक कार्यों के विधान से सम्बन्धित तथा रोगादि निवारण से सम्बन्धित अनेक सूक्त हैं। साम्मनस्यम् सूक्त भी उनमें अन्यतम् है। जीवन को सुखमय तथा शान्तिमय बनाने के लिए लौकिक जीवन में आपसी सामञ्जस्य आवश्यक है। अथर्ववेदीय उपरोक्तसूक्त में कहा गया है कि हे विवाद करने वाले मनुष्यों! थुम लोगों को समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेष रहित बनाता हूँ। एक दूसरे से प्रेम करो, जिस प्रकार गाय उत्पन्न बछड़े को प्यार करती है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता पुत्रादिकों के लिए समान मन वाली हो। पत्नी पति के लिए मीठी तथा कल्याणकारी वाणी बोले। भाई-भाई से द्वेष न करे तथा बहन-बहन से। इस प्रकार समान गति वाले तथा समान कार्य वाले होकर शिष्टता से बोलो। इस प्रकार आपसी सौमनस्य रहने पर देवता अलग नहीं जाते और न तो परस्पर द्वेष करते हैं। तुम्हारे घर तुम मनुष्यों के लिए उस सामञ्जस्य के निमित्त हम प्रार्थना करते हैं। पुनः ऋषि शिक्षा देते हुए कहता है कि श्रेष्ठ गुणों से युक्त, समान चित्त वाले, एक साथ साधना करते हुए, कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हुए तुम लोग अलग मत होवो। परस्पर एक दूसरे के लिए प्रिय वचन बोलते हुए आवो। मैं तुम लोगों को एक साथ कार्य में प्रवृत्त होने वाला तथा समान मनवाला बनाता हूँ। अन्त में ऋषि उपदेश देते हुए यह निर्देश देता है कि जिस प्रकार चक्र की तिल्लियाँ धूरे के चारों तरफ स्थित होकर रहती हैं उसी प्रकार तुम लोगों का खाना-पीनी साथ हो तथा एक साथ मिलकर अग्नि की उपासना करो। जिस प्रकार अमृत की रक्षा करते हुए देवता लोग एक साथ रहे उसी प्रकार प्रत्येक क्षण तुम लोगों का मन एक साथ रहे।

## वाक्-मनस् संवाद

शतपथ-ब्राह्मण में वाक्-मनस् संवाद का विवेचन है। इस सन्दर्भ में अपने-अपने बड़कपन के विषय में संवाद प्रारम्भ होता है और आपस में विवाद करने लगे। इस पर मन ने कहा कि मैं तुमसे बड़ा हूँ; क्योंकि तुम मेरे द्वारा न जाना हुआ कुछ भी नहीं बोलती। तुम मेरा अनुकरण करने वाली और मेरी अनुगमिनी हो। अत: मै ही तुमसे बड़ा हूँ। इस पर वाणी मन से कहती है कि मैं तुमसे बड़ी हूँ। तुम जो कुछ भी जानते हो, वह मैं ही जानती हूँ और बताती हूँ। इस प्रकार परस्पर अपने बड़ेपनरूपी विवाद के निराकरण हेतु दोनों प्रजापति के पास गए। प्रजापति ने मन के ही अनुकूल निर्णय दिया। उन्होंने वाण से कहा कि मन तुमसे बड़ा है। तुम मन का अनुकरण करने वाली और अनुगमन करने वाली हो। बड़े का अनुकरण और अनुगमन करने वाला निश्चित ही उससे नीचा होता है। प्रजापति द्वारा इस प्रकार कहा जाने पर वाणी हतोत्साहित हो गई। उसका अहङ्कार चूर्ण हो गया। उसने प्रजापति से वहा कि मैं तुम्हारे लिए हवि नहीं ले जाऊँगी क्योंकि तुमने मेरे विरुद्ध निर्णय दिया है। अत: यज्ञ में जो कुछ भी प्रजापति के लिए किया जाता है वह नीचे स्वर से किया जाता है। वाणी प्रजापति के लिए हविर्द्रव्य नहीं ले जाती। देवों ने उस गर्भ को एक चमड़े में या अन्य किसी पात्र में भर लिया। वे पूछते थे कि क्या वह इसी में है? तब उसी से अत्रि उत्पन्न हुए। इसीलिए गलितगर्भा रजस्वला स्त्री को आत्रेयी कहते हैं। उससे व्यवहार करने वाला पापी होता है। इसी स्त्रीरूपधारिणी वाग्वेत्ता से ये सब गर्भ उत्पन्न हुए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में वाक्देवी सरस्वती देवी ही है और दोनों को अभिन्न बताया गया है। वाक् का तादात्म्य ब्रह्म, प्रजापति, वायु, प्राण, यज्ञ आदि से बताया गया है तथा उसे प्राण की पत्नी भी कहा गया है। निघण्टु में वाक् को अन्तरिक्ष की एक देवी माना गया है। निरुक्त में इसे 'माध्यमिका वाक्' कहा गया है।

वाक् और मन में श्रेष्ठता के विवाद होने पर भी वाक् के सभी उल्लेखों का पर्यवेक्षण करने पर इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि ऋषि दार्शनिकों की परमसत्ता की खोज वाक् के रूप में प्रतिफलित हुई है। वाक् के व्यापकत्व का बार-बार वर्णन किया गया है, उससे उसका परम अस्तित्व ही सूचित होता है। शाक्त मत में शक्ति तत्त्व का विकास निश्चय ही ऐसी धारणाओं से हुआ है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में वाक् ही माया भी है। सायण ने स्पष्टत: वाक् को माया कहा है। इस वाक् को 'माध्यमिका वाक्' भी कहा गया है और व्याकरण दर्शन तो अत्यन्त शास्त्रीय विधि से वाक् या शब्द को ब्रह्म ही सिद्ध करता है। इस प्रकार वाक् दर्शन का एक विशिष्ट प्रत्यय है और इस सूक्त का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है।

# पुरुष-विभूति

ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय प्रपाठक में पुरुष-विभूति का विवेचन है। पृथिवी और अग्नि को प्रजापतिरूप पुरुष की वाणी ने उत्पन्न किया है। पृथिवी पर अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं। अग्नि के पाक से वे इतने स्वादिष्ट हो जाते हैं कि लोग यह कहते हैं, 'यह ले आइये, यह ले आइये'। इस प्रकार से यह दोनों पृथिवी और अग्नि वाक्‌रूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक पृथिवी और अग्नि व्याप्त है वहाँ तक उस (उपासक) का लोक होता है। जो इस प्रकार वाणी के ऐश्वर्य को जानता है, उसका लोक तब तक जीर्ण नहीं होता जब तक इन दोनों पृथिवी और अग्नि का (लोक) जीर्ण नहीं होता। अन्तरिक्ष और पवन प्राण के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। अन्तरिक्ष में से लोग चलते हैं और अन्तरिक्ष में से सुनते हैं। पवन उपासक के लिए पवित्र (उत्तम) गन्ध लाता है इस प्रकार ये दोनों अन्तरिक्ष और पवन प्राणरूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक अन्तरिक्ष व्याप्त है और जहाँ तक वायु व्याप्त है वहाँ तक उपासक की भोगभूमि होती है। जो उपासक यहाँ वर्णित प्रकार से प्राण की यह विभूति जानता है उसकी भोगभूमि तब तक शीर्ण नहीं होती जब तक अन्तरिक्ष और पवन के व्याप्ति की भूति शीर्ण न हो जाय। आकाश और सूर्य प्रजापति के नेत्र द्वारा उत्पन्न किये गए हैं। आकाश उपासक को वृष्टि और अन्न देता है। सूर्य उसको उष्णता और प्रकार देता है। इस प्रकार आकाश और सूर्य अपने नेत्र रूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक आकाश और सूर्य की अभिव्याप्ति है वहाँ तक उपासक की भोगभूमि है। जब तक आकाश और सूर्य की अभिव्याप्ति का क्षेत्र शीर्ण नहीं होता तब तक उपासक की भोगभूमि शीर्ण नहीं होती। प्रजापति रूपी पुरुष की विभूति के सन्दर्भ में आरण्यककार पुनः कहते हैं कि दिशाओं और चन्द्रमा को प्रजापति के कानों ने उत्पन्न किया है। दिशाओं से सेवक और भोग्यवस्तु उपासक के पास आते हैं। दिशाओं से ही उपासक शब्द सुनता है। चन्द्रमा पवित्र कर्म करने के लिए उसापक के वास्ते शुक्ल और कृष्णपक्ष सम्पन्न करता है। इस प्रकार ये दिशाएँ और चन्द्रमा अपने श्रोत्ररूपी पिता की सेवा करते हैं। जो उपासक यहाँ वर्णित कानो की इन विभूति को जानता है उसकी भोगभूमि तब तक शीण नहीं होती जब तक दिशाओं और चन्द्रमा की अभिव्याप्ति का देश नष्ट नहीं हो जाता। पुनः आरण्यककार कहता है कि जल और वरुण प्रजापति के मन के द्वारा उत्पन्न किये गए हैं। जल उपासक के मन में पवित्र कर्म करने के लिए श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। वरुण उपासक की प्रजा को धर्म में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार ये (जल और वरुण) मनरूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक जल और वरुण की व्याप्ति है वहाँ तक उपासक की भोगभूमि होती है। जो उपासक यहाँ वर्णित प्रकार से मन की विभूति को जानता है, उसकी भोगभूमि तब तक शीर्ण नहीं होती जब तक जलों और वरुण की अभिव्याप्ति की भूमि नष्ट न हो जाय।

## आत्म-तत्त्व विवेचन

वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक सूक्तों में जिस दार्शनिक विचार धारा का प्रारूप मिलता है उसी का विस्तृत रूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। इस प्राचीन तथा प्रामाणिक उपनिषदों में वृहदारण्यकोपनिषद् विशालकाय है। इस उपनिषद् में तीन भाग है और प्रत्येक भाग में दो-दो अध्याय है। इस प्रकार कुल छः अध्याय है। प्रथम भाग को मधु काण्ड, द्वितीय भाग को याज्ञवलक्य काण्ड और तृतीय भाग को खिलकाण्ड कहते हैं। याज्ञवल्क्य के वानप्रस्थ ग्रहण करते समय उनकी पत्नी मैत्रेयी ने धन की अभिलाषा न करके अमरत्व प्राप्ति का उपाय पूछा। याज्ञवल्क्य ने विविध उदाहरणों द्वारा ब्रह्म की सर्वमयता का उपदेश दिया। इसी का विवेचन आत्मतत्त्व विवेचन में किया गया है। याज्ञवल्क्य के द्वारा उपर्युक्त प्रकार से कही गई मैत्रेयी ने कहा कि हे भगवन्! क्या समस्त पृथिवी के मेरे धन से भर जाने पर उससे में सब दुःखों से मुक्त होकर अमर हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ऐसा नहीं है। तुम्हारा जीवन वैसा ही होगा जैसा धनिकों का होता है। धन से अमर पद की आशा नहीं है। याज्ञवल्क्य के उत्तर को सुनकर मैत्रेयी ने कहा कि जिस धन से मैं दुःखमुक्त नहीं हो सकती, उससे मुझे क्या करना है? हे भगवन्! आप मुझें वहीं बतायें जिसे आप मुक्ति का साधन समझते हैं। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयि से कहा कि पत्नी को पति उसके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होता, अपितु आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होता है। हे मैत्रेयि! पति का भार्या उसके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होती, प्रत्युत आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होती है।

सब पदार्थ उनके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होते, प्रत्युत आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होते हैं। संसार में आत्मा ही सर्वोपरि प्रिय पदार्थ है। अतः आत्मा ही जानने योग्य पदार्थ है। उसी को सुनना चाहिए, उसी पर विचार करना चाहिए और उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान से सब कुछ जाना जाता है। जो पञ्चमहाभूतों को आत्मा से भिन्न समझता है, उसे पञ्चमहाभूत दूर रखते हैं जो संसार के सब पदार्थ को आत्मा से भिन्न समझता है उसे सब पदार्थ दूर रखते है। ये ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, देव, पञ्चमहाभूत सब आत्मा ही है। उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई पुरुष नगाड़े के पीटे जाने पर उससे निकलने वाले शब्दों को भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले भिंन्न शब्द नहीं समझ सकता। प्रत्युत नगाड़े को अथवा उसके पीटे जाने को देखकर वह शब्दों को नगाड़े के शब्द ही मानता है। पुनः आगे कहते हैं कि जैसे अच्छी तरह जलाई हुई गीली लकड़ी की आग से अनेक प्रकार का धूप और चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि! यह सब उसी परमात्मा से निश्वासित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विधाएँ, उपनिषद् स्तुति श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान सब उसी परमात्मा से निकले हैं। जगत् ब्रह्म स्वरूप हैं जैसे समुद्र सब जलों

का एक मात्र गन्तव्य स्थान है, जैसे मन सब सङ्कल्पों का एक मात्र स्थान है, जैसे हृदय सब विधाओं का एक मात्र स्थान है और वाणी सब वेदों का एक मात्र स्थान है। पुनः ऋषि याज्ञवल्क्य मैत्रेयि से मन के स्वरूप को समझाते हुए कहते हैं कि— हे मैत्रेयि ! जैसे सेंधा नमक का ढोंका पानी में डालने पर उसमें घुल जाता है, उसे कोई पानी से अलग नहीं कर सकता; जहाँ-जहाँ से लिया जाय नमक का पानी ही हाथ में आता है। ढोंके का पता नहीं चलता। इसी प्रकार हे मैत्रेयि ! यह अनन्त अपार परमात्मा, जो शुद्ध विज्ञान-स्वरूप है, पञ्चमहाभूतों का बना शरीर धारण करके पृथक् पुरुष के रूप में प्रकट होता है और उनके नष्ट होने पर पुनः अपने पूर्व में आ जाता है। शरीर छोड़ने के बाद इसकी पृथक् के रूप में सत्ता नहीं रह जाती। मैत्रेयि को याज्ञवल्क्य की बातों से भ्रम हो गया उस पर उन्होंने कहा कि मैं तो तत्त्वज्ञान की बात कह रहा हूँ। जहाँ द्वैत का सा भाव होता है वहाँ दूसरा दूसरे को सूँघता है, वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है, जहाँ किसी मनुष्य के लिए सब आत्मस्वरुप हो जाता है, वहाँ किससे किसको सूंघा जाय? वहाँ किससे किसको देखा जाय? जिससे यह सब जाना जाता है? उसको किसमें जाना जाय? हे मैत्रेयि ! जानने वाले को किससे जाना जाय?

## पुरुष-स्वरूप

पुरुष के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम ऋग्वेद के १०/९० पुरुष सूक्त में विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। इसमें पुरुष के आध्यात्मिक कल्पना का भव्य निदर्शन है। अकेले पुरुष ही यह समस्त विश्व है, जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ है, जो आगे भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यों के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्श-निक विचारधारा का परिचायक है। यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में भी पुरुष के स्वरूप के विषय में विचार किया गया है। जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में ६ मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। यहाँ पर श्वेताश्वरोपनिषद् में वर्णित पुरुष स्वरूप के विषय में विचार किया जा रहा है—

हिरण्यगर्भ से उत्कृष्ट परमेश्वर है। वह सर्वव्यापक है। वह सब पदार्थों में उनके शरीर के अनुसार छिपा है। वह अकेला संसार को व्याप्त करके रहता है। उसी परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानकर प्राणी मुक्त होते हैं। वह आदित्य के समान प्रकाशमान तथा पूर्ण है एवं माया से रहित है। उसी को जानकर प्राणी मोक्ष प्राप्त करते हैं। उससे सूक्ष्म तथा बड़ा दूसरा कोई नहीं है। उसी के द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है। उस (परमेश्वर) से भी अधिक उत्कृष्ट है वह (शुद्ध ब्रह्म) रूपरहित तथा तापत्रयरहित है। जो यह जानते हैं उनको मुक्ति मिलती है और जो यह नहीं जानते वे दुःख को प्राप्त करते हैं। वह संसार के सम्पूर्ण स्थावर तथा जङ्गम पदार्थों की बुद्धि अथवा हृदय में निवास करता है। वह

सर्वव्यापी और सब धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश और श्री का समष्टि स्वरूप है। इसीलिए वह सर्वत्र विद्यमान और मङ्गलमय है।

वह सबका नियन्ता और अविनाशी है। अङ्गुष्ठ परिमाणवाला अन्तरात्मा पूर्ण पुरुष (ब्रह्म) सब प्राणियों के हृदय में रहता है। वह हृदय, बुद्धि और मन के द्वारा रक्षित है। जो यह जानते हैं वे अमर होते हैं। वह हजारों सिरों वाला, हजारों नेत्रों वाला और हजारों पैर वाला है। वह पृथिवी को सर्वत्र व्याप्त करके दस अङ्गुल बचा रहता है अर्थात् वह अनन्त और अपार है। वह इस संसार का भूत, भविष्य, वर्तमान वस्तुजात सब ब्रह्म ही है। अमरत्व और अन्त से बढ़ने वाले सब पदार्थों का वह ही ईश्वर है। वह सर्वत्र हाथ और पैर वाला है। वह सर्वत्र नेत्र, सिर और मुँह वाला है। उसके कान सर्वत्र है। वह संसार में सब कुछ व्याप्त करके रहता है। सब इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय ज्ञान जिसमें रहता है; किन्तु स्वयं इन्द्रिय रहित है, जो सबका स्वामी और नियन्ता है, वह अनन्त ब्रह्म सबका शरणदाता है। पुनः ऋषि कह रहे हैं कि— नौ द्वार वाले शरीर में जीवात्मा के रूप में रहने वाला परमात्मा विषय ग्रहंण के लिए बाहर चलता है। वस्तुतः वह स्थावर और जङ्गम जगत् का नियन्ता है। वह जानने योग्य सब पदार्थों को जानता है, परन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है। उसे ज्ञानी लोग श्रेष्ठ, महान् तथा पूर्ण पुरुष कहते हैं। वह परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से भी बड़ा है। वह प्राणियों के हृदय में अथवा अन्तःकरण अथवा सूक्ष्म शरीर में रहता है। परमात्मा की कृपा से माया के बन्धन से मुक्त पुरुष उस विषय भोग के सङ्कल्प से रहित, महान् जगन्नियन्ता का दर्शन करता है। ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि इसका (पुरुष का) जन्म नहीं होता, यह नित्य है।

# विषयानुक्रमणी

# १. अग्निमारुतसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद          मण्डल संख्या–१          सूक्त संख्या–१९

ऋषि-मेधातिथि          देवता-अग्निमरुतौ          छन्द-गायत्री

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।

मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१॥

**पदपाठ—** प्रति । त्यम् । चारुम् । अध्वरम् । गोऽपीथाय । प्र । हूयसे । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥

**सायणभाष्य—** त्यच्छब्दः सर्वनाम तच्छब्दपर्यायः । हे अग्ने यो यज्ञः चारुः अङ्गवैकल्यरहितः त्यं तथाविधं चारुमध्वरं प्रतिलभ्य गोपीथाय सोमपानाय प्र हूयसे प्रकर्षेण त्वं हूयसे तस्मात् अस्मिन्नध्वरे त्वं मरुद्भिः देवविशेषैः सह आ गहि आगच्छ । सेयमृक् यास्केनैवं व्याख्याता— 'तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयते सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छ' (निरु० १०.३६) इति ॥ प्रति । निपात आद्युदात्तः । त्वम् । 'त्वदादीनामः' (पा०सू० ७.२.१०२) । प्रातिपदिकस्वरः । चारुम् । 'दॄसनिजनिचरि० (उ०सू० १.३) इत्यादिना ञुण् । 'अत उपधायाः' (पा०सू० ७.२.११६) इति वृद्धिः । ञित्त्वादाद्युदात्तः । गोपीथाय । निशीथगोपीथावगथाः' (उ०सू० २.१३६) इति थक्प्रत्ययान्तो निपातितः । प्र । निपातस्वरः ॥

**अन्वय—** अग्ने, त्यं चारुम् अध्वरं प्रति गोपीथाय प्र हूयसे, मरुद्भिः आ गहि ।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि । त्यं = उस । चारुं = सुन्दर, सभी अङ्गों से पूर्ण । अध्वरम् प्रति = हिंसारहित यज्ञ में, यज्ञ की ओर । गोपीथाय = सोमपान के लिए । प्र हूयसे = तुम प्रकृष्ट रूप से आहूत किये जाते (बुलाये) जाते हो । मरुद्भिः = मरुतों के साथ । आगहि = तुम आओ ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, तुम उस सुन्दर (सर्वाङ्गपूर्ण) हिंसारहित यज्ञ में सोमपान के लिए प्रकृष्ट रूप से आहूत किये जाते (बुलाये जाते) हो, (इसलिए) तुम मरुतों के साथ (यहाँ) आओ ।

**व्याकरण—**

१. त्यम् – तत् अर्थ में, त्यत् का द्वितीया एकवचन।

२. चारुम् – √चर् उ द्वितीया एकवचन।

३. अध्वरम् – अ + √ध्वृ (हिंसायाम्) अ–ध्वर, न ध्वरः यस्मिन् सः अध्वरः तम्, द्वितीया एकवचन।

४. गोपीथाय – गो+√पा+थक् गोपीथ, चतुर्थी एकवचन।

५. हूयसे – √हू + (आह्वाने) + आत्मने लट्, मध्यमपुरुष एकवचन।

६. आ गहि – आ + √गम् + मध्यमपुरुष एकवचन। वैदिक रूप। लौकिकसंस्कृत में आगच्छ रूप बनता है।

**नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः।**

**मरुद्भिरग्न आ गहि ॥२॥**

**पदपाठ—** नहि। देवः। न। मर्त्यः। महः। तव। क्रतुम्। परः। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥

**सा० भा०—** हे अग्ने महः महतः तव सम्बन्धिनं क्रतुं कर्मविशेषमुल्लङ्घ्य परः नहि उत्कृष्टः देवः न भवति खलु। तथा मर्त्यः मनुष्यश्च परः न भवति। ये मनुष्यास्त्वदीयं क्रतुमनुतिष्ठन्ति ये च देवास्त्वदीये क्रतौ इज्यन्ते ते एवोत्कृष्टा इत्यर्थः। मरुद्भिरित्यादि पूर्ववत्॥ नहि। 'एवादीनामन्त्रः' इत्यन्तोदात्तः। देवः। पचाद्यजन्तः चित्त्वादन्तोदात्तः। महः। महतस्तलोपश्छान्दसः। 'बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' (पा०सू० ६.१.१७६) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। तव। 'युष्मदस्मदोर्ङसि' (पा०सू० ६.१.२११) इत्याद्युदात्तत्वम्। क्रतुम्। 'कृञः कतुः' (उ०सू० १.७७)। प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्। गहि। 'गम्लृ सृप्लृ गतौ'। लोटः सेर्हिः। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। 'अनुदात्तोपदेश०' (पा०सू० ६.४.३७) इत्यादिना अनुनासिकलोपः। तस्य 'असिद्धवदत्रा भात्' (पा०सू० ६.४.२२) इति असिद्धत्वात् 'अतो हेः' इति लुक् न भवति। निघातः॥

**अन्वय—** अग्ने, न देवः न मर्त्यः तव महः क्रतुम् परः। मरुद्भिः आगहि।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि। न देवः = न देवता। न हि मर्त्यः = न तो मनुष्य। महः = महान्। तव = तुम्हारे। क्रतुम् = कर्म से, कार्य से। परः = श्रेष्ठ, उत्कृष्ट। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आगहि = तुम आओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, न देवता, न तो मनुष्य तुम्हारे महान् कर्म से उत्कृष्ट (बड़े)

हैं (अतः) तुम मरुतों के साथ (यहाँ) आओ।

व्याकरण—

१. महः – महत् का षष्ठी एकवचन वैदिकरूप। लौकिकसंस्कृत में महतः रूप बनता है।

२. क्रतुम् – √कृ + कतु।

३. परः – परस्तात् के अर्थ मे प्रयुक्त अव्यय।

४. देवः – √दिव् + अच्, प्रथमा एकवचन।

**ये म॒हो रज॑सो वि॒दुर्विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒द्रुहः॑।**

**म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥३॥**

**पदपाठ**— ये । म॒हः । रज॑सः । वि॒दुः । विश्वे॑ । दे॒वासः॑ । अ॒द्रुहः॑ । म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने । आ । ग॒हि॒ ॥

**सा० भा०**— हे अग्ने ये मरुतः महो रजसः महत उदकस्य वर्षणप्रकारं विदुः तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः। कादृशा मरुतः। विश्वे सर्वे सप्तविधगणोपेताः 'सप्तगणा वै मरुतः' (तै०सं० २.२.११.१) इति श्रुतेः। देवासः द्योतमानाः अद्रुहः द्रोहरहिता वर्षणेन सर्वभूतोपकारित्वात्। तथा च उपरिष्टादाम्नायते— 'उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः' (ऋ०सं० ५.५५.५) इति। शाखान्तरेऽपि मन्त्रान्तरस्य ब्राह्मणमेवमाम्नायते— 'मरुतां पृषतयः स्थेत्याह मरुतो वै वृष्ट्या ईशते' (तै०ब्रा० ३.३.९.४) इति। रजःशब्दो यास्केन बहुधा व्याख्यातः— 'रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यत उदकं रज उच्यते लोका रजास्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्येते' (निरु० ४.१९) इति॥ रजसः। 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' इत्याद्युदात्तः। विदुः। 'विद ज्ञाने'। विदो लटो वा' (पा०सू० ३.४.८३) इति झेः उसादेशः। प्रत्ययस्वरः। यद्वृत्तयोगात् निघाताभावः। विश्वे। विशेः क्वनन्तस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। देवासः। 'आज्जसेरसुक्'। देवशब्दः पचाद्यजन्तः। चित्त्वादन्तोदात्तः। अद्रुहः। सम्पदादित्वात् भावे क्विपि 'बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम्' इत्यन्तोदात्तत्वम्। कर्तरि वा क्विप्। तत्पुरुषे हि अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं स्यात्। न च कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा०सू० ६.२.१३९), यतो नञ् न गतिर्न च कारक इति॥

**अन्वय**— अग्ने, ये विश्वेदेवासः महः रजसः विदुः मरुद्भि आगहि।

**पदार्थ**— अग्नि = हे अग्नि। ये = जो। अद्रुहः = द्रोहरहित। विश्वे देवासः =

सम्पूर्ण प्रकाश वाले। महः = महान्। रजसः = अन्तरिक्ष लोक को। विदुः = जानते हैं। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आ गहि = तुम आओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि जो, द्रोहरहित (और) सम्पूर्ण प्रकाश वाले (हैं) (तथा) महान् अन्तरिक्ष को जानते है, (उन) मरुतों के साथ तुम आओ।

**व्याकरण—**

१. रजसः – √रञ्ज् + असुन्। षष्ठी एकवचन।

२. विदुः – √विद् लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. विश्वे – √विश् + क्वन्, प्रथमा बहुवचन।

४. देवासः – देव का प्रथमा बहुवचन में वैदिक रूप। लौकिकसंस्कृत में देवाः रूप बनता है।

५. अद्रुहः – √द्रुह् + क्विप् = द्रुहः, न द्रुहः अद्रुहः, प्रथमा बहुवचन वैदिकरूप।

**य उ॒ग्रा अ॒र्कमा॑नृ॒चुरना॑धृष्टास॒ ओज॑सा ।**

**म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥४॥**

**पदपाठ—** ये । उ॒ग्राः । अ॒र्कम् । आ॒नृ॒चुः । अना॑धृष्टासः । ओज॑सा । म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ ॥

**सा० भा०—** ये मरुतः उग्राः तीव्राः सन्तः अर्कम् उदकम् आनृचुः अचितवन्तः वर्षणेन सम्पादितवन्त इत्यर्थः। तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः। कीदृशा मरुतः। ओजसा बलेन अजाधृष्टासः अतिरस्कृताः सर्वेभ्योऽपि प्रबला इत्यर्थः। अर्कशब्दस्योदकवाचित्वं वाजसनेयिन आमनन्ति— 'आपो वा अर्कः' (श०ब्रा० १०.६.५२) इति। तन्निर्वचनं च त एवाममन्ति— 'सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते व मे कमभूदिति तदेत्यर्कस्यार्कत्वम्' (श०ब्रा० १०.६.५.१) इति। स जगत् सृष्ट्वा हिरण्यगर्भ उदकं स्रष्टुमुद्युक्तोऽर्चन् सत्यसङ्कल्पमहिमप्रख्यापनेन स्वात्मानं पूजयन्नचरत्। तथा पूजयतो हिरण्यगर्भस्य सकाशादुदकमुत्पन्नम्। तदानीमर्चसां कमभूदित्यवोचत्। तेनोदकस्य अर्कनाम निष्पन्नमित्यर्थः॥ आनृचुः। अर्चतेः 'अपस्पृधेथाम्०' (पा०सू० ६.१.३६) इत्यादिना निपातितः। प्रत्ययस्वरः। यद्वृत्तयागात् न निघातः। अना-घृष्टासः। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। ओजसा। 'उब्जेर्बलोपश्च' (उ०सू० ४.६३१) इति असुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः॥

**अन्वय—** असने, ये उग्राः, वर्चसा अनाधृष्टासः अर्चम् आनृतुः, मरुद्भिः आ गहि।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि। ये = जो। उग्राः = प्रचण्ड। वर्चसा = बल से, बल के कारण। अनाधृष्टासः = अभिभूत नहीं होने वाले। अर्चम् = स्तुति को, अथवा जल को। आनृतुः = गाने वाले अथवा लाने (बरसाने) वाले। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आगहि = तुम आओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, ये जो प्रचण्ड, बल के कारण अभिभूत नहीं होने वाले तथा स्तुति को गाने वाले अथवा (जल को बरसाने वाले है) (उन) मरुतों के साथ तुम (यहाँ) आओ।

**व्याकरण—**

१. अर्कम् – √अर्क् + क।

२. अनृचुः – √लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन, वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में आनर्चुः बनेगा।

३. अनाधृष्टासः – √धृष् + क्त = धृष्ट, न धृष्टासः अनाधृष्टासः, प्रथमा बहुवचन का वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में अनाधृष्टाः रूप बनता है।

४. ओजसा – √उब्ज् + असुन् = ओजस्, तृतीया एकवचन।

**ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।**

**मरुद्भिरग्न आ गहि ॥५॥**

**पदपाठ—** ये। शुभ्राः। घोरऽवर्पसः। सुऽक्षत्रासः। रिशादसः। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥

**सा० भा०—** ये मरुतः शुभ्रत्वादिगुणोपेताः तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः। शुभ्राः शोभनाः घोरवर्पसः उग्ररूपधराः सुक्षत्रासः शोभनधनोपेताः रिशादसः हिंसकानां भक्षकाः। 'मघम्' इत्यादिष्वष्टाविंशतिसङ्ख्याकेषु धननामसु 'क्षत्रं भगः' (निघ० २.१०.९) इति पठितम्। शुभ्राः। 'स्फायितञ्चि०' इत्यादिना शुभेः औणादिको रक्प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः। घोरवर्पसः। घोरं वर्पो येषाम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। सुक्षत्रासः। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (पा०सू० ६.२.११९) इत्येव तु न भवति, क्षत्रशब्दस्यान्तोदात्तत्वात्। निशन्ति हिंसन्तीति रिशाः। तान् अदन्तीति रिशादसः। सर्वधातुभ्योऽसुन्प्रत्ययः। नित्स्वरेण उत्तरपदमाद्युदात्तम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण स एव शिष्यते॥

**अन्वय—** अग्ने, ये शुभ्राः घोरवर्पसः सुक्षत्रासः रिशादथः, मरुद्भिः आगहि।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि। ये = जो। शुभ्राः = शुभ्र वर्णवाले या सुन्दर रूप वाले। घोरवर्पसः = प्रचण्ड (भयानक) रूप धारण करने वाले। सुक्षत्रासः = सुशासन वाले या शोभन धन वाले। रिशादथः = शत्रुओं को खा जाने वाले, हिंसकों के विनाशक। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आ गहि = आओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, जो (मरुद्गण) सुन्दर रूप वाले, प्रचण्ड (भयानक) रूप धारण करने वाले, सुशासन (या सुन्दर धन वाले) (और) शत्रुओं (हिंसकों) को खा जाने वाले (विनाश करने वाले हैं) (उन) मरुतों के साथ (यहाँ) आओ।

**व्याकरण—**

१. घोरवर्पसः – घोरं वर्पः यस्य ते (बहुव्रीहि); √वृञ् + असुन् = वर्पस् प्रथमा बहुवचन।

२. शुभ्राः – √शुभ् (शोभने) + रक्। प्रथमा बहुवचन।

३. सुक्षत्रासः – शोभनं क्षत्रं येषा हो (बहुव्रीहि), सुक्षत्र का प्रथमा बहुवचन, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में सुक्षत्राः रूप बनेगा।

४. रिशादशः – रिशन्ति हिंसन्ति इति रिशाः तान् अदन्ति इति रिशादशः।

**ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते।**

**मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥**

**पदपाठ—** ये। नाकस्य। अधि। रोचने। दिवि। देवासः। आसते। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥

**सा०भा०—** ये मरुतः नाकस्याधि दुःखरहितस्य सूर्यस्योपरि दिवि द्युलोके रोचने दीप्यमाने ये देवासः स्वयमपि दीप्यमानाः आसते तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः। नाकस्य। कं सुखम्। तत् यस्मिन्नास्ति असौ अकः इति बहुव्रीहि कृत्वा पश्चात् नञ्। न अको नाक इति नञ्तत्पुरुषः। 'न लोपो नञः' (पा०सू० ६.३.७३) इति लोपो न भवति, 'नभ्राण्नपात्०' (पा०सू० ६.३.७५) इत्यादिना प्रकृतिभावात्। 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (पा०सू० ६.२.२) इत्यादिना अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वर त्वेनोदात्तत्वम्। प्रथमतस्तत्पुरुषं कृत्वा पश्चात् बहुव्रीहौ उत्तरपदान्तोदात्तत्वं स्यात्। अधिशब्द उपर्यर्थे। उपसर्गप्रतिरूपको निपातः। रोचने। 'रुच दीप्तौ'। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा०सू० ३.२.१४९) इति यच्। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। दिवि। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। देवासः। 'आज्जसेरसुक्' इति' असुक्। 'आस उपवेशने'। अनुदात्तेत्वात् आत्मनेपदम्। झस्य अदादेशः। 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुक्। अनुदात्तेत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगात् न निघातः॥

**अन्वय—** अग्ने, ये देवासः नाकस्य अधि रोचने दिवि आसते, मरुद्भिः आगहि।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि। ये = जो। देवासः = देवगण (मरुद्रगण)। नाकस्य = सूर्य के। अधि = ऊपर। रोचने = प्रकाशमान। दिवि = द्युलोक में। आसते = निवास करते हैं। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आगहि = आंओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, जो देवगण (मरुद्गण) सूर्य के ऊपर प्रकाशमान द्युलोक में निवास करते हैं (उन) मरुतों के साथ तुम (यहाँ) आओ।

**व्याकरण—**

१. नाकम् – कं सुखम्, नकं यस्मिन् तत् अकम्, न अकं यस्मिन् तत् नाकम्, षष्ठी एकवचन।

२. रोचने – √रुच् (दीप्तौ) + यन (अन्) = रोचन् सप्तमी एकवचन।

३. दिवि – √दि + क्विप्, सप्तमी एकवचन।

**य ई॒ङ्खय॑न्ति॒ पर्व॑तान् ति॒र स॑मु॒द्रम॑र्ण॒वम्।**

**म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥७॥**

**पदपाठ—** ये। ई॒ङ्खय॑न्ति। पर्व॑तान्। ति॒रः। स॒मु॒द्रम्। अ॒र्ण॒वम्। म॒रुत्ऽभिः॑। अ॒ग्ने॒। आ। ग॒हि॒॥

**सा० भा०—** ये मरुतः पर्वतान् मेघान् ईङ्खयन्ति चालयन्ति तथा अर्णवं उदकयुक्तं समुद्रं तिरः कुर्वन्तीति शेषः। निश्चलस्य जलस्य तरङ्गाद्युत्पत्तये चालनं तिरस्कारः। तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः॥ ईङ्खयन्ति। 'उख उखि' इत्यादौ ईखिर्गत्यर्थः। 'हेतुमति च' (पा०सू० ३.१.२६) इति णिच्। 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम्। णिजन्तधातोः 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वर एव शिष्यते। पर्वतान्। 'पूर्व पर्व मर्व पूरणे'। औणादिकोऽतन्। प्रत्ययस्वरः॥

**अन्वय—** अग्ने, ये पर्वतान् अर्णवं समुद्रं तिरः ईङ्खयन्ति, मरुद्भिः आ गहि।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि। ये = जो। पर्वतान् = मेघों को। अर्णवम् = जलयुक्त। समुद्रम् = समुद्र के। तिरः = ऊपर। ईङ्खयन्ति = तरङ्गित करते है; गतिशील करते हैं। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आ गहि = आओ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, ये जो मेघों को जलयुक्त समुद्र के ऊपर अन्तरिक्ष में तरङ्गित (गतिशील) करते हैं (उन) मरुतों के साथ तुम (यहाँ) आओ।

व्याकरण—

१. ईङ्खयन्ति – √ईङ्ख् + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. समुद्रम् = सम् + √उन्दी (क्लेदने) + रक्।

३. अर्णवम् = √अर्णस् + व, अर्णांसि यस्य सः।

**आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा।**

**मरुद्भिरग्न आ गहि ॥८॥**

**पदपाठ**— आ। ये। तन्वन्ति। रश्मिऽभिः। तिरः। समुद्रम्। ओजसा। मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि॥

**सा०भा०**— ये मरुतः रश्मिभिः सूर्यकिरणैः सह आ तन्वन्ति आप्नुवन्ति आकाशमिति शेषः। किञ्च ओजसा स्वकीयबलेन समुद्रं तिरस्कुर्वन्ति तैः मरुद्भिः इत्यन्वयः। तन्वन्ति। 'तनु विस्तारे'। लटो 'झोऽन्तः'। 'तनादिकृञ्भ्य उः' (पा०सू० ३.१.७९)। 'सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' इति तिङ एव आद्युदात्तत्वम्। समुद्रम्। 'उन्दी क्लेदने'। 'स्फायितञ्चि०' इति रक्। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

**अन्वय**— अग्ने, ये रश्मिभिः समुद्रम् आ तन्वन्ति ओजसा तिरः मरुद्भिः आ गहि।

**पदार्थ**— अग्ने = हे अग्नि। ये = जो। रश्मिभिः = किरणों साथ। समुद्रम् = समुद्र को। आ तन्वन्ति = चारो ओर से व्याप्त कर देते हैं। ओजसा = बल से। तिरः = तिरस्कार (तिरस्कृत) कर देते है। मरुद्भिः = मरुतों के साथ। आगहि = आओ।

**अनुवाद**— हे अग्नि, जो (सूर्य की) किरणों के साथ समुद्र के ऊपर (अन्तरिक्ष में) चारो ओर से व्याप्त कर लेते हैं और (अपने) बल से (समुद्र को) तिरस्कृत कर देते हैं। (उन) मरुतों के साथ (यहाँ) आओ।

व्याकरण—

१. तन्वन्ति – √तन् (विस्वारे)+ लट् प्रथमपुरुष, बहुवचन।

**अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु।**

**मरुद्भिरग्न आ गहि ॥९॥**

**पदपाठ—** अभि । त्वा । पूर्वऽपीतये । सृजामि । सोम्यम् । मधु । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥।॥

**सा० भा०—** हे अग्ने पूर्वपीतये पूर्वकाले प्रवृत्ताय पानाय त्वां प्रति सोम्यं मधु सोमसम्बन्धिनं मधुररसम् अभि सृजामि सर्वतः सम्पादयामि। अतस्त्वं मरुद्भिः सह अत्र आगच्छ ॥ अभि । 'एवादीनामन्तः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' (पा०सू० ८.१.३३) इति त्वादेशः सर्वानुदात्तः । पूर्वपीतये । पूर्वं पीतिश्च । 'पुंवत्कर्मधारय०' (प०सू० ६.३.४२) इत्यादिना पुंवसद्भावः । सृजामि । 'सृज विसर्गे' । मिपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । विकरणस्वरः । सोम्यम् । 'सोममर्हति यः' । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । मधु । 'फलिपाटिनमि०' (उ०सू० १.१८) इत्यादिना उप्रत्ययः । 'नित्' इत्यनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम् । अन्यद्गतम् ॥

**अन्वय—** अग्ने, पूर्वपीतये त्वा अभि सोम्यं मधु सृजानि, मरुद्भिः आ गहि ।

**पदार्थ—** अग्ने = हे अग्नि । पूर्वपीतये = सबसे पहले पीने के लिए । त्वा = तुम्हारे प्रति । सोम्यं = सोमयुक्त । मधु = मधु को । सृजामि = प्रदान (प्रस्तुत) कर रहा हूँ । मरुद्भिः = मरुतों के साथ । आ गहि = आओ ।

**अनुवाद—** हे अग्नि, सबसे पहले पीने के लिए तुम्हारे प्रति सोमयुक्त मधु को प्रदान कर रहा हूँ। मरुतों के साथ (यहाँ) आओ ।

**व्याकरण—**

१. पूर्वपीतये – पूर्वा चासौ पीतिः च पूर्वपीतिः तस्मै । पूर्व + √पा + क्तिन् चतुर्थी एकवचन ।

२. सोम्यम् – सोम + य ।

३. सृजामि – √सृज् + लट् उत्तमपुरुष एकवचन ।

## २. वरुणसूक्तम्

| वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१ | सूक्त संख्या–२४ |
|---|---|---|
| ऋषि–शुनःशेप | देवता–वरुण | छन्द–त्रिष्टुप् ३,४,५, गायत्री। |

कस्यं नूनं कंतमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्यं नामं।
को नौ मह्या अदितये पुनर्दा–
त्पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥

**पदपाठ**— कस्यं। नूनम्। कुतमस्यं। अमृतानाम्। मनामहे। चारुं। देवस्यं। नामं॥ कः। नः। मह्यै। अदितये। पुनः। दात्। पितरम्। च। दृशेयम्। मातरम्। च॥

**सा॰भा॰**— 'कस्य' इत्यनयर्चा शुनःशेपो यूपे बद्धः कांदिशीकः कं देवम् उपधावानि इति विचिकित्सति। तथा च आम्नायते— 'हन्ताहं देवता उपधावामीति स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार' (ऐ॰ब्रा॰ ७.१६) इति। वयं शुनःशेपनामकाः अमृतानां देवतानां मध्ये कतमस्य किंजातीयस्य कस्य देवस्य चारु शोभनं नाम मनामहे उच्चारयामः। कः देवो मां मुमूर्षुं पुनः अपि मह्यै महत्यै अदितये पृथिव्यै दात् व्यात्। तेन दानेन अहममृतः सन् पितरं मातरं च दृशेयं पश्येयम्। 'को नाम प्रजापतिः' (ऐ॰ब्रा॰ ३.२१) इति श्रुतेः कस्य इति शब्दसाम्यात् अनया प्रजापतिरेव उपसृतः इति गम्यते॥ कतमस्य। किंशब्दात् 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (पा॰सू॰ ५.३.९३)। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। अमृतानाम्। 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते 'नञो जरमरमित्रमृताः' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। मनामहे। 'मन ज्ञाने'। व्यत्ययेन शप्। पादादित्वादनिघातः। मह्यै। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। दात्। 'गातिस्था॰' (पा॰सू॰ २.४.७७) इति सिचो लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडागमाभावः। दृशेयम्। 'दृशिर् प्रेक्षणे'। आशीर्लिङि मिपः अम्। 'दृशेरग्वक्तव्यः' (पा॰म॰ ३.१.८६.२) इति अक्प्रत्ययः शपोऽपवादः। कित्वात् लघूपधगुणाभावः। 'लिङ्याशिष्यङ्'

(पा०सू० ३.१.८६) इति अङि हि सति 'ऋदृशोऽङिगुणः' (पा०सू० ७.४.१६) इति गुणः स्यात् । यासुट् । सलोपः । 'अतो येयः' । 'आद्गुणः' । यासुटः स्वरेण एकार उदात्तः । मातरं च इत्यत्र चशब्दात् दृशेयम् इति अनुषज्यते । अतः तद-पेक्षयैषा तिङ्विभक्तिः प्रथमा इति 'चवायोगे प्रथमा' इति न निहन्यते ।

**अन्वय**— कस्य अमृतानां कतमस्य देवस्य चारु नाम नूनं मनामहे? कः नः पुनः मह्यै अदितये दात्? पितरं च मातरं च दृशेयम् ।

**पदार्थ**— कस्य = किसका । अमृतानाम् = देवताओं में । कतमस्य = किसका । देवस्य = देव का । चारु = सुन्दर । नाम = नाम । नूनम् = अब । मनामहे = पुकारें । कः = कौन । नः = हमको । पुनः = फिर । मह्यै = महान् । अदितये = अदिति को । दात् = देगा, सौंपेगा । पितरम् = पिता को । च = और । मातरम् = माता को । च = और । दृशेयम् = देखूँ ।

**अनुवाद**— किसका, देवताओं में किस देव का सुन्दर नाम अब हम पुकारें? कौन हमें पुनः महान् अदिति को सौंपेगा? (जिससे) मैं (अपने) पिता और (अपनी) माता को देखूँ ।

**व्याकरण**—

१. कतमस्य – √किम् + उतमच् ।

२. मनामहे – √मन् (कहना), आत्मनेपद, उत्तमपुरुष, बहुवचन ।

३. दात् – √दा (देना), लुङ्मूलक लोटलकार, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

४. दृशेयम् – √दृश् (देखना), लुङ्मूलक विधिलिङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन ।

> अ॒ग्नेर्व॒यं प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां
> मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
> स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दा-
> त्पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥२॥

**पदपाठ**— अ॒ग्नेः । व॒यम् । प्र॒थ॒मस्य॑ । अ॒मृता॑नाम् । मना॑महे । चारु॑ । दे॒वस्य॑ । नाम॑ ॥ सः । नः॒ । म॒ह्यै । अदि॑तये । पुन॑ः । दा॒त् । पि॒तर॑म् । च॒ । दृ॒शेय॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ ॥

**सा०भा०**— इत्थं प्रथमया ऋचा विचिकित्सां कृत्वा प्रजापतेः सकाशात् तं देवम् अग्निं निश्चित्य अनया तुष्टाव । तथा च श्रूयते— 'तं प्रजापतिरुवाचाग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवापधावेति सोऽग्निमुपससाराग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानामित्येतयर्चा' (ऐ०ब्रा० ७.१६) इति । पूर्ववत् योजना। दात् ददातु दृशेयं पश्यानि इत्येवम् आशीःपरत्वेन पदद्वयं योज्यम् ।

प्रथमे छन्दोमे वैश्वदेवशस्त्रे 'अभित्वा देव सवितः' इति सावित्रस्तृचः सूक्तस्थानीयः । 'अथच्छन्दोमाः' इति खण्डे 'अभि त्वा देव सवितः प्रेतां यज्ञस्य शंभुवा' (आश्व०श्रौ० ७.९) इति सूक्तिम्। 'अभि त्वा' इत्येषा अग्निमन्थनेऽपि विनियुक्ता । 'प्रातर्वैश्वदेव्याम्' इति खण्डे 'अभि त्वा देव सवितर्मही द्यौः पृथिवी च नः' (आश्व० श्रौ० २.१६) इति सूत्रितम्। श्रूयते च— 'अभित्वा देव सवितरिति सावित्रीमन्वाह' (ऐ० ब्रा० १.१६) इति। तथा प्रवर्ग्येऽपि एषैव विनियुक्ता। 'अथोत्तरम्' इति खण्डे 'अभि वा देव सवितः समी वत्सं न मातृभिः' (आश्व० श्रौ० ४.६) इति सूत्रितम्। तथा ग्रावस्तोत्रेऽपि। 'एतस्मिन् काले ग्रावस्तुत्' इति खण्डे 'मध्यमस्वरेणेदं सवनमभित्वा देव सवितः' (आश्व०श्रौ० ५.१६) इति सूत्रितम् ॥

**अन्वय**— अमृतानां प्रथमस्य अग्नेः देवस्य चारु नाम वयं मनामहे, सः नः पुनः मह्यै अदितये दात्, पितरं च मातरं च दृशेयम् ॥

**पदार्थ**— अमृतानाम् = देवताओं में । प्रथमस्य = प्रथम का । अग्नेः = अग्नि का । देवस्य = देव का । चारु = सुन्दर या शुभ । नाम = नाम । वयम् = हम लोग । मनामहे = पुकारें । सः = वह । नः = हम लोगों को । मह्यै = महान् । अदितये = अदिति के लिए (को) । पुनः = फिर । दात् = सौंपेगा । पितरम् = पिता को । च = और । मातरम् = माता को । च = और । दृशेयम् = देखूँ ।

**अनुवाद**— देवताओं में प्रथम अग्नि देव का सुन्दर नाम हमलोग पुकारें, वह (अग्नि देव) हम लोगों को पुनः अदिति को सौंपेगा, (जिससे) मैं (अपने) पिता तथा (अपनी) माता को देखूँ ।

**अ॒भि त्वा॑ देव सवित॒रीशा॑नं॒ वार्या॑णाम् ।**

**सदा॑वन्भा॒गमी॑महे ॥३॥**

**पदपाठ**— अ॒भि । त्वा॒ । दे॒व॒ । स॒वि॒त॒रिति॑ । ईशा॑नम् । वार्या॑णाम् ॥ सदा॑ । अव॑न् । भा॒गम् । ई॒म॒हे॒ ॥

**सा०भा०**— अथ अग्निना प्रेरितः सन् सवितारम् 'अभि त्वा' इत्यनेन तृचेन

प्रार्थयते। तथैव श्रूयते— 'तमग्निरुवाच सविता वे प्रसवानामीशे तमेवोपधावेति स सवितारमुपससाराभि त्वा देव सवितरित्येतेन तृचेन' (ऐ०ब्रा० ७.१६) इति । हे सदावन् सदा सर्वदा रक्षक हे सवितः देव वार्याणां वरणीयनां धनानाम् ईशानं त्वां प्रतिभागं भजनीयं धनम् अभि सर्वतः ईमहे याचामहे ॥ ईशानम् । 'ईश ऐश्वर्ये' । लटः शानच् । 'तास्यनुदात्तेत्०' इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । वार्याणाम् । 'वृङ् सम्भक्तौ' । 'ऋहलोर्ण्यत्' । 'ईडवन्द०' इत्यादिनाद्युदात्तत्वम् । अवन् । आमन्त्रितनिघातः ।

**अन्वय**— सदा अवन् सवितः देव वार्याणाम् ईशानम् अभित्वा भागम् ईमहे ।

**पदार्थ**— सदा = सर्वदा । अवन् = रक्षा करने वाले । सवितः = हे सवितृ । देव = हे देव। वार्याणाम् = वरणीय धनों के, सम्पूर्ण अभिलषित धनों के। ईशानम् = स्वामी। अभित्वा = तुम्हारे पास । भागम् = (अपने) हिस्से के लिए। ईमहे = (हम) याचना करते हैं।

**अनुवाद**— हे सर्वदा रक्षा करने वाले सवितृ देव, सम्पूर्ण अभिलषित धनों के स्वामी तुम्हारे पास (अपने) हिस्से के लिए (हम) याचना करते हैं ।

**व्याकरण**—

१. ईशानम् – √ईश् + शानच् द्वितीया एकवचन।

२. वार्याणाम् – √वृ (चुनना) ण्यत् षष्ठी बहुवचन।

३. भागम् – √भज् (विभक्त करना, अथवा हिस्सा) + घञ् द्वितीया एकवचन ।

४. ईमहे – √ई (जाना), आत्मनेपद, लट्, उत्तमपुरुष, बहुवचन ।

**यश्चिद्धि ते इत्था भर्गः शशमानः पुरा निदः ।**

**अद्वेषो हस्तयोर्दधे ॥४॥**

**पदपाठ**— यः । चित् । हि । ते । इत्था । भर्गः । शशमानः । पुरा । निदः ॥ अद्वेषः । हस्तयोः । दधे ॥

**सा०भा०**— हे सवितः यः भंगः भजनीयो धनविशेषः ते तव हस्तयोर्दधे धृतोऽभूत् तं धनविशेषम् ईमहे इति पूर्वत्रान्वयः । चिच्छब्दः पूजार्थे हिशब्दः प्रसिद्धौ। धनस्य पूज्यत्वं सर्वत्र प्रसिद्धम्। तामेव पूज्यत्वप्रसिद्धिं विशदयति । इत्था शशमानः अनेन प्रकारेण शस्यमानः स्तूयमानः । धनस्तुतिप्रकारं च सर्वे जानन्ति । ननु स्वकीये धने वैरिभिः अपहृते सति वैरिगृहीतं धनं सर्वो लोको निन्दति देष्टि च । अतो धनस्तुतिः न नियता इत्याशङ्क्याह— निदःपुरा अद्वेषः निन्दायाः । पूर्वं स्वकीय-

त्वेन व्यवस्थिते सति तदानीं द्वेषरहितः । तस्मात् स्वकीयत्वाभिप्रायेण स्तूयमानत्वमुक्तमित्यर्थः ॥ इत्था । प्रकारवचने 'इदमस्थमुः' (पा०सू० ५.३.२४) । 'सुपां सुलुक्' इति व्यत्ययेन विभक्ते डादेशः । टिलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण आकार उदात्तः । शशमानः । 'शश प्लुतगतौ' । इह तु स्तुत्यर्थः । 'ताच्छील्यवयोवचन०' (पा० सू० ३.२.१२९) इति ताच्छीलिकश्चानश् । कर्तरि शप् । 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम् । निदः । 'णिदि कुत्सायाम्' सम्पादादिलक्षणः क्विप् । 'सावेकाचः०' इति पञ्चम्या उदात्तत्वम् । अद्वेषः । न विद्यते द्वेषोऽस्य इति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । कर्मणि लिट् । तस्य आर्धधातुकत्वेन 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तो न भवति । प्रत्ययस्वर एव शिष्टते । अत्तयोगात् निघाताभावः ।

**अन्वय**— शशमानः पुरानिदः अद्वेषः यः चित् हि भगः ते हस्तयोः इत्था दधे ।

**पदार्थ**— शशमानः = स्तुत्य, प्रशंसनीय । पुरानिदः = अनिन्दित । अद्वेषः = द्वेषरहित । यः = जो । चित् = भी । हि = प्रसिद्धि अर्थ का वाचक निपात । भगः = धन विशेष । ते = तुम्हारे । हस्तयोः = हाथों में । इत्था = इस प्रकार । दधे = रखा हुआ है ।

**अनुवाद**— (हे सविता देव!) स्तुत्य, अनिन्दित एवं द्वेषरहित जो धन (विशेष) तुम्हारे हाथों में इस प्रकार रखा हुआ है, (उसके लिए हम तुम्हारे पास आते हैं) ।

**व्याकरण—**

१. शशमानः – √शश् (प्रशंसा करना) + शानच् ।

२. दधे – √धा (रखना) आत्मनेपद लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

**भगंभक्तस्य ते व॒यमुदंशेम तवावंसा ।**
**मू॒र्धानं॑ रा॒य आ॒रभे॑ ॥५॥**

**पदपाठ**— भगंऽभक्तस्य । ते॒ । व॒यम् । उत् । अ॒शे॒म॒ । तवं । अवंसा । मू॒र्धानम् । रा॒यः । आ॒ऽरभे॑ ॥

**सा०भा०**— हे सवितः ते त्वदीयाः वयं शुनःशेपनामानः भगभक्तस्य धनेन संयुक्तस्य तवावसा रक्षणेन उदशेम उत्कर्षेण व्याप्नुमः । किं कर्तुम् । रायः धनस्य मूर्धानम् उत्कर्षम् आरभे प्रारब्धुम् । धनिकत्वप्रसिद्ध्या व्याप्ता भूयामेत्यर्थः । भगशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः । 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अशेम । 'अशू व्याप्तौ' लिङि व्यत्ययेन परस्मैपदम् । शप् । रायः । 'ऊडिदम्०' इति

षष्ठ्या उदात्तत्वम्। आरभे। 'कृत्यार्थे तवैकेन्' इति तुमर्थे केन्प्रत्ययः। नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥५॥

**अन्वय**— ते वयं भगभक्तस्य तव अवसा मूर्धानं रायः आरभे उत् अशेम।

**पदार्थ**— ते = तुम्हारे। वयम् = हम लोग। भगभक्तस्य = प्रचुर धन से सम्पन्न। तव = तुम्हारी। अवसा = सहायता से, रक्षा से, संरक्षण से। मूर्धानम् = श्रेष्ठ। रायः = धन के हिस्से को। आरभे = पाने के लिए। उत् अशेम = उत्कर्ष के साथ प्राप्त हुए हैं।

**अनुवाद**— तुम्हारे (भक्त) हम लोग, प्रचुर धन से सम्पन्न तुम्हारी उस सहायता से धन के श्रेष्ठ भाग को पाने के लिए (तुम्हारे पास) उत्कर्ष के साथ आये हैं।

**व्याकरण**—

१. अंशेम – √अंश् (प्राप्त करना) + लुङ्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

२. अवसा – √अव् (रक्षा करना) + असुन् तृतीया एकवचन।

३. आरभे – आ + √रभ् (पकड़ना) + तुमर्थक ए।

**नहि तें क्षत्रं न सहो न मन्युं**
**वर्यश्चनामी पतर्यन्त आपुः।**
**नेमा आपों अनिमिषं चरन्ती-**
**र्न ये वार्तस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् ॥६॥**

**पदपाठ**— नहि। ते। क्षत्रम्। न। सहः। न। मन्युम्। वयः। चन। अमी इति। पतयन्तः। आपुः॥ न। इमाः। आपः। अनिऽमिषम्। चरन्तीः। न। ये। वातस्य। प्रऽमिनन्ति। अभ्वम्॥

**सा० भा०**— अथ सवित्रा प्रेरितः शुनःशेषः एतदादिसूक्तशेषेण उत्तरेण च सूक्तेन वरुणं तुष्टाव। तथा च श्रूयते— 'तं सवितोवाच वरुणाय वै राज्ञे नियुक्तोऽसि तमेवोपधावेति स वरुणं राजानमुपससारात उत्तराभिरेकत्रिंशता' (ऐ०ब्रा० ७.१६) इति। हे वरुण पतयन्त प्रौढे वियत्युत्पतन्तः अमी दृश्यमानाः वयश्चन श्येनादयः पक्षिणोऽपि ते क्षत्रं त्वदीयं शरीरबलं नहि आपुः नैव प्राप्ताः। त्वत्सदृशं शरीरबलं पक्षिणामपि नास्तीत्यर्थः। तथा सहः त्वदीयं पराक्रमं तव सामर्थ्यमपि न प्रापुः। तथा मन्युं त्वदीयं कोपमपि न प्रापुः। त्वयि क्रुद्धे सति सोढुमशक्ता इत्यर्थः। अनिमिषं सर्वदा

चरन्तीः प्रवाहरूपेण गच्छन्त्यः आपः त्वदीयं बलं न प्रापुः। वातस्य वायोः ते गतिविशेषाः त्वदीयम् अभ्वं वेगं न प्रमिनन्ति न हिंसन्ति। अतिक्रमं कर्तुं न शक्ता इत्यर्थः। तेऽपि न प्रापुरिति पूर्वत्रान्वयः। पतयन्तः। 'पत गतौ'। चुरादिरदन्तः। लटः शतृ। शप्। गुणायादेशौ। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे णिचः स्वरः। आपुः। 'आप्लृव्या-प्तौ'। लिट्युसि द्विर्भावहलादिशेषौ। 'अत आदेः' (पा०सू० ७.४.७०) इत्यात्वम्। अत्र न सहो न मन्युमित्यादिभिरापुरित्यस्य संबंधात्तदपेक्षया प्राथम्यात् 'चादिलोपे विभाषा' इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते। चरन्तीः। 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घः। प्रमिनन्ति। 'माञ् हिंसायाम्'। 'क्र्यादिभ्यः' श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा०सू० ६.४.११३) इति आकारलोपः। 'मोनातेर्निगमे' (पा०सू० ७.३.८१) इति ह्रस्वत्वम्। प्रत्ययस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' (पा०सू० ८.१.७१) इति गतिरनुदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः।

**अन्वय**— अमी पतयन्तः वयः चन नहि ते क्षत्रं न सहः न मन्युम् आपुः। न इमाः अनिमिषं चरन्तीः आपः न ये वातस्य अभ्वं प्रमिनन्ति।

**पदार्थ**— अमी = ये। पतयन्तः = उड़ने वाले। वयः = पक्षी। चन = भी। नहि = न तो। ते = तुम्हारे। क्षत्रम् = आधिपत्य को। न = नहीं। सहः = शक्ति को। मन्युम् = क्रोध को। आपुः = प्राप्त करते हैं। न = न ही। इमाः = ये। अनिमिषम् = सदा, निरन्तर। चरन्तीः = बहते हुए। आपः = जल। न = न तो। ये = जो। वातस्य = वायु के (प्रचण्ड तूफान)। अभ्वम् = विशाल शक्ति का। प्रमिनन्ति = उल्लंघन करते हैं।

**अनुवाद**— (हे वरुण !), ये उड़ने वाले पक्षी भी न तो तुम्हारे आधिपत्यं को, न तो शक्ति को, न तो क्रोध को ही प्राप्त कर सकते हैं, न तो ये सदा बहने वाले जल, न तो वायु के जो (प्रचण्ड तूफान हैं) (वे ही तुम्हारी) विशाल शक्ति का उल्लङ्घन कर सकते हैं।

**व्याकरण**—

१. पतयन्तः – √पत् (उड़ना) + णिच् + शतृ, कर्तृवाच्य प्रथमा बहुवचन।

२. आपुः – √आप् (प्राप्त करना) लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. चरन्तीः = √चर् (चलना) + शतृ + ङीप् प्रथमा बहुवचन।

४. प्रमिनन्ति = प्र √मी (क्षति करना) लट् लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन।

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्यो-
र्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः ।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषा-
मस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥७॥

**पदपाठ—** अबुध्ने । राजा । वरुणः । वनस्य । ऊर्ध्वम् । स्तूपम् । ददते । पूतऽदक्षः ॥ नीचीनाः । स्थुः । उपरि । बुध्नः । एषाम् । अस्मे इति । अन्तः । निऽहिताः । केतवः । स्युरिति स्युः ॥

**सा० भा०—** पूतदक्षः शुद्धबलः वरुणः राजा अबुध्ने मूलरहिते अन्तरिक्षे तिष्ठन् वनस्य वननीयस्य तेजसः स्तूपं सङ्घम् ऊर्ध्वम् उपरिदेशे ददते धारयति। नीचीनाः स्थुः । ऊर्ध्वदेशे वर्तमानस्य वरुणस्य रश्मय इत्यध्याहार्यम्। ते ह्यधोमुखा-स्तिष्ठन्ति । एषां रश्मीनां बुध्नः मूलम् उपरि तिष्ठतीति शेषः। तथा सति केतवः प्रज्ञापकाः प्राणाः अस्मे अस्मासु अन्तर्निहिताः स्थापिताः स्युः । मरणं न भविष्यती-त्यर्थः । 'अबुध्ने न विद्यते बुध्नः मूलमस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदा-त्तत्वम् । स्तूपम् । स्त्यै शब्दसंघातयोः'। 'स्त्यः सम्प्रसारणमूच्च' इति यप्रत्ययः; तत्सन्नियोगेन यकारस्य सम्प्रसारणं परपूर्वत्वे ऊकारादेशश्च। 'नित्' इत्यनुवृत्तेराद्युदात्त-त्वम्। ददते । भौवादिकः । नीचीनाः। निपूर्वादञ्चतेः 'ऋत्विक्०' इत्यादिना क्विन्। 'अनिदिताम्' इति नलोपः । न्यच्शब्दात्स्वार्थे 'विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' (पा०सू० ५.४.८) इति खः। 'आयन्०' इत्यादिना तस्य ईनादेशः । 'आयनादिषूपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थम्' (पा०सू० ७.१.२.१) इति वचनात् ईकार उदात्तः। 'अचः' इति अकार-लोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम्। स्थुः । 'गातिस्था०' (पा०सू० २.४.७७) इत्यादिना सिचो लुक्। 'आतः' (पा०सू० ३.४.११०) इति झेः जुसादेशः। 'उस्यपदान्तात्' (पा०सू० ६.१.९६) इति पररूपत्वम् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडागमाभावः । अस्मे । 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्याः शेआदेशः। निहिताः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। स्युः । अस्तेर्लिङि 'श्नसोरल्लोपः' ।

**अन्वय—** पूतदक्षः राजा वरुणः अबुध्ने वनस्य स्तूपं ऊर्ध्वं ददते। एषां नीचीनाः स्थुः, बुध्नः उपरि, केतवः अस्मे निहिताः स्युः ।

**पदार्थ—** पूतदक्षः = शुद्ध बल वाला, पवित्र सामर्थ्य वाला । राजा = राजा । वरुणः = वरुण (देवता) । अबुध्ने = मूल-रहित, आश्रय-रहित । वनस्य = तेज

के, प्रकाश के। स्तूपम् = समूह को, पुञ्ज को। ऊर्ध्वम् = ऊपर। ददते = धारण करता है। एषाम् = इनका। नीचीनाः = नीचे जाने वाली। स्थुः = स्थित रहती है। बुध्नः = स्रोत। केतवः = प्रज्ञापक प्राण, किरणें। अस्मे = हमारे। निहिताः स्युः = भीतर पड़ी रहें।

**अनुवाद**— शुद्ध बल वाला राजा वरुण आधार-रहित (अन्तरिक्ष) में (रहता हुआ) प्रकाश के समूह को ऊपर धारण करता है, इस (प्रकाशपुञ्ज सूर्य) की किरणें नीचे की ओर जाने वाली हैं, (यद्यपि उनका) स्रोत ऊपर है। (प्राण सञ्चार करने वाली) किरणें हमारे अन्दर पड़ी रहें।

**व्याकरण**—

१. ददते -- √दा (देना), लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

२. नीचीनाः – नि + √अञ्च् (नीचे की ओर जाना) + क्तिन्

३. स्थुः = √स्था (खड़ा रहना) लुङ् मूलक लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. निहिताः = नि + √धा (रखना) + क्त।

५. स्युः = √अस् (होना) लट्मूलक विधिलिङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

उरुं हि राजा वरुणश्चकार

सूर्याय पन्थामन्वेतवा उं।

अपदे पादा प्रतिधातवेऽक-

रुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ॥८॥

**पदपाठ**— उरुम्। हि। राजा। वरुणः। चकार। सूर्याय। पन्थाम्। अनुऽएतवै। ऊँ इति॥ अपदे। पादा। प्रतिऽधातवे। अकः। उत। अपऽवक्ता। हृदयऽविधः। चित्॥

**सा० भा०**— वरुणः राजा सूर्याय सूर्यस्य पन्थां मार्गम् उरुं विस्तीर्णं चकार। हि शब्दः प्रसिद्धौ। उत्तरायणदक्षिणायनमार्गस्य विस्तारः प्रसिद्धः। किमर्थमेवं कृतवान् इति तदुच्यते। अन्वेतवा उ अनुक्रमेणोदयास्तमयौ गन्तुमेव। तथा अपदे पादरहिते अन्तरिक्षे पादा प्रतिधातवे पादौ प्रक्षेप्तुम्। अकः मार्ग कृतवान्। पूर्वत्र रथस्य मार्गः अत्र पादयोरिति विशेषः। यद्वा। अपदे यूपे बद्धेन मया गन्तुमशक्ये भूप्रदेशे

पादौ प्रक्षेप्तुमुपायं बन्धविमोचनरूपं करोत्वित्यर्थः। उत अपि च हृदयाविधश्चित् अस्मदीयवेधकस्य शत्रोरपि अपवक्ता अपवदिता निराकर्ता भवतु॥ चकार। लित्स्वरेण आकार उदात्तः। 'हि च' इति निघातप्रतिषेधः। पाधाम्। 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (पा०सू० ७.१. ८५) इति द्वितीयायामपि व्यत्ययेन आत्वम्। पथिन्शब्दस्य 'पतेस्थ च' (उ०सू० ४.४५२) इति प्रत्ययान्तत्वेन अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' (पा०सू० ६.१.१९९) इत्याद्युदात्तत्वम्। अन्वेतवै। अनुपूर्वात् एतेः 'तुमर्थे सेसेन्' इति तवैप्रत्ययः। 'तवै चान्तश्च युगपत्' (पा०सू० ६. २. ५१) इति आद्यन्तयोरुदात्तत्वम्। पादा। 'सुपां सुलुक्' इति आकारः। प्रतिधातवे। दधातेः 'तुमर्थ०' इति सूत्रेणैव तवेन् प्रत्ययः। 'तादौ च निति०' (पा०सू ६.२.५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। अकः। करोतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति लोडर्थे लुङ्। तस्य तिप्। 'मन्त्रे घस०' (पा०सू० २. ४. ८०) इत्यादिनाच्लेर्लुक्। गुणो रपरत्वम्। 'हल्ङ्याब्भ्यः' (पा०सू० ६.१.५८) इति तिपो लोपः। अडागम्। हृदयाविधः। हञ् हरणे'। 'वृह्णोः षुग्दुकी च' (उ० ४.५४०) इति कयन्। 'व्यध ताडने'। क्विप्। 'नहिवृति०' (पा०सू० ६.३.११६) इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्।

**अन्वय—** राजा वरुणः सूर्याय अन्वेतवै उरुं हि पन्था चकार। अपदे पाद उ प्रतिधातवे अकः, उत हृदयाविधः चित् अपवक्ता।

**पदार्थ—** राजा = राजा। वरुणः = वरुण (देवता)। सूर्याय = सूर्य के लिए। अन्वेतवै = गमन के लिए। हि = प्रसिद्धि का वाचक निपात। पन्थाम् = मार्ग। चकार = बनाया है। अपदे = पाद-रहित अन्तरक्षि में, आश्रय-रहित अन्तरिक्ष में। पादा = पैरों के। प्रतिधातवे = रखने के लिए। अकः = निर्माण किया है। उत = और। हृदयाविधः = हृदय को चोट पहुँचाने वाले को। चित् = भी। अपवक्ता = निराकरण करने वाला, दूर करने वाला।

**अनुवाद—** राजा वरुण ने सूर्य के गमन के लिए विस्तीर्ण मार्ग निर्माण किया है; आश्रयरहित अन्तरिक्ष में पैरों को रखने के लिए (मार्ग) बनाया है, तथा जो कोई (हमारे) हृदय को चोट पहुँचाने वाला हो उसको (वरुण) दूर करने वाला होवे।

**व्याकरण—**

१. चकार √कृ – (बनाना), लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन।

२. अन्वेतवै – अनु + √इ (जाना) तुमर्थक वैदिक तवै प्रत्यय।

३. प्रतिधातवे – प्रति + √धा (रखना) तुमर्थक वैदिक तवे प्रत्यय।

४. अकः – √कृ (बनाना) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

शतं ते राजन्भिषजः सहस्रं-
मुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु ।
बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः
कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥९॥

**पदपाठ—** शतम् । ते । राजन् । भिषजः । सहस्रम् । उर्वी । गभीरा । सुऽमतिः । ते । अस्तु ॥ बाधस्व । दूरे । निःऽऋतिम् । पराचैः । कृतम् । चित् । एनः । प्र । मुमुग्धि । अस्मत् ॥

**सा० भा०—** हे राजन् वरुण ते तव शतं भिषजः बन्धनिवारकाणि शतसंख्याकान्यौषधानि वैद्या वा सन्ति । ते तव सुमतिः अस्मदनुग्रहणबुद्धिः उर्वी विस्तीर्णा गभीरा गाम्भीर्योपेता स्थिरा अस्तु । निर्ऋतिम् अस्मदनिष्टकारिणीं निर्ऋतिं पापदेवतां पराचैः पराङ्मुखां कृत्वा दूरे अस्मत्तो व्यवहिते देशे स्थापयित्वा तां बाधस्व । कृतं चित् अस्माभिरनुष्ठितमपि एनः पापम् अस्मत् मुमुग्धि प्रकर्षेण मुक्तं नष्टं कुरु ॥ सुमतिः । 'तादौ च०' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'मन्क्तिन्०' इत्यादिनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । संहितायां विसर्जनीयसकारस्य 'युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्' (पा०सू० ८.३.१०३) इति षत्वम् । बाधस्व । 'बाधृ विलोडने' शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वर एव शिष्यते । निर्ऋतिम् । 'तादौ च०' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । मुमुग्धि । 'मुच्लृमोक्षणे' । 'बहुलं छन्दसि' इति श्लुः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा०सू० ६.४.१०१) । तस्य अपित्त्वेन ङित्त्वाद्गुणाभावः । 'चोः कुः' (पा०सू० ८. २. ३०) इति कुत्वम् ।

**अन्वय—** (हे) राजन्, ते शतं सहस्रं भिषजः, ते सुमतिः उर्वी गभीरा अस्तु । निर्ऋतिं पराचैः दूरे बाधस्व, कृतं चित् एनः अस्मत् प्र मुमुग्धि ।

**पदार्थ—** राजन् = हे राजन् । ते = तुम्हारी । शतम् = सैकड़ों । सहस्रम् = हजारों । भिषजः = औषधियाँ । ते = तुम्हारी । सुमतिः = सुन्दरमति, अनुग्रहयुक्त बुद्धि । उर्वी = विशाल, विस्तीर्ण । गभीरा = गम्भीर । अस्तु = होवे । निर्ऋतिम् = अनिष्टकारी पाप को । पराचैः = हमसे पराङ्मुख करके, (अलग करके) । दूरे = बहुत दूर । बाधस्व = रोको । कृतम् = किये गये । चित् = भी । एनः = पाप को । अस्मत् = हमसे । प्र मुमुग्धि = अच्छी प्रकार से नष्ट करो ।

**अनुवाद—** हे राजन् ! सैकड़ों तथा हजारों तुम्हारी औषधियाँ हैं; तुम्हारी अनु-

ग्रहयुक्त बुद्धि (हमारे प्रति) विस्तीर्ण एवं गम्भीर होवे; अनिष्टकारी पाप को (हमसे) अलग करके बहुत दूर रोको; हमारे द्वारा किये गये पापों को भी हमसे अच्छी प्रकार नष्ट करो।

**व्याकरण—**

१. अस्तु – √अस् होना, लट्मूलक लोट् प्रथमपुरुष एकवचन।
२. बाधस्व – √बाध् (दमन करना), आत्मनेपद लट्मूलक लोट् प्रथमपुरुष एकवचन।
३. मुमुग्धि – √मुच् (मुक्त करना), लिट्मूलक लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा**
**नक्तं दद‍ृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।**
**अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि**
**विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥१०॥**

**पदपाठ—** अमी इति। ये। ऋक्षाः। निऽहितासः। उच्चा। नक्तम्। दद‍ृश्रे। कुह। चित्। दिवा। ईयुः॥ अदब्धानि। वरुणस्य। व्रतानि। विऽचाकशत्। चन्द्रमाः। नक्तम्। एति॥

**सा० भा०—** अमी रात्रावस्माभिर्दृश्यमानाः ऋक्षाः सप्त ऋषयः। तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति— 'ऋक्षा इति ह स्म वै पुरा सप्त ऋषीनाचक्षते' इति। यद्वा। ऋक्षाः सर्वेऽपि नक्षत्रविशेषाः। 'ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम् (नि० ३.२०) इति यास्केनोक्तत्वात्। उच्चा उच्चैः उपरि द्युप्रदेशे निहितासः स्थापिताः ये सन्ति ये ऋक्षाः नक्तं रात्रौ दद‍ृश्रे सर्वैरपि दृश्यन्ते। दिवा अहनि कुह चित् ईयुः क्वापि गच्छेयुः। न दृश्यन्ते इत्यर्थः। वरुणस्य राज्ञः व्रतानि कर्माणि नक्षत्रदर्शनादिरूपाणि अदब्धानि केनाप्यहिंसितानि। किंच वरुणस्याज्ञयैव चन्द्रमाः नक्तं रात्रौ विचाकशत् विशेषेण दीप्यमानः एति गच्छति॥ निहितासः। 'आज्जसेरसुक्'। थाथादिस्वरेणोत्तरपदान्तोदात्तत्वे (पा०सू० ६.२.१४४) प्राप्ते 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। दद‍ृश्रे। दृशेर्लिटि 'इरयो रे' (पा०सू० ६.४.७६) इति रेआदेशः। व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। यद्वृ त्तयोगादनिघातः। कुह। 'वा ह च च्छन्दसि' (पा०सू० ५.३.३) इति किंशब्दादुत्तरस्य त्रलो हादेशः। 'कु तिहोः' (पा०सू० ७.२.१०४) इति किंशब्दस्य कुआदेशः। स्थानिवद्भावाद् लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। विचाकशत्। कशेर्दीप्त्यर्थात् यङ्-

लुगन्तात् शतृप्रत्ययः । 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम् । समासे कृत्स्वरः । यद्वा । काशतेर्वा व्यत्ययेनोपधाह्रस्वत्वम् । चन्द्रमाः । 'चन्द्रे माङो डित्' (उ०सू० ४.६६७) इति असिप्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभारादित्वात्पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।

**अन्वय**— उच्चा निहितासः अमी ऋक्षाः ये नक्तं ददृश्रे दिवा कुह चित् ईयुः । वरुणस्य व्रतानि अदब्धानि, चन्द्रमाः विचाकशत् नक्तं एति ॥

**पदार्थ**— उच्चा = ऊँचे, ऊपर (द्युलोक में) । निहितासः = रखे गये, स्थापित । अमी = ये । ऋक्षाः = सप्तर्षि, नक्षत्र । ये = जो । नक्तम् = रात्रि में । ददृश्रे = दिखायी पड़ते थे । दिवा = दिन में । कुह = कहाँ = चित् = भी । ईयुः = चले गये । वरुणस्य = वरुण के । व्रतानि = पवित्र कार्य । अदब्धानि = अक्षत, अहिंसित । चन्द्रमाः = चन्द्रमा । विचाकशत् = विशेष रूप से दीप्यमान (प्रकाशित) होता हुआ । नक्तम् = रात्रि में । एति = आता है, विचरण करता है ।

**अनुवाद**— ऊपर (द्युलोक में) रखे गये ये नक्षत्र (सप्तर्षि), जो रात्रि में दिखायी पड़ते थे, दिन में कहाँ चले गये? वरुण के पवित्र कार्य अक्षत हैं; चन्द्रमा प्रकाशित होता हुआ रात्रि में विचरण करता है ।

**व्याकरण**—

१. निहितासः – नि + √धा (रखना) + क्त प्रथमा बहुवचन निहिताः का वैदिकरूप ।

२. ददृश्रे – √दृश् (देखना), आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

३. ईयुः – √इ (जाना), लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

४. एति – √इ (जाना), लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

**तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान-**
**स्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।**
**अहेळमानो वरुणेह बोध्यु-**
**रुशंस मा न आयुः प्र मोषीः ॥११॥**

**पदपाठ**— तत् । त्वा । यामि । ब्रह्मणा । वन्दमानः । तत् । आ । शास्ते । यजमानः । हविःऽभिः ॥ अहेळमानः । वरुण । इह । बोधि । उरुऽशंस । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥

**सा० भा०**— एकादशिनस्य वारुणस्य पशोर्वपापुरोडाशयोः 'तत्त्वा यामि' इति

द्वे ऋचौ याज्ये। सूत्रितं च— 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति द्वे अस्तभ्नाद्द्याम्' (आश्व०श्रौ० ३.७) इति। वरुणप्रघासेषु वारुणस्य हविषो याज्या 'तत्त्वा यामि' इत्येषा 'पञ्चम्यां पौर्णमास्याम्' इत्यत्र सूत्रितम्— 'इमं मे वरुण श्रुधि तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः' (आश्व०श्रौ० २.१७) इति। हे वरुण मुमूर्षुरहं त्वां प्रति तत् आयुः यामि याचे । कीदृशः । ब्रह्मणा प्रौढेन स्तोत्रेण वन्दमानः स्तुवन् । सर्वत्र यजमानः अपि हविर्भिः तत् आयुः आशास्ते प्रार्थयते। त्वं च इह कर्मणि अहेळमान अनादरमकुर्वन् बोधि अस्मदपेक्षितं बुध्यस्व । हे उरुशंस बहुभिः स्तुत्य नः अस्मदीयम् आयुः मा प्र मोषीः प्रकुषितं मा कुरु। सप्तदशङ्ख्या केषु याच्ञाकर्मसु 'ईमहे यामि' (नि० ३.१९.१) इति पठितम् । चाशब्दलोपइछान्दसः । अहेळमानः। 'हेड़ृअनादरे'। अदुपदेशाल्ल-सार्वधातुकानुदात्तत्वे शपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वे सति धातुस्वरः शिष्यते। ततो नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। बोधि। 'बुध अवगमने'। लोटः सेर्हिः। 'बहुलं छन्दसि इति विकरणस्य लुक्। 'वा छन्दसि' (पा०सू० ३.४.८८) इत्यपित्त्वाभावेन ङित्त्वा-भावात् लघूपधगुणः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिरादेशः । धातोरन्त्यलोपश्छान्दसः। मोषीः। 'भुष स्तेये' । लोडर्थे छान्दसो लुङ्। 'वदव्रज०' (पा०सू० ७.२.३) इति प्राप्ताया वृद्धेः 'नेटिः' (पा०सू० ७.२.४) इति प्रतिषेधे सति लघूपधगुणः । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इत्यडभावः ॥

**अन्वय**— ब्रह्मणा वन्दमानः तत् त्वां यामि, यजमानः हविर्भिः तत् आशास्ते। वरुण अहेळमानः इह बोधि, उरुशंस न आयुः मा प्र मोषीः ।

**पदार्थ**— ब्रह्मणा = प्रौढ़ स्तोत्र से, (स्तुति द्वारा)। वन्दमानः = वन्दना करता हुआ। तत् = उस (आयु) के लिए। त्वा = तुम्हारे पास। यामि = मैं याचना करता हूँ। यजमानः = यज्ञकर्त्ता। हविर्भिः = हविद्रव्य द्वारा। तत् = उस (आयु) के लिए। आ शास्ते = कामना करता है, प्रार्थना करता है। वरुण = हे वरुण ! । अहेळमानः = क्रोध न करते हुए। इह = यहाँ। बोधि = समझो। उरुशंस = हे विस्तृत रूप से स्तुत्यमान, हे बहुतों से स्तुत्य। नः = हमारी। आयुः = आयु। मा = मत। प्र मोषीः = चुराओ।

**अनुवाद**— (हे वरुण !) स्तुति द्वारा वन्दना करता हुआ उस (आयु) के लिए तुम्हारे पास याचना करता हूँ; यजमान हविद्रव्य द्वारा उसी (आयु) की कामना करता है। (हे) वरुण ! (हम पर) क्रोधित न होते हुए यहाँ (हमारे अभिप्राय को) समझो; हे बहुतों से स्तुत्य (वरुण), हमारी आयु को मत चुराओ।

**व्याकरण**—

१. यामि – √या (याचना करना), लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. वन्दमानः – √वन्द (प्रार्थना करना) + शानच् प्रथमा एकवचन ।

३. आ शास्ते – आ + √शास् (इच्छा करना) आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. अहेळमानः – √हिड् (शत्रु होना) + शानच् प्रथमा एकवचन ।

५. बोधि – √बुध् (जानना), लुङ्मूलक लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

६. मोषीः – √मुष् (चुराना), लुङ्मूलक लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहु-
स्तदयं केतो हृद आ वि चष्टे ।
शुनःशेपो यमह्वद्गृभीतः
सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ॥१२॥

**पदपाठ—** तत् । इत् । नक्तम् । तत् । दिवा । मह्यम् । आहुः । तत् । अयम् । केतः । हृदः । आ । वि । चष्टे ॥ शुनःशेपः । यम् । अह्वत् । गृभीतः । सः । अस्मान् । राजा । वरुणः । मुमोक्तु ॥

**सा० भा०—** तदित् तदेव वरुणविषयं स्तोत्रं नक्तं रात्रौ मह्यं शुनःशेपाय आहुः कर्तव्यत्वेनाभिज्ञाः कथयन्ति । तथा दिवा अपि तत् एष आहुः । हृदः मदीयमनसो निष्पन्नः अयं केतः प्रज्ञाविशेषोऽपि तत् एव कर्तव्यत्वेन आ विचष्टे सर्वतो विशेषेण प्रकाशयति । गृभीतः गृहीतः यूपे बद्धः शुनःशेषः एतन्नामको जनः यं वरुणम् अह्वत् आहूतवान् सः वरुणः राजा अस्मान् शुनःशेपान् मुमोक्तु बन्धात् मुक्तं करोतु ॥ मह्यम् । 'ङयि च' इत्याद्युदात्तत्वम् । आहुः । 'ब्रूवः पञ्चानाम्०' (पा०सू० ३.४.८४) इत ब्रूञो लटि झेः उसादेशः, धातोः आहादेशश्च । हृदः । 'पद्यन्०' (पा०सू० ६.१.६३) इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । 'ऊडिदंपदादि०' इति पञ्चम्या उदात्तत्वम् । शुनः शेपः । शुन इव शेपो यस्य इति समासे 'शुनःशेपपुच्छलाङ्गूलेषु संज्ञायां षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः' (पा०सू० ६.३.२१.४) इति अलुक् । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'उभे वनस्पत्यादिषु०' (पा०सू० ६.२.१४०) इति पूर्वोत्तरपदयोः युगपत् प्रकृतिस्वरत्वम् । अह्वत् ह्वेञो लुङि 'लिपिसिचिह्वश्च' (पा०सू० ३.१.५३) इति च्लेः अङादेशः । 'आतो लोप इटि च' (पा०सू० ६.४.६४) इति आकारलोपः । अडागम उदात्तः । यद्वृत्तयोगादनिघातः । गृभीतः । 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम् । सो अस्मान् । 'प्रकृत्यान्तः पादम्०' इति प्रकृतिभावः । मुमोक्तु । 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः ।

**अन्वय**— तत् इत् नक्तं तत् दिवा मह्यम् आहुः, तत् अयं केतः हृदः आ वि चष्टे। सः राजा वरुणः यं गृभीतः शुनःशेपः अह्वत्, अस्मान् मुमोक्तु।

**पदार्थ**— तत् = वह। इत् = पूर्ववर्ती शब्द पर जोर देने वाला निपात। नक्तम् = रात को। तत् = वही। दिवा = दिन को। मह्यम् = मुझसे। आहुः = कहते हैं। तत् = वही। अयम् = यह। केतः = प्रज्ञाविशेष। हृदः = अन्तःकरण से उत्पन्न। आ वि चष्टे = कहती है। सः = वह। राजा = राजा। वरुणः = वरुण (देवता) यम् = जिसको। गृभीतः = पाशों में बाँधा हुआ। शुनःशेपः = शुनःशेप ने। अह्वत् = बुलाया है। अस्मान् = हम लोगों को। मुमोक्तु = मुक्त करे।

**अनुवाद**— वही (वरुणविषयक स्तोत्र या बात) रात को तथा वही दिन को (वे) मुझसे कहते हैं। अन्तःकरण से उत्पन्न हमारी प्रज्ञाविशेष भी वही (बात) कहती है। वह राजा वरुण, जिसको पाशों में बँधे हुए शुनःशेप ने बुलाया है, हमको (शुनःशेप को पाशों से) मुक्त करें।

**व्याकरण**—

१. आहुः – √अह् (कहना), लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. विचष्टे – वि + √चक्ष् (देखना), लट् लकारप्रथम पुरुष एकवचन।

३. अह्वत् – √ह्वे (पुकारना), लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. गृभीतः – √ग्रभ् (पकड़ना) + क्त प्रथमा एकवचन।

५. मुमोक्तु – √मुच् (मुक्त करना), लिट्मूलक लोट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**शुनःशेपो ह्यह्वद्गृभीत-**
**स्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।**
**अवैनं राजा वरुणः ससृज्या-**
**द्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥१३॥**

**पदपाठ**— शुनःशेपः। हि। अह्वत्। गृभीतः। त्रिषु। आदित्यम्। द्रुऽपदेषु। बद्धः॥ अव। एनम्। राजा। वरुणः। ससृज्यात्। विद्वान्। अदब्धः। वि। मुमोक्तु। पाशान्॥

**सा० भा०**— गृभीतः बन्धनाय गृहीतः त्रिसङ्ख्याकेषु द्रुपदेषु द्रोः काष्ठस्य यूपस्य

पदेषु प्रदेशविशेषेषु बद्धः शुनःशेपः आदित्यम् अदितेः पुत्रं यं वरुणम् अह्वत् आहूतवान् हि यस्मादेवं तस्मात् सः वरुणः राजा एनं शुनःशेपम् अव ससृज्यात् अवसृष्टं बन्धनात् विमुक्तं करोतु। विमोकप्रकार एव स्पष्टीक्रियते। विद्वान् विमोकप्रकाराभिज्ञः अदब्धः केनाप्यहिंसितः वरुणः पाशान् बन्धनरज्जुविशेषान् वि मुमोक्तु विच्छिद्यैनं मुक्तं करोतु ॥ त्रिषु। 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' (पा०सू० ६.१.१७९) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। संहितायाम् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' इति परः आकारः स्वर्यते। ससृज्यात्। 'सृज विसर्गे'। प्रार्थनायां लिङ्। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः। विद्वान्। 'विद ज्ञाने'। 'विदेः शतुर्वसुः' (पा०सू० ७.१.३६)। 'उगिदचाम्' इति नुम्। हल्ङ्यादिसंयोगान्तलोपौ। संहितायां 'दीर्घादटि समानपादे' इति नकारस्य रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' इति सानुनासिक आकारः। अदब्धः। 'दम्भु दम्भे'। निष्ठायाम् 'अनिदिताम्०' इति नलोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' (पा०सू० ८.२.४०) इति धत्वम्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

**अन्वय—** गृभीतः त्रिषु द्रुपदेषु बद्धः शुनःशेपः हि आदित्यम् अह्वत्। राजा वरुणः एनम् अव ससृज्यात्, विद्वान् अदब्धः पाशान् वि मुमोक्तु।

**पदार्थ—** गृहीतः = पकड़ा हुआ। त्रिषु = तीन। द्रुपदेषु = यूपों में। बद्धः = बँधा हुआ। शुनःशेपः = शुनःशेप ने। हि = चूँकि। आदित्यम् = अदिति के पुत्र को। अह्वत् = आह्वान किया है, बुलाया है। राजा = राजा। वरुणः = वरुण। एनम् = इसको। ससृज्यात् = मुक्त कर दे। विद्वान् = बुद्धिमान्। अदब्धः = कभी कष्ट न पहुँचाया जाने वाला। पाशान् = पाशों से। वि मुमोक्तु = बन्धन रहित करें।

**अनुवाद—** पकड़े हुए तथा तीन यूपों में बँधे हुए शुनःशेप ने चूँकि अदिति के पुत्र (वरुण) को बुलाया (आह्वान किया) है, (इसलिए) राजा वरुण उसको मुक्त करें, बुद्धिमान् कभी कष्ट न पहुँचाया जाने वाला (वरुण) अपने पाशों से बन्धनरहित करें।

**व्याकरण—**

१. अह्वत् – √ह्वे (पुकारना), लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. बद्धः – √बन्ध (बाँधना) + क्त प्रथमा एकवचन।

३. ससृज्यात् – √सृज् (मुक्त करना), लिट्मूलक विधिलिङ प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

**आदित्यम्—** अदिति के पुत्र आदित्य है। सात आदित्यों में वरुण एक है। यास्क ने निरुक्त में आदित्य का अर्थ सूर्य कहा है। यास्क के अनुसार— आदित्यः कस्मात्। आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासेति वा। अदितेः पुत्रः इति वा। (निरु० २.१३)

अवं ते हेळों वरुण नमोभि-
रवं यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता
राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ॥१४॥

**पदपाठ**— अवं । ते । हेळः । वरुण । नमःऽभिः । अवं । यज्ञेभिः । ईमहे । हविःऽभिः ॥ क्षयन् । अस्मभ्यम् । असुर । प्रचेत इति प्रऽचेतः । राजन् । एनांसि । शिश्रथः । कृतानि ॥

**सा० भा०**— अवभृथे 'अव ते हेळ:' इति द्वे ऋचौ वरुणस्य हविषो याज्यानुवाक्ये । 'पत्नीसंयाजैश्चरित्वा' इति खण्डे सूत्रितम्— 'अव ते हेळो वरुण नमोभिरिति द्वे' (आश्व० श्रौ० ६.१३) इति ॥ हे वरुण ते तव हेळः क्रोधं नमोभिः नमस्कारैः अव ईमहे अवनयामः । तथा यज्ञैः साङ्गानुष्ठानेन पूज्यैः हविर्भिः अव ईमहे वरुणं परितोष्य क्रोधमपनयामः । हे असुर अनिष्टक्षेपणशील प्रचेतः प्रकर्षेण प्रज्ञायुक्त राजन् दीप्यमान वरुण अस्मभ्यम् अस्मदर्थं क्षयन् अस्मिन् कर्मणि निवसन् कृतानि अस्माभिरनुष्ठितानि एनांसि पापानि शिश्रथः श्रथितानि शिथिलानि कुरु ॥ हेळः । असुनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । यज्ञेभिः । 'बहुलं छन्दसि' इति ऐसभावः । ईमहे । 'ईङ् गतौ' । विकरणस्य लुक् । क्षयन् । 'क्षि निवास-गत्योः' । लटः शतृ । व्यत्ययेन शप् । आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् । असुर । 'असेरुरन्' (उ० सू० १.४२) । आमन्त्रितनिघातः । शिश्रथः । 'श्रथ दौर्बल्ये' । चुरादिः अदन्तः । छान्दसे लुङि 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०' (पा०सू० ३.१.४८) इति च्लेः चङ् । द्विर्भावहलादिशेषौ । अग्लोपित्वात् सन्वद्भावाभावेऽपि (पा०सू० ७.४.९३) 'बहुलं छन्दसि' (पा०सू० ६.४.७८) इति अभ्यासस्य इत्वम् । पूर्ववत् अडभावः ॥

**अन्वय**— वरुण ! ते हेळः नमोभिः यज्ञेभिः हविर्भिः अव ईमहे । असुर प्रचेतः राजन् अस्मभ्यं क्षयन् कृतानि एनांसि शिश्रथः ।

**पदार्थ**— वरुण = हे वरुण । ते = तुम्हारे । हेळः = क्रोध को । नमोभिः = नमस्कारों द्वारा । यज्ञेभिः = यज्ञों द्वारा । हविर्भिः = हविद्रव्यों द्वारा । अव ईमहे = दूर करते हैं । असुर = हे प्राण देने वाले । प्रचेतः = हे प्रकृष्ट ज्ञान वाले । राजन् = हे राजन् । अस्मभ्यम् = हमारे लिए । क्षयन् = निवास करते हुए । कृतानि = किये हुए । एनांसि = पापों को । शिश्रथः = नष्ट करो, शिथिल करो ।

**अनुवादः**— हे वरुण ! तुम्हारे क्रोध को नमस्कारों, यज्ञों तथा हविर्द्रव्यों द्वारा हम लोग दूर करते हैं, हे प्राण देने वाले (और) प्रकृष्ट ज्ञान वाले राजन् (वरुण) हमारे लिए निवास करते हुए (तुम हमारे) किये हुए पापों को नष्ट करो।

**व्याकरण**—

१. क्षयन् – √क्षि (निवास करना) + शतृ पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन।

२. शिश्रथः – √श्रथ् (ढीला करना), लुङ् मध्यम पुरुष एकवचन।

**उदुत्तमं वरुण पाशमस्म-**
**दवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।**
**अथा वयमादित्य व्रते तवा-**
**नागसो अदितये स्याम ॥१५॥**

**पदपाठ**— उत्। उत्ऽतमम्। वरुण। पाशम्। अस्मत्। अव। अधमम्। वि। मध्यमम्। श्रथय॥ अथ। वयम्। आदित्य। व्रते। तव। अनागसः। अदितये। स्याम॥

**सा० भा०**— हे वरुण उत्तमम् उत्कृष्टं शिरसि बद्धं पाशम् अस्मत् अस्मत्तः उत् श्रथाय उत्कृष्य शिथिलं कुरु। अधमं निकृष्टं पादेऽवस्थितं पाशम् अव श्रथाय अधस्तादवकृष्य शिथिलीकुरु। मध्यमं नाभिप्रदेशगतं पाशं वि श्रथाय वियुज्य शिथिलीकुरु। अथ अनन्तरं हे आदित्य अदितेः पुत्र वरुण वयं शुनःशेपाः तव व्रते त्वदीये कर्मणि अदितये खण्डनराहित्याय अनागसः अपराधरहिताः स्याम भवेम्॥ उत्तमम्। तमपः पित्त्वादनुदात्तत्वेन आद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र' (पा०सू० ६.१.१६० ग०) इति उञ्छादिषु पाठादन्तोदात्तत्वम्। अधमम्। 'अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते' (उ०सू० ५.७३२) इति अवतेः अमच्; वस्य धः। श्रथाय 'श्रथ दौर्बल्ये'। संहितायां छान्दसो दीर्घः। तव। 'युष्मदस्मदोर्ङसि' इत्याद्युदात्तत्वम्। अनागसः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। 'नञ्सुभ्याम्' इति तु व्यत्ययेन प्रवर्तते। यद्वा। आगस्शब्दात् 'अस्मायामेधा०' (पा०सू० ५.२.१२१) इति मत्वर्थीयो विनिः। तस्य 'विन्मतोर्लुक्' (पा०सू० ५.३.६५) इति लुक्। नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

**अन्वय**— (हे) वरुण उत् उत्तमं पाशम् अधमं मध्यमं अस्मत् वि श्रथाय। अथ आदित्य तव व्रते वयम् अदितये अनागसः स्याम।

**पदार्थ—** वरुण = हे वरुण । उत् = ऊपर करके । उत्तमम् = सबसे ऊपर वाले । पाशम् = पाश को । अधमम् = सबसे नीचे वाले को । मध्यमम् = बीच वाले को । अस्मत् = हमसे । वि श्रथाय = विशेष रूप से ढीला करो । अथ = ताकि । आदित्य = हे अदिति के पुत्र । तव = तुम्हारे । व्रते = पवित्र नियम में । वयम् = हम लोग । आदितये = अदिति के सम्मुख । अनागसः = पाप-रहित । स्याम् = होवें ।

**अनुवाद—** (हे) वरुण ! सबसे ऊपर वाले पाश को, सबसे नीचे तथा बीच वाले को हमसे विशेषरूप से ढीलो करो; ताकि हे अदिति के पुत्र (वरुण), तुम्हारे पवित्र नियम के अन्दर हमं लोग अदिति के सम्मुख पापरहित होवें ।

**व्याकरण—**

१. श्रथाय – √श्रथ् (ढीला करना), लट्मूलक लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

२. स्याम – √अस् (होना), लट्मूलक विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

## ३. वरुणसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–१ सूक्त संख्या–२५

ऋषि-शुनःशेप देवता–वरुण छन्द–गायत्री

**यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।**

**मिनीमसि द्यविद्यवि ॥१॥**

**पदपाठ—** यत् । चित् । हि । ते । विशः । यथा । प्र । देव । वरुण । व्रतम् ॥ मिनीमसि । द्यविऽद्यवि ॥

**सा०सा०—** हे वरुण यथा लोके विशः प्रजाः कदाचित् प्रमादं कुर्वन्ति तथा वयमपि ते तव सम्बन्धि यच्चिद्धि यदेव किञ्चित् व्रतं कर्म द्यविद्यवि प्रतिदिनं प्र मिनीमसि प्रमादेन हिंसितवन्तः । तदपि व्रतं प्रमादपरिहारेण साङ्गं कुरु इति शेषः ॥ यथा । लित्स्वरेण आद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'यथेति पादान्ते' (फि०सू० ८५) इति सर्वानुदात्तत्वम् । मिनीमसि । 'मीञ् हिंसायाम्' । 'इदन्तो मसि' । 'क्र्यादिभ्यः श्ना' । 'मीनातेर्निगमे' (पा०सू० ६.३.८१) इति ह्रस्वत्वम् 'ई हल्यघोः' (पा०सू० ६.४.११३) इति ईकारः । 'सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' इति वचनात् लिङ् एव स्वरः शिष्यते । यद्वृत्तयोगात् निघाताभावः ॥

**अन्वय—** वरुण देव ! यथा विशः ते व्रतं यत् चित् हि द्यविद्यवि प्रमिनीमसी ।

**पदार्थ—** वरुण = हे वरुण । देव = देव । यथा = जिस प्रकार । विशः = प्रजाजन । ते = तुम्हारे । व्रतम् = नियम को । द्यविद्यवि = प्रतिदिन । मिनीमसि = प्रमाद करते हैं, प्रमाद से उल्लङ्घन करते हैं ।

**अनुवाद—** हे वरुण देव ! जिस प्रकार (संसार में) प्रजाजन कभी प्रमाद करते हैं, उसी प्रकार हम भी आपके नियमों का जो कुछ भी प्रतिदिन उल्लङ्घन करते हैं, हमारे प्रमादों का परिमार्जन करके उन नियमों को पूर्ण बनाइये ।

**व्याकरण—**

१. वरुण – वृ + उनन् = वरुण, सम्बोधन एकवचन ।

२. विशः – विश् शब्द, प्रथमा बहुवचन ।

३. मिनीमसि – √मीञ् (हिंसा करना), लट्लकार उत्तमपुरुष बहुवचन। लौकिक मिनीमः का वैदिक प्रयोग मिनीमसि है।

५. द्यविद्यवि – दिवस-वाचक 'द्यो' शब्द का सप्तमी एकवचन = द्यवि दो बार प्रयुक्त।

**विशेष—**

(१) सायण ने 'तदपि व्रतं प्रमादपरिहारेण साङ्गं गुरु' इस प्रकार अध्याहार करके अर्थ को पूरा किया है।

**मा नो॑ व॒धाय॑ ह॒त्नवे॑ जिहीळा॒नस्य॑ रीरधः।**
**मा हृ॑णा॒नस्य॑ म॒न्यवे॑ ॥२॥**

**पदपाठ—** मा। नः॒। व॒धाय॑। ह॒त्नवे॑। जि॒ही॒ळा॒नस्य॑। री॒र॒धः॒॥ मा। हृ॒णा॒नस्य॑। म॒न्यवे॑॥

**सा० भा०—** हे वरुण जिहीळानस्य अनादरं कृतवतः हत्नवे हन्तुः पापिहनन-शीलस्य तव सम्बन्धिने त्वत्कर्तृकाय वधाय नः अस्मान् मा रीरधः संसिद्धान् विषय-भूतान् मा कुरु। हृणानस्य हृणीयमानस्य क्रुद्धस्य तव मन्यवे क्रोधाय मा अस्मान् रीरधः ॥ वधाय। 'हनश्च वधः' (पा०सू० ३.३.७६) इति अबन्तो वधशब्दः। उच्छादिषु पाठादन्तोदात्तः। हत्नवे। 'हन हिंसागत्योः'। 'कृहनिभ्यां क्नुः' 'हेडृ अनादरे'। अस्मात् लिटः कानच्। द्विर्भावहलादिशेषह्रस्वचुत्वजश्त्वानि। एकारस्य ईकारादेशश्छान्दसः। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। रीरधः। 'राध साध संसिद्धौ'। चङि णिलोपे उपधा ह्रस्व-त्वम्। द्विर्वचनहलादिशेषह्रस्वसन्वद्भावेत्वाभ्यासदीर्घाः। 'न माङ्योगे' इति अडभावः। हृणानस। 'हृणीङ् लज्जायाम्'। अस्मात् शानचि पृषोदरादित्वात् अभिमतरूपसिद्धिः॥

**अन्वय—** (वरुण देव,) जिहीळानस्य हत्नवे वधाय नः मा रीरधः। हृणानस्य मन्यवे मा (रीरधः)।

**पदार्थ—** जिहीळानस्य = अनादर या अपमान करने वाले का, हिंसा करने वाले का। हत्नवे = नाश करने वाले, हिंसक। वधाय = वध के लिए, शस्त्र के लिए। नः = हमको। मा = मत। रीरधः = संयुक्त करो, विषय बनाओ। हृणानस्य = कुपित होते हुए का, क्रोधी के। मन्यवे = क्रोध के लिए, क्रोध का पात्र।

**अनुवाद—** (हे वरुण देव!) हिंसा करने वाले के हिंसक शस्त्र का विषय हमे मत बनाओ, (तथा) क्रोधी के क्रोध का पात्र (हमें) मत (बनाओ)।

**व्याकरण—**

१. वधाय – √हन् + अप् = (वध)। चतुर्थी एकवचन।

२. हत्नवे – √हन् + क्नु। धातु के धन् को निपातन से त् = हत्नु। चतुर्थी एकवचन।

३. जिहीळानस्य – √हेडृ (अनादर करना) + कानच्, लिट्लकार में, द्वित्व आदि क्रियाएँ होकर जिहीडान। षष्ठीविभक्ति का एकवचन। वेद में दो स्वरों के बीच में आने पर ड का ळ् हो जाता है। अतः जिहीडानस्य का वैदिकरूप।

४. रीरधः – √राध् (विषय बनाना), लुङ्मूलक लेट्लकार मध्यमपुरुष एकवचन।

५. हृणानस्य – √हृ (क्रोधकरना) + शानच् = हृणान, षष्ठी एकवचन।

**वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्।**
**गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥३॥**

**पदपाठ—** वि। मृळीकाय। ते। मनः। रथीः। अश्वम्। न। समूऽदितम्। गीःऽभिः। वरुण। सीमहि ॥

**सा० भा०—** हे वरुण मृळीकाय अस्मत्सुखाय ते तव मनः गीर्भिः स्तुतिभिः वि सीमहि विशेषेण बध्नीमः प्रसादयाम इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। रथीः रथस्वामी संदितं सम्यक् खण्डितं दूरगमनेन श्रान्तम् अश्वं न अश्वमिव। यथा स्वामी श्रान्तमश्वं घासप्रदानादिना प्रसादयति तद्वत् ॥ रथीः। मत्वर्थीय ईकारः। संदितम्। 'दो अवखण्डने'। 'निष्ठा' इति क्तः। 'द्यतिस्यतिमास्थाम्०' (पा०सू० ७.४.४०) इति इकारान्तादेशः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। गीर्भिः। 'सावेकाचः०' इति भिस उदात्तत्वम्। सीमहि। 'षिवु तन्तुसंताने'। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। वलि लोपः (पा०सू० ७.१.६६)। यद्वा। 'षिञ् बन्धने' इत्यस्मात् विकरणस्य लुक्। दीर्घश्छान्दसः ॥

**अन्वय—** वरुण! रथीः अश्वं संदितं न ते मनः मृळीकाय गीर्भिः विसीमहि।

**पदार्थ—** वरुण = हे वरुण!। रथीः = रथ का स्वामी, रथ चलाने वाला। अश्वम् = अश्व को, घोड़े को। संदितम् = दूर जाने से थके हुए। गीर्भिः = स्तुतियों द्वारा। वि सीमहि = प्रसन्न करते हैं। मृळीकाय = सुखप्राप्त करने के लिए।

**अनुवाद—** हे वरुण देव! जिस प्रकार रथ का स्वामी या रथ चलाने वाला दूर गमन से थके हुए घोड़े को घास आदि देकर प्रसन्न करता है, उसी प्रकार हम तुम्हारे

मन को सुख प्राप्त करने के लिए स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करते हैं।

**व्याकरण—**

१. रथीः – रथ शब्द से मतुप् अर्थ में वैदिक 'ई' प्रत्यय।

२. संदितम् – सम् + √दो (खण्डित करना) + क्त। इ आदेश होकर संदितम् पद बना है।

३. वि सीमहि– वि + √'षिञ् बन्धने' अथवा √'षिवु (सन्ताने') लट्लकार उत्तमपुरुष बहुवचन।

**परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये।**

**वयो न वसतीरुप ॥४॥**

**पदपाठ— परा। हि। मे। विऽमन्यवः। पतन्ति। वस्यःऽइष्टये। वयः। न। वसतीः। उप ॥**

**सा०भा०—** हे वरुण मे मम शुनःशेपस्य विमन्यवः क्रोधरहिता बुद्धयः वस्य-इष्टये वसीयसः अतिशयेन वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये परापतन्ति पराङ्मुखाः पुन-रावृत्तिरहिताः प्रसरन्ति। हि शब्दः अस्मिन्नर्थे सर्वजनप्रसिद्धिमाह। परापतने दृष्टान्तः। वयो न। पक्षिणो यथा वसतीः निवासस्थानानि उप सामीप्येन प्राप्नुवन्ति तद्वत्॥ पतन्ति। पदादित्वात् निघाताभावः। वस्यइष्टये वसुमच्छब्दात् 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुकि टिलोपे ईयसुनो यकारलोपश्छान्दसः। वसतीः। 'शतुरनुमः०' इति ङीप उदात्तत्वम्॥

**अन्वय—** (हे वरुण!) मे विमन्यवः वस्यः इष्टये हि पराप तन्ति। वयः न वसतीः उप।

**पदार्थ—** मे = मेरी। विमन्यवः = क्रोधरहित बुद्धियाँ। वस्यः = धन से युक्त जीवन की। इष्टये = प्राप्ति के लिए। परा पतन्ति = भागती है। वयः = पक्षी। न = समान। वसतिः = निवासस्थान। उप = ओर, समीप।

**अनुवाद—** (हे वरुण!) मेरी क्रोधरहित बुद्धियाँ धन से युक्त जीवन की प्राप्ति के लिए (तुम्हारी) ओर भागती हैं, जिस प्रकार पक्षी अपने निवासस्थान (घोसलों) के पास भागते हैं।

**व्याकरण—**

१. विमन्यवः – विगतः मन्युः याभ्यः ताः, बहुव्रीहि।

२. वस्य: – वसुमत् शब्द से ईयसुन् प्रत्यय। मतुप् का वसु के उ का और ईयसुन् के ई का लोप होकर वस्य।

३. इष्टये – √इष् + क्तिन् = इष्टि। चतुर्थी एकवचन।

४. वसती: – √वस् + अति = वसति। द्वितीया बहुवचन।

**विशेष—**

(१) 'विमन्यव:' का अर्थ सायण ने 'क्रोधरहित बुद्धियाँ' किया है। परन्तु रॉथ के अनुसार इसका अर्थ है इच्छाएँ।

**कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे।**
**मृळीकायोरुचक्षसम् ॥५॥**

**पदपाठ—** कदा। क्षत्रऽश्रियम्। नरम्। आ। वरुणम्। करामहे ॥ मृळीकाय। उरुऽचक्षसम् ॥

**सा०भा०—** मृळीकाय अस्मत्सुखाय वरुणं कदा कस्मिन्काले आ करामहे अस्मिन् कर्मणि आगतं करवाम। कीदृशम्। क्षत्रश्रियं बलसेविनं नरं नेतारं उरुचक्षसं बहूनां द्रष्टारम् ॥ क्षत्रश्रियम्। क्षत्राणि श्रयतीति क्षत्रश्री:। 'क्विब्वचि' (पा०सू० ३.२.१७८.२) इत्यादिना क्विप् दीर्घश्च। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। नरम्। 'ऋदोरप्' इति अबन्त: आद्युदात्त:। करामहे। करोते: व्यत्ययेन शप्। उरुचक्षसम्। 'चक्षेर्बहुलं शिच्च' (उ०सू० ४.६७२) इत्यसुन्। शिद्वद्भावात् ख्यात्रादेशाभाव: ॥

**अन्वय—** क्षत्रश्रियम् उरुचक्षसं नरं वरुणं मृळीकाय कदा आ करामहे।

**पदार्थ—** क्षत्रश्रियम् = क्षात्रशक्ति से सुशोभित, शासकीय शक्ति से शोभायमान होने वाले। उरुचक्षसम् = विशाल दृष्टि वाले, सबको देखने वाले। नरम् = नेता, सबका नेतृत्व करने वाले। वरुणम् = वरुण को। मृळीकाय = सुख के लिए। कदा = कब। आ करामहे = लायेंगे, बुलायेंगे।

**अनुवाद—** शासकीयशक्ति से सुशोभित, विशाल दृष्टिवाले (त्रिकालदर्शी), सबका नेतृत्व करने वाले (नेता) वरुण (देवता) को (हम) कब (अपने पास) लायेंगे।

**व्याकारण—**

१. क्षत्रश्रियम् – क्षत्राणि श्रयति अथवा क्षत्रेण श्री: यस्य तम्। क्षत्रम् = क्षद् + त्र = क्षत्र। अथवा – क्षि + अत्रन्। टि का लोप = क्षत्र। श्री: = श्रि + क्विप्। दीर्घ होकर श्री।

२. नरम् – √नृ (नये) से ॠदोरप् सूत्र से 'अप्' प्रत्यय।

३. आ करामहे – आ + √कृ (कारण होना), लुङ्मूलक लेट् उत्तमपुरुष बहुवचन।

४. उरुचक्षसम् – उरु चक्षः यस्य तम् (बहुव्रीहि) अथवा उरु चष्टे तम्।

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः।
धृतव्रताय दाशुषे ॥६॥

**पदपाठ**— तत्। इत्। समानम्। आशाते इति। वेनन्ता। न। प्र। युच्छतः॥ धृतऽव्रताय। दाशुषे॥

**सा०भा०**— धृतव्रताय अनुष्ठितकर्मणे दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय वेनन्तौ कामयमानौ मित्रावरुणाविति शेषः। तावुभौ समानं साधारणं तदित् अस्माभिर्दत्तं तदेव हविः आशाते अश्नुवाते। न प्र युच्छतः कदाचिदपि प्रमादं न कुरुतः॥ आशाते। अश्नोतेर्लिटि द्विर्भावहलादिशेषौ। 'अत आदेः' (पा०सू० ७.४.७०) इति आत्वम्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति वचनात् 'अश्नोतेश्च' (पा०सू० ७.४.७२) इति नुडभावः। वेनन्ता। वेनतिः कान्तिकर्मा। 'सुपां सुलुक्०' इति आकारः। प्र युच्छतः। 'युच्छ प्रमादे'। दाशुषे। 'दाशृ दाने' इत्यस्मात् 'दाश्वान् साह्वान्०' इति क्वसुप्रत्ययो निपातितः। 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम्। शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्॥

**अन्वय**— वेनन्ता समानं तत् इत् आशाते। धृतव्रताय दाशुषे न प्रयुच्छतः।

**पदार्थ**— वेनन्ता = (शुभ) कामना करते हुए। समानम् = समान रूप से। तत् = उस। इत् = ही। आशाते = प्राप्त करते हैं, स्वीकार करते हैं। धृतव्रजाय = व्रत को धारण करने वाले के लिए। दाशुषे = हवि प्रदान करने वाले (यजमान) के लिए। न = नहीं। प्रयुच्छतः = प्रमाद करते हैं।

**अनुवाद**— (शुभ) कामना करते हुए दोनों (मित्र और वरुण) उस (हवि) को समान रूप से स्वीकार करते हैं, व्रत को धारण करने वाले (और) हवि प्रदान करने वाले (यजमान के कल्याण) के लिए वे कभी प्रमाद नहीं करते।

**व्याकरण**—

१. आशाते – √अंश् (प्राप्त करना), आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष द्विवचन।

२. वेनन्ता – √वेन् + शतृ, प्रथमाविभक्ति द्विवचन = वेनन्तौ का वैदिक रूप।

३. दाशुषे – √दाशृ (देन) + क्वसु चतुर्थी एकवचन।

४. धृतव्रताय – √धृ + क्त = धृत। धृतं व्रतं येन तस्मै। बहुव्रीहिसमास।

**वेदा॒ यो वी॒नां प॒दम॒न्तरि॑क्षेण॒ पत॑ताम्।**

**वेद॑ ना॒वः स॑मु॒द्रियः॑ ॥७॥**

पदपाठ— वेद॑। यः। वी॒नाम्। प॒दम्। अ॒न्तरि॑क्षेण। पतताम् ॥ वेद॑। ना॒वः। स॒मु॒द्रियः॑ ॥

सा० भा०— अन्तरिक्षेण पतताम् आकाशमार्गेण गच्छतां वीनां पक्षिणां पदं यः वरुणः वेद। तथा समुद्रियः समुद्रेऽवस्थितः वरुणः नावः जले गच्छन्त्याः पदं वेद जासनाति सोऽस्मान् बन्धनान्मोचयत्विति शेषः ॥ वेद। विद ज्ञाने'। 'विदो लटो वा' (पा०सू० ३.४.८३) इति तिपो णल। लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। 'द्व्यचोऽतस्तिङ' इति संहितायां दीर्घः। वीनाम्। 'नामन्यतरस्याम्' इति नाम उदात्तत्वम्। पतताम्। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरः। नावः। 'सावेकाच०' इति षष्ठ्या उदात्तत्वम्। समुद्रियः। भवार्थे 'समुद्राभ्राद्धः' (पा०सू० ४.४.११८) इति घप्रत्ययः ॥

**अन्वय**— यः अन्तरिक्षेण पततं वीनां पदं वेद। समुद्रियः नावः वेद।

**पदार्थ**— यः = जो। अन्तरिक्षेण = अन्तरिक्ष मार्ग से, आकाशमार्ग से। पतताम् = उड़ने वाले। वीनाम् = पक्षियों के। पदम् = स्थान को, मार्ग को। वेद = जानता है। समुद्रियः = समुद्र में चलने वाली। नावः = नौका।

**अनुवाद**— जो (वरुण देवता) आकाश मार्ग से उड़ने वाले पक्षियों के मार्ग को जानता है तथा समुद्र में चलने वाली नाव के (मार्ग को) जानता है; (वह हमें बन्धन से मुक्त करे)।

**व्याकरण**—

१. अतरिक्षेण – 'अन्तः ऋक्षणि यत्र' 'अथवा अन्तःईक्ष्यते' इति अन्तरिक्षम् तृतीया एकवचन।

२. पतताम् – √पत् + शतृ = पतत्, षष्ठी बहुवचन।

३. समुद्रियः – 'समुद्रे भवः' अर्थ में घ प्रत्यय, इय आदेश होकर समुद्रिय।

४. वेद – √विद् (जानना) + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**वेदं मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः ।**
**वेदा य उपजायते ॥८॥**

**पदपाठ—** वेदं । मासः । धृतऽव्रतः । द्वादश । प्रजाऽवतः॥ वेद । यः । उपऽजायते ॥

**सा०भा०—** धृतव्रतः स्वीकृतकर्मविशेषो यथोक्तमहिमोपेतो वरुणः प्रजावतः तदा तदोत्पद्यमानप्रजायुक्तान् द्वादश मासः चैत्रादीन् फाल्गुनान्तान् वेद जानाति। यः त्रयोदशोऽधिकमासः उपजायते संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते तमपि वेद। वाक्य-शेषः पूर्ववत् ॥ मासः । 'पद्दन्०' (पा०सू० ६.१.६३) इत्यादिना मासशब्दस्य मास् इति आदेशः। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना शस उदात्तत्वम् । द्वादश। द्वौ च दश च इति द्वन्द्वः। 'द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम्' (पा०सू० ६.३.४७) इति औत्वम्। 'सङ्ख्या' (पा०सू० ६.२.३५) इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ प्रजावतः। 'जनी प्रादुर्भावे' प्रपूर्वात् जनसनखनक्रमगमो विट्प्रत्ययः (पा०सू० ३.२.६७)। 'विड्वनोः०' (पा०सू० ६.४.४१) इति आत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । प्रजा एषां सन्तीति 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा०सू० ५.२.९४)। 'मादुपधायाः' (पा०सू० ८.२.९) इति मतुपो वत्वम्। उपजायते। जनेः कर्मकर्तरि लट्। कर्मवद्भावात् आत्मनेपदं यक् (पा०सू० ३.१.८७)। 'जनादीनामुपदेश एवात्वं वक्तव्यम्' (पा०सू० ६.१.११५.३) इति वचनात् 'अचः कर्तृयकि' (पा०सू० ६.१.१९५) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'तिङि चोदात्तवति' (पा०सू० ८.१.७१) इति उपसर्गस्य निघातः। न च 'तिङ्ङतिङ' इति निघातः 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति प्रतिषेधात् ॥

**अन्वय—** धृतव्रतः प्रजावतः द्वादश मासः वेद। यः उपजायते वेद।

**पदार्थ—** धृतव्रतः = व्रत को धारण करने वाला (वरुण)। प्रजावतः = प्रजाओं से युक्त। द्वादश = बारह। मासः = महीनों को। वेद = जानता है। यः = जो। उपजायते = संवत्सर के समीप उत्पन्न होता है।

**अनुवाद—** व्रत को धारण करने वाला (वरुण) प्रजाओं से युक्त बारह महीनों को जानता है और जो (वर्ष के) साथ उत्पन्न होता है (अर्थात् अधिक मास) उसको भी जानता है।

**व्याकरण—**

१. प्रजावतः – प्र + जन् + ड + टाप् = प्रजा। प्रजा + मतुप् = प्रजावत्। षष्ठीविभक्ति एकवचन।

२. उपजायते – उप + √जन्, लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

(१) सायण ने 'प्रज्ञा' का अर्थ उत्पन्न होने वाली प्रजाएँ किया है। इसका अर्थ है— महीनों में उत्पन्न होने वाली सामान्य प्रजा। पीटर्सन का कथन है कि मासों की प्रजा दिन हैं, अतः यहाँ 'प्रजा' का अर्थ दिन करना चाहिए।

**वेद॒ वात॑स्य वर्त॒निमु॒रोर्ऋ॒ष्वस्य॑ बृह॒तः ।**
**वेदा॒ ये अ॒ध्यास॑ते ॥९॥**

**पदपाठ—** वेद॑ । वात॑स्य । व॒र्त॒निम् । उ॒रोः । ऋ॒ष्वस्य॑ । बृह॒तः ॥ वेद॑ । ये । अ॒धि॒ऽआस॑ते ॥

**सा० भा०—** उरोः विस्तीर्णस्य ऋष्वस्य दर्शनीयस्य बृहतः गुणैरधिकस्य वातस्य वायोः वर्तनिं मार्गं वेद वरुणो जानाति। ये देवाः अध्यासते उपरि तिष्ठन्ति तानपि वेद जानाति॥ वातस्य। 'असिहसि०' इत्यादिना तन्प्रत्ययान्तो वातशब्दो नित्त्वादाद्युदात्तः। वर्तनिम्। वर्ततेऽनेनेति। 'वर्तनिः स्तोत्रे' (पा०सू० ६.१.१६.ग.) इति स्तोत्र वाचकस्य वर्तनिशब्दस्य अन्तोदात्तत्वसिद्ध्यर्थम् उञ्छादिषु पाठात् अस्य प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। बृहतः। 'बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' इति ङस उदात्तत्वम्। अध्यासते। लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरः॥

**अन्वय—** उरो ऋष्वस्य बृहतः वातस्य वर्तनिं वेद। ये अधि आसते वेद।

**पदार्थ—** उरोः = विस्तृत, व्यापक। ऋष्वस्य = दर्शनीय। बृहतः = (गुणों से) महान्। वातस्य = वायु के। वर्तनिम् = मार्ग को। वेद = जानता है। ये = जो। अधि आसते = ऊपर निवास करते हैं।

**अनुवाद—** (वरुण) विस्तृत, दर्शनीय तथा (गुणों से) महान् वायु (अर्थात् अन्तरिक्ष) के मार्ग को जानता है और जो उसके ऊपर निवास करते हैं, उनको भी जानता है।

**व्याकरण—**

१. बृहतः – √बृह् + अति (अत्) = बृहत्, षष्ठीविभक्ति एकवचन।

२. वातस्य – √वा (गतिगन्धनयोः) धातु से 'असिहसि०' इत्यादि उणादि सूत्र से तन् प्रत्यय।

३. वर्तनिम् – वृत् धातु से 'अनि' प्रत्यय।

४. ऋष्वस्य – √ऋषी (गतौ) + धातु से मतुप् अर्थ में क्वन् प्रत्यय।
५. अध्यासते – √आस् (बैठना), आत्मनेपद, लट्लकर प्रथमपुरुष बहुवचन।

**नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या३स्वा ।**
**साम्राज्याय सुक्रतुः ॥१०॥**

**पदपाठ**— नि । ससाद । धृतऽव्रतः । वरुणः । पस्त्यासु । आ ॥ साम्ऽराज्याय । सुऽक्रतुः ॥

**सा०भा०**— धृतव्रतः पूर्वोक्तः वरुणः पस्त्यासु देवीषु प्रजासु आ नि षसाद आगत्य निषण्णवान् । किमर्थम् । प्रजानां साम्राज्यसिद्ध्यर्थं सुक्रतुः शोभनकर्मा ॥ नि षसाद । 'सदिरप्रतेः' (पा०सू० ८.३.६६) इति षत्वम् । साम्राज्याय । सम्राजो भावः साम्राज्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः०' (पा०सू० ५.१.१२४) इति ष्यञ् । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तत्वम् । सुक्रतुः । 'क्रत्वादयश्च' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

**अन्वय**— धृतव्रतः सुक्रतुः वरुणः आ साम्राज्याय प्रत्स्यासु निषसाद ।

**पदार्थ**— धृतव्रतः = व्रत को धारण करने वाला । सुक्रतुः = शोभन कर्म वाला । वरुणः । आ = चारों ओर से । साम्राज्याय = शासन करने के लिए । पस्त्यासु = जलगृहों में । निषसाद = बैठा है ।

**अनुवाद**— व्रत को धारण करने वाला तथा शोभन कर्म वाला (वरुण) चारों ओर से शासन करने के लिए (अपने) जलगृहों में बैठा है ।

**व्याकरण**—

१. निषसाद – नि + √सद् (बैठना), लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।
२. पस्त्यासु – निघण्टु के अनुसार 'पस्त्य' शब्द निपातनात् सिद्ध होता है । इसका प्रयोग वेद में ही है ।
३. सुक्रतुः – शोभनः क्रतुः यस्य स (बहुव्रीहि) । सु + √कृ + अतु (औणादिक) = क्रतु ।
४. साम्राज्याय – सम्राजो भावः । सम्राज् + ष्यञ् = साम्राज्य । चतुर्थी एकवचन ।

**अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।**
**कृतानि या च कर्त्वा ॥११॥**

**पदपाठ—** अतः । विश्वानि । अद्भुता । चिकित्वान् । अभि । पश्यति ॥ कृतानि । या । च । कर्त्वा ॥

**सा० भा०—** अतः अस्मात् वरुणात् विश्वानि अद्भुता सर्वाण्याश्चर्याणि चिकित्वान् प्रज्ञावान् अभि पश्यति सर्वतोऽवलोयति या कृतानि यान्याश्चर्याणि पूर्वं वरुणेन सम्पादितानि । चकारात् अन्यानि यान्याश्चर्याणि कर्त्वा इतः परं कर्तव्यानि तानि सर्वाण्यभिपश्यतीति पूर्वत्रान्वयः ॥ अद्भुता । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा०सू० ६.१.७०) इति शेर्लोपः । प्रत्ययलक्षणेन 'नपुंसकस्य झलचः' (पा०सू० ७.१.७२) इति नुम् । नलोपः । चिकित्वान् । 'कित ज्ञाने' । लिटः क्वसुः । अभ्यासहलादिशेषचुत्वानि । 'वस्वेकाजाद्घ-साम्' इति नियमात् इडभावः । रुत्वनुनासिकावुक्तौ संहितायाम् । पश्यति । 'पाघ्रा०' (पा०सू० ३.४.१४) इति करोतेः त्वन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । पूर्ववत् शेर्लोपः ॥

**अन्वय—** अतः चिकित्वान् विश्वानि या कृतानि च कर्त्वा अद्भुता अभिपश्यति ।

**पदार्थ—** अतः = इससे, यहाँ से । चिकित्वान् = प्रज्ञावाला, ज्ञानी मनुष्य । विश्वानि = सब, सम्पूर्ण । या = जो । कृतानि = किये हुए कर्मों को । च = और । कर्त्वा = किये जाने वाले । अद्भुता = आश्चर्यों को, अद्भुत को । अभिपश्यति = चारों तरफ देखता है ।

**अनुवाद—** वहीं से प्रज्ञावान् (वरुण) सम्पूर्ण किये गये तथा किये जाने वाले अद्भुत कर्मों को चारों तरफ से देखता है ।

**व्याकरण—**

१. चिकित्वान् – √कित् (ज्ञाने) + क्वसु = चिकित्वस् । प्रथमाविभक्ति एकवचन ।

२. अतः – एतद् + तसिल् (तस्) । एतद् को 'अ' आदेश ।

३. विश्वानि – √विश् + क्वन् = विश्व । नपुंसकलिङ्ग, द्वितीया का बहुवचन ।

४. अद्भुता – अत् + √भू +डुतच् = अद्भुत ।

५. कर्त्वा – √कृ +'त्वन्' प्रत्यय ।

६. चिकित्वाँ अभिपश्यति – वैदिक सन्धि के अनुसार स्वर बाद में होने से आकार से परवर्ती 'न्' को अनुस्वार हुआ है ।

७. अभि पश्यति – अभि पश्यति + √दृश् लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

**स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् ।**
**प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१२॥**

**पदपाठ**— सः । नः । विश्वाहा । सुऽक्रतुः । आदित्यः । सुऽपथा । करत् ॥ प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥

**सा०भा०**— सुक्रतुः शोभनप्रज्ञः सः आदित्यः वरुणः विश्वाहा सर्वेष्वहःसु नः अस्मान् सुपथा शोभनमार्गेण सहितान् करत् करोतु । किं च नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारिषत् प्रवर्धयतु ॥ सुपथा । 'स्वती पूजायाम्' (पा०सू० २.२. १८.४) इति समासे 'न पूजनात्' (पा०सू० ५.४.६९) इति समासान्तप्रतिषेधः । अव्ययपूर्वपद-प्रकृतिस्वरे प्राप्ते 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'क्रत्वादयश्च' (पा०सू० ६.२.११८) इत्येतन्न भवति अबहुव्रीहित्वात् । बहुव्रीहौ हि तद्विधीयते । 'आद्यु-दात्तं द्व्यच्छन्दसि' (पा०सू० ६.२.११९) इत्येतदपि न भवति, पथिन्शब्दस्य अन्तो-दात्तत्वात् । करत् । करोतेर्लेटि व्यत्ययेन शप् । शपो लुकि 'लेटोऽडाटौ' इति अडागमः । 'इतश्च लोपः०' इति इकारलोपः । यद्वा । छान्दसे लुङ 'कृमृदृरुहिभ्यः०' (पा०सू० ३.१.५९) इति च्लेः अङ् । 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा०सू० ६.४.१६) इति गुणः । 'बहुलं छन्दस्यामाङ्योगेऽपि' इति अडभावः । प्र णः । 'उपसर्गाद्बहुलम्' (पा०सू० ८.४.२८) इति नसो णत्वम् । तारिषत् । तारयतेः लेटि अडागमः । 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिप । 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम् ॥

**अन्वय**— सुक्रतुः स आदित्यः नः विश्वाहा सुपथा करत् । नः आयुंषि प्रतारिषत् ।

**पदार्थ**— सुक्रतुः = शोभन कर्मों वाला । सः = वह । आदित्यः = अदिति का पुत्र । नः = हमारी । विश्वाहा = सब दिनों में, सर्वदा । सुपथा = उत्तममार्ग से । करत् = ले जावे, करे । नः = हमारी । आयुंषि = आयु को । प्रतारिषत् = बढ़ावे ।

**अनुवाद**— शोभन कर्मों वाला वह अदिति का पुत्र (वरुण देवता) हमें सभी दिनों में उत्तम मार्ग से (संयुक्त) करे और हमारी आयु को बढ़ावे ।

**व्याकरण**—

१. आदित्यः – अदितेः अपत्यम्, अदिति + ण्य प्रथमा एकवचन ।

२. सुपथा – शोभनश्चासौ पन्थाः सुपन्थाः तेन सुपथा, तृतीया एकवचन ।

३. करत् – √कृ (करना), लुङ्मूलक लोट्लकार, प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. विश्वाहा – विश्व + अहन् । यह वैदिक अव्यय है । इसके अन्य रूप 'विश्वहा' और 'विश्वह' भी मिलते हैं ।

५. प्रतारिषत् – प्र + √तृ + णिच् लुङ्मूलक लेट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन ।

**बिभ्र॑द्द्रा॒पिं हि॑र॒ण्यय॑ं॒ वरु॑णो वस्त नि॒र्णिज॑म् ।**

**परि॒ स्पशो॒ नि षे॑दिरे ॥१३॥**

**पदपाठ— बिभ्र॑त् । द्रा॒पिम् । हि॒र॒ण्यय॑म् । वरु॑णः । व॒स्त॒ । नि॒ःऽनिज॑म् ॥ परि॑ । स्पश॑ः । नि । से॒दि॒रे॒ ॥**

**सा० भा०—** हिरण्ययं सुवर्णमयं द्रापि कवचं बिभ्रत् धारयत् वरुणः निर्णिजं पुष्टं स्वशरीरं वस्त आच्छादयति। स्पशः हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः परि निषेदिरे सर्वतोः निषण्णाः। बिभ्रत्। बिभ्रतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतु' (पा०सू० ७.१.७८) इति नुमभावः। 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। द्रापिम्। 'द्रा कुत्सायां गतौ'। द्रापयति इषून् कुत्सितां गति प्रापयतीति द्रापिः। कवचम्। 'अतिह्री०' (पा०सू० ७.३.३६) इत्यादिना पुगागमः। औणादिके इप्रत्यये णिलोपः। हिरण्यम्। 'ऋत्वयवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि' (पा०सू० ६.४.१७५) इति हिरण्यशब्दात् विकारार्थे विहितस्य मयटो मशब्दलोपो निपातितः। वस्त। 'वस आच्छादने'। लङि अदादित्वात् शपो लुक्। पूर्ववत् अडभावः। निर्णिजम्। 'णिजिर् शौचपोषणयोः'। स्पशः। 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः'। 'क्विप् च' इति क्विप्। नि षेद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'। अस्मात् गत्यर्थात् कर्मणि लिटि एत्वाभ्यासासलोपौ। 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् ॥

**अन्वय—** हिरण्यं द्रापिं बिभ्रत् वरुणः निर्णिजम् वस्त। स्पशः परि निषेदिरे।

**पदार्थ—** हिरण्यम् = स्वर्णिम। द्रापिम् = कवच को। बिभ्रत् = धारण करते हुए। वरुणः = वरुण (देव)। निर्णिजम् = अपने पुष्ट शरीर को। वस्त = ढक लेता है। स्पशः = चमकदार किरणें। परिनिषेदिरे = चारों ओर व्याप्त हो रही हैं।

**अनुवाद—** स्वर्णिम् कवच धारण करता हुआ वरुण (देव) अपने पुष्ट शरीर को ढक लेता है। उसकी चमकदार किरणें चारों ओर व्याप्त हो रही हैं।

**व्याकरण—**

१. बिभ्रत् – भृ + शतृ = बिभ्रत् प्रथमा एकवचन, बिभ्रन् का वैदिकरूप।

२. द्रापिम् – द्रा + णिच् (पुक् का आगम) = द्रापि द्वितीया एकवचन।

३. हिरण्ययम् – हिरण्यस्य विकारः अर्थ में 'मयट् प्रत्यय, म का लोप होकर हिरण्यय द्वितीया एकवचन, हिरण्यमयम् का वैदिकरूप।

४. निर्णिजम् – निर् + √णिजिर् + क = निर्णिज द्वितीया एकवचन।

५. स्पशः – स्पश् + क्विप् = स्पश्, प्रथमा का बहुवचन।

६. निषेदिरे – नि + √सद् + लिट् आत्मनेपद, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष—**

१. हिरण्यय का लौकिकरूप हिरण्यमय होगा और वस्त का अवस्त। वस्त में वर्तमान काल में लङ्लकार का प्रयोग हुआ है।

२. आचार्य सायण ने 'स्पश' का अर्थ किरणें किया है। पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ गुप्तचर है। वरुण के गुप्तचर सारे विश्व में घूमते रहते हैं। वरुण के गुप्तचरों का उल्लेख 'ऋग्वेद' में अनेक स्थानों पर हुआ है।

**न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्।**

**न देवमभिमातयः ॥१४॥**

**पदपाठ—** न। यम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। न। द्रुह्वाणः। जनानाम्॥ न। देवम्। अभिऽमातयः॥

**सा०भा०—** दिप्सवः हिंसितुमिच्छन्तो वैरिणः ये वरुणं न दिप्सन्ति भीताः सन्तो हिंसितुमिच्छां परित्यजन्ति। जनानां प्राणिनां द्रुह्वाणः द्रोग्धारोऽपि यं वरुणं प्रति न द्रुह्यन्ति। अभिमातयः पाप्मानः। 'पाप्मा वा अभिमातिः' (तै०सं० २.१.३.५) इति श्रुत्यन्तरात्। देवं तं वरुणं न स्पृशन्ति॥ दिप्सन्ति। 'दम्भु दम्भे'। अस्मात् सनि 'सनीवन्तर्ध०' (पा०सू० ७.२.४९) इत्यादिना इडभावः। 'हलन्ताच्च' (पा०सू० १.२.१०) इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचित्वात् सनः कित्वात् 'दम्भ इच्च' (पा०सू० ७.४.५६) इति दकारात् परस्य अकारस्य इकारः। 'अनिदिताम्०' इति नलोपः। भष्भावाभावश्छान्दसः (पा०सू० ८.२.३७)। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (पा०सू० ७.४.५८) इति अभ्यासलोपः। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण सनो नित्त्वात् नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगात् अनिघातः। दिप्सवः। सनन्तात् दम्भेः 'सनाशंसभिक्ष उः' (पा०सू० ३.२.१६८) इति उप्रत्ययः। द्रुह्वाणः। 'द्रुह जिघांसायाम्'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति कनिप्। प्रत्ययस्य। पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्॥

**अन्वय—** दिप्सवः यं देवं न दिप्सन्ति, जनानां द्रुह्वाणः न, अभिमातयः न।

**पदार्थ—** दिप्सवः = हिंसा करने की इच्छा रखने वाले। यम् = जिसको। देवम् = देव को। न = नहीं। दिप्सन्ति = हिंसा करते हैं। जनानाम् = सामान्य मनुष्यों

के। द्रुहाणः = द्रोही व्यक्ति। अभिमातयः = पापी लोग।

**अनुवाद**— हिंसा करने की इच्छा रखने वाले भी जिस वरुण देवता के प्रति हिंसा करने का भाव छोड़ देते हैं, सामान्य मनुष्यों के द्राही व्यक्ति भी जिसके प्रति द्रोह नहीं कर पाते और पापी लोग भी जिसे हानि नहीं पहुँचाते।

**व्याकरण**—

१. दिप्सन्ति – सन्नन्त 'दम्भ' धातु (दिप्स), लट्लकार प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. दिप्सवः – सन्नन्त 'दम्भ' धातु से उ प्रत्यय = दीप्सु। प्रथमाविभक्ति बहुवचन।

३. द्रुहाणः – द्रुह् + क्वनिप् = द्रुह्व। प्रथमाविभक्ति का बहुवचन।

४. अभिमातयः – अभि + √मन् धातु से निपातनात् = अभिमाति। प्रथमाविभक्ति बहुवचन। *अथवा* 'मीञ् हिंसायाम्' धातु से 'अभिमन्यते' या 'अभिभूय मिनाति हिनस्ति' अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करके अभिमातिरूप बनता है।

**विशेष**—

१. इस मन्त्र में वरुण की शान्तिमत्ता का कथन किया गया है। ग्रसमान ने 'जनानाम्' का सम्बन्ध 'अभिमातयः' से किया है। अर्थात् मनुषयों के शत्रु। मैक्समूलर ने अर्थ किया है— The foe mantras of men.

**उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या।**

**अस्माकमुदरेष्वा ॥१५॥**

**पदपाठ**— उत। यः। मानुषेषु। आ। यशः। चक्रे। असामि। आ। अस्माकम्। उदरेषु। आ॥

**सा० भा०**— उत अपि च यः वरुणः मानुषेषु यशः अन्नम् आ चक्रे सर्वतः कृतवान् स वरुणः कुर्वन्नपि आ सर्वतः असामि संपूर्ण चक्रे न तु न्यूनं कृतवान्। विशेषतः अस्माकम् उदरेषु सर्वतः चक्रे॥ मानुषेषु। 'मनार्जातावञ्यतौ षुक् च' (पा०सू० ४.१.१६१) इति अञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तत्वम्। चक्रे। प्रत्ययस्वरः। असामि। 'अव्यये नञ्कुनिपातानामिति वक्तव्यम्' (पा०सू० ६.२.२.३) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यशः। 'अशेर्युट् च' (उ०सू० ४. ६.३०) इति असुन्। उदरेषु। 'उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च' (उ०सू० ५.६१७) इति अल्। लित्स्वरः। 'गतिकारकोपपदात्०' इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

**अन्वय**— उत यः मानुषेषु यशः आचक्रे, असामि आ, अस्माकम् उदरेषु आ।

**पदार्थ**— उत = और। यः = जो। मानुषेषु = मनुष्यों में। यशः = अन्न। आचक्रे = उत्पन्न किया है। असामि = सम्पूर्ण रूप में। आ = चारों तरफ से। अस्माकम् = हमारे। उदरेषु = पेटों में। आ = और।

**अनुवाद**— और जिस (वरुण देवता) ने मनुष्यों में अन्न को उत्पन्न किया और उस अन्न को सम्पूर्ण रूप में उत्पन्न किया तथा (जिस वरुण ने) हमारे उदरों में उस अन्न को सब प्रकार से किया अर्थात् अन्न को पचाने की शक्ति दी।

**व्याकरण**—

१. मानुषेषु – 'मनोरपत्यम्' अर्थ में मनोर्जातावञ्यतौ पुक् सूत्र से मनु + अञ् (षुक् का आगम) = मानुष।
२. चक्रे – कृ धातु (आसत्मने पद) लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष**—

१. सायण ने 'यशः' का अर्थ 'अन्न' किया है। परन्तु मैक्समूलर यहाँ इसका अर्थ 'कीर्ति' (Glory) करता है और ग्रासमान ने 'आशीर्वाद' (Blessing) अर्थ किया है। 'मैक्समूलर' ने उदर का अर्थ 'मनुष्य शरीर' किया है। लुडविग ने उदरेषु के स्थान पर 'द्युषु' पाठ मानकर उसका अर्थ 'घर' किया है।

**परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु।**
**इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥१६॥**

**पदपाठ**— परा। मे। यन्ति। धीतयः। गावः। न। गव्युतीः। अनु॥ इच्छन्तीः। उरुऽचक्षसम्॥

**सा० भा०**— उरुचक्षसं बहुभिर्द्रष्टव्यं वरुणम् इच्छन्तीः मे धीतयः शुनःशेपस्य बुद्धयः परा यन्ति पराङ्मुखा निवृत्तिरहिता गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः। गावो न। यथा गावः गव्यूतीरनु गोष्ठानि अनुलक्ष्य गच्छन्ति तद्वत्॥ गव्यूतीः। गावोऽत्र यूयन्ते इति अधिकरणे क्तिन्। 'गोर्युतौ छन्दसि' (पा०सू० ६.१.७९.२) इति अवादेशः। दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा। युतिः यवनम्। गवां यवनमत्रेति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। इच्छन्तीः। 'इषु इच्छायाम्'। लटः शतृ। 'तुदादिभ्यः शः'। 'इषुगमियमां छः' (पा०सू० ७.३.७७) इति छत्वम्। अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः शिष्यते॥

**अन्वय**— उरुचक्षसम् इच्छन्तीः मे धीतयः गव्यूतीः अनु गावः न परायन्ति।

**पदार्थ**— उरुचक्षसम् = बहुतों द्वारा दर्शन के योग्य, व्यापक दृष्टि वाले। इच्छन्तीः = कामना करती हुई। मे = मेरी। धीतयः = बुद्धियाँ, भावनायें। गव्यूतीः = गोष्ठ की। अनु = ओर। गावः = गायें। न = समान। परायन्ति = जा रही है।

**अनुवाद**— बहुतों के द्वारा दर्शन के योग्य अथवा व्यापक दृष्टि वाले (वरुण के दर्शन की) कामना करती हुई मेरी (शुनःशेप की) बुद्धियाँ या (भावनाएँ) उसके प्रति जा रही हैं, जिस प्रकार गोष्ठों को लक्ष्य करके सायंकाल के समय वहाँ जाने वाली गायें उनकी ओर दौड़ती हैं।

**व्याकरण**—

१. धीतयः – ध्या + क्तिन् 'य' को वैदिक सम्प्रसारण होकर 'इ' 'आ' का पूर्वरूप और पुनः 'इ' को दीर्घ = धीतिं, प्रथमाविभक्ति बहुवचन।
२. गव्यूतीः – गो + √यू धातु से क्तिन् प्रत्यय। 'गोर्यूतौ छन्दसि' से 'ओ' को 'अव' आदेश होकर गव्यूति। प्रथमाविभक्ति बहुवचन।
३. इच्छन्तीः – √इष् (इच्छ्) + शतृ + ङीप् प्रथमा, बहुवचन।
४. उरुचक्षसम् = उरुभिः चक्षसं यस्य तम् (बहुव्रीहि)।

**सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम्।**
**होतेव क्षदसे प्रियम् ॥१७॥**

**पदपाठ**— सम्। नु। वोचावहै। पुनः। यतः। मे। मधु। आऽभृतम्॥ होताऽइव। क्षदसे। प्रियम्॥

**सा० भा०**— यतः यस्मात् कारणात् मे मज्जीवनार्थं मधुरं हविः आभृतं अञ्जःसवये कर्मणि संपादितं अतः कारणात् होतेव होमकर्तेव त्वमपि प्रियं हविः क्षदसे अश्नासि। पुनः हविः स्वीकारादूर्ध्वं तृप्तस्त्वं जीवन्नहं च नु अवश्यं सं वोचावहे संभूय प्रियवार्तां करवावहै॥ वोचावहे। लोडर्थे छान्दसे लुङि ब्रुवो वचिः। 'अस्यतिवक्ति०' इति च्लेः अङादेशः। 'वच उम्' इति उमागमे गुणः। व्यत्ययेन टेः ऐत्वम्। यद्वा। लोट एव लुङादेशः। स्थानिवद्भावात् ऐत्वम्। आभृतम्। 'हृग्रहोर्भ०'। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्॥

**अन्वय**— यतः मे मधु आभृतं पुनः नु संवोचावहै। होता इव प्रियं क्षदसे।

**पदार्थ**— यतः = क्योंकि। मे = मेरे। मधु = मधुर। आभृतम् = प्रदान (सम्पादित) की गयी है। पुनः = फिर। नुः = निश्चय से। सम् वोचावहै = प्रेम से

आलाप करें। होता = होता के। इव = समान। प्रियम् = प्रिय हवि को। क्षदसे = भक्षण करते हो, खा रहे हो।

**अनुवाद**— क्योंकि (इस अञ्जःसव नामक यज्ञ में) मेरी मधुर (हवि आपके लिए) सम्पादित की गयी है, इसलिए पुनः निश्चय से हम दोनों प्रेम से आलाप करें। आप होता के समान उस प्रिय हवि का भक्षण करते हो।

**व्याकरण**—

१. आभृतम् – आ + भृ + क्त।

२. वोचावहै – √ब्रू (वच् आदेश), लुङ्लकार, उत्तमपुरुष द्विवचन।

३. यतः – यत् + तसिल्। यत् के त् को अ आदेश तथा पररूप।

४. होता – √हू + तृच् = होतृ, प्रथमाविभक्ति एकवचन।

५. प्रियम् – प्री + क। ई को इयङ् (इय) आदेश।

६. क्षदसे – √क्षद् (भक्षणे) आत्मनेपद लट्लकार, मध्यमपुरुष एकवचन।

**दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि।**

**एता जुषत मे गिरः ॥१८॥**

**पदपाठ**— दर्शम्। नु। विश्वऽदर्शतम्। दर्शम्। रथम्। अधि। क्षमि। एताः। जुषत। मे। गिरः॥

**सा० भा०**— विश्वदर्शतं सर्वैर्दर्शनीयम् अस्मदनुग्रहार्थमत्राविर्भूतं वरुणं दर्शं नु अहं दृष्टवान् खलु। क्षमि क्षमायां भूमौ रथं वरुणसंबन्धिनम् अधि दर्शम् आधिक्येन दृष्टवानस्मि। एताः उच्यमानाः मे गिरः मदीयाः स्तुतीः जुषत वरुणः सेवितवान्॥ दर्शम्। दृशेः 'इरितो वा' (पा०सू० ३.१.५७) इतिः च्लेः अङादेशः। 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा०सू० ७.४.१६) इति गुणः। विश्वदर्शतम्। दृशेः 'भृमृदृशि०' (उ०सू० ३.३९०) इत्यादिना अवच्प्रत्ययान्तो दर्शतशब्दः। मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् (पा०सू० ६.२.१०६.२)। यद्वा। विश्वं दर्शनीयमस्येति बहुव्रीहिः। 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। क्षमि। 'आतो धातोः' (पा०सू० ६.४.१४०) इत्यत्र आतः इति योगविभागात् आकारलोपः॥

**अन्वय**— विश्वदर्शतं नु दर्शम् अधि क्षमि रथं दर्शम्। एताः मे गिरः जुषत।

**पदार्थ**— विश्वदर्शतम् = सम्पूर्ण विश्व के द्वारा देख सकने योग्य। नु = अब।

दर्शम् = देख लिया है। अधिक्षमि = भूमि पर। रथम् = रथ को। एताः = इन। मे = मेरी। गिरः = स्तुतियों को। जुषत = ग्रहण कर लिया है, स्वीकार किया है।

**अनुवाद**— सम्पूर्ण विश्व के द्वारा देख सकने योग्य उस वरुण को निश्चय से मैंने देख लिया है। भूमि पर उस वरुण के रथ को (मैंने देख लिया है)। (उस वरुण देवता ने) इस मेरी स्तुतियों को स्वीकार कर लिया है।

**व्याकरण**—

१. दर्शम् – √दृश् (देखना), लुङ्मूलक लेट्लकार उत्तमपुरुष एकवचन।

२. विश्वदर्शतम् – विश्व + दृश् + अतच्, विश्वस्य दर्शनीयम्।

३. अधि क्षमि – क्षमूष् धातु से क्षमा। क्षमा का सप्तमी का एक वचन। वैदिकरूप = क्षमि। बलदेने के लिए अधि उपसर्ग का प्रयोग।

४. जुषत – √जुष् लङ्लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन। छान्दस अट् (अ) का अभाव।

**विशेष**—

१. वेद में लुङ् का प्रयोग अधिकतर सभी समाप्त हुई क्रिया के लिए हुआ है। अतः दर्शम् का अर्थ मैंने देखा। या मैं देख सकता हूँ, दोनों है।

**इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।**

**त्वामवस्युरा चके ॥१९॥**

**पदपाठ— इमम्। मे। वरुण। श्रुधि। हवम्। अद्य। च। मृळय। त्वाम्। अवस्युः। आ। चके॥**

**सा०भा०**— वरुणप्रघासेषु 'इमं मे वरुण' इति वारुणस्य हविषः अनुवाक्या। 'पञ्चम्यां पौर्णमास्याम्' इति खण्डे सूत्रितम्— 'इमं मे वरुण श्रुधि तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः' (आश्व०श्रौ० २.१७) इति॥

हे वरुण मे मदीयम् इमं हवम् आह्वानं श्रुधि शृणु। किं च अद्य अस्मिन् दिने मृळय अस्मान् सुखय। अवस्युः रक्षणेच्छुः अहं त्वां वरुणम् आभिमुख्येन चक्रे शब्दयामि स्तौमीत्यर्थः॥ श्रुधि। 'श्रु श्रवणे'। लोटो हिः 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिरादेशः। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति संहितायां दीर्घः। अवस्युः। अवस् शब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्'। 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः। आ चके। 'कै गै शब्दे'। अस्मात् लिटि 'आदेचः०' (पा०सू० ६.१.४५)

इति आत्वम्। द्विर्भावचुत्वे। 'आतो लोप इटि च' (पा०सू० ६.४.६४) इति आकार-लोपः। 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ॥

**अन्वय—** वरुण ! मे इमं हवं श्रुधि, अद्य च मृळय। अवस्युः त्वां आचक्रे।

**पदार्थ—** वरुण = हे वरुण ! । मे = मेरे। इमम् = इस। हवम् = आह्वान को। श्रुधि = सुनो। अद्य = आज। च = और। मृळय = सुखी करो। अवस्युः = संरक्षण का अभिलाषी। आ चक्रे = पुकार रहा हूँ।

**अनुवाद—** हे वरुण देवता ! मेरे इस आह्वान को सुनो और मुझको सुखी करो। संरक्षण का अभिलाषी होकर मैं तुमको पुकार रहा हूँ।

**व्याकरण—**

१. श्रुधि – √श्रु लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन का वैदिक रूप।

२. हवम् – √ह्वे + अप् (व् को सम्प्रसारण, सन्धि और अव् आदेश)।

३. मृळय – √मृळ् + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।

४. अवस्युः – अवस् + क्यच् + उ (अवस् = चाहना)।

५. चके – √कै (शब्दे), लिट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

१. 'श्रुधी' और 'अद्या' में दीर्घ संहितापाठ के नियमों के अनुसार हुआ है।

**त्वं विश्व॑स्य मेधिर दि॒वश्च॒ ग्मश्च॑ राजसि ।**

**स याम॑नि॒ प्रति॑ श्रुधि ॥२०॥**

**पदपाठ—** त्वम्। विश्व॑स्य। मे॒धि॒र॒। दि॒वः। च॒। ग्मः। च॒। रा॒ज॒सि॒। सः। याम॑नि। प्रति॑। श्रु॒धि॒ ॥

**सा० भा०—** हे मेधिर मेधाविन् वरुण त्वं दिवश्च द्युलोकस्यापि ग्मश्च भूलोक-स्यापि एवमात्मकस्य विश्वस्य सर्वस्य जगतो मध्ये राजसि दीप्यसे। सः तादृशः त्वं यामनि क्षेमप्रापणे अस्मदीये प्रति श्रुधि प्रतिश्रवणम् आज्ञापनं कुरु। रक्षिष्यामीति प्रत्युत्तरं देहीत्यर्थः ॥ दिवः। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना षष्ठ्या उदात्तत्वम्। ग्मः। 'ग्मा' (नि० १.२.२) इत्येतत् भूनामसु पठितम्। 'आतो धातोः' इत्यत्र आतः इति योगविभागात् 'आतो लोपः' इति प्रतिषेधेऽपि (?) व्यत्ययेन आकारलोपः। उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम्। यामनि। 'या प्रापणे'। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति मनिन्।

नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । श्रुधि । उक्तम् ॥

**अन्वय—** मेधिर । त्वं दिवः च ग्मः च विश्वस्य राजसि । सः यामनि प्रतिश्रुधि ।

**पदार्थ—** मेधिर = हे मेधावी । त्वम् = तुम । दिवः = द्युलोक का । च = और । ग्मः = पृथिवी लोक का । च = और । विश्वस्य = सम्पूर्ण जगत् के । राजसि = प्रकाशित होते हो । सः = वह, तुम । यामनि = मार्ग में, जीवन यात्रा के मार्ग में । प्रतिश्रुधि = प्रत्युत्तर दो ।

**अनुवाद—** हे मेधावी वरुण ! तुम द्युलोक के पृथिवी लोक के, इस प्रकार से सम्पूर्ण जगत् के (मध्य में) प्रकाशित होते हो । ऐसे हे वरुण देवता । तुम मार्ग में (अर्थात् जीवन-यात्रा के मार्ग में) मुझे प्रत्युत्तर दो, (तुम मेरी रक्षा करोगे, यह प्रत्युत्तर दो) ।

**व्याकरण—**

१. मेधिर – मेधा + इरच् ।
२. दिवः – दिव् + क्विप् = दिव्, षष्ठीविभक्ति एकवचन ।
३. राजसि – √राज् लट्लकार मध्यमपुरुष एकवचन ।
४. ग्मः – √गम् पृथिवी के अर्थ में निपातन से वैदिक 'ग्मा' बनता है । षष्ठीविभक्ति के एकवचन का वैदिकरूप ग्मः ।
५. यामनि – √या + मनिन् प्रत्यय । सप्तमी का एकवचन ।

**विशेष—**

१. मेधिर, ग्मः, यामनि, श्रुधि ये सभी प्रयोग वैदिक है । लोक में इनका प्रयोग नहीं होता है ।

**उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत ।**
**अवाधमानि जीवसे ॥२१॥**

**पदपाठ—** उत् । उत्ऽतमम् । मुमुग्धि । नः । वि । पाशम् । मध्यमम् । चृत ॥ अव । अधमानि । जीवसे ॥

**सा० भा०—** नः अस्माकम् उत्तमं शिरोगतं पाशम् उत् मुमुग्धि उत्कृष्य मोचय । मध्ययम् उदरगतं पाशं वि चृत वियुज्य नाशय । जीवसे जीवितुम् अधमानि मदीयान् पादगतान् पाशान् अव चृत अवकृष्य नाशय ॥ उत्तमम् । उञ्छादिषु पाठादन्तोदा-

त्त्वम्। मुमुग्धि। 'मुच्लृ मोक्षणे'। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः। द्विर्भावः। हलादिशेषः। 'हुजल्भ्यो हेर्धिः' (पा०सू० ६.४.१०१) इति हेर्धिरादेशः। 'तिङ्ङ-तिङ्' इति निघातः। चृत। 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः'। लोटो हिः। 'तुदादिभ्यः शः' 'अतो हेः' इति हेर्लुक्। जीवसे। 'जीव प्राणधारणे'। 'तुमर्थे सेसेन्०' इति असेप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

**अन्वय**— नः उत्तमं पाशम् उत् मुमुग्धि, मध्यमं विचृत, जीवसे अधमानि अव।

**पदार्थ**— नः = हमारे। उत्तमम् = ऊर्ध्ववर्ती। पाशम् = पाश को। उत् मुमुग्धि = ऊपर को खींचकर छुड़ा दो। मध्यमम् = बीच वाले। विचृत = अलग खींचकर नष्ट कर दो। जीवसे = जीने के लिए। अधमानि = नीचे के। अव = नीचे करके मुक्त करो।

**अनुवाद**— (हे वरुण! तुम) हमारे इन ऊर्ध्ववर्ती (अर्थात् सिर के) पाशों को ऊपर खींचकर छुड़ा दो, इन बीच के पाशों को अलग खींचकर नष्ट कर दो और हमारे जीवन के लिए इन नीचे के (अर्थात् पैरों में लगे हुए) पाशों को भी खींचकर नष्ट कर दो।

**व्याकरण**—

१. उत्तमम् – उत् + तमप् द्वितीया एकवचन।

२. मुमुग्धि – √मुच् लिट्मूलक लोट्लकार मध्यमपुरुष एकवचन।

३. पाशम् – पश् + घञ् = पाश द्वितीया एकवचन।

४. चृत – √चृत् लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

५. जीवसे – जीव + तुमुन् के अर्थ में वैदिक असे प्रत्यय।

# ४. इन्द्रसूक्तम्

वेद-ऋग्वेद | मंण्डल संख्या-१ | सूक्त संख्या-३२

ऋषि-हिरण्यस्तूप | देवता-इन्द्र | छन्द-त्रिष्टुप्

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं
यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द
प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥१॥

पदपाठ— इन्द्रस्य । नु । वीर्याणि । प्र । वोचम् । यानि । चकार । प्रथमानि । वज्री ॥ अहन् । अहिम् । अनु । अपः । ततर्द । प्र । वक्षणाः । अभिनत् । पर्वतानाम् ॥

सा० भा०— वज्री वज्रयुक्तः इन्द्रः प्रथमानि पूर्वसिद्धानि मुख्यानि यानि वीर्याणि पराक्रमयुक्तानि कर्माणि चकार तस्य इन्द्रस्य तानि वीर्याणि नु क्षिप्रं प्रब्रवीमि । कानि वीर्याणीति तदुच्यते । अहिं मेघम् अहन् हतवान् । तदेतदेकं वीर्यम् । अनु पश्चात् अपः जलानि ततर्द हिंसितवान् भूमौ पातितवानित्यर्थः । इदं द्वितीयं वीर्यम् । पर्वतानां संबन्धिनीः वक्षणाः प्रवहणशीलाः नदीः प्र अभिनत् भिन्नवान् कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थः । इदं तृतीयं वीर्यम् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ वीर्याणि । 'शूरवीर विक्रान्तौ' । ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति यत् । 'णेरनिटि' इति णिलोपः । 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं न भवति । आद्युदात्तत्वे हि सुशब्देन बहुव्रीहौ 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' इत्यनेनैवोत्तरपदाद्युदात्तत्वस्य सिद्धत्वात् 'वीरवीर्यौ च' इति पुनस्तद्विधानमनर्थकं स्यात् । अतोऽवगम्यते 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वं वीरशब्दे न प्रवर्तते इति । अतः परिशेषात् 'तित्स्वरितम्' इति प्रत्ययस्य स्वरितत्वमेव । वोचम् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेः अङादेशः । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः । चकार । णलि लित्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । यद्वृत्तयोगादनिघातः । अहन् । लङि 'इतश्च' इति इकारलोप 'हल्ङ्याब्भ्यः०'

इति तकारलोपः । अहिम् । आङ्पूर्वात् हन्तेः 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च' (उ०सू० ४.५७७) इति इप्रत्ययः, आङो ह्रस्वत्वं च । चशब्देन 'वेञो डित् समाने ख्यश्चोदात्तः' इत डित्वं पूर्वपदोदात्तत्वं चानुकृष्यते । ततः टिलोपे पूर्वपदस्योदात्तत्वम् । ततर्द । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । वक्षणाः । 'वक्ष रोषे' । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' (पा०सू० ३.२.१५१) इति युच् । चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः ॥

**अन्वय**— नु इन्द्रस्य वीर्याणि प्रवोचम् यानि वज्री प्रथमानि चकार । अहिम् अहन्, अनु अपः ततर्द । पर्वतानां वक्षणा अभिनत् ।

**पदार्थ**— नु = अभी, अब, शीघ्र । इन्द्रस्य = इन्द्र के । वीर्याणि = पराक्रम युक्त कार्यों को । प्रवोचम् = प्रकृष्ट रूप से कहता हूँ, उच्च स्वर से कहूँगा । यानि = जिन को । वज्र = वज्रधारी, वज्र को धारण करने वाले (इन्द्र) ने । प्रथमानि = सबसे पहले । चकार = किया था । अहिम् = मेघ को । अहन् = मारा । अपः = जलों को । ततर्द = हिंसित किया, काटा, बरसाया । वक्षणाः = प्रवहणशील नदियाँ । पर्वतानाम् = प्रर्वतों के । प्र अभिनत् = तोड़ा, काटकर प्रवाहित किया ।

**अनुवाद**— अब मैं इन्द्र के पराक्रम युक्त कार्यों का वर्णन करूँगा जिनको वज्रधारी (इन्द्र) ने सबसे पहले किया था । उसने अहि (मेघ) को मारा, (उसके पश्चात्) जलों को हिंसित किया (बरसाया) तथा पर्वतों के बीच नदियों को काटकर प्रवाहित किया ।

**व्याकरण**—

१. वीर्याणि – √वीर + यत् = वीर्य । प्रथमा विभक्ति बहुवचन ।

२. वोचम् – √वच् (बोलना), लुङ्मूलक लेट् उत्तमपुरुष एकवचन ।

३. अहन् – √हन् (मारना), लङ्लकार प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. चकार – √कृ (करना), लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन ।

५. ततर्द – √तृद्– (चीरना, फाड़ना), लिट्लकार, प्रथमपुरुष एकवचन ।

६. अभिनत् – √भिद्– (भेदना, चीरना), लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

**विशेष**—

१. इस मन्त्र में पृथिवी पर जल बरसने की प्रक्रिया कही गयी है । इन्द्र मेघ पर वज्र का प्रहार करता है, इसके बाद जल बरसता है ।

२. पर्वतों पर जल बरसने से चट्टानों के टूटने पर नदियों के बहने के मार्ग बनते हैं तथा नदियाँ बहती हैं ।

(३) मेघों में विद्युत् के चमकने के लिए इन्द्र के वज्र-प्रहार की कल्पना की गयी है।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना
अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥२॥

**पदपाठ—** अहन्। अहिम्। पर्वते। शिश्रियाणम्। त्वष्टा। अस्मै। वज्रम्। स्वर्यम्। ततक्ष॥ वाश्राःऽइव। धेनवः। स्यन्दमानाः। अञ्जः। समुद्रम्। अव। जग्मुः। आपः॥

**सा० भा०—** पर्वते शिश्रियाणम् आश्रितम् अहिं मेघम् अहन् हतवान्। अस्मै इन्द्राय स्वर्यं सुष्ठु प्रेरणीयं यद्वा शब्दनीयं स्तुत्यं त्वष्टा विश्वकर्मा वज्रं ततक्ष तनूकृतवान्। तेन वज्रेण मेघे भिन्ने सति स्यन्दमानाः प्रस्रवणयुक्ताः आपः समुद्रम् अञ्जः सम्यक् अव अग्मुः प्राप्ताः। तत्र दृष्टान्तः। वाश्राः वत्सान्प्रति हम्भारवोपेताः धेनवः इव। यथा धेनवः सहसा वत्सगृहे गच्छन्ति तद्वत्॥ शिश्रियाणम्। 'श्रिञ् सेवायाम्'। लिटः कानच्। द्विर्भावहलादिशेषयणादेशाः। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। स्वर्यम्। 'ऋ गतौ'। अस्मात् सुपूर्वात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इति वृद्ध्यभावः। यद्वा। 'स्वृ शब्दोपतापयोः' इत्यस्मात् ण्यति पूर्ववत् वृद्ध्यभावः। 'तित्स्वरितम्' इति स्वरितत्वम्। वाश्यन्ते इति वाश्राः। 'वाशृ शब्दे'। 'स्फायितञ्चि०' इत्यादिना रक्। जग्मुः। उसि 'गमहन०' इति उपधालोपः॥

**अन्वय—** (इन्द्रः) पर्वते शिश्रियाणम् अहिम् अहन्। त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष। वाश्राः धेनव इव स्यन्दमाना आप अञ्जः समुद्रम् अव जग्मुः।

**पदार्थ—** (इन्द्रः = इन्द्र ने) पर्वते = पर्वत पर। शिश्रियाणम् = आश्रय लेने वाले, निवास करने वाले। अहिम् = मेघ को, बादल को। अहन् = मारा। त्वष्टा = त्वष्टा, विश्वकर्मा, परमात्मा। अस्मै = इस (इन्द्र) के लिए। स्वर्यम् = शब्द करने वाले, गरजने वाले। वज्रम् = वज्र को। ततक्ष = बनाया, निर्माण किया। वाश्राः = रंभाती हुई। धेनवः = गायें। इव = समान। स्यन्दमानाः = बहता हुआ। आपः = जल। अञ्जः = सीधे, तेजी से। समुद्रम् = समुद्र की ओर। अव = नीचे। जग्मुः = जाने लगा।

अनुवाद— (इन्द्र ने) पर्वत पर आश्रय लेने वाले अहि (मेघ) को मारा, त्वष्टा (विश्वकर्मा, परमात्मा) ने इसके (इन्द्र) लिए गरजने वाले वज्र को बनाया (निर्माण किया), रँभाती हुई (बछड़े की तरफ तेजी से जाने वाली) गायों के समान बहता हुआ जल तेजी से नीचे समुद्र की ओर जाने लगा।

**व्याकरण—**

१. शिश्रियाणम् – श्रि + लिट् के अर्थ में कानच्, इयङ् आदेश तथा न को ण होकर = शिश्रियाण।

२. स्वर्यम् – सु + √ऋ + ण्यत् = स्वर्यम्। अथवा √स्वृ (शब्दोपनापयोः) + ण्यत्।

३. ततक्ष – √तक्ष् (गढ़ना, बनाना), लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. वाश्राः – √वाशृ (शब्दे) धातु से रक् प्रत्यय।

५. स्यन्दमानाः – √स्यन्द् (बहना) + शानच्।

६. जग्मुः – √गम् (जाना), लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष—**

१. 'तक्ष' धातु का अर्थ होता है किसी वस्तु को छीलकर गढ़कर बनाना। इसी से तक्षन् शब्द बना है जिसका अर्थ है– बढ़ई।

२. मेघ पर्वतों पर पहुँचते हैं तथा वहाँ बरसते हैं। यहाँ से जल नदियों में बहते हुए तेजी से समुद्र में पहुँचते हैं।

३. विश्व की रचना करने वाले परमात्मा को त्वष्टा कहा गया है।

४. वर्यम्' पद का अर्थ सायण ने दो प्रकार से किया है। सु + ऋ + ण्यत्। इस प्रकार 'ऋ गतौ' धातु से व्युत्पत्ति करने पर इसका अर्थ होगा– उत्तम गतिशील। अथवा स्वृ + ण्यत्। स्वृ शब्दोपनापयोः से इसका अर्थ होगा— गरजने वाला अथवा शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने वाला।

**वृषायमाणोऽवृणीत सोमं**
**त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।**
**आ सायकं मघवादत्त वज्र-**
**महन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥**

पदपाठ— वृषऽयमाणः। अवृणीत। सोमम्। त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्।

**सुतस्यं ॥ आ । सायकम् । मघऽवा । अदत्त । वज्रम् । अहन् । एनम् । प्रथमऽजाम् । अहीनाम् ॥**

**सा० भा०—** वृषायमाणः वृष इवाचरन् सोमम् अवृणीत वृतवान् । त्रिकद्रुकेषु ज्योतिः गौः आयुः इत्येतन्नामकाः त्रयो यागाः त्रिकद्रुकाः उच्यन्ते । तेषु सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्यांशम् अपिवत् पीतवान् । माधवा धनवान् इन्द्रः सायकं बन्धकं वज्रम् आ अदत्त स्वीकृतवान् । तेन च वज्रेण अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघं अहन् हतवान् ॥ वृषायमाणः । वृष इवाचरन् । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा०सू० ३.१.११) इति क्यङ् । 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः । अदुपदेशात् धातोः अन्तोदात्तत्वे क्यङन्तात् धातोः अन्तोदात्तत्वम् । सायकम् । 'षिञ् बन्धने' । सिनोतीति सायकः । ण्वुल् । लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । प्रथमजाम् । प्रथमं जायते इति प्रथमजाः । 'जनसनखनक्रमगमो विट्' । 'विड्वनोः' इति आत्वम् ॥

**अन्वय—** वृषायमाणः सोमम् अवृणीत । त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत् । मघवा सायकं वज्रम् आ अदत्त, अहीनां प्रथमजाम् एनम् अहन् ।

**पदार्थ—** वृषायमाणः = शक्तिशाली साँड़ के समान आचरण करते हुए । सोमम् = सोम को । अवृणीत = वरण किया, चुना । त्रिकद्रुकेषु = (ज्योतिः गौ और आयु नामक तीन यज्ञों में । सुतस्य = पीसे हुए का, अभिषव किये गये का । अपिबत् = पान किया, पीया । मघवा = धनवान्, उदार, दानी । सायकम् = बाँधने वाले, शस्त्र । वज्रम् = वज्र को । आ अदत्त = धारण किया, ग्रहण किया । अहीनाम् = राक्षसों में, बादलों में । प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न । एनम् = इसको (मेघ को) । अहन् = मारा ।

**अनुवाद—** शक्तिशाली साँड़ के समान आचरण करते हुए (इन्द्र) ने (अपने आहार के लिए) सोम को (अपना प्रिय पान) वरण कया (चुना), उसने (ज्योति गौ और आयु नामक) तीन यागों में पीसे हुए (अभिषव किये गये सोम) का पान किया । उदार (इन्द्र) ने शस्त्र तथा वज्र को ग्रहण किया; (और उससे) राक्षसों में प्रथम उत्पन्न इसको (मेघ को) मारा ।

**व्याकरण—**

१. वृषायमाणः – वृष इव आचरन् क्यङ् प्रत्यय । वृष + य, दीर्घ + शानच् प्रत्यय, मुक् आगम एवं न को ण आदेश वृषायमाण ।

२. सायकम् – √षिञ् (बन्धने) + ण्वुल्, अकं आदेश इ को ऐ वृद्धि एवं ऐ को आय् = सायकम् ।

३. मघवा – मघ + वतुप् = मघवत् ।

विशेष—

१. त्रिकद्रुक का अर्थ सायण ने किया है– ज्योतिः, गौ और आयुः नाम के तीन यज्ञ। इन यज्ञों में सोम का अभिषव किया गया, जिसका इन्द्र ने पान किया। ग्रासमान और पीटर्सन इस शब्द का अर्थ तीन प्याले करते हैं। इन्द्र ने तीन प्यालों में सोम पीया। गोल्डर के अनुसार त्रिकद्रुक का किसी स्थान विशेष का नाम है। पीटर्सन के अनुसार 'सायक' पद का अर्थ है फैंक कर प्रहार करने वाला अस्त्र।

यदि॒न्द्राह॑न्प्रथम॒जामही॑ना॒-
मान्मा॒यिना॒ममि॑ना॒ः प्रोत मा॒याः ।
आत्सूर्यं॑ ज॒नय॒न्द्यामु॒षासं॑
ता॒दीत्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से ॥४॥

**पदपाठ**— यत्। इ॒न्द्र॒। अह॑न्। प्र॒थ॒म॒ऽजाम्। अही॑नाम्। आत्। मा॒यिना॑म्। अमि॑नाः। प्र। उ॒त। मा॒याः ॥ आत्। सूर्य॑म्। ज॒नय॑न्। द्याम्। उ॒षस॑म्। ता॒दीत्ना॑। शत्रु॑म्। न। किल॑। वि॒वि॒त्से॒ ॥

**सा० भा०**— उत अपि च हे इन्द्र यत् यदा अहीनां मेघानां मध्ये प्रथमजां प्रथमोत्पन्नं मेघम् अहन् हतवानसि आत् तदनन्तरं मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्बन्धिनीः मायाः प्र अमिनाः प्रकर्षेण नाशितवानसि। अनन्तरं सूर्यम् उषसम् उषकालं द्याम् आकाशं च जनयन् उत्पादयन् आवरकमेघनिवारणेन प्रकाशयन् वर्तसे। तादीत्ना तदानीम् आवश्यकान्धकाराभावात् शत्रुं घातकं वैरिणं न विवित्से किल त्वं न लब्धवान् खलु॥ अहन्। हन्तेः लङि 'हल्ङ्याब्भ्यः०' इति सिलोपः। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। मायिनाम्। मायाशब्दस्य व्रीह्यादिषु पाठात् 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (पा०सू० ५.२.११६) इति मत्वर्थीय इनिः। अमिनाः। 'मीञ् हिंसायाम्'। क्रैयादिकः। मीनातेर्निगमे' (पा०सू० ७.३.८१) इति ह्रस्वत्वम्। तादीत्ना। तदानीम् इत्यस्य पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्ययः। किल। 'निपातस्य०' इति दीर्घत्वम्। विवित्से। 'विदॢ लाभे'। क्रादिनियमात् प्राप्तः इट् व्यत्ययेन न भवति ॥

**अन्वय**— उत इन्द्र! यत् अहीनां प्रथमजाम् अहन्, आत् मायिनां मायाः प्र अमिनाः, आत् सूर्यं उषसं द्यां जनयन् तादीत्ना किल शत्रुं न विवित्से।

**पदार्थ**— उत = और भी। इन्द्र = हे इन्द्र। यत् = तब, जिस समय।

अहीनाम् = राक्षसों में, मेघों में। प्रथमजाम् = सर्वप्रथम उत्पन्न को, पहले उत्पन्न हुए को। अहन् = मारा। आत् = तदनन्तर। मायिनाम् = कपटी असुरों के, धूर्तों की, मायावियों की। मायाः = धूर्तता को, माया को, कपटों को। प्र = विशेष रूप से। अमिनाः = नष्ट किया। सूर्यम् = सूर्य को। उषसम् = उषा को। द्याम् = द्युलोक को आकाश को। जनयन् = उत्पन्न करते हुए। तादीत्ना = तब, उस समय। किल = निश्चित अर्थ का वाचक एक निपात। शत्रुम् = शत्रु को। न = नहीं। विवित्से = पाया।

**अनुवाद**— और भी, हे इन्द्र! जिस समय (तुमने) राक्षसों (मेघों) में प्रथम उत्पन्न (राक्षस या मेघ) को मारा, तदनन्तर कपटी असुरों के कपटों को अच्छी प्रकार से नष्ट कर दिया, तदनन्तर सूर्य को, उषा को और आकाश को उत्पन्न किया (अर्थात् आवृत करने वाले मेघ का निवारण करके इनको प्रकट किया) तब (तुमने) निश्चित रूप से किसी शत्रु को नहीं पाया।

**व्याकरण**—

१. मायिनाम् – माया शब्द से वतुप् के अर्थ में इनि प्रत्यय = मायिन् षष्ठी विभक्ति बहुवचन।
२. अहन् – √हन् (मारना), लिट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
३. अमिनाः – √मी (नष्ट करना), लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।
४. जनयन् – √जन् (उत्पन्न करना) + शतृ, प्रथमा एकवचन।
५. विवित्से – √विद् (पाना), आत्मनेपद लिट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**विशेष**—

१. पीटर्सन के अनुसार 'तादीत्ना' पद तदीत्न से बना है। यहाँ वैदिक दीर्घ हुआ है। उसकी व्याख्या के अनुसार 'किल उषसम्' का 'किला उषासम्' दीर्घ हुआ।

> **अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंस-**
> **मिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।**
> **स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा-**
> **हिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥५॥**

**पदपाठ**— अहन्। वृत्रम्। वृत्रऽतरम्। विऽअंसम्। इन्द्रः। वज्रेण।

म॒ह॒ता । व॒धेनं ॥ स्कन्धांसिऽइव । कुलिशेन । विऽवृक्णा । अहिः । श॒य॒ते॒ । उ॒प॒ऽपृक् । पृ॒थि॒व्याः ॥

**सा० भा०**— अयम् इन्द्रः वज्रेण सम्पादितो यो महान् वज्रः तेन वज्रेण वृत्रतरम् अतिशयेन लोकानाम् आवरतम् अन्धकाररूपम् । यद्वा । वृत्रैः आवरणैः सर्वान् शत्रून् तरति तं वृत्रम् एतन्नामकमसुरं व्यंसं विगतासं छिन्नबाहुः यथा भवति तथा अहन् हतवान् । अंसच्छेदे दृष्टान्तः । कुलिशेन कुठारेण विवृक्णा विशेषतश्छिन्नानि स्कन्धांसीव । यथा वृक्षस्कन्धाश्छिन्ना भवन्ति तद्वत् । तथा सति अहिः वृत्रः पृथिव्याः उपरि उपपृक् सामीप्येन संपृक्तः शयते शयनं करोति छिन्नकाष्ठवत् भूमौ पततीत्यर्थः ॥ वृत्रतरम् । 'वृतु वर्तने' 'स्फायितश्चि०' इत्यादिना भावे रक्प्रत्ययान्तो वृत्रशब्दः । वृत्रेण आवरणेन सर्वं तरतीति वृत्रतरः । तरतेः पचाद्यच् । 'परादिश्छन्छसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । तरपि तु व्यत्ययेन व्यंसम् । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'उदात्तस्यरियोर्यणः०' इति स्वरितत्वम् । वधेन । 'हनश्च वधः' इति भावे अप; तत्संनियोगेन धातोः वधादेशः । स च अन्तोदात्तः । अन्त्यस्य अकारस्य 'अतो लोपः' इति लोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्रत्ययस्योदात्तत्वम् । विवृक्णा । 'ओव्रश्चू छेदने' । कर्मणि निष्ठा । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । 'ओदितश्च' (पा०सू० ८.२.४५) इति परत्वात् निष्ठानत्वम् । ततो 'व्रश्चभ्रस्ज०' इति षत्वे प्राप्ते 'निष्ठादेशः षत्व-स्वरप्रत्ययेड्-विधिषु सिद्धौ वक्तव्यः' (पा०सू० ८.२.६.७) इति नत्वस्य सिद्धत्वेन झल्परत्वाभावात् षत्वं न भवति । कुत्वे तु कर्तव्ये तदसिद्धमेव (पा०सू० ८.२.१) इति 'चोः कुः' इति कुत्वम् । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । शयते । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः । पृथिव्याः । 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

**अन्वय**— इन्द्रः महता वधेन वज्रेण वृत्रं अहन् वृत्रतरं व्यंस (अहन्) । कुलिशेन स्कन्धांसि विवृक्णा इव अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते ।

**पदार्थ**— महता = महान् । वधेन = शस्त्र से । वज्रेण = वज्र से । वृत्रम् = वृत्र को । अहन् = मारा । वृत्रतरम् = वृत्र से बड़ा, अथवा लोकों को अत्यधिक आवृत करने वाले अन्धकार रूप । व्यंसम् = कन्धों से रहित,व्यंस नामक असुर को । कुलिशेन = कुठार से । स्कन्धांसि = वृक्ष की शाखाएँ । विवृक्णा = काटकर गिराये गए । इव = तरह, जिस प्रकार । अहिः = मेघ को, राक्षस के रूप में मानवीकृत नाम । पृथिव्याः = पृथिवी के । उपपृक् = समीप, गोद में । शयते = सो रहा है ।

**अनुवाद**— इन्द्र ने (अपने) महान् शस्त्र वज्र से वृत्र को मारा, वृत्र से बड़े शत्रु व्यंस को (मारा)। कुठार से काटकर गिराये गए वृक्ष की शाखाओं की तरह (वह) राक्षस पृथिवी की गोद में सो रहा है।

**व्याकरण**—

१. वृत्रतरम् – अतिशयते वृत्रम् = वृत्रतरम्। तरप् प्रत्यय। ***अथवा*** वृत्रैः तरति इति वृत्रतरम् = वृत्र + तॄ + अच् = वृत्रतर।

२. व्यंसम् – विगतौ अंसौ यस्य तम् (बहुव्रीहि)।

३. वधेन – वधः येन तेन। हन् + अप्, हन् को वध आदेश।

४. विवृक्णा – वि + √व्रश्च् + क्त प्रत्यय = निष्ठा के त को न आदेश, च् को क् आदेश एवं श का लोप होकर विवृक्ण। नपुंसक लिङ्ग प्रथमा विभक्ति बहुवचन वैदिकरूप।

**विशेष**—

१. शयते – √शी (सोना), आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. उपपृक् – √उप + पृच् + क्विप।

**अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे**
**महावीरं तुविबाधमृजीषम्।**
**नातारीदस्य समृतिं वधानां**
**सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥६॥**

**पदपाठ**— अयोद्धाऽइव। दुःऽमदः। आ। हि। जुह्वे। महाऽवीरम्। तुविऽबाधम्। ऋजीषम्॥ न। अतारीत्। अस्य। सम्ऽऋतिम्। वधानाम्। सम्। रुजानाः। पिपिषे। इन्द्रऽशत्रुः॥

**सा॰ भा॰**— दुर्मदः दुष्टमदोपेतो दर्पयुक्तो वृत्रः अयोद्धेव योद्धरहित इव इन्द्रम् आ जुह्वे हि आहूतवान् खलु। कीदृशमिन्द्रम्। महावीरं गुणैः महान् भूत्वा शौर्योपेतं तुविबाधं बहुनां बाधकं ऋजीषं शत्रूणामपार्जकम्। अस्य ईदृशस्य इन्द्रस्य संबन्धिनी ये शत्रुवधाः सन्ति तेषां वधानां समृतिं संगमं नातारीत् पूर्वोक्तो दुर्मदः तरीतुं नाशक्नोत्। इन्द्रशत्रुः इन्द्रः शत्रुर्घातको यस्य वृत्रस्य तादृशो वृत्रः इन्द्रेण हतो नदीषु पतितः सन् रुजानाः नदीः सं पिपिषे सम्यक् पिष्टवान्। सर्वान् लोकानावृण्वतो वृत्रदेहस्य पातेन

नदीनां कूलानि तत्रत्यपाषाणादिकं च चूर्णीभूतमित्यर्थः ॥ अयोद्धा इव । न विद्यते योद्धास्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । समासान्तविधेरनित्वात् । (परिभा० ८४) नद्यृतश्च' (पा०सू० ५.४.१५३) इति कवभावः । जुह्वे । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' । 'अभ्यस्तस्य च' (पा०सू० ६.१.३३) इति संप्रसारणम् । उवङादेशाभावश्छान्दसः । यद्वा । 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' (पा०सू० ६.४.८७) इति यणादेशः । अत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा (परिभा० १०५) लक्ष्यानुरोधान्नाश्रीयते । इतरथा हि आजुह्वानः इत्यादिषु यणादेशो न स्यात् । न चैवं सति 'सातये हुवे वाम्' (ऋ०सं० ६.६०.१३) इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यं अनेकाच्त्वाभावात् । अनेकाच इति हि तत्रानुवर्तते । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । 'हि च' इति निघातप्रतिषेधः । महावीरम् । महांश्चासौ वीरश्च महावीरः । 'आन्महतः०' (पा०सू० ६.३.४६) इति आत्वम् । तुविबाधम् । 'बाधृ विलोडने' । तुवीन् प्रभूतान् बाधते इति तुविबाधः । पचाद्यच् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । समृतिम् । 'तादौ च०' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । रुजानाः । 'रुजो भङ्गे' । रुजन्ति कूलानीति रुजाना नद्यः । 'रुजानां नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि' (निरु० ६.४) इति यास्कः । व्यत्ययेन शानच् । 'तुदादिभ्यः शः' । नुमभावश्छान्दसः । अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वर । पिपिषे । 'पिष्लृ संचूर्णने । व्यत्ययेन लिट् । इन्द्रशत्रुः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

**अन्वय**— दुर्मदः महावीरं तुविबाधम् ऋजीषम् अयोद्धा इव हि आ जुह्वे । अस्य बधानां समृतिं न अतारीत् । इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे ।

**पदार्थ**— दुर्मदः = मिथ्या अभिमान करने वाला, दर्पयुक्त । महावीरम् = महान् शक्तिशाली को, महान् गुणों से युक्त वीर को । तुविबाधम् = बहुतों का अभिभूत करने वाले । ऋजीषम् = शत्रुओं को भगाने वाले, अन्तिम अवशिष्ट बूँद तक सोमपान करने वाले । अयोद्धा इव = युद्ध न करने वाले (व्यक्ति) के समान, असमर्थ योद्धा के समान । आ जुह्वे = ललकारा । अस्य = उस इन्द्र के । बधनाम् = शस्त्रों के प्रहार को । समृतिम् = संगति को, संगम को । न = नहीं । अतारीत् = पार पा सका । इन्द्रशत्रुः = इन्द्र है जिसको सताने वाला अर्थात् वृत्र ने, इन्द्र द्वारा मारे गये व्यक्ति ने । रुजानाः = नदियों की । सं पिपिषे = पीस डाला, कुचल डाला ।

**अनुवाद**— मिथ्या अभिमान करने वाले वृत्र ने महान् गुणों से युक्त, वीर, बहुतों को मारने वाले और शत्रुओं को भगाने वाले (इन्द्र) को युद्ध न करने वाले (व्यक्ति) के समान निश्चय से ललकारा । (परन्तु वह) उस (इन्द्र) के शस्त्रों के संगति को न पार पा सका और इन्द्र द्वारा मारे गये (वृत्र ने) नदियों को भी पीस डाला ।

**व्याकरण—**

१. अयोद्धा – न + योद्धा (अयोद्धा), नञ्तत्पुरुषसमास। **अथवा** न विद्यते योद्धा अस्य सः अयोद्धा (बहुव्रीहि समास)।

२. दुर्मदः – दुष्टः मदः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)।

३. तुविबाधम् – तुवीन् बाधते इति तम्। तुवि + बाध् + अच् = तुविबाध।

४. समृतिम् – सम् +√ऋ + क्तिन्।

५. रुजानाः – √रुज् + शानच् = रुजान। रुजानि कूलानि इति रुजानाः नद्यः।

६. पिपिषे – √पिष् (पीसना), लिट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

७. अतारीत् – √तॄ (पार करना), लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

८. इन्द्रशत्रुः – इन्द्रः शत्रुः यस्य सः (बहुव्रीहि समास)।

**विशेष—**

१. ऋजीषम् – पीटर्सन के अनुसार तलछल तक सोमपान करने वाले।

**अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्र-**
**मास्य वज्रमधि सानौ जघान।**
**वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूष-**
**न्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥७॥**

**पदपाठ—** अपात्। अहस्तः। अपृतन्यत्। इन्द्रम्। आ। अस्य। वज्रम्। अधि। सानौ। जघान॥ वृष्णः। वध्रिः। प्रतिऽमानम्। बुभूषन्। पुरुऽत्रा। वृत्रः। अशयत्। विऽअस्तः॥

**सा०भा०—** अपात् वज्रेण च्छिन्नत्वात् पादरहितः अहस्तः हस्तरहितः वृत्रः इन्द्रम् उद्दिश्य अपृतन्यत् पृतनां युद्धम् ऐच्छत्। द्वेषाधिक्येन बहुधा विद्धोऽपि युद्धं न परित्यक्तवानित्यर्थः। अस्य हस्तपादहीनस्य वृत्रस्य सानौ पर्वतसानुसदृशे प्रौढस्कन्धे अधि उपरि वज्रम् आ जघान इन्द्रः आभिमुख्येन प्रक्षिप्तवान्। अशक्तस्यापि युद्धेच्छायां दृष्टान्तः। वध्रिः छिन्नमुष्कः पुरुषः वृष्णः रेतःसेचनसमर्थस्य पुरुषान्तरस्य प्रतिमानं सादृश्यं बुभूषन् प्राप्तुमिच्छन् यथा न शक्नोति तद्वदयमिति शेषः। सः वृत्रः पुरुत्रा बहुष्ववयवेषु व्यस्तः विविधं क्षिप्तः ताडितः सन् अशयत् भूमौ पतितवान्॥ अपात्। बहुव्रीहौ पादशब्दस्य अन्त्यलोपश्छान्दसः। अहस्तः। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्यु-

त्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अपृतन्यत् । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'कव्यध्वरपृतनस्य०' इति अन्त्यलोपः । बुभूषन् । 'संनि ग्रहगुहोश्च' (पा०सू० ७.२.१२) इति इट्प्रतिषेधः । पुरुत्रा । 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा०सू० ५.४.५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । अशयत् । व्यत्ययेन परस्मैपदम् । 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुगभावः । व्यस्तः । 'असु क्षेपणे' इत्यस्मात् कर्मणि क्तः । 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । संहितायाम् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम् ॥

**अन्वय**— अपात् अहस्तः इन्द्रम् अपृतन्यत् । अस्य सानौ अधि वज्रम् आ जघान । वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन् वध्रिः वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत् ।

**पदार्थ**— अपात् = पैरों से रहित । अहस्तः = हाथों से रहित । इन्द्रम् = इन्द्र के प्रति । अपृतन्यत् = युद्ध की इच्छा की । अस्य = इस वृत्र के । सानौ = पर्वत शिखर के समान कन्धे पर । अधि = ऊपर । वज्रम् = वज्र को । जघान = प्रहार किया । वृष्णः = साँड, शक्तिशाली । प्रतिमानम् = सादृश्य को, समानता को । बुभूषन् = प्राप्त करना चाहता हुआ, होने की इच्छा करता हुआ । वध्रिः = वधिया किया हुआ, नपुंसक । वृत्रः = वृत्र । पुरुत्रा = अनेक अङ्गों में, कई स्थानों पर । व्यस्तः = क्षतविक्षत होकर, विखरे अंग वाला होकर । अशयत् = गिर गया, सो गया, पड़ गया ।

**अनुवाद**— (वज्र से) पैरों तथा हाथों से रहित हो जाने पर भी वृत्र ने इन्द्र के प्रति युद्ध करने की इच्छा की । (इन्द्र ने) इस वृत्र के पर्वत शिखर के समान (मजबूत) कन्धे पर सामने आकर प्रहार किया । साँड के सादृश्य को प्राप्त करना चाहते हुए बधिया बैल के समान वह वृत्र अनेक अङ्गों में क्षत-विक्षत होकर भूमि पर सो गया (गिर गया) ।

**व्याकरण**—

१. अपात् – न पादौ यस्य सः (बहुव्रीहि), पाद के अन्तिम वर्ण का छान्दस् लोप ।

२. अहस्तः – न हस्तौ यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

३. अपृतन्यत् – पृतना + क्यच् = पृतन्य = √पृतन्य, युद्ध की इच्छा करना, लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. प्रतिमानम् – प्रति + √मा + (अन) = प्रतिमान ।

५. बुभूषन् – भवितुम् इच्छति अर्थ में सन् प्रत्यय = बुभूष + सन् ।

६. पुरुत्रा – √पुरु (बहुत), अर्थ में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में त्रा प्रत्यय ।

७. अशयत् – √शी (सोना), लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

८. जघान – √हन् (मारना), लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

१. पीटर्सन ने अपृतन्यत् का अर्थ किया है– युद्ध। उसके अनुसार सानौ का अर्थ है On his back अर्थात् उसकी पीठ पर।

२. इस मन्त्र में वृत्र की उपमा बधिया बैल से तथा इन्द्र की उपमा साँड से दी गयी है जिस प्रकार बधिया बैल साँड से लड़कर पराजित होता है, उसी प्रकार वृत्र इन्द्र से लड़कर पराजित हुआ।

**नदं न भिन्नममुया शयानं**
**मनो रुहाणा अति यन्त्यापः।**
**याश्चिद्वृत्रो महिना पर्यतिष्ठ-**
**त्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥८॥**

**पदपाठ—** नदम्। न। भिन्नम्। अमुया। शयानम्। मनः। रुहाणाः। अति। यन्ति। आपः॥ याः। चित्। वृत्रः। महिना। परिऽअतिष्ठत्। तासाम्। अहिः। पत्सुतःऽशीः। बभूव॥

**सा० भा०—** अमुया अमुष्यां पृथिव्यां शयानं पतितं मृतं वृत्रम् आपः जलानि यन्ति अतिक्रम्य गच्छन्ति। तत्र दृष्टान्तः। भिन्नं बहुधा भिन्नकूलं नदं न सिन्धुमिव। यथा वृष्टिकाले प्रभूता आपो नद्याः कूलं भित्त्वा अतिक्रम्य गच्छन्ति तद्वत्। कीदृश्य आपः। मनो रुहाणाः नृणां चित्तमारोहन्त्यः। पुरा वृत्रे जीवति सति तेन निरुद्धा मेघस्थिता आपो भूमौ वृष्टा न भवन्ति तदानीं नृणां मनः खिद्यते। मृते तु वृत्रे विरोधरहिता आपो वृत्रशरीरमुल्लङ्घ्य प्रवहन्ति। तदा वृष्टिलाभेन मनुष्यास्तुष्यन्तीत्यर्थः। तदेतदुत्तरार्धेन स्पष्टीक्रियते। वृत्रः जीवनदशायां महिना स्वकीयेन महिम्ना याश्चित् या एव मेघगताः अपः पर्यतिष्ठत् परिवृत्य स्थितवान्, अहिः वृत्रो मेघः तासाम् अपां पत्सुतःशीः पादस्याधःशयानः बभूव। यद्यप्यपां पादो नास्ति तथाप्यद्भिर्वृत्रस्य अभिलङ्घितत्वात् पादस्याधः शयनमुपपद्यते॥ भिन्नम्। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' (पा०सू० ८.२.४२) इति नत्वम्। अमुया। 'सुपां सुलुक्' इति सप्तम्या याजादेशः। शयानम्। 'शीङः सार्वधातुके गुणः' (पा०सू० ७.४.४१)। धातोर्ङित्त्वात्। लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातु-

स्वरः । रुहाणाः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे' । व्यत्ययेन शानच् । कर्तरि शपि प्राप्ते व्यत्ययेन शः । 'अनित्यमागमशासनम्' इति वचनात् मुगभावः । अदुपदेशात् लसार्व-धातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेन धातुस्वरः । महिना । पूजायाम्' 'इन्सर्व-धातुभ्यः' इति इन्प्रत्ययः । व्यत्ययेन विभक्तेरुदात्तत्वम् । यद्वा । महिना महिम्ना । महच्छब्दस्य पृथ्वादिषु पाठात् 'तस्य भावः०' इत्येतस्मिन्नर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा०सू० ५.१.१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः । 'टेः' इति टिलोपः । 'चितः' इत्यन्तोदा-त्तत्वम् । तृतीयैकवचने अल्लोपे सति उदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्योदात्तत्वम् । मकारलोप-श्छान्दसः । पत्सुतःशीः । पादस्याधः शेते इति पत्सुतःशीः । 'क्विप् च' इति क्विप् । तसि 'पद्दन्०' इत्यादिना पादाशब्दस्य पदादेशः । 'शस्प्रभृतिषु' इति प्रभृतिशब्दः प्रकार-वचनः इति शलोदोषणी इत्यत्रापि दोषन्नादेशो भवति इत्युक्तत्वात् (का० ६.१.६३) मध्ये सु इति शब्दोपजनश्छान्दसः । यद्वा । पादशब्दस्य सप्तमी बहुवचने पदादेशे कृते 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा०सू० ५.३.१४) इति सप्तम्यर्थे तसिल् । लुगभावश्छान्दसः ॥

**अन्वय**— मनः रुहाणाः आपः भिन्नं नदं न अमुया शयानं अति यन्ति । वृत्रः महिना याश्चित् पर्यतिष्ठत्, अहिः तासां पत्सुतःशीः बभूव ।

**पदार्थ**— मनः = मन को । रुहाणाः = प्रसन्न करने वाले, आकर्षित करते हुए । आपः = जल । भिन्नम् = कई भागों में कटे हुए, (टूटे) किनारों वाली । नदम् = नदी (के) । न = समान । अमुया = इस (पृथिवी) पर । शयानम् = सोये हुए, मृत पड़े हुए (वृत्र) को । अति यन्ति = अतिक्रान्त करके जाते हैं, पार करके बह रहा है । वृत्रः = वृत्र । महिना = (अपनी) महिमा से, पराक्रम से । याश्चित् = जो । पर्यतिष्ठत् = राके हुए था, चारों तरफ से घेरे हुए था । अहिः = मेघ, राक्षस । तासाम् = उनका, उन्हीं के । पत्सुतःशीः = पैरों के नीचे पड़ा हुआ । बभूव = हो गया ।

**अनुवाद**— मन को प्रसन्न (आकर्षित) करने वाले जल कई भागों में कटे हुए (टूटे) किनारों वाली नदी के समान इस (पृथिवी) पर सोये हुए (मृत पड़े हुए) (वृत्र) को, अतिक्रान्त करके (पार करके) वह रहा है । वृत्र (अपनी) महिमा (पराक्रम) से जिस (जल) को चारों ओर से घेरे हुए था, वही राक्षस उन्हीं (जलों) को पैरों के नीचे पड़ा हुआ (सोया हुआ) हो गया ।

**व्याकरण**—

१. भिन्नम् – √भिद् + क्त । निष्ठा के त को न आदेश ।

२. अमुया – अमुष्याम् अर्थ में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में याच् प्रत्यय = अमुया ।

३. रुहाणाः – √रुह् + शानच् ।

४. महिना – √मह् (पूजा करना) + इन् प्रत्यय = महिन्, तृतीय विभक्ति एकवचन महिम्ना का वैदिकरूप।

५. पत्सुतःशीः – पादेषु अर्थ में पाद को पद् आदेश = पत्सु। सप्तमी विभक्ति में तसिल् प्रत्यय तथा छान्दस् विभक्ति के लोप का अभाव = पत्सुतः। पत्सुतः शेते अर्थ में क्विप् प्रत्यय = पत्सुतःशीउ।

६. बभूव – √भू लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

७. पर्यतिष्ठत् – परि + √स्था + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

१. नदम्— ओल्डेनबर्ग के अनुसार 'नद्' का अर्थ गरजने वाला साँड अथवा हिन-हिनाने वाला अश्व। वह वृत्र क्षत-विक्षत हुए बैल के समान पड़ा था। पिशेल के अनुसार 'नद्' शब्द 'नड' का रूप है, जिसका अर्थ है 'शिश्न'।

२. मनः रुहाणाः— की व्याख्या अनेक प्रकार से अनेक व्याख्याताओं ने किया है— १. सायण— मनुष्यों के मन को सन्तुष्ट करने वाले। २. रॉथ— मनुष्यों के मन पर आधिपत्य पाने वाले। ३. गेल्डनर— हृदय को हरण करने वाले। ४. पीटर्सन— मनुष्य के लिए उपयोगी।

**नीचावया अभवद्वृत्रपुत्रे-**
**न्द्रो अस्या अव वधर्जभार।**
**उत्तरा सूरधरः पुत्र आसी-**
**द्दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥९॥**

**पदपाठ**— नीचाऽवयाः। अभवत्। वृत्रऽपुत्रा। इन्द्रः। अस्याः। अव। वधः। जभार॥ उत्ऽतरा। सूः। अधरः। पुत्रः। आसीत्। दानुः। शये। सहऽवत्सा। न। धेनुः॥

**सा० भा०**— वृत्रपुत्रा वृत्रः पुत्रो यस्या मातुः सेयं माता वृत्रपुत्रा नीचावयाः न्यग्भावं प्राप्ता हता अभवत् पुत्रं प्रहाराद्रक्षितुं पुत्रदेहस्योपरि तिरश्ची पतितवतीत्यर्थः। तदानीम् अयम् इन्द्रः अस्याः मातुः अव अधोभागे वृत्रस्योपरि वधः हननसाधनमायुधं जभार प्रहृतवान्। तदानीं सूः माता उत्तरा उपरिस्थिता आसीत्। पुत्रः तु अधोभाग-स्थितः आसीत्। सा च दानुः दानवी वृत्रमाता शये मृता शयनं कृतवती। तत्र दृष्टान्तः। धेनुः लोकप्रसिद्धा गौः सहवत्सा न यथा वत्ससहिता शयनं करोति तद्वत्॥ नीचा-

वयाः । वेति खादतीति वयो बाहुः औणादिकः असिप्रत्ययः । न्यञ्चौ वयसौ यस्याः सा नीचावयाः । न्यच्शब्दादुत्तरस्या विभक्तेः 'सुपां सुपो भवन्ति' इति तृतीयैकवचनादेशः । 'अचः' इति अकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम् । 'अश्वैश्छस्यसर्वनामस्थनम्' (पा०सू० ६.१.१७०) इति तस्योदात्तत्वम् । समासे लुगभावश्छान्दसः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यद्वा । नीचौ निकृष्टौ वयसौ यस्याः सा । पूर्वपदस्य दीर्घश्छान्दसः । वधः । हन्यतेऽनेनेति वधः । असुनि हन्तेर्वधादेशः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । जभार । 'हृग्रहोर्भः' इति भत्वम् । सूः । 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' । सूते गर्भं विमुञ्चतीति सूः माता । 'क्विप् च' इति क्विप् । दानुः । 'दो अवखण्डने' । 'दाभाभ्यां नुः' (उ०सू० ३.३१२) । शये । लटि 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा०सू० ७.१.४१) इति तलोपः । 'शीङः सार्वधातुके०' इति गुणे अयादेशः ॥

**अन्वय**— वृत्रपुत्रा नीचावया अभवत् । इन्द्रः अस्या अव बधः जभार । सूः उत्तरा पुत्र अधर आसीत् । दानुः सहवत्सा धेनुः न शये ।

**पदार्थ**— वृत्रपुत्रा = वृत्र है पुत्र जिसका; वृत्र की माता । नीचावया = हाथों को नीचे किये हुए, लम्बी भुजा वाली । अभवत् = हो गयी, हुई । इन्द्रः = इन्द्र ने । अस्याः = इसके । अव = नीचे । वधः = आयुध, शस्त्र । जभार = प्रहार किया । दानुः = दानवी । सूः = माता । उत्तरा = ऊपर । पुत्रः = पुत्र । सहवत्सा = बछड़े के साथ । धेनुः न = गौ के समान । अधरः = नीचे । आसीत् = था ।

**अनुवाद**— वृत्र की माता हाथों को नीचे किये हुए हो गयी । (अर्थात् पुत्र की रक्षा के लिए हाथों को नीचे फैला लिया) । तब इन्द्र ने इसके ऊपर आयुध का प्रहार किया । उस समय दानवी (वृत्र की) माता ऊपर तथा पुत्र उसी प्रकार नीचे था । जिस प्रकार (मृत) बछड़े के साथ गौ लेटी है ।

**व्याकरण**—

१. नीचावयाः – वेति खादति अर्थ में √'वे' + असि प्रत्यय । √वे + अस् – वयस् । नीचौ वयसौ यस्याः सा नीचवयाः (बहुव्रीहि) छान्दस् दीर्घ ।
२. वृत्रपुत्रा – वृत्रः पुत्रः यस्याः सा (बहुव्रीहि समास) ।
३. वधः – हन्यते अनेन इति वधः । हन् को वध् आदेश ।
४. सूः – षूङ् प्राणिगर्भविमोचने अर्थ में सू + क्विप् = सू ।
५. दानुः – √दो (अवखण्डने) + नु प्रत्यय = दानु ।
६. जभार – √भृ, लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

७. आसीत् – √अस लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

९. शये – √शी आत्मनेपद लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां
काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो
दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥१०॥

**पदपाठ—** अतिष्ठन्तीनाम्। अनिऽवेशनानाम्। काष्ठानाम्। मध्ये। निऽहितम्। शरीरम्॥ वृत्रस्य। निण्यम्। वि। चरन्ति। आपः। दीर्घम्। तमः। आ। अशयत्। इन्द्रऽशत्रुः॥

**सा०भा०—** वृत्रस्य शरीरम् आपः वि चरन्ति विशेषण उपरि आक्रम्य प्रवहन्ति। कीदृशं शरीरम्। निण्यं निर्नामधेयम्। अप्सु मग्नत्वेन गूढत्वात् तदीयं नाम न केनापि ज्ञायते। एतदेव स्पष्टीक्रियते। काष्ठानाम् अपां मध्ये निक्षिप्तम्। कीदृशानां काष्ठानाम्। अतिष्ठन्तीनां स्थितिरहितानां अनिवेशन्नानाम् उपवेशनरहितानां प्रवहणस्वभावत्वात् एतासां मनुष्यवन्न क्वापि स्थितिः सम्भवति। इन्द्रशत्रुः वृत्रः जलमध्ये शरीरे प्रक्षिप्ते सति दीर्घ तमः दीर्घ निद्रात्मकं मरणं यथा भवति तथा आशयत् सर्वतः पतितवान्॥ अतिष्ठन्तीनाम्। अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अनिवेशनानाम्। निविशन्तेऽस्मिन्निति निवेशनं स्थानम्। 'करणाधिकरणयोश्च' इति अधिकरणे ल्युट्। तद्रहितानाम्। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। क्रान्त्वा स्थिताः काष्ठाः। पृषोदरादि। निहितम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। अत्र यास्कः– 'अतिष्ठन्तीनामनिविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये शरीरं मेघः। शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा। वृत्रस्य निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति दीर्घ द्राघतेस्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः। तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः' (निरु० २.१६) इति॥

**अन्वय—** अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं वृत्रस्य निण्यं शरीरम् आपः विचरन्ति। इन्द्रशत्रुः दीर्घं तम आ अशयत्।

**पदार्थ—** अतिष्ठन्तीनाम् = कभी न रुकने वाले। अनिवेशनानाम् = विश्राम के स्थान से रहित, कभी विश्राम न करने वाले। काष्ठानाम् = जलों के। मध्ये = बीच में। निहितम् = पड़ा हुआ। वृत्रस्य = वृत्र का। निण्यम् = नाम से रहित। शरीरम् =

शरीर को। आपः = जल। विचरन्ति = अतिक्रान्त करके बह रहे हैं, इधर-उधर बह रहा है। इन्द्रशत्रुः = इन्द्र से मारा गया (वृत्र)। दीर्घम् = अनन्त, घनघोर, बड़े। तमः = अन्धकार में। आ अशयत् = पड़ा है।

**अनुवाद**— कभी न रुकने वाले और विश्राम के स्थान से रहित (अविश्रान्त) जलों के बीच में पड़े हुए वृत्र के नाम-रहित शरीर को जल अतिक्रान्त करके बह रहे हैं। (इन्द्र से मारा गया) वह वृत्र अनन्त अन्धकार (मृत्यु) में पड़ा है।

**व्याकरण**—

१. अतिष्ठन्तीनाम् – √स्था + शतृ + ङीप् = तिष्ठन्ती, न + तिष्ठन्ती = अतिष्ठन्ती। षष्ठी विभक्ति बहुवचन।

२. अनिवेशनानाम् – नि + √विश् + ल्युट् (अन) = निवेशन, न निवेशन = अनिवेशन, षष्ठी बहुवचन।

३. निहितम् – नि + √धा + क्त = निहितम्।

४. काष्ठानाम् – क्रान्त्वा स्थिता अर्थ में क्रम + √स्था + क्विप् = काष्ठा।

**दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठ-**
**न्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।**
**अपां बिलमपिहितं यदासी-**
**द्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥११॥**

**पदपाठ**— दासऽपत्नीः। अहिऽगोपाः। अतिष्ठन्। निऽरुद्धाः। आपः। पणिनाऽइव। गावः। अपाम्। बिलम्। अपिऽहितम्। यत्। आसीत्। वृत्रम्। जघन्वान्। अप। तत्। ववार॥

**सा० भा०**— दासपत्नीः दासः विश्वोपक्षपणहेतुः वृत्रः पतिः स्वामी यासाम् अपां ताः दासपत्नीः। अत एव अहिगोपाः। अहिर्वृत्रो गोपा रक्षको यासां ताः। गोपनं नाम स्वच्छन्देन यथा न प्रवहन्ति तथा निरोधनम्। एतदेव स्पष्टीक्रियते। आपः निरुद्धाः अतिष्ठन् इति। तत्र दृष्टान्तः। पणिनेव गावः। पणिनामकोऽसुरो गा अपहृत्य बिले स्थापयित्वा बिलद्वारमाच्छाद्य यथा निरुद्धवांस्तथेत्यर्थः। अपां यत् बिलं प्रवहणद्वारम् अपिहितं वृत्रेण निरुद्धम् आसीत् तत् बिलं प्रवहणद्वारं वृत्रं जघन्वान्, हतवान् इन्द्रः अप ववार अपवृतमकरोत् वृत्रकृतमपां निरोधं परिहृतवान्। अत्र यास्कः— 'दास-

पत्नीर्दासाधिपत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यहिगोपा अतिष्ठन्नहिना गुप्ताः। अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनाद्वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति बिभर्तेर्वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' (निरु० २.१७) इति॥ दासपत्नीः। 'दसु उपक्षये'। दासयतीति दासो वृत्रः। पचाद्यच्। 'चतः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। दासः पतिर्यासाम्। 'विभाषा सपूर्वस्य' (पा०सू० ४.१.३४) इति ङीप्; तत्सन्नियोगेन इकारस्य नकारः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा दासस्य पालयित्र्यः। 'पत्यावैश्वर्ये' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अहिगोपाः। 'गुपू रक्षणे'। गोपायतीति गोपाः। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा०सू० ३.१.३१) इति आयप्रत्ययः। ततः क्विप्। 'अतो लोपः'। 'वेरपृक्तलो पाद्वलिलोपो बलीयान्' इति पूर्वं यकार लोपः (पा०सू० ६.१.६६-६७)। न च 'अचः परस्मिन्०' इति अतो लोपस्य स्थानिवत्त्वं 'न पदान्तद्विर्वचन०' इति प्रतिषेधात्। अहिर्गोपा यासाम्। पूर्ववत् स्वरः। निरुद्धाः। 'रुधिर् आवरणे'। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (पा०सू० ८.२.४०) इति निष्ठातकारस्य धकारः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। जघन्वान्। हन्तेर्लिटः क्वसुः। 'अभ्यासाच्च' (पा०सू० ७.३.५५) इति अभ्यासादुत्तरस्य हकारस्य कुत्वम्। क्रादिनियमप्राप्तस्य इटः 'विभाषा गमहन०' (पा०सू० ७.२.६८) इत्यादिना विकल्पविधानादभावः। संहितायां नकारस्य रुत्वानुनासिकावुक्तौ॥

**अन्वय**— दासपत्नी अहिगोपा आपः पणिना गावः इव निरुद्धा अतिष्ठन्, वृत्रं जघन्वान्। अपां यत् बिलम् अपिहितम् आसीत्, तत् अपववार।

**पदार्थ**— दासपत्नीः = दास (वृत्र) के स्वामित्व रहने वाले, दास है स्वामी जिनका। अहिगोपाः = अहि है रक्षक जिनका, मेघ द्वारा रक्षा किये जाते हुए। आपः = जल। निरुद्धाः = रोके गये, रुके हुआ। अतिष्ठन् = स्थित थे, पड़ा था। पणिना = पणि के द्वारा। गावः = गायें। इव = समान। वृत्रम् = वृत्र को। जघन्वान् = मार डाला। अपाम् = जलों का। यत् = जो। बिलम् = (बहने के) द्वार को, मार्ग को, सुरंग को। अपिहितम् = ढका हुआ, बंद हो गया। आसीत् = था। तत् = उसको। अपववार = खोल दिया।

**अनुवाद**— दास (वृत्र) के स्वामितव में रहने वाले और मेघ के द्वारा रक्षा किये जाते हुए जल उसी प्रकार रोके गये स्थित थे, जिस प्रकार पणि द्वारा गायें रोकी गयी

थीं। इन्द्र ने वृत्र को मार डाला। जलों का जो (बहने का) द्वार ढका हुआ था, (इन्द्र ने) उसको खोल दिया।

**व्याकरण—**

१. दासपत्नीः – दासः पतिः यासां ताः (बहुव्रीहि समास)। दासयति इति दासः। दस् + घञ् = दास।

२. अहिगोपाः – अहिः गोपाः यासां ताः। (बहुव्रीहि)।

३. निरुद्धाः – नि + √रुध् + क्त।

४. अपिहितम् – अपि + √धा + क्त।

५. जघन्वान् – √हन् लिट् के अर्थ में क्वसु।

६. आसीत् – √अस् लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

७. अतिष्ठन् – √स्था लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

८. अपववार – अप + √वृ (खोलना), लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

१. **दासपत्नीः** में दास पद का अर्थ सायण ने विनाश करने वाला किया है। यह वृत्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। पीटर्सन और अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अर्थ 'अनार्य' अथवा 'दानव' किया है। 'अहि' का अर्थ यहाँ सायण ने वृत्र किया है। परन्तु इसका अर्थ 'मेघ' अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है। यास्क के अनुसार **पणि** शब्द का अर्थ व्यापारी है जो पण्य (विक्रेय वस्तु) का व्यवहार करता है। सायण के अनुसार पणि नामक एक जाति थी, जो बहुत लालची थी। ऋग्वेद के एक सूक्त में पणियों द्वारा इन्द्र की गौओं के अपहरण करने का वर्णन भी है। पीटर्सन ने यहाँ 'पणि' का अर्थ 'पणि नामक असुरों का सरदार' किया है।

**अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र**
**सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।**
**अजयो गा अजयः शूर सोम-**
**मवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥१२॥**

**पदपाठ—** अश्व्यः। वारः। अभवः। तत्। इन्द्र। सृके। यत्। त्वा।

प्रतिऽअहन् । देवः । एकः ॥ अजयः । गाः । अजयः । शूर । सोमम् । अव । असृजः । सर्तवे । सप्त । सिन्धून् ॥

**सा० भा०**— सृके वज्रे । 'सृकः वृकः' (नि० २.२०.६) इति वज्र नामसु पठितत्वात् । देवः दीप्यमानः सर्वायुधकुशलः एकः अद्वितीयः वृत्रः यत् यदा त्वा त्वां प्रत्यहन् प्रतिकूलत्वेन प्रहृतवान् तत् तदानीं त्वम् अश्व्यो वारः अश्वसंबन्धी वालः अभवः । अथाश्वस्य वालोऽनायासेन मोक्षकादीन्निवारयति तद्वत् वृत्रमगणयित्वा निराकृतवानित्यर्थः । किं च गाः पणिनामहृताः त्वम् जितवान् । हे शूर शौर्ययुक्त इन्द्र सोमम् अजयः जितवान् । तथा च तैत्तिरीयाः 'त्वष्टा हतपुत्रः' इत्येतस्मिन्नुपाख्याने समामनन्ति— 'स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्' (तै० २.४.१२.१) इति । सप्त सिन्धून् 'इमं मे गङ्गे' (ऋ०सं० १०.७५.१) इत्यस्यामृच्याम्नाता गङ्गाद्याः सप्तसङ्ख्याका नदीः सर्तवे सर्तुं प्रवाहरूपेण गन्तुम् अवासृजः त्यक्तवान् । वृत्रकृतं प्रवाहनिरोधं निराकृतवानित्यर्थः ॥ अश्व्यः । अश्वे भवः । 'भवे छन्दसि' इति यत् । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । वारयति दंशमशकानिति वारः । पचाद्यच् । कपिलकादित्वात् लत्वविकल्पः (पा०सू० ८.२.१८) । वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । प्रत्यहन् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधः । 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेरनुदात्तत्वम् । अजयः । गाः इत्यस्य वाक्यान्तरगतत्वात् तदपेक्षयास्य 'तिङ्ङतिङः' इति निघातो न भवति, 'समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' (पा०सू० ८.१८.५) इति वचनात् । सर्तवे । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति तवेन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

**अन्वय**— देवः एकः यत् त्वा सृके प्रत्यहन् तत् इन्द्र, अश्व्यः वारः अभवः । शूर, गा अजयः सोमम् अजयः । सर्तवे सप्त सिन्धून् अवासृजः ।

**पदार्थ**— देवः = दीप्यमान्, प्रदीप्त होते हुए । एकः = अद्वितीय, अकेले । यत् = जब । त्वा = तुझ पर, तुम्हारे । सृके = वज्र पर । प्रत्यहन् = उलटा प्रहार किया । तत् = तब । इन्द्र = हे इन्द्र ! अश्व्यः = अश्व के, घोड़े के । वारः = बाल । अभवः = हो गये । शूर = हे शौर्यसम्पन्न, हे बहादुर । गाः = गौओं को । अजयः = जीता । सोमम् = सोम को । अजयः = जीता । सर्तवे = बहने के लिए । सप्त = सात । सिन्धून = नदियों को । अवासृजः = निर्मुक्त कर दिया, प्रवाहित किया ।

**अनुवाद**— प्रदीप्त होते हुए अद्वितीय अकेले वृत्र ने जब तुझ पर (और तुम्हारे) वज्र पर उलटा प्रहार किया, तब हे इन्द्र ! तुम घोड़े के (पूँछ के) बाल हो गये । हे शौर्य सम्पन्न इन्द्र ! तुमने गौओं को जीत लिया, तुमने सोम को जीत लिया और बहने के लिए सात नदियों को निर्मुक्त कर दिया ।

**व्याकरण—**

१. अश्व्यः – अश्वे भवः, भवेच्छन्दसि से यत् प्रत्यय। अश्व + यत् = अश्व्य।

२. वारः – वारयति अर्थ में √वृ + णिच् + अच् = वार।

३. सर्तवे – √सृ + तुमर्थक तवेन् प्रत्यय।

४. अभवः – √भू लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

५. प्रत्यह्र – प्रति √ह्र लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

६. असृजः – √सृज् लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

७. अजयः – √जी लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

**विशेष—**

१. 'अश्व्यः वारः अभवः' घोड़े का बाल हो गए। जिस प्रकार घोड़ा अपनी पुँछ के बालों से हमला करता हुआ। तुच्छ मक्खियों को उड़ा देता है, उसी प्रकार इन्द्र ने तुच्छ वृत्र के उड़ा दिया। अथवा घोड़ा जिस प्रकार पूँछ से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार इन्द्र ने अपनी रक्षा की। 'एक देवः' पद इन्द्र का विशेषण भी हो सकता है। इन्द्र अद्वितीय देवता था। 'सिन्धु' शब्द का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने समुद्र किया है।

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध
न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिं-
श्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥१३॥

**पदपाठ—** न। अस्मै। विऽद्युत्। न। तन्यतुः। सिसेध। न। याम्। मिहम्। अकिरत्। ह्रादुनिम्। च॥ इन्द्रः। च। यत्। युयुधाते इति। अहिः। च। उत। अपरीभ्यः। मघऽवा। वि। जिग्ये॥

**सा०भा०—** इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान् विद्युदादीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्येनं निषेद्धुमशक्ताः। सोऽयमर्थोऽनेन मन्त्रेणोच्यते। अस्मै इन्द्रार्थं निर्मिता विद्युत् न सिषेध इन्द्रं न प्राप्नोत्। तथा तन्यतुः गर्जनं यां मिहं यां वृष्टिम् अकिरत् वृत्रो विक्षिप्तवान् सापि वृष्टिः न सिषेध। ह्रादुनि च अशनिमपि यां वृत्रः प्रयुक्तवान् सापि न सिषेध। इन्द्रश्च अहिश्च इन्द्रवृत्रावुभावपि यत् यदा युयुधाते युद्धं कृतवन्तौ। तदानीं

विद्युदादयो न प्राप्ता इति पूर्वत्रान्वयः। उत अपि च मघवा धनवानिन्द्रः अपरीभ्यः अपराभ्यः अन्यासामपि वृत्रनिर्मितानां मायानां सकाशात् वि जिग्ये विशेषेण जितवान्॥ सिषेध। 'षिधु गत्याम्'। मिहम्। 'मिह सेचने'। मेहति सिञ्चतीति मिट् वृष्टिः। 'क्विप् च' इति क्विप्। अकिरत्। 'कृ विक्षेपे'। तुदादिभ्यः शः। 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वम्। अडागम उदात्तः। यद्वृत्तयोगादनिघातः। युयुधाते। 'युध संप्रहारे'। लिटि प्रत्ययस्वरः। लिटि प्रत्ययस्वरः। जिग्ये। 'सन्लिटोर्जेः' (पा०सू० ७.३.५७) इति अभ्यासादुत्तरस्य अकारस्य कुत्वम्॥

**अन्वय**— यत् इन्द्रः अहिः च युयुधाते अस्मै विद्युत् न सिषेध, न तन्यतुः, यां मिहं ह्रादुनिं च न अकिरत्। उत मघवा अपरीभ्यः विजिग्ये।

**पदार्थ**— यत् = जब। इन्द्रः = इन्द्र। अहिः च = और वृत्र। युयुधाते = युद्ध कर रहे थे। अस्मै = इस (इन्द्र) के लिए। विद्युत् = बिजली। न = नहीं। सिषेध = पा सका। न = नहीं। तन्यतुः = गर्जना। याम् = जिस। मिहम् = वृष्टि को। ह्रादुनिम् च = और वज्र को। अकिरत् = छोड़ा। न = नहीं। उत = और। मघवा = ऐश्वर्य सम्पन्न (इन्द्र)। अपरीभ्यः = दूसरी मायाओं से। विजिग्ये = विजय प्राप्त की।

**अनुवाद**— जब इन्द्र वृत्र दोनों युद्ध कर रहे थे, तब वृत्र द्वारा प्रयुक्त मायाओं में से न तो बिजली इन्द्र को पा सकी, न गर्जना उसे पा सकी, और वृत्र ने जिस वृष्टि और वज्र को छोड़ा था, वे भी उसको न पा सके और ऐश्वर्यशाली इन्द्र ने वृत्र की दूसरी मायाओं पर विजय प्राप्त की।

**व्याकरण**—

१. विद्युत् – विशेषेण द्योतते अर्थ में वि + √द्युत् + क्विप् = विद्युत्।

२. सिषेध – √षिध् लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. मिहम् – √मिह् + क्विप् = मिह्। द्वितीया एकवचन।

४. अकिरत् – √कृ लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. युयुधाते – √युध् आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष द्विवचन।

६. विजिग्ये – वि + √जि + आत्मनेपद लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**विशेष**—

१. सायण ने 'अपरीभ्यः' का अर्थ किया है— वृत्र की अन्य मायाओं से, परन्तु पीटर्सन इससे भिन्न अर्थ मानते हैं। उनका अर्थ है— आने वाले सभी समयों के लिए।

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र
हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः
श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥१४॥

**पदपाठ—** अहेः । यातारम् । कम् । अपश्यः । इन्द्र । हृदि । यत् । ते । जघ्नुषः । भीः । अगच्छत् ॥ नव । च । यत् । नवतिम् । च । स्रवन्तीः । श्येनः । न । भीतः । अतरः । रजांसि ॥

**सा० भा०—** हे इन्द्र जघ्नुषः वृत्रं हतवतः तव हृदि चित्ते यत् यदि भीरगच्छत् न हतवानस्मीति बुद्ध्या भयं प्राप्नुयात् तर्हि अहेः वृत्रस्य यातारं हन्तारं कमपश्यः त्वत्तोऽन्यं कं पुरुषं दृष्टवानसि । तादृशस्य पुरुषान्तरस्याभावात् मा भूत् तव भयमित्यर्थः । यत् यस्मात् कारणात् त्वं नव च नवतिं च स्रवन्तीः एकोनशतसङ्ख्याकाः प्रवहन्तीर्नदीः प्राप्य रजांसि तत्रत्यान्युदकानि अतरः तीर्णवानसि । तत्र दृष्टान्तः । श्येनो न । श्येननामको बलवान् पक्षीव दूरगमनात्तव भयमासीदिति गम्यते । तद्भयं मा भूदित्यभिप्रायः । तच्च दूरगमनं ब्राह्मणे समाम्नातम्— 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानः पराः परावतोऽगच्छत्' (ऐ०ब्रा० ३.१५) इति । तैत्तिरीयाश्चामनन्ति— 'इन्द्रो वृत्रं हत्वा परां परावतमगच्छदपराधमिति मन्यमानः' (तै०सं० २.५.३.६) इति ॥ हृदि । 'पद्दन्०'इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृदादेशः । 'ऊडिदम्०' इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् । जघ्नुषः । हन्तेर्लिटः क्वसुः । षष्ठ्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणपरपूर्वत्वे । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । न च 'षत्वतुकोरसिद्धः' (पा०सू० ६.१.८६) इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात् षत्वं न प्राप्नुयादिति वाच्यं, 'सम्प्रसारणङीट्सु प्रतिषेधो वक्तव्यः' (का० ६.१.८६.१) इति असिद्धवद्भावस्य प्रतिषिद्धत्वात् । 'गमहन्०' इत्यादिना उपधालोपः । न च 'असिद्धवदत्रा भात्' इति संप्रासारणस्यासिद्धवद्भावः, भिन्नाश्रयत्वात् । सम्प्रसारणं हि षष्ठ्येकवचने उपधालोपस्तु वसाविति भिन्नाश्रयत्वम् । स्रवन्तीः । 'स्रु गतौ' । 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (पा०सू० ७.१.८१) इति नुमागमः । शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । अतरः । यद्वृत्तयोगादनिघातः ॥

**अन्वय—** इन्द्र ! अहेः कम् यातारं अपश्यः, यत् जघ्नुषः ते हृदि भीः अगच्छत्, यत् भीतः श्येनः न नव च नवतिं च स्रवन्तीः रजांसि अतरः ।

**पदार्थ—** इन्द्र = हे इन्द्र ! अहेः = वृत्र के, राक्षस के । कम् = किसको ।

यातारम् = पीछे आने वाले, अनुयायी, सहायक। अपश्यः = देखा। यत् = जो। जघ्नुषः = मारते हुए, मारने वाले के। ते = तुम्हारे। हृदि = हृदय में। भीः = भय, डर। अगच्छत् = आ गया, प्रवेश कर गया। यत् = जो। भीतः = डरा हुआ। श्येनः = बाज, श्येन पक्षी। न = समान। नव च नवतिं च = नौ और नब्बे अर्थात् निन्यानवे। स्रवन्तीः = बहती हुई नदियों को। रजांसि = अन्तरिक्ष को, जलों को। अतरः = पार कर गये।

**अनुवाद**— हे इन्द्र, अहि के किस अनुयायी (सहायक) को तुमने देखा कि (वृत्र को) मारने वाले (तुम्हारे) हृदय में भय प्रवेश कर गया, जिससे भयभीत होकर) तुम निन्यानवे नदियों तथा अन्तरिक्ष को (तुम) श्येन (पक्षी) के समान पार कर गये।

**व्याकरण**—

१. यातारम् – √यर् + तृच् = यातृ। द्वितीया का एकवचन।

२. अपश्यः – √दृश्, लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. जघ्नुषः – √हन् + क्वसु = जघन्वस्। षष्ठी एकवचन।

४. अगच्छत् – √गम् लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. स्रवन्तीः – √स्रु + शतृ + ङीप् द्वितीया बहुवचन।

६. भीतः – √भी + क्त प्रथमा एकवचन।

७. अतरः – √तॄ लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

**विशेष**—

१. **अहेः यातारम्** का सायण ने जो अर्थ किया है, उसका भाव यह निकलता है कि अहि को मारने के लिए अन्य कोई आ रहा था, उसको देखकर इन्द्र डर कर बहुत दूर भाग गया! इस सम्बन्ध में सायण ऐतरेय ब्राह्मण (३.१५) की एक कथा को उद्धृत किया है कि इन्द्र वृत्र को मारकर इस डर से बहुत दूर भाग गया कि इसके पीछे कोई दूसरा बलवान् आ रहा है। सायण ने तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.६.७.४) की भी एक कथा को उद्धृत किया है कि वृत्र को मारकर इन्द्र इस भय से दूर भाग गया कि उससे कोई अपराध हुआ है। वृत्र को मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या का अपराधी समझा गया।

२. सायण के अनुसार **रजांसि** का अर्थ जल है। पीटर्सन ने 'रजांसि' का अर्थ 'अन्तरिक्ष' किया है।

३. इन्द्र की उपमा श्येन के साथ दी गयी है, जो बल और वेग का प्रतीक है। 'ऋग्वेद' के एक मन्त्र (८.८२.३) श्येन को 'अन्तरिक्षों से सोम को लाने वाला' कहा गया है।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीना-
मरान्न नेमिः परि ता बभूव ॥१५॥

**पदपाठ—** इन्द्रः । यातः । अवऽसितस्य । राजा । शमस्य । च । शृङ्गिणः । वज्रऽबाहुः ॥ सः । इत् । ऊँ इति । राजा । क्षयति । चर्षणीनाम् । अरान् । न । नेमिः । परि । ता । बभूव ॥

**सा० भा०—** वज्रबाहुः इन्द्रः शत्रौ हते सति निःसपत्नो भूत्वा यातः गच्छतो जङ्गमस्य अवसितस्य एकत्रैव स्थितस्य स्थावरस्य शमस्य शान्तस्य शृङ्गराहित्येन प्रहरणादावप्रवृत्तस्याश्वगर्दभादेः शृङ्गिणः शृङ्गोपेतस्योग्रस्य महिषबलीवर्दादेश्च राजा अभूत्। सेदु स एवेन्द्रः चर्षणीनां मनुष्यानां राजा भूत्वा क्षयति निवसति । ता तानि पूर्वोक्तानि जङ्गमादीनि सर्वाणि परि बभूव व्याप्तवान् । तत्र दृष्टान्तः । अरान् न नेमिः । यथा रथचक्रस्य परितो वर्तमाना नेमिः अरान् नाभौ कीलितान् काष्ठविशेषान् व्याप्नोति तद्वत् ॥ यातः । 'या प्रापणे' । याति गच्छतीति यात् । लटः शतृ । 'सावेकाचः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । सः । 'सोऽचि लोपे चेत्०' इति संहितायां सोर्लोपः । ता । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । बभूव । 'भवतेरः' (पा०सू० ७.४.७३) इति अभ्यासस्य अत्वम् । कृताकृतप्रसङ्गितया वुगागमस्य नित्यत्वात् वृद्धेः पूर्वं वुगागमः । यद्वा । 'इन्धिभवतिभ्यां च' (पा०सू० १.२.६) इति लिटः कित्त्वात् वृद्ध्यभावः । न च 'असिद्धवदत्रा भात्' इति तस्यासिद्धत्वात् उवङादेशः शङ्कनीयः, 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ भवतः' (पा०सू० ६.४.२२.१४) इति तस्य सिद्धत्वात् । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ॥

**अन्वय—** वज्रबाहु इन्द्रः यात अवसितस्य शमस्य शृङ्गिणः च राजा। स इत् उ चर्षणीनां राजा क्षयति। नेमिः अरान् न ता परिबभूव।

**पदार्थ—** वज्रबाहुः = भुजा में वज्र को धारण करने वाला। इन्द्रः = इन्द्र। यातः = गतिशील (जङ्गम) पदार्थों का। अवसितस्य = गति से रहित (स्थावर)

पदार्थों का। शमस्य = शान्त स्वभाव वाले प्राणियों का। शृङ्गिणः च = और सींग धारण करने वाले प्राणियों का। राजा = स्वामी। स इत् उ = वह ही। चर्षणीनाम् = मनुष्यों का। राजा = राजा, स्वामी। क्षयति = निवास करता है। नेमिः = पहिए की परिधि। अरान् = रथ के चक्र के धुरे में लगी हुई कीलें। न = समान। ता = उनको। परि बभूव = चारों ओर से व्याप्त करता हैं, चारों ओर से रक्षा करता है।

**अनुवाद**— भुजा में वज्र को धारण करने वाला इन्द्र गतिशील (जङ्गम) पदार्थों का, गति से रहित (स्थावर) पदार्थों का, शान्त स्वभाव वाले प्राणियों का और सींग धारण करने वाले प्राणियों का स्वामी है। वह ही मनुष्यों का राजा होकर निवास करता है और वह उनकी उसी प्रकार रक्षा करता है, जिस प्रकार रथ की परिधि अरों की चारों ओर से रक्षा करती है।

**व्याकरण—**

१. यातः – √या + क्विप्, तुक् का आगम होकर यातृ। षष्ठी विभक्ति का एक वचन।

२. अवसितस्य – अव + √सा + क्त = अवसित षष्ठी, एकवचन।

३. शृङ्गिणः – शृङ्ग + इनि = शृङ्गिन् षष्ठीविभक्ति एकवचन।

४. क्षयति – √क्षि (निवास करना), लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन।

५. परिबभूव – परि + √भू लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

# ५. सूर्यसूक्तम्

| वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१ | सूक्त संख्या–११५ |
| --- | --- | --- |
| ऋषि-कुत्स | देवता-सूर्य | छन्द-त्रिष्टुप् |

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒
चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः ।
आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षं॒
सूर्य॑ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥१॥

पदपाठ— चि॒त्रम् । दे॒वाना॑म् । उत् । अ॒गा॒त् । अनी॑कम् । चक्षुः॑ । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । अ॒ग्नेः ॥ आ । अ॒प्राः । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अ॒न्तरि॑क्षम् । सूर्यः॑ । आ॒त्मा । जग॑तः । त॒स्थुषः॑ । च॒ ॥

सा०भा०— देवानाम् । दीव्यन्तीति देवा रश्मयः तेषाम् । देवजनानामेव वा । अनीकं समूहरूपं चित्रम् आश्चर्यकरं सूर्यस्य मण्डलम् । उदयाचलं प्राप्तमासीत् । कीदृशम् । मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः च । उपलक्षणमेतत् । तदुपलक्षितानां जगतां चक्षुः प्रकाशकं चक्षुरिन्द्रियस्थानीयं वा । उदयं च द्यावापृथिवी दिवं पृथिवीमन्तरिक्षं च अप्राः । स्वकीयेन तेजसा आ समन्तात् अपूरयत् । ईदृग्भूतमण्डलान्तर्वर्ती सूर्यः अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरकः परमात्मा जगतः जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च आत्मा स्वरूपभूतः । स हि सर्वस्य स्थावरजगङ्गमात्मकस्य कार्यवर्गस्य कारणम् । कारणाच्च कार्यं नातिरिच्यते । तथा च पारमर्षं सूत्रं— 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र०सू० २.१.१४) इति । यद्वा । स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य जीवात्मा । उदिते हि सूर्ये मृतप्रायं सर्वं जगत् पुनश्चेतनयुक्तं सदुपलभ्यते । तथा च श्रूयते— 'योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति' (तै०आ० १.१४.१) इति ॥ आप्राः । 'प्रा पूरणे' । लङि पुरुषव्यत्ययः । यदादित्वात् शपो लुक् । जगतः । 'गमेर्द्वे च' (पा०सू० ३.२.१७८.३) इति क्विप् द्विर्वचनम् । 'गमः क्वौ' इति अनुनासिकलोपः । तस्थुषः । तिष्ठतेर्लिटः क्वसु । द्विर्वचने 'शर्पूर्वाः खयः' । षष्ठ्येकवचने 'वसोः संप्रसारणम्' इति संप्रसारणम् । 'आतो लोप इटि च' इति आकारलोपः । 'शासिवसि०' इति षत्वम् ॥

**अन्वय**— देवानां चित्रम् अनीकं मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षु उत् अगात्। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् आ अप्राः, सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा ।

**पदार्थ**— देवानाम् = किरणों का । चित्रम् = पूजनीय अथवा आश्चर्य जनक। अनीकम् = समूह रूप । मित्रस्य = मित्र का । वरुणस्य = वरुण का । अग्नेः = अग्नि का । चक्षुः = नेत्र । उत् अगात् = ऊपर निकला है । द्यावापृथिवी = आकाश और पृथिवी को । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष (लोक) को । आ अप्राः = चारों ओर से भर दिया है । सूर्यः = सूर्य । आत्मा = आत्मा अथवा स्वरूप भूत । जगतः = जंगम की। तस्थुषः च = और स्थावर की । आत्मा = आत्मा ।

**अनुवाद**— किरणों का आश्चर्यजनक समूह एवं मित्र, वरुण तथा अग्नि का नेत्र (आदित्य मण्डल) ऊपर निकला है। (उसने) आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को चारों ओर से (अपने प्रकाश से) भर दिया है। (वह) सूर्य जंगम तथा स्थावर (सभी प्राणिया') की आत्मा है।

**व्याकरण**—

१. उत् अगात् – उत् + √गा (ऊपर उठना), लुङ्लकार, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. आ अप्राः – आ + √प्रा (भरना), लुङ्लकार, प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. जगतः – √गम् (जाना) + क्विप् ।

४. तस्थुषः – √स्था (खड़ा होना) + क्वसु ।

**विशेष**—

१. सायण ने 'अनीक' का अर्थ समूह किया है । पीटर्सन ने मुख और डॉ० आर०टी०एच० ग्रिफिथ ने 'उपस्थिति' किया है।

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑माना॒ं
मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्येति प॒श्चात् ।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑
वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥२॥

**पदपाठ**— सूर्यः॑ । दे॒वीम् । उ॒षस॑म् । रोच॑मानाम् । मर्यः॑ । न । योषा॑म् । अ॒भि । ए॒ति॒ । प॒श्चात् ॥ यत्र॑ । नरः॑ । दे॒व॒ऽयन्तः॑ । यु॒गानि॑ । वि॒ऽत॒न्व॒ते । प्रति॑ । भ॒द्राय॑ । भ॒द्रम् ॥

**सा०भा०**— सूर्यः देवीं दानादिगुणयुक्तां रोचमानां दीप्यमानाम् उषसं पश्चात् अभ्येति उषसः प्रादुर्भावानन्तरं तामभिलक्ष्य गच्छति। तत्र दृष्टान्तः। मर्यो न योषाम्। यथा कश्चिन्मनुष्यः शोभनावयवां गच्छन्तीं युवतिं स्त्रियं सततमनुगच्छति तद्वत्। यत्र यस्यामुषसि जातायां देवयन्तः देवं द्योतमानं सूर्यं यष्टुमिच्छन्तः नरः यज्ञस्य नेतारो यजमानाः युगानि। युगशब्दः कालवाची। तेन च तत्र कर्तव्यानि कर्माणि लक्ष्यन्ते यथा दर्शपूर्णमासौ इति। अग्निहोत्रादीनि कर्माणि वितन्वते विस्तारयन्ति। यद्वा। देवयन्तो देवयागार्थं धनमात्मन इच्छन्तो यजमानपुरुषा युगानि हलावयवभूतानि कर्षणाय वितन्वते प्रसारयन्ति। तामुषसमनुगच्छतीत्यर्थः। एवंविधं भद्रं कल्याणं सूर्यं प्रति भद्राय कल्याण-रूपाय कर्मफलाय स्तुमः इति शेषः। यद्वा। देवयन्तः देवकामा यजमाना युगानि युग्मानि भूत्वा पत्नीभिः सहिताः सन्तो भद्रं कल्याणम् अग्निहोत्रादिकं कर्म भद्राय तत्फलार्थं प्रति प्रत्येकं यस्यामुषसि प्रवृत्तायां वितन्वते विस्तारयन्ति। मर्यः। 'मृङ प्राणत्यागे'। 'छन्दसि निष्टर्क्य०' इत्यादौ यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। युगानि। युजेः कर्मणि घञ्। युगशब्दः कालविशेषे रथाद्युपकरणे च (का० ६.१.१६०) इति उञ्छादिषु पाठात् गुणाभावः अन्तोदात्तत्वं च। वितन्वते। 'तनु विस्तारे'। 'तनादिकृञ्भ्यः उः'। सहेति योगविभागात् तिङोपसर्गस्य समासे सति 'समासस्य' इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

**अन्वय**— सूर्यः रोचमानां देवीम् उषसं पश्चात् मर्यः योषां न अभि एति। यत्र देवयन्तः नरः प्रति भद्राय भद्रं युगानि वितन्वते।

**पदार्थ**— सूर्यः = सूर्य। रोचमानाम् = दीप्तिमती, प्रकाशवती। देवीम् = देवी। उषसम् = उषा के। पश्चात् = पीछे। मर्यः = मनुष्य। योषाम् = स्त्री, युवति। न = समान। अभि = ओर। एति = जाता है। यत्र = जहाँ, जब, जिस समय। देवयन्त = देवताओं की कामना करने वाले। नरः = मनुष्य। प्रति = प्रत्येक। भद्राय = कल्याण के लिए। भद्रम् = कल्याणकारी। युगानि = युगों से। वितन्वते = सम्पादित करते हैं, विस्तार करते हैं।

**अनुवाद**— सूर्य प्रकाशवती देवी उषा के पीछे दौड़ता है, जिस प्रकार कोई पुरुष (किसी) स्त्री के पीछे (जाता है), जिस समय देवताओं की कामना करते हुए मनुष्य (अपने) प्रत्येक कल्याण के लिए कल्याणकारी (अग्नि होत्र आदि कर्म) को युगों से सम्पादित करते आ रहे हैं।

**व्याकरण**—

१. रोचमानाम् – √रुच् (प्रकाशित होना) + शानच् + टाप् द्वितीया एकवचन।

२. मर्यः – √मृङ् + यत् प्रथमा एकवचन।

३. युगानि – √युज् + घञ् द्वितीया एकवचन ।
४. देवयन्तः – √दिव् – देव + क्यच् + शतृ प्रथमा बहुवचन ।
५. वितन्वते – वि + √तन् (फैलाना), आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

भ॒द्रा अश्वा॑ ह॒रितः॒ सूर्य॑स्य
चि॒त्रा एत॑ग्वा अनु॒माद्या॑सः ।
न॒म॒स्यन्तो॑ दि॒व आ पृ॒ष्ठम॑स्थुः
परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी य॑न्ति स॒द्यः ॥३॥

पदपाठ— भ॒द्राः । अश्वाः॑ । ह॒रितः॑ । सूर्य॑स्य । चि॒त्राः । एत॑ऽग्वाः । अ॒नु॒ऽमाद्या॑सः ॥ न॒म॒स्यन्तः॑ । दि॒वः । आ । पृ॒ष्ठम् । अ॒स्थुः॒ । परि॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । य॒न्ति॒ । स॒द्यः ॥

सा० भा०— भद्राः कल्याणाः । अश्वाः एतग्वाः इत्येतदुभयम् अश्वनाम । तत्रैकं क्रियापरं योजनीयम् । अश्वाः तुरगा व्यापनशीला वा हरितः हर्तारः चित्राः विचित्रावयवाः अनुमाद्यासः अनुक्रमेण सर्वैस्तुत्या मादनीया एवंभूताः सूर्यस्य एतग्वाः अश्वाः । यद्वा । एतं गन्तव्यं मार्गं गन्तारोऽश्वाः । एतं शबलवर्णं वा प्राप्नुवन्तोऽश्वाः । नमस्यन्तः अस्माभिः नमस्यमानाः सन्तः दिवः अन्तरिक्षस्य पृष्ठम् उपरिप्रदेशं पूर्वभागलक्षणम् आ अस्थुः आतिष्ठन्ति प्राप्नुवन्ति । यद्वा । हरिते रसहरणशीलाः रश्मयः भद्रादिलक्षणविशिष्टाः दिवः पृष्ठं नभःस्थलमातिष्ठन्ति । आस्थाय च द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ सद्यः तदानीमेव एकेनाह्ना परि यन्ति परितो गच्छन्ति व्याप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ अश्वाः । 'अशू व्याप्तौ' । 'अशिप्रुषि०' इत्यादिना क्वन् । एतग्वाः । 'इण् गतौ' 'असिहसि०' इत्यादिना कर्मणि तन्प्रत्ययः । गमेरौणादिको भावे ड्वप्रत्ययः । एतमेतव्यं प्रति ग्वो गमनं येषां ते तथोक्ताः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अनुमाद्यासः । 'मदि स्तुतौ' । अस्मात् ण्यन्तात् । 'अचो यत्' । 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम् । नमस्यन्तः । 'नमोवरिव०' इति पूजार्थे क्यच् । व्यत्ययेन कर्मणिकर्तृप्रत्ययः । अस्थुः । तिष्ठतेश्छान्दसो वर्तमाने लुङ् । 'गातिस्था०' इति सिचो लुक् । 'आतः' इति झेः जुस् ॥

अन्वय— सूर्यस्य भद्राः हरितः अश्वाः चित्राः एतग्वाः अनुमाद्यासः नमस्यन्तः दिवः पृष्ठम् आ अस्थुः । सद्यः द्यावापृथिवी परियन्ति ।

पदार्थ— सूर्यस्य = सूर्य के । भद्राः = कल्याणकारी । हरितः = हरित वर्ण के, अथवा रस हरण करने वाले । अश्वाः = घोड़े । चित्राः = रङ्गविरङ्गे, अद्भुत अङ्गों

वाले । एतग्वाः = तीव्रगति वाले, आकाश में गति करने वाले, गन्तव्य मार्ग पर चलने वाले । अनुमाद्यासः = सबके द्वारा आनन्दित किये जाने वाले । नमस्यन्तः = नमस्कार किये जाते हुए । दिवः = द्युलोक की, आकाश की । पृष्ठम् = पीठ पर । आ अस्थुः = आरुढ़ हुए हैं । सद्यः = शीघ्र । द्यावापृथिवी = आकाश और पृथिवी के । परियन्ति = चारों ओर विचरण करते हैं, (परिक्रमा करते हैं, व्याप्त करते हैं)।

**अनुवाद**— सूर्य के कल्याणकारी हरित वर्ण के, विचित्र (अवयव वाले) गन्तव्य मार्ग पर (स्वयं) चलने वाले तथा (सबके द्वारा) आनन्दित किये जाने वाले घोड़े (सबके द्वारा) नमस्कृत होते हुए द्युलोक की पीठ पर आरुढ़ हुए हैं । वे शीघ्र ही आकाश और पृथिवी को चारों ओर से व्याप्त कर लेते हैं ।

**व्याकरण**—

१. अश्वाः – √अश् (व्याप्त करना) + क्वन् ।

२. एतग्वाः – √इ (जाना) + तन् । एत = √गम् + ड्व ।

३. अनुमाद्यासः – अनु + √मद् (आनन्द प्राप्त करना) + यत् ।

४. अस्थुः – √स्था (खड़ा होना), लुङ्लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

५. यन्ति – √इ (जाना), लट्लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

**विशेष**—

(१) 'एतग्वाः' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में तीन स्थानों पर सायण के अनुसार 'एतग्व' शब्द अश्व वाचक भी हो सकता है । जैसे कि 'अश्व' के पर्यायों में 'एतग्व' की गणना है तब अश्व इसका विशेषण होगा ।

> **तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं**
> **मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।**
> **यदेदयुक्त हरितः सधस्था-**
> **दाद्रात्री वासस्ततनुते सिमस्मै ॥४॥**

**पदपाठ**— तत् । सूर्यस्य । देवऽत्वम् । तत् । महिऽत्वम् । मध्या । कर्तोः । विऽततम् । सम् । जभार ॥ यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सधऽस्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥

**सा० भा०**— सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्य आदित्यस्य तत् देवत्वम् । स्वातन्त्र्यमिति

यावत्। महित्वं महत्त्वं माहात्म्यं च तत् एव। तच्छब्दश्रुतेः यच्छब्दाध्याहारः। यत् कर्तोः। प्रारब्धापरिसमाप्तस्य कृष्णादिलक्षणस्य कर्मणः मध्या मध्ये अपरिसमाप्ते एव तस्मिन् कर्मणि विततं विस्तीर्णं स्वकीयं रश्मिजालम् अस्तं गच्छन् सूर्यः संजभार अस्माल्लोकात् स्वात्मन्युपसंहरति। कर्मकरश्च प्रवृत्तमपरिसमाप्तमेव विसृजति अस्तं यान्तं सूर्यं दृष्ट्वा। ईदृशं स्वातन्त्र्यं महिमा च सूर्यव्यतिरिक्तस्य कस्यास्ति? न कस्यापि। सूर्य एवेदृशं स्वातन्त्र्यं महिमानं चावगाहते। अपि च इत् इत्यवधारणे। यदेत् यस्मिन्नेव काले हरितः रसहरणशीलान्। स्वरश्मीन् हरिद्वर्णानश्वान् वा सधस्थात् सहस्थानात् अस्मात् पार्थिवाल्लोकादादाय अयुक्त अन्यत्र संयुक्तान् करोति। यद्वा। युजिः केवलोऽपि विपूर्वः द्रष्टव्यः। यदेवासौ स्वरश्मीनश्वान् वा सधस्थात् सह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति सधस्थो रथः। तस्मात् अयुक्त अमुञ्चत्। आत् अनन्तरमेव रात्री निशा वासः आच्छादयितृ तमः सिमस्मै। सिमशब्दः सर्वशब्दपर्यायः। सप्तम्यर्थे चतुर्थी। सर्वस्मिन् लोके तनुते विस्तारयति। यद्वा। वासो वासरम् अहः। तत् सर्वस्मात् अस्माल्लोकादपनीय रात्री तमस्तनुते। अत्र निरुक्तं— 'तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते यदासौ अयुक्त हरणानादित्यरश्मीन् हरितोऽश्वानिति वाथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै वासरमहरवयुवती सर्वस्मात्' (निरु० ४.११) इति॥ महित्वम्। 'मह पूजायाम्'। औणादिक इन्प्रत्ययः। 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा०सू० ५.१.११९)। मध्या। मध्यशब्दात् सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक०' इति डादेशः। कर्तोः। करोतेरौणादिकः तुन्प्रत्ययः। विततम्। विपूर्वात्तनोतेः कर्मणि निष्ठा। उदित्त्वेन क्त्वाप्रत्यये इटो विकल्पनात्। 'यस्य विभाषा' इति इट् प्रतिषेधः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। जभार। 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम्। अयुक्त। युजेर्लुङि 'झलो झलि' इति सिचो लोपः। सधस्थात्। 'घञर्थे कविधानम्०' इति अधिकरणे कप्रत्ययः।' 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' इति सधादेशः। दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। रात्री। 'रात्रेश्चाजसौ' इति ङीप्॥

**अन्वय—** तत् सूर्यस्य देवत्वं तत् महित्वं कर्तोः मध्या विततं सं जभार। यदा इत् हरितः सधस्थात् अयुक्त आत् रात्री सिमस्मै वासः तनुते।

**पदार्थ—** तत् = वह। सूर्यस्य = सूर्य का। देवत्वम् = देवत्व, स्वामित्व। तत् = वह। महित्वम् = महत्व। कर्तोः = कर्म के। मध्या = मध्य में, बीच में। विततम् = फैंले हुए (अपने रश्मि समूह) को। सं जभार = समेटता है। यदा इत् = जिस समय। हरितः = रस हरण करने वाले अश्वों को, हरित वर्ण के अश्वों को। सधस्थात् = घुड़साल से अथवा रथ से। अयुक्त = जोड़ता है, या अलग करता है। आत् = तदनन्तर। रात्रि = रात। वासः = वस्त्र को, आच्छादित करने वाले

(अन्धकार) को। सिमस्मै = सबके लिए, सम्पूर्ण विश्व के लिए। तनुते = फैलाती है, विस्तृत कर देती है।

**अनुवाद**— वह सूर्य का देवत्व है, वह महिमा है (जो) फैले हुए कर्मजाल को (वह) कर्म के मध्य में ही समेट लेता है। (ज्यों ही वह) रस हरण करने वाले अश्वों को रथ से अलग करता है, तदनन्तर ही रात्रि सबके लिए अपने (कृष्ण) वस्त्र (अन्धकार) को फैला देती है।

**व्याकरण**—

१. विततम् – वि + √तन् (फैलाना) + क्त।

२. सं जभार – सम् + √भृ (लपेटना), लिट्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन।

३. अयुक्त – √युज् (जोड़ना), आत्मनेपद, लुङ्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन।

४. सधस्थात् – सह + √स्था (ठहरना) + क, पञ्चमी एकवचन।

५. तनुते – √तन् (फैलाना), आत्मनेपद, लट्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन।

६. सिमस्मै – सिम शब्द चतुर्थीविभक्ति, एकवचन। सिम सर्व का पर्यायवाची है।

७. रात्री – रात्रि + ङीप्।

**विशेष**—

१. मध्या, कर्तोः, जभार, अयुक्त, इत्, सधस्थात्, आत्, सिमस्मै– ये सभी वैदिक रूप हैं।

**तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे**

**सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।**

**अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः**

**कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥५॥**

**पदपाठ**— तत्। मित्रस्य। वरुणस्य। अभिऽचक्षे। सूर्यः। रूपम्। कृणुते। द्योः। उपऽस्थे॥ अनन्तम्। अन्यत्। रुशत्। अस्य। पाजः। कृष्णम्। अन्यत्। हरितः। सम्। भरन्ति॥

**सा० भा०**— तत् तदानीम् उदयसमये मित्रस्य वरुणस्य एतदुभयोपलक्षितस्य सर्वस्य जगतः अभिचक्षे आभिमुख्येन प्रकाशनाय द्योः नभसः उपस्थे उपस्थाने मध्ये

सूर्यः सर्वस्य प्रेरकः सविता रूपं सर्वस्य निरूपकं प्रकाशकं तेजः कृणुते करोति । अपि च अस्य सूर्यस्य हरितः रसहरणशीला रश्मयः हरिद्वर्णाः अश्वा वा अनन्तम् अवसान-रहितं कृत्स्नस्य जगतो व्यापकं रुशत् दीप्यमानं श्वेतवर्णं पाजः । बलनामैतत् । बल-युक्तम् अतिबलस्यापि नैशस्य तमसो निवारणे समर्थम् अन्यत् तमसो विलक्षणं तेजः सं भरन्ति अहनि स्वकीयागमनेन निष्पादयन्ति । तथा कृष्णं कृष्णवर्णम् अन्यत् तमः स्वकीयापगमनेन रात्रौ । अस्य रश्मयोऽप्येवं कुर्वन्ति किमु वक्तव्यं तस्य माहात्म्यमिति सूर्यस्य स्तुतिः ॥ अभिचक्षे । सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्योः । 'ङसिङसोश्च' (पा०सू० ६.१.११०) इतिपूर्वरूपता । उपस्थे । 'घञर्थे कवि-धानम्०' इति कप्रत्ययः । मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । पाजः । पाति रक्षतीति पाजो बलम् । 'पातेर्बले जुट् च' (उ०सू० ४.६४२) इति असुन् जुडागमश्च । छान्दसो मत्वर्थीयस्य विनो लोपः ॥

**अन्वय**— तत् मित्रस्य वरुणस्य अभिचक्षे सूर्यः द्यौः उपस्थे रूपं कृणुते । अस्य हरितः अनन्तं अन्यत् रुशत् पाजः सम भरन्ति, अन्यत् कृष्णम् ।

**पदार्थ**— तत् = उस । मित्रस्य = मित्र के । वरुणस्य = वरुण के । अभि-चक्षे = देखने के लिए । सूर्यः = सूर्य । द्यौः = द्युलोक की । उपस्थे = गोंद में, शिखर पर, मध्य में । अस्य = उसके । हरितः = हरित वर्ण के अथवा रसहरणशील । अनन्तम् = अन्तरहित । अन्यत् = एक समय में । रुशत् = प्रकाशमान, चमकने वाले । पाजः = बलशाली, शक्तिशाली । कृष्णम् = काले अन्धकार (अथवा रात) को । अन्यत् = एक समय में । सम् भरन्ति = लाते हैं, भरते हैं ।

**अनुवाद**— मित्र तथा वरुण के देखने के लिए सूर्य द्युलोक की गोद में उस (प्रकाशमान) रूप को (व्यक्त) करता है । उसके हरित वर्ण (अथवा रस हरणशील) अश्व अन्तरहित क्रम में एक समय शक्तिशाली प्रकाश को और एक समय अन्धकार को (लाते) हैं ।

**व्याकरण**—

१. अभिचक्षे – अभि + √चक्ष् + (देखना) + क्विप् + वैदिक तुमर्थक ए ।

२. द्यौः – द्यो शब्द षष्ठीविभक्ति एकवचन का वैदिक रूप ।

३. उपस्थे – उप + √स्था + क, सप्तमी एकवचन ।

४. कृणुते – √कृ (बनाना, करना), आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

५. पाजः – √पा (रक्षा करना) + असुन् ।

६. भरन्ति – √भृ (भरना, लाना), लट्लकार प्रथमपुरुष बहुवचन ।

**विशेष—**

१. यहाँ मित्र तथा वरुण शब्द सूर्य और चन्द्रमा के वाचक है। ये जगत् मे ओज और रस को प्रदान करते हैं। वरुण शक्ति रस का संचय करता है और मित्र शक्ति उसका ओषधियों आदि में विस्तार करता है। इस प्रकार ये दोनों शब्द विश्व के उपलक्षक हैं। इस मन्त्र के द्वारा यह कहा गया है कि सूर्य के घोड़े अर्थात् किरणें दिन और रात्रि के नियामक हैं। दिन में ये प्रकाश को फैलाते हैं और रात्रि में अन्धकार को।

**अद्या देवा उदिता सूर्यस्य**
**निरंहसः पिपृता निरवद्यात्।**
**तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ता-**
**मदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥६॥**

**पदपाठ—** अद्य । देवाः । उत्ऽईता । सूर्यस्य । निः । अंहसः । पिपृत । निः । अवद्यात् ॥ तत् । नः । मित्रः । वरुणः । ममहन्ताम् । अदितिः । सिन्धुः । पृथिवी । उत । द्यौः ॥

**सा० भा०—** हे देवाः द्योतमानाः सूर्यरश्मयः अद्य अस्मिन्काले सूर्यस्य आदित्यस्य उदिता उदितौ उदये सति इतस्ततः प्रसरन्तो यूयम् अस्मान् अंहसः पापात् निः पिपृत निष्कृष्य पालयत। यदिदमस्माभिरुक्तं नः अस्मदीयं तत् मित्रादयः षड्देवताः ममहन्तां पूजयन्तु अनुमन्यन्ताम्। रक्षन्त्विति यावत्। मित्रः प्रतीतेस्त्रायकः अहरभिमानो देवः। वरुणः अनिष्टानां निवारयिता रात्र्यद्भिमानी। अदितिः अखण्डनीया अदीना वा देवमाता। सिन्धुः स्यन्दशीलोदकाभिमानिनी देवता। पृथिवी भूलोकस्याधिष्ठात्री द्यौः द्युलोकस्य। उतशब्दः समुच्चये ॥ अद्य । 'निपातस्य च' इति संहितायां दीर्घत्वम्। उदिता। उत्पूर्वात् एतेर्भावे क्तिन्। 'सुपां सुलुक्०' इति डादेशः। 'तादौ च' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। पिपृत। 'पृ पालनपूरणयोः इत्येके'। लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। द्विर्वचनोरदत्वहलादिशेषाः। 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इत्वम्। 'सार्वधातुकमपित्' इति तशब्दस्य ङित्वे सति 'ऋचि तुनुघ०' इत्यादिना संहितायां दीर्घः ॥

**अन्वय—** देवाः! अद्य सूर्यस्य उदिता अंहसः निष्पिपृत निः अवद्यात्। नः तत् मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ममहन्ताम्।

**पदार्थ—** देवा: = हे देवो। अद्य = आज। सूर्यस्य = सूर्य के। उदित: = उदित होने पर। अंहस: = पाप से। नि: पिपृत = निकाल कर छुड़ाओ, (रक्षा करो)। नि: अवद्यात् = निन्द्य कर्म से, अपशब्द भाषण से। मित्र: = मित्र। वरुण: = वरुण। अदिति: = अदिति। सिन्धु: = सिन्धु:। पृथिवी = पृथिवी। उत = और। द्यौ: = द्युलोक। न: = हमारी। तत् = उसको। मामहन्ताम् = अनुमोदित, समर्थित करें।

**अनुवाद—** हे देवो! आज सूर्य के उदित होने पर पाप से निकालकर (हमारी रक्षा करो) और अपशब्द-भाषण से अलग कर (हमारी) रक्षा करो। मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्युलोक हमारी इस (प्रार्थना) का अनुमोदन करें।

**व्याकरण—**

१. उदिता – उत् + इण् + क्त। डा आदेश वैदिक रूप उदिता।

२. अद्या – यहाँ -निपातस्य च' से दीर्घ हुआ।

३. अवद्यात् – √वद् + यत् = वद्य। न + वद्य = अवद्य। पञ्चमीविभक्ति एकवचन अवद्यात्।

४. पिपृत – √पृ (पालन करना), लट्मूलक लोट्लकार मध्यमपुरुष बहुवचन।

५. ममहन्ताम् – √मम्ह् या मह् आत्मनेपद लिट्मूलक लोट्लकार प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष—**

१. पीट्र्सन ने इस मन्त्र में अंहस् का अर्थ भय और अवद्य का अर्थ 'पापकर्मजन्य लज्जा' किया है। उसके अनुसार इसका अर्थ है– हमे भय से मुक्त करो और हमें लज्जा से मुक्त करो। प्रथम चरण में छन्द की पूर्ति के लिए 'सूर्यस्य' के स्थान पर 'सूरियस्य' उच्चारण करना चाहिए।

## ६. अश्विन्सूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–१ सूक्त संख्या–११६
ऋषि-कक्षीवान् देवता-अश्विनौ छन्द-त्रिष्टुप्

नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे
स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः ।
यावर्भगाय विमदाय जायां
सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ॥१॥

पदपाठ— नासत्याभ्याम् । बर्हिःऽइव । प्र । वृञ्जे । स्तोमान् । इयर्मि । अभ्रियाऽइव । वातः ॥ यौ । अर्भगाय । विऽमदाय । जायाम् । सेनाऽजुवा । निऽऊहतुः । रथेन ॥१॥

सा०भा०— बर्हिरिव यथा कश्चिद्यजमानो यागार्थं बर्हिः प्र वृञ्जे प्रकर्षेण अन्यूनानतिरिक्तं यागाय पर्याप्तं दर्भं वृङ्क्ते छिनत्ति सम्पादयतीति यावत् । एवमहं नासत्याभ्याम् अश्विभ्यां स्तोमान् स्तुतीः इयर्मि सम्पादयामि । एतदेव विशदीक्रियते । अभ्रियेव । यथा अभ्रियाणि अभ्रेषु मेघेष्ववस्थितान्युदकानि वातः वायुः वर्षणार्थं बहुशः प्रेरयति एवमहम् अश्विभ्यां स्तोत्राणि इयर्मि बहुशः प्रेरयामि । कीदृशावश्विनौ । अर्भगाय बालाय स्वयंवरलब्धभार्याय विमदाय एतत्संज्ञाय राजर्षये मध्येमार्गं स्वयंवरार्थमागतैः ताम् अलभमानेरन्यैर्नृपैः सह योद्धुमशक्नुवतेऽपि तस्मै सेनाजुवा शत्रुसेनायाः प्रेरकेण शत्रुभिः दुष्प्रापेण रथेन यौ अश्विनौ जायां भार्यां परैरनुक्रान्तां न्यूहतुः शत्रून्निहत्य तदीयं गृहं प्रापयामासतुः । ताभ्यामित्यर्थः ॥ नासत्याभ्याम् । सत्सु भवौ सत्यौ । न सत्यौ असत्यौ न असत्यौ नासत्यौ । 'नभ्राण्नपात्०' इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । वृञ्जे । 'वृजी वर्जने' । आदादिकः । इदित्त्वात् नुम् । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' इति तलोपः । इयर्मि । 'ऋ गतौ' जौहोत्यादिकः । 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इत्वम् । 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङ् । अभ्रियेव । 'समुद्राभ्राद्घः' इति भवार्थे घः । घस्य इयादेशः । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । अर्भगाय । 'अर्तिगृभ्यां भन्' (उ०सू० ३.४३२) इति अर्तेर्भन् । अर्भः एवार्भकः । 'संज्ञायां कन्' (पा०सू० ५.३.८७) । छान्दसो गकारः । अपर आह । अर्भमल्पं गायति शब्दयतीत्य-

र्भगः । 'कै गै शब्दे' । 'गापोष्टक् (पा०सू० ३.२.८) । 'आतो लोप इटि च' इति आकारलोपः । तदेतत् पदकृतः शाकल्यस्य अभिमतम् । सेनाजुवा । जु इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः । अस्मादन्त-र्भावितण्यर्थात् 'क्विब्वचिप्रच्छि०' इत्यादिना क्विब्दीर्घौ । तन्वादित्वादुवङ् (पा०सू० ६.४.७७.१) । न्यूहतुः । 'वह प्रापणे' लिटि अतुसि यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति निघातप्रतिषेधः ॥

**अन्वय—** नासत्याभ्यां बर्हिःइव स्तोमान् प्र वृञ्जे, वातः अभ्रियेव इयर्मि, यौ अर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा रथेन न्यूहतुः ।

**पदार्थ—** नासत्याभ्याम् = दोनों नासत्यों (अश्विनों) के लिए, जो असत्य न हों ऐसे नासत्यों के लिए । बर्हिः इव = (पवित्र) कुश के समान । स्तोमान् = स्तोत्रों को, स्तुतियों को, प्रार्थनाओं को । प्रवृञ्जे = प्रकृष्ट रूप से सजाता हूँ, विस्तृत करता हूँ, फैलाता हूँ । वातः = वायु । अभ्रियेव = जिस प्रकार मेघ को । इयर्मि = भेजता हूँ । यौ = जिन दोनों (अश्विनों) ने । अर्भगाय = युवक के लिए । विमदाय = विमद के लिए । जायाम् = पत्नी को । सेनाजुवा = बाण के समान चलने वाले । रथेन = रथ से । न्युहतुः = लाया ।

**अनुवाद—** (उन) दोनों नासत्यों (अश्विनों) के लिए पवित्र कुश के समान स्तोत्रों (स्तुतियों) को सजाता (फैलाता) हूँ (और) जिस प्रकार वायु मेघ को (भेजता है) उसी प्रकार मैं (उन स्तोत्रों को उनके पास) भेजता हूँ, जिन दोनों (अश्विनों) ने युवक विमद के लिए पत्नी को (अपने) बाण के समान चलने वाले रथ से लाया ।

**व्याकरण—**

१. प्र वृञ्जे – प्र + √वृज् आत्मनेपद, लट् उत्तमपुरुष एकवचन ।

२. इयर्मि – √ऋि (जाना) + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन ।

३. अर्भकाय – अर्भक शब्द चतुर्थी एकवचन ।

४. सेनाजुवा – सेना + जु ।

५. न्यूहतुः – नि + √वह् (ले जाना) + लिट्, प्रथमपुरुष द्विवचन ।

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा
> देवानां वा जूतिभिःशाशदाना ।
> तद्रासभो नासत्या सहस्र-
> माजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥२॥

पदपाठ— वीळुपत्मऽभिः । आशुहेमऽभिः । वा । देवानाम् । वा । जूतिऽभिः । शाशदाना ॥ तत् । रासभः । नासत्या । सहस्रम् । आजा । यमस्य । प्रऽधने । जिगाय ॥

सा० भा०— वीळुपत्मभिः । वीड्विति बलनाम । बलवदुत्पतनैः आशुहेमभिः शीघ्रगमनैः । वाशब्दः समुच्चये । हे नासत्या अश्विनौ एवंभूतैरश्वैश्च देवानाम् इन्द्रादीनां जूतिभिः प्रेरणैश्च शाशदाना शाशद्यमानयोः अत्यर्थं प्रेर्यमाणयोर्युवयोर्वाहनभूतो यः रासभः प्रजापतिना दत्तः सः यमस्य वैवस्वतस्य प्रीतिकरे प्रधने प्रकीर्णधनोपेते आजा आजौ सङ्ग्रामे तत् शत्रूणां सहस्रं जिगाय जितवान् । वैवस्वतो हि बहूनां मरणहेतुना सङ्ग्रामेण तुष्टो भवति । यद्वा । जेतव्यत्वेन प्रजापतिना निहितं ऋक्सहस्रं शीघ्रगमनयुक्तो रासभो जिगाय जयेनालभत । अन्येभ्यः देवेभ्यः पूर्वमेवाजिं प्राप्य युवां प्रापयामास । तथा चास्मिन्नर्थे 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्' (ऐ०ब्रा०. ४.७) इत्यादिकं ब्राह्मणमनुसन्धेयम् ॥ वीळुपत्मभिः । वीळु बलवत्पतन्तीति वीळुपत्मानः । आशुहेमभिः । आशु शीघ्रं हिन्वन्ति गच्छन्तीति आशुहेमानः । तैः । 'हि गतौ वृद्धौ च' । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति मनिन् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । जूतिभिः । 'उतियूतिजूति०' इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम् । शाशदाना । 'शद्लृ शातने' । अत्र गत्यर्थो धातूनामनेकार्थत्वात् । अस्मात् यङन्तात् लटः शानच् । तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति आर्धधातुकत्वात् शबभावः । अतोलोपयलोपौ । 'अभ्यस्तानामादिः, इत्याद्युदात्तत्वम् । 'सुपां सुलुक्०' इति षठ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । आजा । तेनैव सूत्रेण डादेशः । जिगाय । 'जि जये' । 'सन्लिटोर्जेः' इति अभ्यासादुत्तरस्य कुत्वं गकारः ॥

अन्वय— नासत्या, वीळुपत्मभिः देवानां वा जूतिभिः शाशदाना तत् रासभः यमस्य प्रधने आजा सहस्रं जिगाय ।

पदार्थ— नासत्या = हे दोनों अश्विनो ! वीळुपत्मभिः = मजबूत पङ्खों से । आशुहेमभिः = शीघ्रगामी अश्वों से । देवानाम् वा = और देवताओं के । जूतिभिः = प्रेरणा से । शाशदाना = जीतते हुए । रासभः = खच्चर ने । यमस्य = यम के । प्रधने = धनयुक्त । आजा = रथदौड़ प्रतियोगिता में । तत् = उन । सहस्रम् = हजार को । जिगाय = जीत लिया ।

अनुवाद— हे दोनों अश्विनों, मजबूत पङ्खों से, शीघ्रगामी अश्वों से और देवताओं की प्रेरणा से जीतते हुए (आप के) खच्चर ने यम के (द्वारा आयोजित) प्रचुर धनयुक्त रथदौड़ प्रतियोगिता में उन हजार (संख्या वाले प्रतियोगियों) को जीत लिया ।

**व्याकरण—**

१. वीळुपत्मभिः – वीळुपत्मन्, तृतीया बहुवचन। पत्मन् = √पत् (उड़ना) + मनिन्।
२. नासत्या – नासत्य के सम्बोधन द्विवचन में वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में नासत्यौ रूप बनेगा।
३. आशुहेमभिः – आशुहेमन् का तृतया बहुवचन। आशु + √हि + मनिन्।
४. जूतिभिः – जूति का तृतीया बहुवचन। जूति = √जू + क्तिन्।
५. शाशदाना – √शद् + शानच्, यङ्लुगन्त।
६. आजा – सप्तमी एकवचन का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में आजि रूप होता है।
७. जिगाय – √जी + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**तुग्रो॑ ह भु॒ज्युम॑श्विनोदमे॒घे**
**र॒यिं न कश्चि॑न्ममृ॒वाँ अवा॑हाः ।**
**तमू॑हथुर्नौ॒भिरा॑त्म॒न्वती॑भि-**
**रन्तरिक्ष॒प्रुद्भि॒रपो॑दकाभिः ॥३॥**

**पदपाठ—** तुग्रः । ह॒ । भु॒ज्युम् । अ॒श्वि॒ना॒ । उ॒द॒ऽमे॒घे । र॒यिम् । न । कः । चि॒त् । म॒मृ॒ऽवान् । अव॑ । अ॒हाः ॥ तम् । ऊ॒ह॒थुः । नौ॒भिः । आ॒त्म॒न्ऽवती॑भिः । अ॒न्त॒रि॒क्ष॒प्रुत्ऽभिः । अप॑ऽउदकाभिः ॥३॥

**सा० भा०—** अत्रेयमाख्यायिका। तुग्रो नाम अश्विनोः प्रियः कश्चिद्राजर्षिः। स च द्वीपान्तरवर्तिभिः शत्रुभिरत्यन्तमुपद्रुतः सन् तेषां जयाय स्वपुत्रं भुज्युं सेनया सह नावा प्राहैषीत्। सा च नौः मध्येसमुद्रमतिदूरं गता वायुवशेन भिन्ना आसीत्। तदानीं सः भुज्युः शीघ्रम् अश्विनौ तुष्टाव। तौ च स्तुतौ सेनया सहितम् आत्मीयासु नौषु आरोप्य पितुस्तुग्रस्य समीपं त्रिभिरहोरात्रैः प्रापयामासतुरिति। अयमर्थः इदमादिकेन तृचेन प्रतिपाद्यते। हशब्दः प्रसिद्धौ। तुग्रः खलु पूर्वं शत्रुभिः पीडितः सन् तज्जयार्थम् उदमेघे। उदकैर्मिह्यते सिच्यते इति उदमेघः समुद्रः तस्मिन् भुज्युम् एतत्संज्ञं प्रियं पुत्रम् अवाहाः। नावा गन्तुं पर्यत्याक्षीत्। तत्र दृष्टान्तः। ममृवान् म्रियमाणः सन् धनलोभी कश्चित् मनुष्यः रयिं न यथा धनं परित्यजति तद्वत्। हे अश्विनौ तं च भुज्युं मध्येसमुद्रं निमग्नं नौभिः पितृसमीपम् ऊहथुः युवां प्रापितवन्तौ। कीदृशीभिः। आत्मन्वतीभिः आत्मीयाभिः युवयोः

स्वभूताभिरित्यर्थः। यद्वा। धृतिरात्मा धारणवतीभिरित्यर्थः। अन्तरिक्षप्रुद्भिः अतिस्वच्छ-त्वादन्तरिक्षे जलस्य उपरिष्टादेव गन्त्रीभिः अपोदकाभिः सुश्लिष्टत्वात् अपगतोदकाभिः अप्रविष्टोदकाभिरित्यर्थं ॥ उदमेघे । 'मिह सेचने' । कर्मणि घञ् । 'न्यङ्क्वादीनां च' (पा०सू० ७.३.५३) इति कुत्वम् । 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६.३.५७) थाथादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम । ममृवान् । 'मृङ् प्राणत्वयागे' । लिटः क्वसुः । क्रमादि-नियमात् प्राप्तस्य इटः 'वस्वेकाजाद्धसाम्' इति नियमात् अभावः । अहाः । 'ओहाक् त्यागे' । लुङि तिपि च्लेः सिच् । आगमानुशासनस्यानित्यत्वात् सगिटौ न क्रियेते । 'बहुलं छन्दसि' इति इडभावः । 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपः । रुत्वविसर्गौ । यद्वा । 'मन्त्रे घस०' इति च्लेर्लुक् । च्लेर्लुप्तत्वात् इण् न क्रियते । नौभिः । 'सावेकाचः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । आत्मन्वतीभि । आत्मनो मतुप् । 'मादुपधायाः' इति वत्वम् । 'अनो नुट्' (पा०सू० ८.२.१६) इति नुट् । नलोपः । 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुप उदात्त-त्वम् । अन्तरिक्षप्रुद्भिः । 'प्रुङ् गतौ' । 'क्विप् च' इति क्विप् ॥

**अन्वय**— अश्विना, कश्चित् ममृतवान् रयिं न तुग्रः भुज्युम् उदमेधे अहाः, तम् आत्मन्वतीभिः अन्तरिक्षप्रुद्भिः अपोदकाभिः नौभिः ऊहथुः ।

**पदार्थ**—अश्विना = हे दोनों अश्विनो ! कश्चित् = कोई । ममृतवान् = मरने वाला । रयिं न = धन के समान । तुग्रः = तुग्र (नामक राजर्षि) ने । भुज्युम् = भुज्यु (नामक अपने पुत्र) को । उदमेधे = समुद्र में । अहाः = छोड़ दिया । तम् = उस (भुज्यु) को । आत्मन्वतीभिः = प्राण वाली । अन्तरिक्षप्रुद्भिः = समुद्र के ऊपर चलने (तैरने) वाली । अपोदकाभिः = अन्दर जल न जाने वाली । नौभिः = नौकाओं से । ऊहथुः = तुम दोनों ले आये ।

**अनुवाद**— हे दोनों अश्विनों, जिस प्रकार (कोई) मरने वाला धन को (छोड़ देता है) उसी प्रकार तुग्र (नामक राजर्षि) ने भुज्यु (नामक पुत्र) को समुद्र में छोड़ दिया । उस (भुज्यु) को तुम दोनों प्राण वाली, समुद्र पर चलने (तैरने) वाली और अन्दर जल न जाने वाली नौकाओं से (घर) ले आये ।

**व्याकरण**—

१. ममृतवान् – √मृ + क्वसु, प्रथमा एकवचन ।

२. अहाः – √हा + लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप ।

३. ऊहथुः– √वह् + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन ।

४. आत्मन्वतीभिः – आत्मन् + मतुप्, तृतीया बहुवचन ।

५. अन्तरिक्षप्रुद्भिः – अन्तरिक्षप्रुत् का तृतीया बहुवचन । प्रुत् = √प्रु + क्विप् ।

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भि-
र्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे
त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः ॥४॥

**पदपाठ—** तिस्रः । क्षपः । त्रिः । अहा । अतिव्रजत्ऽभिः । नासत्या । भुज्युम् । ऊहथुः । पतङ्गैः ॥ समुद्रस्य । धन्वन् । आर्द्रस्य । पारे । त्रिऽभिः । रथैः । शतपत्ऽभिः । षट्ऽअश्वैः ॥४॥

**सा० भा०—** हे नासत्यौ सेनया सह उदके निमग्नं भुज्युं तिस्रः क्षपः त्रिसङ्ख्याका रात्रीः त्रिरहा त्रिवारमावृत्तान्यहानि च अतिव्रजद्भिः अतिक्रम्य गच्छद्भिरेतावन्तं कालमतिव्याप्य वर्तमानैः पतङ्गैः पतद्भिः त्रिभिः त्रिसङ्ख्याकैः रथैः ऊहथुः युवामूढवन्तौ । क्वेति चेत् उच्यते । समुद्रस्य अम्बुराशेर्मध्ये धन्वन् धन्वनि जलवर्जिते प्रदेशे आर्द्रस्य उदकेनार्द्रीभूतस्य समुद्रस्य पारे तीरदेशे कथंभूतै रथैः । शतपद्भिः शतसङ्ख्याकैश्चक्रलक्षणैः पादैरुपेतैः षळश्वैः षड्भिरश्वैर्युक्तैः ॥ तिस्रः । 'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्' इति तिस्रादेशः । स चान्तोदात्तः । 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । क्षपः । विभक्त्यन्तस्य छान्दसं ह्रस्वत्वम् । यद्वा । शति 'आतः' इति योगविभागादधातोरपि आकारलोपः । अहा । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । पतङ्गैः । 'पत्लृ गतौ' । 'पतेरङ्गच्०' (उ०सू० १.११६) । धन्वन् । 'धविर्गत्यर्थः' । इदित्त्वात् नुम् । 'कनिन्युवृषि०' इत्यादिना कनिन् । 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक् । शतपद्भिः । शतं पादा येषाम् । 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः । अयस्मयादित्वेन भत्वात् 'पादः पत्' इति पद्भावः । यद्वा । पादसमानार्थः पच्छब्दः प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्यम् ॥

**अन्वय—** नासत्या, तिस्रः क्षपः त्रिः अहा अतिव्रजद्भिः शतपद्भिः षळश्वैः पतङ्गैः त्रिभिः रथैः भुज्युम् आर्द्रस्य समुद्रस्य पारे धन्वन् ऊहथुः ।

**पदार्थ—** नासत्या = हे दोनों अश्विनो ! तिस्रः = तीन । क्षपः = रात्रियों । त्रिः = तीन । अहा = दिनों । अतिव्रजद्भिः = लगातार चलने वाले । शतपद्भिः = सौ पैरों वाले । षडश्वैः = छः अश्वों से युक्त । पतङ्गैः = उड़ने वाले । त्रिभिः = तीन । रथैः = रथों से । भुज्यम् = (तुग्र के पुत्र) भुज्यु को । आर्द्रस्य = जल वाले । समुद्रस्य = समुद्र के । पारे = पार में । धन्वन् = सूखे स्थल पर । ऊहथुः = ले आये ।

**अनुवाद—** हे दोनों अश्विनों, तीन रात्रियों (और) तीन दिनों तक लगातार चलने वाले, सौ पैरों वाले, (तथा) छः अश्वों से युक्त उड़ने वाले तीन रथों से (तुग्र के पुत्र) भुज्यु को जल वाले समुद्र के पार सूखे स्थल पर ले आये।

**व्याकरण—**

१. धन्वन् – धन्वन् का सप्तमी एकवचन, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में धन्वनि। धन्वन् = √धौ + कनिन्।

२. शतपद्भिः – शतं पदाः येषां तैः (बहुव्रीहि)।

**अनारम्भणे तदवीरयेथा-**
**मनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।**
**यदश्विना ऊहथुं भुज्युमस्तं**
**शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥५॥**

**पदपाठ—** अनारम्भणे। तत्। अवीरयेथाम्। अनास्थाने। अग्रभणे। समुद्रे॥ यत्। अश्विनौ। भुज्युम्। ऊहथुः। अस्तम्। शतऽअरित्राम्। नावम्। आतस्थिऽवांसम् ॥५॥

**सा० भा०—** हे अश्विनौ अनारम्भणे आलम्बनरहिते समुद्रे तत् कर्म अवीरयेथाम्। विक्रान्तं कृतवन्तौ युवाम्। अनारम्भणत्वमेव स्पष्टीकरोति। अनास्थाने। आस्थीयते अस्मिन् इति आस्थानो भूप्रदेशः। तद्रहिते स्थातुमशक्ये जले इत्यर्थः। अग्रभणे अग्रहणे। हस्तेन ग्राह्यं शाखादिकमपि यत्र नास्ति तस्मिन् इत्यर्थः। किं पुनस्तत्कर्म। भुज्युं समुद्रे मग्नं शतारित्रां बह्वरित्राम्। यैः काष्ठैः पार्श्वतो बद्धैर्जलालोडन सति नौः शीघ्रं गच्छति तानि अरित्राणि। ईदृशीं नावम् आतस्थिवांसम्। आस्थितवन्तमारूढवन्तं कृत्वा। अस्तम्। गृहनामेतत्। पितुस्तुग्रस्य गृहं प्रति यत् ऊहथुः। तत्रापणमन्यैर्दुःशकं युवां समुद्रमध्ये कृतवन्तावित्यर्थः॥ अनारम्भणे। आरभ्यते इत्यारम्भणम्। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। 'नञ्सुभ्याम्' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। अवीरयेथाम्। 'शूर वीर विक्रान्तौ'। चुरादिरात्मनेपदी। अनास्थाग्रभणयोः पूर्ववत् ल्युट्स्वरौ। अयं तु विशेषः। 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम्। अस्तम्। अस्यते अस्मिन् सर्वमित्यस्तं गृहम्। 'असिहसि०' इत्यादिना तन्प्रत्ययः। शतारित्राम्। 'ऋगतौ'। 'अर्तिलूधूसू०' (पा०सू० ३.२.१८४) इति करणे इत्रप्रत्ययः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

**अन्वय**— अश्विनौ, यत् शतारित्रां नावं आतस्थिवासं भुज्युम् अस्तम् ऊहथुः। अनारम्भणे अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे तत् अवीरयेथाम्।

**पदार्थ**— अश्विनौ = हे दोनों अश्विनों ! यत् = जो। शतारित्राम् = सौ डाड़ों वाली। नावम् = नाव पर। आतस्थिवासं = बैठाये हुए, बैठाकर। भुज्युं = भुज्यु को। अस्तम् = घर को। ऊहथुः = ले आये। अनारम्भणे = आलम्बन (आश्रय) से रहित। अनास्थाने = (खड़े होने के) स्थान से रहित। अग्रभणे = किसी पकड़ने के आश्रय से विहीन। समुद्रे = समुद्र में। तत् = वह। अवीरयेथाम् = वीरता (बहादुरों) का कार्य किया।

**अनुवाद**— हे दोनों अश्विनों, तुम दोनों जो सौ डाड़ों वाले नाव पर बैठाकर भुज्यु को घर को ले आये, वह तुम दोनों ने आलम्बन (आश्रय) से रहित, खड़े होने के स्थान से रहित और किसी पकड़ने के माध्यम से रहित समुद्र में वीरता (बहादुरी) का काम किया।

**व्याकरण**—

१. अनारम्भणे – नञ् + आ + √रम् + ल्युट्, सप्तमी एकवचन।

२. अवीरयेथाम् – √वीर् (वीरता) आत्मनेपद लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

३. अग्रभणे – नञ् + ग्रम् (पकड़ना) +ल्युट् सप्तमी एकवचन।

४. शतारित्राम् – शत अरित्रः यस्मिन् तत् बहुव्रीहि। अरित्रः = √ऋ (जाना) + इत्र।

५. आतस्थिवांसम् – आ √स्था + क्वसु, द्वितीया, एकवचन।

**यमश्विना दुदथुः श्वेतमश्वं-**
**मघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।**
**तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भू-**
**त्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥६॥**

**पदपाठ**— यम्। अश्विना। दुदथुः। श्वेतम्। अश्वम्। अघऽअश्वाय। शश्वत्। इत्। स्वस्ति॥ तत्। वाम्। दात्रम्। महि। कीर्तेन्यम्। भूत्। पैद्वः। वाजी। सदम्। इत्। हव्यः। अर्यः ॥६॥

**सा० भा०**— अत्रेदमाख्यायते। पेदुर्नाम कश्चित् स चाश्विनौ तुष्टाव। तस्मै प्रीतौ कश्चिच्छ्वेतवर्णमश्वं दत्तवन्तौ। स चाश्वस्तस्य प्रौढं जयं चकारेति। एतदत्र प्रतिपाद्यते।

हे अश्विनौ युवाम् अघाश्वाय अहन्तव्याश्वाय । पेदुनाम्ने राजर्षये यं श्वेतवर्णम् अश्वं ददथुः दत्तवन्तौ सोऽश्वस्तस्मै स्वस्ति जयलक्षणं मङ्गलं शश्वत् इत् नित्यमेव चकार । वां युवयोः तत् दात्रं दानं महि महदतिगम्भीरम् अत एव कीर्तेन्यं सर्वैः कीर्तनीयं प्रशस्यं भूत् अभूत। तस्मात् पैद्वः पेदोः सम्बन्धी पतनशीलः शीघ्रगामी वा अर्यः शत्रूणां प्रेरयिता युद्धेषु प्रेरयितव्यो वा वाजी वेजनवान् सोऽश्वः सदमित् सदैव हव्यः अस्माभिरप्याह्वातव्यः ॥ दात्रम्। ददातेर्भावे औणादिकः त्रप्रत्ययः । महि । 'मह पूजायाम्' । 'इत्सर्वधातुभ्यः' इति इन्। कीर्तेन्यम्। 'कृत संशब्दने' । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' इति केन्यप्रत्ययः । 'ऋद्धातोः' इति इत्वम् । भूत् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः । पैद्वः । पेदोः सम्बन्धी । 'तस्येदम्' इति अण् । छान्दसो वर्णलोपः । हव्यः ह्वयतेः 'अचो यत्' इति यत्। 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम्। गुणः । 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव' इति अवादेशः । अर्यः । 'ऋ गतौ' । 'अघ्न्यादयश्च' (उ०सू० ४.५५१) इति औणादिको यत्। व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्॥

**अन्वय**— अश्विना, अघाश्वाय यं श्वेतम् अश्वम् ददथुः तत् शश्वत् इत् स्वस्ति। वां तत् महि दात्रं कीर्त्येन्यं भूत्, पैद्वः वाजी अर्यः इत् सदम् हव्यः (भूत्)।

**पदार्थ**— अश्विना = हे दोनों अश्विनो ! अघाश्वाय = दुष्ट (नीच) अश्व वाले के लिए। यं = जिस। श्वेतम् = श्वेत वर्ण वाले। अश्वम् = अश्व को। ददथुः = तुम दोनों ने दिया। तत् = वह। शश्वत् = नित्य, सदा के लिए। इत् = निश्चित रूप से। स्वस्ति = मङ्गलकारक हो गया। वां = तुम दोनों का। तत् = वह। महि = महान्। दात्रम् = दान। कित्र्येन्यम् = कीर्ति (यश, प्रशंसा) के योग्य। भूत् = हुआ। पैद्वः = पेदु का। बाजी = (वह) अश्व। अर्यः = स्वामी (मालिक) के लिए। इत् = निश्चित रूप से। सदम् = सदा के लिए। हव्यः = स्तुत्य, प्रशंसनीय।

**अनुवाद**— हे दोनों अश्विनों, दुष्ट (नीच) अश्व वाले के लिए जिस श्वेत वर्ण अश्व को तुम दोनों ने दिया, वह (अश्व) सदा के लिए निश्चित रूप से मङ्गलकारक हो गया। तुम दोनों का वह महान् दान कीर्ति (यश या प्रशंसा) के योग्य हो गया, पेदु का (वह) अश्व स्वामी के लिए निश्चितरूप से सदा के लिए प्रशंसनीय (स्तुत्य) (हो गया)।

**व्याकरण**—

१. ददथुः – √दा (देना) + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. अघाश्वाय – अघ अश्वः यस्य तस्मै (बहुव्रीहि)।

३. भूत् – √भू + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४. हव्यः – हव + यत्।

५. अर्यः – √ऋ (जाना) + यत्।

युवं नरा स्तुवते पज्रियाय
कक्षीवते अरदतं पुरंधिम् ।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः
शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः ॥७॥

**पदपाठ—** युवम् । नरा । स्तुवते । पज्रियाय । कक्षीवते । अरदतम् । पुरम्ऽधिम् । कारोतरात् । शफात् । अश्वस्य । वृष्णः । शतम् । कुम्भान् । असिञ्चतम् । सुरायाः ॥७॥

**सा० भा०—** अत्रेयमाख्यायिका । कक्षीवानृषिः पुरा तमसा तिरोहितज्ञानः सन् ज्ञातार्थमश्विनौ तुष्टाव । तस्मै अश्विनौ प्रभूतां धियं दत्तवन्ताविति । तदाह । हे नरा नेतारावश्विनो युवं युवां पज्रियाय । पज्रा इत्यङ्गिरसाम् आख्या 'पज्रा वा अङ्गिरस' इत्याम्नातत्वात् । तेषां कुले जाताय कक्षीवते । कक्ष्या रज्जुरश्वस्य । तद्वते तत्संज्ञाय स्तुवते युवयोः स्तुतिं कुर्वते मह्यं पुरन्धिं प्रभूतां धियं बुद्धिम् अरदतं व्यलिखतम् । यथा सर्वार्थगोचरा भवति तथा कृतवन्तावित्यर्थः । अपि च कारोतरात् कारोतरो नाम वैदलश्चर्मवेष्टितो भाजनविशेषो यस्मिन् सुरायाः स्रावणं क्रियते । लुप्तोपममेतत् । कारोत् यथा सुरायाः सम्पादकाः तां स्रावयन्ति एवमेव युवां वृष्णः सेचनसमर्थस्य युष्मदीयस्य अश्वस्य शफात् खुरात् सुरायाः शतं कुम्भान् असङ्ख्यातान् सुराघटान् असिञ्चतम् अक्षारयतम् । यद्वा । सिञ्चति पूरणार्थः । कारोतरस्थानीयात् युष्मदीयाश्वखुरात् या सुरा प्रवहति तया असङ्ख्यातान् घटान् असिञ्चतम् अपूरयतम् । ये जनाः सौत्रामण्यादिकर्मणि युष्मद्यागाय सुरां याचन्ते तेषामित्यर्थः ॥ स्तुवते स्तौतेर्लटः शतृ । अदादित्वात् शपो लुक् । 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । पज्रियाय । पज्रशब्दात् शैषिको घच् । कक्षीवते । 'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रिवत्कक्षीवत्०' इति निपातनात् कक्ष्याशब्दस्य सम्प्रसारणं वत्वं च । अरदतम् । 'रद विलेखने' । पुरन्धिम् । पुरन्धिर्बहुधीः' (निरु० ६.१३) इति यास्कः । पृषोदरादित्वात् पुरन्धिभावः । यद्वा । पुरं पूरयितव्यं सर्वविषयजातमस्यां धीयते अवस्थाप्यते इति 'पुरन्धिर्बुद्धिः' । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति दधातेः किप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति बहुलवचनात् अलुक् । इदं तु व्युत्पत्तिमात्रं वस्तुतः पृषोदरादिरेव । असिञ्चतम् । 'षिचिर् क्षरणे' तौदादिकः । 'शे मुचादीनाम्' इति नुम् ॥

**अन्वय—** नरा, युवम् स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते पुरन्धिम् अरदतम् । वृष्णः अश्वस्य कारोत्तरात् शफात् सुरायाः शतं कुम्भान् असिञ्चतम् ।

**पदार्थ—** नरा = हे नेता (दोनों अश्विनो) । युवम् = तुम दोनों ने । स्तुवते =

स्तुति करने वाले, पाज्रियाय = पज्रि वंश में उत्पन्न। कक्षीवते = कक्षीवान् के लिए। पुरन्धिम् = ज्ञान को, सौभाग्य को। अरदतम् = प्रदान किया। वृष्णः = बलसम्पन्न, बलवान्। अश्वस्य = अश्व के। कारोत्तरात् = बाँस के बने सुरापात्र से। शफात् = खुरों से। सुरायाः = सुरा के। शतं = सैकड़ों। कुम्भान् = घड़ों को। असिञ्चतम् = भर दिया, सींच दिया।

**अनुवाद**— हे नेता (दोनों अश्विनो), तुम दोनों ने स्तुति करने वाले (स्तोता) तथा पज्रिवंश में उत्पन्न कक्षीवान् के लिए (पर्याप्त) ज्ञान (सौभाग्य) को प्रदान किया। बलसम्पन्न अश्व के खुर से, (जो) मानों बाँस का बना सुरापात्र हो, सैकड़ों सुरा के घड़ों को भर दिया।

**व्याकरण**—

१. नरा – नर शब्द सम्बोधन द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में नरौ रूप बनता है।
२. युवम् – युष्मद् शब्द के प्रथमा द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में 'युवाम्' बनता है।
३. स्तुवते – (स्तुति करना) + शतृ, चतुर्थी एकवचन।
४. अरदतम् – √रद् + लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।
५. पुरन्धिम् – पुरम् + √धा + कि, द्वितीया एकवचन।
६. असिञ्चतम् – √सिच् + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

**हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां**
**पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।**
**ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीत-**
**मुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥८॥**

**पदपाठ**— हिमेन। अग्निम्। घ्रंसम्। अवारयेथाम्। पितुऽमतीम्। ऊर्जम्। अस्मै। अधत्तम्॥ ऋबीसे। अत्रिम्। अश्विना। अवऽनीतम्। उत्। निन्यथुः। सर्वऽगणम्। स्वस्ति ॥८॥

**सा० भा०**— अत्रेमाख्यानम्। अत्रिम् ऋषिम् असुराः शतद्वारे पीडायन्त्रगृहे प्रवेश्य तुषाग्निना अबाधिषत। तदानीं तेन ऋषिणा स्तुतावश्विनौ अग्निमुदकेनोपशमय्य तस्मात्

पीडागृहात् अविकलेन्द्रियवर्गं सन्तं निरगमयतामिति। तदेतत् प्रतिपाद्यते। हे अश्विनौ हिमेन हिमवच्छीतेनोदकेन घ्रंसं दीप्यमानम् अत्रेर्बाधिनार्थमसुरैः प्रक्षिप्तं तुषाग्निम् अवारयेथां युवां निवारितवन्तौ शीतीकृतवन्तावित्यर्थः। अपि च अस्मै असुरपीडया कार्श्यं प्राप्ताय अत्रये पितुमतीम्। पितुरित्यन्ननाम। अन्नयुक्तम् ऊर्जं रसात्मकं क्षीराकिम् अधत्तं पुष्ट्यर्थं प्रायच्छतम्। ऋबीसे अपगतप्रकाशे पीडायन्त्रगृहे अवनीतम् अवाङ्मुखतया असुरैः प्रापितम् अत्रिं सर्वगणम्। गणः समूहः। सर्वेषामिन्द्रियाणां पुत्रादीनां वा गणेनोपेतं स्वस्ति अविनाशी यथा भवति तथा अन्निन्यथुः तस्माद्ग्रहादुद्गमय्य युवां स्वगृहं प्रातिवन्तौ। यद्वा। हिमेन शीतेन वृष्ट्युदकेन अग्निम् अग्निवत्तीक्ष्णं घ्रंसम्। अहर्नामैतत्। सामर्थ्यात् निदाघकालीनम् अहः अवारयेथाम्। तस्याह्नस्तैक्ष्ण्यं निवारितवन्तौ। अपि च अग्नये पितुमतीं चरुपुरोडाशादिलक्षणान्नोपेतमूर्जं बलकरं रसात्मकम् उपस्तरणाभिधारणात्मकं घृतमधत्तम्। वृष्ट्युत्पादनेनाग्नेर्यागार्थं हवींषि निष्पादितवन्तावित्यर्थः। ऋबीसे अपगततेजस्के पृथिवीद्रव्ये अवनीतमोषधीनामुत्पादनाय अवस्तान्नीतम्। पार्थिवाग्निना परिपक्वाः उदकेन क्लिन्नाः ह्योषधिवनस्पतयो विरोहन्ति। अत्रिं हविषामत्तारमोषधिवनस्पत्यादीनां वा एवंविधमग्निं सर्वगणं व्रीह्याद्योषधिगणोपेतं हे अश्विनौ युवां स्वस्ति अविनाशः यथा भवति तथा उन्निन्यथुः। व्रीह्याद्योषधिवनस्पतिरूपेण भूमेरुपरिष्टान्नीतवन्तौ। कारणात्मना पार्थिवाग्नौ वर्तमानं सर्वमोषधिवनस्पत्यादिकमश्विनौ प्रवर्षणेन व्यक्तीकृतवन्तावित्यर्थः। अयं पक्षो यास्केन 'हिमेनोदकेन' (निरु० ६.३६) इत्यादिना उक्तः॥ पितुमतीम्। 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्' इति मतुप उदात्तत्वम्। ऋबीसे। अत्र यास्कः। 'ऋबीसमपगतभासमपचितमपह्नतभासं गतभासं वा' (निरु० ६.३५) इति। पृषोदरादित्वादभिमतरूपस्वरसिद्धिः। अत्रिम्। 'अद भक्षणे'। 'अदेस्त्रिनि च' इति शब्दात् त्रिः। अवनीतम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वसरत्वम्। स्वस्ति। 'अस भुवि'। भावे क्तिन्। 'छन्दस्युयथा' इति सार्वधातुकत्वात् अस्तेर्भूभावाभावः।

**अन्वय**— हिमेन घ्रंसम् अग्निम् अवारयेथाम्, अस्मै ऊर्जं पितुमतीम् अधत्तम्। अश्विना, ऋबीसे अवनीतं सर्वगणम् अत्रिं स्वस्ति उत् निन्यथुः।

**पदार्थ**— हिमेन = हिम से, ठण्डे जल से। घ्रंसम् = जलते हुए। अग्निम् = अग्नि को। अवारयेथाम् = नियन्त्रित किया, बुझाया। तस्मै = उसके लिए। ऊर्जं = बल देने वाला। पितुमतीम् = अन्न को। अधत्तम् = धारण किया, प्रदान किया। अश्विना– हे दोनों अश्विनो! ऋबीसे = अन्धेरी गुफा में। अवनीतम् = नीचे पड़े हुए। सर्वगणम् = सभी अनुयायियों सहित। अत्रिम् = अत्रि को। स्वस्ति = कल्याण के मार्ग पर। उन्निन्यथुः = ऊपर ले आये।

**अनुवाद**— ठण्डे जल से जलती हुई अग्नि को बुझाया। उसके लिए बल देने

वाला अन्न प्रदान किया। हे दोनों अश्विनो, तुम दोनों अन्धेरी गुफा में नीचे पड़े हुए (और) सभी अनुयायियों सहित अत्रि को कल्याण के मार्ग पर ऊपर ले जाये।

**व्याकरण—**

१. अवारयेयाम् – √वृ (आवृत करना) आत्मनेपद, लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. पितुमतीम् – √पि + तु + मतुप् + ङीप्।

३. अधत्तम् – √धा (रखना) + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

४. अश्विना – अश्विन् का सम्बोधन द्विवचन वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में अश्विनौ रूप होगा।

५. अवनीतम् – अव + नी + क्त।

परावतं नासत्यानुदेथा-
मुच्चाबुध्नं चक्रथुर्जिह्मबारम्।
क्षरन्नापो न पायनाय राये
सहस्राय तृष्यते गोतमस्य ॥९॥

**पदपाठ—** परा। अवतम्। नासत्या। अनुदेथाम्। उच्चाऽबुध्नम्। चक्रथुः। जिह्मऽबारम्॥ क्षरन्। आपः। न। पायनाय। राये। सहस्राय। तृष्यते। गोतमस्य॥९॥

**सा० भा०—** अत्रेदमाख्यानम्। कदाचिन्मरुभूमौ वर्तमानस्य स्तोतुः गोतमस्य ऋषेः समीपं देशान्तरे वर्तमानं कूपमुत्खायाश्विनौ प्रापयेताम्। प्रापय्य च तं कूपं स्नानपानादिसौकर्याय उपरिमूलमधोबिलमवास्थापयतामिति। तदेतादाह। हे नासत्या सत्यस्वभावौ सत्यस्य नेतारौ नासिकाप्रभवौ वा एतत्संज्ञावश्विनौ युवाम् अवतम्। कूपनामैतत्। अवस्तात्ततं कूपं परा अनुदेथां गोतमस्य ऋषेः समीपे प्रैरिषाथाम्। तदनन्तरं तं कूपम् उच्चाबुध्नम् उच्चैरुपरिष्टात् बुध्ने मूलं यस्य स तथोक्तः। जिह्मबारं जिह्ममधस्ताद्वर्तमानतया वक्रं बारं द्वारं यस्य स तथोक्तः। एवंगुणविशिष्टं चक्रथुः युवामकृषाथाम्। तस्मात् कूपात् तृष्यते पिपासतः गोतमस्य पायनाय पानार्थम् आपो न आपश्च। अयं नशब्दश्चार्थे। क्षरन् प्रवाहरूपेण निरगमन्। कीदृशस्य। राये हवींषि दत्तवतः सहस्राय सहनशीलाय। यद्वा। सहस्रसङ्ख्याकाय राये धनाय एतत्सङ्ख्यधनलाभार्थं च अक्षरन्॥ अनुदेथाम्। 'णु प्रेरणे'। तौदादिकः। जिह्मबारम्। द्वारशब्दस्य पृषोदरात्वित्

बारादेशः । क्षरन् । 'क्षर सञ्चालने' । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः । शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । तिङो लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरः । पायनाय । हेतुमिति णिच् । 'शाच्छासाह्वा०' इति युक् । भावे ल्युट् । 'रा दाने' । राति ददातीति राः । 'रातेर्डैः' (उ०सू० २.२२४) । 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । तृष्यते । 'ञितृषा पिपासायाम्' । श्यन् । लटः शतृ । श्यनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या' (पा०म० २.३.६२.१) इति चतुर्थी ।

**अन्वय—** नासत्या, अवतं परा अनुदेथाम्, उच्चाबुध्नं जिह्मबारं चक्रथुः, सहस्राय राये तृष्यते गोतमस्य पायनाय आपः न क्षरन् ।

**पदार्थ—** नासत्या = हे दोनों अश्विनों । अवतं = (धन के) कुएँ (कूप) को । परा = समीप में । अनुदेथाम् = तुम दोनों ने ऊपर उठाया । जिह्मबारं = तिरछे मुह वाला । चक्रथुः = किया । हजार (संख्या वाले) । राये = धन के । तृष्यते = प्यासे । गोतमस्य = गोतम के । पायनाय = पीने के लिए । आपः न = जल के समान । क्षरन् =बरसाया, चुवाया ।

**अनुवाद—** हे दोनों अश्विनो, तुम दोनों ने (धन के) कुएँ (कूप) को समीप में (नीचे से) ऊपर उठाया । इसके पेदी को नीचे तथा मुख को ऊपर की ओर तिरछा किया । हजार (संख्या वाले) धन के प्यासे गोतम के लिए (धन को) जल के समान बरसाया ।

**व्याकरण—**

१. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन का वैदिक रूप; लौकिक संस्कृत में नासत्यौ रूप होता है ।

२. अनुदेथाम् – √नुद् + आत्मनेपद, लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन ।

३. चक्रथुः – √कृ + लिट् मध्यमपुरुष द्विवचन ।

४. क्षरन् – √क्षर् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में अक्षरन् रूप बनता है ।

५. पायनाय – √पा (पीना) + युक् + ल्युट्, चतुर्थी एकवचन ।

६. गोतमस्य – गोतम + षष्ठी एकवचन, चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग ।

**जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं**
**प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात् ।**

प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रा-
दित्पतिमकृणुतं कनीनाम् ॥१०॥

**पदपाठ—** जुजुरुषः । नासत्या । उत । वव्रिम् । अमुञ्चतम् । द्रापिम्-ऽइव । च्यवानात् ॥ प्र । अतिरतम् । जहितस्य । आयुः । दस्रा । आत् । इत् । पतिम् । अकृणुतम् । कनीनाम् ॥१०॥

**सा०भा०—** अत्रेदमाख्यानम् । वलीपलितादिभिरुपेतो जीर्णाङ्गः पुत्रादिभिः परित्यक्तश्च्यवनाख्यः ऋषिरश्विनौ तुष्टाव । स्तुतावश्विनौ तस्मै ऋषये जरामपगमय्य पुनर्यौवनमकुरुतामिति । तदेतदाह । हे नासत्या अश्विनौ जुजुरुषः जीर्णात् च्यवानात् च्यवनाख्यादृषेः सकाशात् वव्रिं शरीरमावृत्यावस्थितां जरां प्रामुञ्चतं प्रकर्षेणामोचयतम् । तत्र दृष्टान्तः । द्रापिमिव । द्रापिरिति कवचस्याख्या । यथा कश्चित् कृत्स्नशरीरव्यापकं धृत्वा पश्चात् शरीरात् पृथक्करोति तद्वत् । उत अपि च हे दस्रा एतत्संज्ञौ दर्शनीयौ वा अश्विनौ जहितस्य पुत्रादिभिः परित्यक्तस्य ऋषेः आयुः जीवनं प्रातिरतं प्रावर्धयतम् । प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः । आत् इत् अनन्तरमेव युवानं सन्तं कनीनां कन्यानां पतिं भर्तारम् अकृणुतम् अकुरुतम् ॥ जुजुरुषः । 'जृष् वयोहानौ' । लिटः क्वसुः । 'बहुलं छन्दसि' इति उत्वम् । द्विर्भावः । पञ्चम्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम् । 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् । वव्रिम् । 'वृञ् वरणे' । 'आदृगमहन०' इति किप्रत्ययः । जहितस्य । 'ओहाक् त्यागे' । कर्मणि निष्ठा । तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वात् यक् । तस्य 'बहुलं छन्दसि' इति श्लुः । 'जहातेश्च' (पा०सू० ६.४.११६) इति इत्वम् । कनीनाम् । 'रयेर्मतौ बहुलम्' इति बहुलवचनात् कन्याशब्दस्य अत्र सम्प्रसारणम् ॥

**अन्वय—** नासत्या, जुजुरुषः च्यवानात् द्रापिम् इव वव्रिम् अमुञ्चतम् उत दस्रा जहितस्य आयुः प्रातिरतम् आत् इत् कनीनां पतिम् अकृणुतम् ।

**पदार्थ—** नासत्या = हे दोनों नासत्यो । जुजुरुषः = वृद्ध । च्यवनात् = च्यवन (के शरीर) से । द्रापिम् इव = कवच के समान । वव्रिम् = बाहरी रूप को । अमुञ्चतम् = अलग कर दिया । उत = और । जहितस्य = छोड़ दिये गये (ऋषि) की ।आयुः = आयु को । प्रातिरतम् = बढ़ा दिया । आत् = इसके पश्चात् । इत् = निश्चित रूप से । कनीनाम् = सुन्दर युवतियों का । पतिम् = पति । अकृणतम् = किया, बनाया ।

**अनुवाद—** हे दोनों नासत्यों, तुम दोनों ने वृद्ध च्यवन (के शरीर) से कवच के

समान बाहरी रूप को अलग कर दिया और (पुत्रादिकों द्वारा) छोड़ दिये गये (ऋषि) की आयु को बढ़ा दिया, इसके पश्चात् निश्चितरूप से (उनको) सुन्दर युवतियों का पति बनाया।

**व्याकरण—**

१. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन में नासत्यौ का वैदिकरूप।

२. जुजुरुषः – जुजुर्वस् का पञ्चमी एववचन, जुजुर्वस् = √जॄ (वृद्ध होना) + क्वसु।

३. अमुञ्चतम् – √मुच् + लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

४. प्रतिरतम् – प्र + √तॄ (बढाना) + लङ् मध्यपुरुष द्विवचन।

५. जहितः – √हा + क्त।

६. अकृतम् – √कृ + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन, अकुरुतम् का वैदिकरूप।

**तद्वां नरा शंस्यं राध्यं**
**चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम्।**
**यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्ह-**
**मुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय ॥११॥**

**पदपाठ—** तत्। वाम्। नरा। शंस्यम्। राध्यम्। च। अभिष्टिऽमत्। नासत्या। वरूथम्॥ यत्। विद्वांसा। निधिम्ऽइव। अपऽगूळ्हम्। उत्। दर्शतात्। ऊपथुः। वन्दनाय ॥११॥

**सा० भा०—** अत्रेदमाख्यानम्। वन्दनो नाम कश्चिदृषिः स चासुरैः कूपे निखातः उत्तरीतुमशक्नुवन्नश्विनावस्तौत्। तमश्विनौ कूपादुन्निन्यतुरिति। तदाह। नरा आरोग्यस्य नेतारौ हे नासत्यौ अश्विनौ वां युवयोः सम्बन्धि अभिष्टिमत् अभ्येषणयुक्तमाभिमुख्येन प्राप्तव्यं तथा वरूथं वरणीयं कामयितव्यं तत् कर्म शंस्यम् अस्माभिः प्रशंसनीयं राध्यम् आराधनीयं च। किं पुनस्तत्कर्म। विद्वांसा जानन्तौ युवां निधिमिव निक्षिप्तं धनमिव अपगूळ्हम् अरण्ये निर्जने देशे कूपमध्ये असुरैः निगूढं वन्दनाय वन्दनमृषिं दर्शतात् अध्वगैः पिपासुभिर्द्रष्टव्यात् उत् ऊपथुः उदहार्ष्टम्। एवं यत् एतत् कूपादुद्धरणं तदित्यर्थः॥ शंस्यम् 'शंसु स्तुतौ'। अस्मात् ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति यत्। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। अभिष्टितम्। अभिपूर्वात् 'इष गतौ' इत्यस्माद्भावे क्तिन्। 'मन्त्रे वृष' इति क्तिन उदात्तत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते। शकन्ध्वादित्वात्

पररूपत्वम्। 'तादौ च' इति तु गतिस्वरस्य सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाप्रवृत्तिः। ततो मतुप्। अन्तोदात्तादुत्तरस्य तस्य 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' वरूथम्। 'जॄवृञ्भ्यामूथम्'। विद्वांसा। 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेराकारः। अपगूळ्हम्। 'गुहू संवरणे'। कर्मणि निष्ठा। 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः। ढत्वधत्वष्टुत्वढ्लोपदीर्घाः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। दर्शतात्। 'भृमृदृशि' इत्यादिना अतच्। ऊपथुः। 'डुवप् बीजतन्तुसंताने'। लिटि अथुसि यजादित्वात् सम्प्रसारणम्। द्विर्वचनादि। वन्दनाय। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी॥

**अन्वय**— नरा, वां तत् अभिष्टिमत् वरूथं शस्यं राध्यं च। यत् विद्वांसा वन्दनाय अपगू ळ्हं निधिम् इव दर्शतात् उत् ऊपथुः।

**पदार्थ**— नरा = हे नेता (अश्विनो)। वां = तुम दोनों की। तत् = वह। अभिष्टिमत् = सहायतात्मक। वरुथम् = सुरक्षा। शंस्यम् = प्रशंसनीय। राध्यं च = और स्तुत्य (पूजनीय)। यत् = जो। विद्वान्सा = विद्वान् (ज्ञानी) (तुम) दोनों ने। वन्दनाय = वन्दन को। अपगूह्ळम् = छिपी हुए। निधिम् इव = धन के समान। दर्शतात् = कुएँ से। उत् = बाहर। ऊपथुः = निकाला।

**अनुवाद**— हे नेता (दोनों नासत्यों) तुम दोनों की वह सहायतात्मक सुरक्षा प्रशंसनीय और स्तुत्य है जो ज्ञानी (तुम) दोनों ने वन्दन को छिपे हुए धन के समान कुएँ से ऊपर (बाहर) निकाला।

**व्याकरण**—

१. शंस्यम् – √शंस् + यत्।

२. राध्यम् – √राध् + यत्।

३. अभिष्टिमत् – अभि + √इष् या √अस् + मतुप्।

४. विद्वांसा – विद्वान् के प्रथमा द्विवचन में विद्वांसौ का वैदिकरूप।

५. अपगूह्ळम् – अप + √गुह् + क्त। दो स्वरों के मध्य में ढकार का ळ्हकार।

६. ऊपथुः = उत् + √वप् (लाना) + लिट् मध्यमपुरुष द्विवचन।

तद्वां नरा सनये दंस उग्र-

माविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।

दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वा-

मश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥१२॥

**पदपाठ—** तत् । वाम् । नरा । सनये । दंसः । उग्रम् । आविः । कृणोमि । तन्यतुः । न । वृष्टिम् ॥ दध्यङ् । ह । यत् । मधु । आथर्वणः । वाम् । अश्वस्य । शीर्ष्णा । प्र । यत् । ईम् । उवाच ॥

**सा० भा०—** अत्रेयमाख्यायिका । इन्द्रो दधीचे प्रवर्ग्यविद्यां मधुविद्यां चोपदिश्य यदि इमाम् अन्यस्मै वक्ष्यसि शिरस्ते छेत्स्यामीत्युवाच । ततोऽश्विनौ अश्वस्य शिरश्छित्वा दधीचः शिरः प्रच्छिद्यान्यत्र निधाय तत्राश्व्यं शिरः प्रत्यधत्ताम् । तेन च दध्यङ् ऋचः सामानि यजूंषि च प्रवर्ग्यविषयाणि मधुविद्याप्रतिपादकं ब्राह्मणं चाश्विनावध्यापयामास । तदिन्द्रो ज्ञात्वा वज्रेण तच्छिरोऽच्छिनत् । अथाश्विनौ तस्य स्वकीयं मानुषं शिरः प्रत्यधत्तामिति शाट्यायनवाजसनेययोः प्रपञ्चेनोक्तम् । तदेतत्प्रतिपाद्यते । हे नरा नरौ अश्विनौ वां युवयोः सम्बन्धि उग्रम् उद्गूर्णमन्यैर्दुःशकं दंसः । कर्मनामैतत् । युवाभ्यां पुरा कृतं तत् कर्म सनये धनलाभार्थम् आविष्कृणोमि प्रकटीकरोमि । तत्र दृष्टान्तः । तन्यतुः न यथा मेघस्थशब्दः वृष्टिं मेघान्तर्वर्तमानमुदकं प्रवर्षणेन सर्वत्र प्रकटयति तद्वत् । किं तत्कर्म । अथर्वणः पुत्रः दध्यङ् एतत्सञ्ज्ञः ऋषिः अश्वस्य शीर्ष्णा युष्मत्सामर्थ्येन प्रतिहितेन शिरसा वां युवाभ्याम् ईम् इमां मधुविद्यां यत् ह यदा खलु प्र उवाच प्रोक्तवान् । तदानीमश्वस्य शिरसः सन्धानलक्षणं च यत् भवदीयं कर्म तत् आविष्कृणोमीत्यर्थः ॥ सनये । 'षणु दाने' । 'खनिकषिकस्यञ्जसिवसिध्वनिस्तनिवनिसनिग्रन्थिचरिभ्यश्च' (उ०सू० ४.५७९) इति इप्रत्ययः । तन्यतुः । 'तनु विस्तारे' । 'ऋतन्यञ्जि०' (उ०सू० ४.४४२) इत्यादिना यतुच् । यद्वा । 'स्तन शब्दे' । बाहुलकात् यतुच् । छान्दसः सलोपः । वृष्टिम् । वृष्यते सिच्यते अनेनेति वृष्टिः । 'मन्त्रे वृष' इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वम् । आथर्वणः । अपत्यार्थे अणि 'अन्' (पा०सू० ६.४.१६७) इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावः । शीर्ष्णा । 'शीर्षश्छन्दसि' (पा०सू० ६.१.६०) इति शिरःशब्दपर्यायः शीर्षञ्शब्दोऽन्तोदात्तो निपात्यते । अल्लोपे सति उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

**अन्वय—** नरा, सनये वां तत् उग्रं दंसः तन्यतुः वृष्टिं न अविष्कृणोमि, यत् आथर्वणः दध्यङ् वाम् अश्वस्य शीर्ष्णा यत् मधु ईम् प्र उवाच ।

**पदार्थ—** नरा = हो दोनों नेताओं । सनये = धन के लिए । वां = तुम दोनों के । तत् = उस । उग्रम् = शक्तिशाली । दंसः = आश्चर्यजनक कार्य को । तन्यतुः = गर्जन । वृष्टिं न = वर्षा के समान । अविष्कृणोमि = प्रकट करता हूँ, प्रस्तुत करता हूँ । यत् = आथर्वणः = अथर्वण के पुत्र । दध्यङ् = दध्यङ् ने । वाम् = तुम दोनों को । अश्वस्य = अश्व के । शीर्ष्णा = सिर से । यत् = जिस । मधु = मधु (विद्या के रहस्य) को । ईम् = निश्चित रूप से । प्र उवाच = कहा था (बताया था) ।

**अनुवाद—** हे दोनों नेताओं (अश्विनो), धन के लिए तुम दोनों के उस शक्ति-

शाली आश्चर्यजनक कार्य को उसी प्रकार मैं प्रकट करता हूँ जिस प्रकार गर्जन वर्षा को (प्रकट करता है) जो अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने तुम दोनों को अश्व के सिर (मुख से जिस मधु (विद्या के रहस्य) को निश्चित रूप से कहा (बताया) था।

**व्याकरण—**

१. आविष्कृणोमि – आविः + √कृ + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन, आविष्करोमि का वैदिकरूप।

२. तन्यतुः – √तन् या √स्तन् + यतुच्।

३. उवाच – √वच् + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**अजोहवीन्नासत्या करा वां**
**महे यामन्पुरुभुजा पुरंधिः।**
**श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या**
**हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम् ॥१३॥**

**पदपाठ—** अजोहवीत्। नासत्या। करा। वाम्। महे। यामन्। पुरुऽभुजा। पुरम्ऽधिः॥ श्रुतम्। तत्। शासुःऽइव। वध्रिऽमत्याः। हिरण्यऽहस्तम्। अश्विना। अदत्तम् ॥१३॥

**सा० भा०—** वध्रिमती नाम कस्यचिद्राजर्षेः पुत्री नपुंसकभर्तृका। सा पुत्रलाभार्थमश्विनावाजुहाव। तदाह्वानं श्रुत्वाश्विनावागत्य तस्यै हिरण्यहस्ताख्यं पुत्रं ददतुः तदेतदाह। पुरुभुजा बहूनां पालकौ प्रभूतहस्तौ वां हे नासत्यावश्विनौ महे महनीये यामन् यामनि। याति गच्छतीति याम स्तोत्रम्। तस्मिन्नसति करा अभिमतफलस्य कर्तारौ वां युवां पुरंधिः बहुधीः वध्रिमती। वध्रिः पुत्रोत्पादनाशक्तः षण्डकः। तद्वती एतत्संज्ञा राजपुत्री अजोहवीत्। पुनः पुनः स्तुत्या पुत्रलाभार्थम् आहूतवती। युवां च वध्रिमत्याः तत् आह्वानं श्रुतम् अशृणुतम्। तत्र दृष्टान्तः। शासुरिव। यथा शासुः आचार्यस्य वचनं शिष्योऽवहितः सन् एकाग्र्येण शृणोति तद्वत्। श्रुत्वा च हे अश्विनौ तस्यै हिरण्यहस्तं सुवर्णमयपाणिं हितरमणीयपाणिं वा एतत्संज्ञं पुत्रं अदत्तं प्रायच्छतम्॥ अजोहवीत्। ह्वयतेर्यङ्लुगन्तात् लङ्। 'यङो वा' इति तिप ईडागमः। करा। करोतेः पचाद्यच्। 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेः आकारः। यामन्। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति मनिन्। 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक्। श्रुतम्। लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इति शासुः। शास्तुः। अडभावः। 'शासु अनु-

शिष्टौ।' 'शंसिशसिशासि०' (उ०सू० २.२५०) इत्यादिना संज्ञायां तृन्। इडभावः। छान्दसस्तलोपः॥

**अन्वय—** पुरुभुजा नासत्या, पुरन्धिः महे यामन् करा वाम् अजोहवीत् वध्रिमत्याः तत् शासुः इव श्रुतम्, अश्विनौ, हिरण्यहस्तं अदत्तम्।

**पदार्थ—** पुरुभुजा = हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले। नासत्या = हे दोनों नासत्यों। पुरन्धिः = बुद्धिमती (स्त्री) ने। महे = श्रेष्ठ। यामन् = स्तुति में, प्रर्थना में। करा = (अभीष्ट) कार्य करने वाले। वाम् = तुम दोनों को। अजोहवीत् = आह्वान किया, बुलाया। वध्रिमत्याः = उस (आह्वान) को। शासुः इव = (गुरु के) वचन (आदेश) के समान। श्रुतम् = तुम दोनों ने सुना। अश्विनौ = हे दोनों अश्विनों। हिरण्यहस्तम् = सुवर्णमय हाथ वाले (पुत्र) को। अदत्तम् = प्रदान किया।

**अनुवाद—** हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले दोनों नासत्यो, बुद्धिमती (नपुंसक की पत्नी) ने (अपनी) श्रेष्ठ स्तुति में अभीष्ट कार्य करने वाले तुम दोनों को बुलाया (और) (उस) नपुंसक की पत्नी के उस (आह्वान) को तुम दोनों ने (गुरु के) आदेश के समान सुना। हे दोनों अश्विनों, (उसके लिए) तुम दोनो ने सुवर्णमय हाथ वाले (पुत्र) को प्रदान किया।

**व्याकरण—**

१. अजोहवीत् – √हू (बुलाना) लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. करा – कर्तृक प्रथमा द्विवचन का वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में कर्त्तारौ रूप बनता है।

३. यामन् – यामन् के सप्तमी एकवचन में वैदिकरूप, लौकिक संस्कृत में यामनि रूप बनेगा।

४. पुरुभुजा – पुरुभुज का सम्बोधन द्विवचन में वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में पुरुभुजौ रूप बनेगा।

५. श्रुतम् – √श्रु (सुनना) लुङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

६. अदत्तम् – √दा (देना) + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

आ॒स्नो वृक॑स्य॒ वर्ति॑काम॒भीके॑
यु॒वं नरा॒ नास॑त्यामुमुक्तम्।
उ॒तो क॒विं पु॑रुभुजा यु॒वं ह॒
कृप॑माणमकृणुतं वि॒चक्षे॑ ॥१४॥

**पदपाठ**— आस्नः । वृकस्य । वर्तिकाम् । अभीके । युवम् । नरा । नासत्या । अमुमुक्तम् ॥ उतो इति । कविम् । पुरुऽभुजा । युवम् । ह । कृपमाणम् । अकृणुतम् । विऽचक्षे ॥

**सा० भा०**— वर्तिका चटकसदृशस्य पक्षिणः स्त्री । तामरण्ये वर्तमानो शुना ग्रस्तां पुरा किल अश्विनौ अमोचयताम् । तदेतदाह नरा नेतारौ नासत्यावश्विनौ युवं युवाम् अभीके अभिगते वृकवर्तिकयोः संग्रामे वृकस्य विकर्तकस्य शुनः आस्नः आस्यात् वर्तिकां चटकसदृशीम् अमुमुक्तम् अमोचयतम् । यास्कस्त्वाह । पुनः पुनर्वर्तते प्रतिदिवसमावर्तते इति वर्तिका उषाः । तां वृकेण आवरकेण सर्वजगत्प्रकाशेनाच्छादयित्रा सूर्येण ग्रस्तां तदीयमुखादश्विनावमुञ्चतामिति । उतो अपि च पुरुभुजा महाबाहू प्रभूतहस्तौ वा युवं ह युवां खलु कृपमाणं स्तुवन्तं कविम् एतत्संज्ञमन्धमृषिं विचक्षे विशेषेण द्रष्टुं समर्थम् अकृणुतम् अकुरुतम् ॥ आस्नः । 'पद्दन्०' इत्यादिना आस्यस्य आसन्नादेशः । 'अल्लोपोऽनः' इति अकारलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । अमुमुक्तम् । मुचेरन्तर्भावितण्यर्थात् लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः । कृपमाणम् । कृपिः स्तुतिकर्मा तुदादिषु द्रष्टव्यः । विकरणस्वरे प्राप्ते 'वृषादीनां च' इत्याद्युत्तत्वम् । विचक्षे । 'तुमर्थे सेसेन्०' इति सेन्प्रत्ययः । 'स्कोः संयोगाद्योः०' इति सलोपः ॥

**अन्वय**— नरा नासत्या, अभीके युवम् वर्तिकाम् वृकस्य आस्नः अमुमुक्तम्, उतो पुरुभुजा, युवं कृपमाणं कविं ह विचक्षे अकृणुतम् ।

**पदार्थ**— नरा नासत्या = हे नेता नासत्यो । अभीके = युद्ध में । युवम् = तुम दोनों ने । वर्तिकाम् = वर्तिका (नामक पक्षी) को । वृकस्य = भेड़िये के । आस्नः = मुख से । अमुमुक्तम् = मुक्त कराया, बचाया । उतो = और । पुरुभुजा = हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले । युवम् = तुम दोनों ने । कृपमाणम् = स्तुति करते हुए (स्तोता) । कविम् = कवि को, क्रान्तद्रष्टा (ऋषि) को । ह = निश्चित रूप से । विचक्षे = देखने के लिए । अकृणुतम् = किया ।

**अनुवाद**— हे नेता दोनों नासत्यो, युद्ध में तुम दोनों ने वर्तिका (नामक पक्षी) को भेड़िये के मुख से मुक्त कराया (छुड़ाया) और हे अनेक (शक्तियों) का आनन्द लेने वाले (अश्विनो), तुम दोनों ने स्तुति करने वाले (अन्धे) क्रान्तद्रष्टा (ऋषि) को देखने के लिए (समर्थ) किया ।

**व्याकरण**—

१. आस्नः – आस्य का पञ्चमी एकवचन का वैदिकरूप ।

२. अमुमुक्तम् – √मुच् + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

३. कृपमाणम् – √क्रिप् + मतुप्।

४. अकृणुतम् – √कृ + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन, अकुरुतम् का वैदिकरूप।

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् ॥१५॥

**पदपाठ—** चरित्रम्। हि। वेःऽइव। अच्छेदि। पर्णम्। आजा। खेलस्य। परिऽतक्म्यायाम्॥ सद्यः। जङ्घाम्। आयसीम्। विश्पलायै। धने। हिते। सर्तवे। प्रति। अधत्तम् ॥१५॥

**सा० भा०—** अगस्त्यपुरोहितः खेलो नाम राजा। तस्य सम्बन्धिनी विश्पला नाम स्त्री सङ्ग्रामे शत्रुभिश्छिन्नपादा आसीत्। पुराहितेनागस्त्येन स्तुतावश्विनौ रात्रावागत्य अयोमयं पादं समधत्ताम्। तदेतदाह। आजा आजौ सङ्ग्रामे अगस्त्यपुरोहितस्य खेलस्य सम्बन्धिन्याः विशपलाख्यायाः चरित्रं चरणं वेरिव वेः पक्षिणः पर्णं पतत्रमिव अच्छेदि हि पुरा छिन्नमभूत् खलु। हे अश्विनौ युवामगस्त्येन स्तुतौ सन्तौ परितक्म्यायाम्। परितक्म्या रात्रिः। 'परित एनां तकति' (निरु० ११.२५) इति यास्कः। एनामुभयतः सूर्यो गच्छतीति तस्यार्थः। रात्रावागत्य सद्यः तदानीमेव हिते शत्रुषु निहिते धने जेतव्ये विषयभूते सति सर्तवे सर्तुं गन्तुं विशपलायै आयसीम् अयोमयीं जङ्घां जङ्घोपलक्षितं पादं प्रत्यधत्तम्। सन्धानमेकीकरणं कृतवन्तावित्यर्थः॥ चरित्रम् 'अर्तिलूधूखनसहर इत्रः' इति करणे इत्रः। आजा। 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेर्डादेशः। आयसीम्। अयःशब्दाद्विकारार्थे 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (पा०सू० ४.३.१४५) 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप्॥

**अन्वय—** परितक्म्यायाम् खेलस्य आजा चरित्रं वेः पर्णम् इव अच्छेदि। सद्यः विशपालायै हिते धने सर्तवे आयसीं जङ्घाम् प्रति अधत्तम्।

**पदार्थ—** परितक्म्यायाम् = रात्रि में। खेलस्य = खेल (नामक राजा) को। आजा = युद्ध में। चरित्रम् = पैर। वेः = पक्षी के। पर्णम् इव = पङ्ख के समान। अच्छेदि = कट गया था। सद्यः = शीघ्र ही। विश्पलायै = विश्पला के लिए। हिते = गड़े (छिपे) धन के लिए। सर्तवे प्रति = दौड़ने के लिए। आयसीम् = लोहनिर्मित,

लोहे के। जङ्घाम् = जङ्घों को, पैर को। प्रति अधत्तम् = तुम दोनों ने प्रदान किया।

**अनुवाद**— रात्रि में खेल (नामक राजा) के युद्ध में (उसकी पत्नी विश्पला का) पैर पक्षी के पङ्ख के समान कट गया था। शीघ्र ही विश्पला को (उसके) गड़े, (छिपे) धन के लिए तुम दोनों ने लौहनिर्मित पैर को प्रदान किया।

**व्याकरण**—

१. अच्छेदि – √छिद् (काटना) लुङ् + प्रथमपुरुष एकवचन।

२. हिते – √धा + क्त चतुर्थी एकवचन।

३. सर्तवे – √सृ + तुमर्थक तवे प्रत्यय।

४. अधत्तम् – √धा + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

५. नरा, नासत्या, पुरुभुजा– सम्बोधन द्विवचन। क्रमशः नरौ, नासत्यौ, पुरुभुजौ का वैदिकरूप।

**शतं मेषान्वृक्यै चक्षदान-**
**मृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।**
**तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष**
**आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥१६॥**

**पदपाठ**— शतम्। मेषान्। वृक्यै। चक्षदानम्। ऋज्रऽअश्वम्। तम्। पिता। अन्धम्। चकार॥ तस्मै। अक्षी इति। नासत्या। विऽचक्षे। आ। अधत्तम्। दस्रा। भिषजौ। अनर्वन् ॥१६॥

**सा०भा०**— वृषागिरः पुत्रः ऋज्राश्वो नाम राजर्षिः। तस्य समीपे अश्विनो-र्वाहनभूतो रासभो वृकीभूत्वावतस्थे। स च तस्या आहारार्थमेकोत्तरशतसङ्ख्याकान् पौर-जनानां स्वभूतान्मेषान्शकलीकृत्य प्रददौ। 'ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान्' (ऋ०सं० १.११७.१७) इति मन्त्रान्तरे दर्शनात्। एवं पौराणामहिते प्रवृत्तं पिता शापेन नेत्रहीन-मकरोत्। तेन स्तूयमानावश्विनौ अस्मद्वाहननिमित्तम् अस्य आन्ध्यं जातमिति जानन्तौ तस्मै अक्षिणी प्रायच्छतामिति। तदेतदाह। अत्र तच्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दाध्याहारः। यः ऋज्राश्वः शतं शतसङ्ख्याकान् मेषान् वृक्ये आत्मना पोषितायै वृकस्त्रियै शकलीकृत्य प्रादात् तं चक्षदानम्। क्षदतिः अत्तिकर्मा अत्र शकलीकरणार्थः। शकलीकृत्य दत्तवन्तम् ऋज्राश्वं पिता शापेन अन्धं दृष्टिहीनं चकार कृतवान्। हे नासत्या सत्यस्वभावौ सत्यस्य नेतारौ

वा भिषजौ देवानां वैद्यभूतौ। 'अश्विनौ वै देवानां भिषजौ' (ऐ०ब्रा० १.१८; तै०सं० २.३.११) इति श्रुतेः। दस्रा दर्शनीयौ एतत्संज्ञौ वा हे अश्विनौ अनर्वन् अनर्वणी द्रष्टव्यं प्रति पितृशापात् गमनरहिते। अक्षी चक्षुषी। विचक्षे विविधं द्रष्टुं समर्थे तस्मै ऋज्राश्वाय आधत्तम् व्यधत्तम् अकुरुतम्॥ वृक्ये। वृकोऽरण्यश्वा। तस्य स्त्री वृकी। 'जातेरस्त्रीविषयात्०' (पा०सू० ४.१.६३) इति ङीष्। 'जसादिषु च्छन्दसि वावचनम्' इति चतुर्थ्येकवचनस्य आडभावे यणादेशे 'उदात्तस्वरितयोर्यणः०' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम्। चक्षदानम्। क्षदेर्लिटः कानच्। चित्स्वरः। अक्षी। 'ई च द्विवचने' (पा०सू० ७.१.७७) इति परत्वात् अक्षशब्दस्य ईकारान्तादेशः। स चोदात्तः। तस्मिन्कृते 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे' (परिभा० ४०) इति परिभाषया पुनः नुम् न भवति। विचक्षे। चक्षेः सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप्। अनर्वन्। 'ऋ गतौ'। अस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसङ्ग्रहार्थत्वात् भावे वनिप्। अर्व गमनं विषयं प्रति एनयोः नास्तीति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। 'सुपां सुलुक्०' इति द्विवचनस्य लुक्। छान्दसो नलोपाभावः।

**अन्वय—** वृक्ये शतं मेषान् चक्षदानं तम् ऋजाश्वं पिता अन्धं चकार। दस्रा भिषजौ नासत्या, तस्मै विचक्षे अनर्वन् अक्षी अधत्तम्।

**पदार्थ—** वृक्ये = वृकी के लिए। शतं = सौ। मेषान् = भेड़ों को। चक्षदानम् = देने वाले, बलिदान करने वाले। तम् = उस (प्रसिद्ध)। ऋजाश्वम् = ऋजाश्व को। पिता = पिता ने। अन्धं = अन्धा। चकार = कर दिया, बना दिया। दस्रा = हे आश्चर्यजनक कार्य करने वाले। भिषजौ = हे वैद्य। नासत्या = दोनों नासत्यो। तस्मै विचक्षे = उस (ऋजाश्व) को देखने के लिए। अनर्वन् = अनुपम। अक्षी = दो आँखों को। अधत्तम् = तुम दोनों ने धारण (प्रदान) किया।

**अनुवाद—** वृकी के लिए सौ भेड़ों को देने (बलिदान करने) वाले उस (प्रसिद्ध) ऋजाश्व को (उसके) पिता ने अन्धा बना दिया। हे आश्चर्यजनक कार्य करने वाले दोनों वैद्य नासत्यो, तुम दोनों ने उस (ऋजाश्व) को देखने के लिए अनुपम दो आखों को प्रदान किया।

**व्याकरण—**

१. अक्षी – द्वितीया द्विवचन, पदान्त ईकार प्रगृह्य है।

२. अनर्वन् – √ऋ + वनिप्।

३. नासत्या – सम्बोधन द्विवचन नासत्यौ का वैदिकरूप।

आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य
कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती ।
विश्वे देवा अन्वमन्यन्त हृद्भिः
समु श्रिया नासत्या सचेथे ॥१७॥

**पदपाठ—** आ । वाम् । रथम् । दुहिता । सूर्यस्य । कार्ष्मऽइव । अतिष्ठत् । अर्वता । जयन्ती ॥ विश्वे । देवाः । अनु । अमन्यन्त । हृत्ऽभिः । सम् । ऊँ इति । श्रिया । नासत्या । सचेथे इति ॥१७॥

**सा० भा०—** सविता स्वदुहितरं सूर्याख्यां सोमाय राज्ञे प्रदातुमैच्छत्। तां सूर्यां सर्वे देवा वरयामासुः। ते अन्योन्यमूचुः आदित्यमवधिं कृत्वा आर्जिं धावाम। योऽस्माकं मध्ये उज्जेष्यति तस्येयं भविष्यतीति। तत्राश्विनावुदजयताम्। सा च सूर्या जितवतोस्तयोः रथमारुरोह। अत्र 'प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत्' (ऐ०ब्रा ४.७) इत्यादिकं ब्राह्मणमनुसन्धेयम्। इदं चाख्यानं सूर्याविवाहस्य स्तावकेन 'सत्येनोत्तभिता भूमिः' (ऋ०सं० १०.८५.१) इति सूक्तेन विस्पष्टयिष्यते। अश्विनौ वां युवयोः रथं कार्ष्मेव। कार्ष्मशब्दः काष्ठवाची। यथा काष्ठम् आजिधावानस्य अवधितया निर्दिष्टं लक्ष्यम् आशुगामी कश्चित् सर्वेभ्यो धावद्भ्यः पूर्वं प्राप्नोति एवमेव सर्वेभ्यो देवेभ्यः पूर्वम् अर्वता शीघ्रमवधिं प्राप्नुवता युष्मदीयेनाश्वेन करणभूतेन युवाभ्यां जीयमाना सूर्यस्य सवितुः दुहिता आ अतिष्ठत् आरूढवती। विश्वे सर्वे इतरे देवा। एतत् आरोहणस्थानं हृद्भिः हृदयैः अन्वमन्यन्त अन्वजानन्। तदानीं हे नासत्यावश्विनौ श्रिया ऋक्सहस्रलाभरूपया सम्पदा कान्त्या वा युवां सं सचेथे सङ्गच्छेथे॥ जयन्ती व्यत्ययेन कर्मणि शतृप्रत्ययः। हृद्भिः। 'पद्दन्०' इत्यादिना हृदयशब्दस्य हृद्भावः। सचेथे। 'षच समवाये'। स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्॥

**अन्वय—** सूर्यस्य दुहिता जयन्ती वाम् रथं अर्वता कार्ष्मेव अतिष्ठत्, विश्वेदेवाः हृद्भिः अन्वमन्यन्त। नासत्या संसचेथे उ।

**पदार्थ—** सूर्यस्य = सूर्य की। दुहिता = पुत्री। जयन्ती = विजय प्राप्त करती हुई। वाम् = तुम दोनों के। रथं = रथ पर। अर्वता = तेज दौड़ने वाले द्वारा। कार्ष्मेव = विजयसीमा सूचक रेखा के समान। अतिष्ठत् = बैठ गयी। विश्वेदेवाः = सभी देवताओं ने। हृद्भिः = हृदय से, अन्तःकरण से। अन्वमन्यन्त = अनुमोदन किया, समर्थन किया। नासत्या = हे दोनों नासत्यो। संसचेथे उ = निश्चितरूप से तुम दोनों गौरवान्वित हुए।

**अनुवाद**— सूर्य की पुत्री (सूर्या) विजय प्राप्त करती हुई तुम दोनों के रथ पर तेज दौड़ने वाले द्वारा (प्राप्त) विजय सीमा-रेखा के समान बैठ गयी। सभी देवताओं ने अन्तःकरण से (इसका) अनुमोदन किया। हे दोनों नासत्यो, (उस समय) निश्चित रूप से तुम दोनों गौरवान्वित हुए।

**व्याकरण**—

१. जयन्ती – √जी (जीतना) + शतृ + ङीप्, प्रथमा एकवचन।

२. अन्वमन्यन्त – अनु + √मन् + आत्मनेपद लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप; लौकिक संस्कृत में अन्वमन्यन्ते रूप बनेगा।

३. संसचेथे – सम् + √सच् + आत्मनेपद लट् मध्यमपुरुष द्विवचन। पदान्त एकार प्रगृह्य है।

**यदयातं दिवोदासाय वर्तिर्-**
**भरद्वाजायाश्विना हयन्ता।**
**रेवदुवाह सचनो रथो वां**
**वृषभश्च शिंशुमारश्च युक्ता ॥१८॥**

**पदपाठ**— यत्। अयातम्। दिवःऽदासाय। वर्तिः। भरत्ऽवाजाय। अश्विना। हयन्ता॥ रेवत्। उवाह। सचनः। रथः। वाम्। वृषभः। च। शिंशुमारः। च। युक्ता॥

**सा०भा०**— हे अश्विनौ हयन्ता स्तुतिभिराहूयमानौ युवां भरद्वाजाय संभ्रियमाणहविर्लक्षणान्नाय यजमानाय दिवोदासाय एतत्संज्ञाय राजर्षये अभीष्टं फलं दातुं वर्तिः तदीयं गृहं यत् यदा अयातम् तदानीं रेवत् धनयुक्तम् अन्नं वां युवयोः सचनः सेवनः रथः उवाह। तस्मै दिवोदासाय प्रापयामास। अपि च तस्मिन् रथे वृषभः अनड्वान् शिंशुमारः ग्राहः च परस्परविरुद्धावपि स्वसामर्थ्यप्रकटनाय युक्ता वाहनतया संयुक्तावास्ताम्॥ दिवोदासाय। दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः' (का० ६.३.२१.५) इत्यलुक्। 'दिवोदासादीनां छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम्। भरद्वाजाय। 'भृञ् भरणे'। अस्माद्व्यत्ययेन कर्मणि शतृप्रत्ययः। शतुः 'छन्दस्युभयथा' इति आर्धधातुकत्वेन लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावात् प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। हयन्ता। ह्वेञः कर्मणि लटो व्यत्ययेन। 'बहुलं छन्दसि' इति सम्प्रसारणम्। शपि गुणे छान्दसः अयादेशः। रेवत्। रयिशब्दात् मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्' इति

सम्प्रसारणम्। 'छन्दसीरः' इति मतुपो वत्वम्। 'रयिशब्दाच्च' (का० ६.१.१७६.१) इति मतुप उदात्तत्वम्। सचनः। 'षच सेवने'। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' इति युच्। युक्ता। 'सुपां सुलुक्०' इति विभक्तेः आकारः ॥

**अन्वय—** अश्विना, हयन्ता भरद्वाजाय दिवोदासाय यत् वर्तिः अयातम्, वाम् रेवत् सचनः रथः उवाह, वृषभः च शिंशुमारः च युक्ता।

**पदार्थ—** अश्विना = हे दोनों अश्विनो। हयन्ता = बुलाये गये (आह्वान किये गये) तुम दोनों। भरद्वाजाय = पवित्र यजमान। दिवोदासाय = दिवोदास के लिए। यत् = जब। वर्तिः = (उसके) घर को। अयातम् = आये। वाम् = तुम दोनों को। रेवत् = धनयुक्त। सचनः = सहायक। रथः = रथ। उवाह = ले आया। वृषभः = बैल। शिंशुमारः च = और घड़ियाल। युक्ता = जोड़े (जोते) गये थे।

**अनुवाद—** हे दोनों अश्विनो, बुलाये गये तुम दोनों पवित्र यजमान दिवोदास के लिए जब (उसके) घर आये (उस समय) तुम दोनों को धनयुक्त सहायक रथ ले आया (जिसमें) बैल और घड़ियाल जुड़ (जुते) थे।

**व्याकरण—**

१. अयातम् – √या लङ्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. हयन्ता – √हू + शतृ प्रथमा द्विवचन, हयन्तौ का वैदिकरूप।

३. रेवत् – रयि + वतुप्।

४. युक्ता – √युज् + क्त। प्रथमा द्विवचन, युक्तौ का वैदिकरूप।

५. अश्विना – सम्बोधन द्विवचन, अश्विनौ का वैदिकरूप।

रयिं सुक्षत्रं स्वपत्यमायुः
सुवीर्यं नासत्या वहन्ता।
आ जह्नावीं समनसोप वाजै-
स्त्रिरह्नो भागं दधतीमयातम् ॥१९॥

**पदपाठ—** रयिम्। सुऽक्षत्रम्। सुऽअपत्यम्। आयुः। सुऽवीर्यम्। नासत्या। वहन्ता ॥ आ। जह्नावीम्। सऽमनसा। उप। वाजैः। त्रिः। अह्नः। भागम्। दधतीम्। अयातम् ॥१९॥

**सा०भा०—** हे नासत्यावश्विनौ सुक्षत्रं शोभनबलं रयिं धनं स्वपत्यं शोभनैः

पुत्रादिभिरुपेतं सुवीर्यं शोभनवीर्योपेतम् आयुः। अन्ननामैतम्। एवंगुणविशिष्टमन्नं च वहन्ता धारयन्तौ युवां समनसा समानमनस्कौ सन्तौ जह्नावीं जह्नोर्महर्षेः सम्बन्धिनीं प्रजाम् आ अयातम् आभिमुख्येनागच्छतम्। कीदृशीं वाजैः हविर्लक्षणैरन्नैरुपेताम्। अह्नः। अत्र अहःशब्देन तत्रानुष्ठेयः सोमयागो लक्ष्यते। तस्य प्रातः सवनादिरूपेण त्रिः त्रिधा विभक्तं भागम् अंशं दधतीं बिभ्रतीम्। अनुसवनं हविर्भिर्यजमानामित्यर्थः॥ सुक्षत्रम्। बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। सुवीर्यम्। 'वीरवीर्यौ च' इति बहुव्रीहौ उत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। जह्नावीम्। जह्नशब्दात् 'तस्येदम्' इत्यर्थे अण्। 'टिड्ढाणञ्०' इति ङीप्। जाह्नवी। ह्रस्वदीर्घयोर्विनिमयः पृषोदरादित्वात्। उक्तं च— 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च' (का० ६.३.१०९) इति। अत एव मध्योदात्तत्वम्॥

**अन्वय—** नासत्या, सुक्षत्रं स्वपत्यं रयिं सुवीर्यम् आयुः वहन्ता समनसा अह्नः त्रिः भागं दधतीं जह्नावीम् उप आ अयातम्।

**पदार्थ—** नासत्या = हे दोनों नासत्यो। सुक्षत्रं = सुन्दर शक्तिसम्पन्न। स्वपत्यम् = सुन्दर सन्तान युक्त। रयिम् = धन को। सुवीर्यम् = सुन्दर पराक्रम वाली। आयुः = आयु को। वहन्ता = वहन करते हुए, लाते हुए, देते हुए। समनसा = समान मन वाले। अह्नः = दिन में। त्रिः = तीन बार। भागम् = हिस्सा, अंश। दधतीम् = देती हुई। जह्नावीम् = जह्नु की सन्तान को (के)। उप = समीप। आ अयातम् = तुम दोनों आये।

**अनुवाद—** हे दोनों नासत्यो, सुन्दर शक्तिसम्पन्न (और) सुन्दर सन्तानयुक्त धन को (तथा) सुन्दर पराक्रम वाली आयु को देते हुए समान मन वाले तुम दोनों दिन में तीन बार (तुम्हारा) भाग (अंश) देती हुई जह्नु की सन्तान के समीप आये।

**व्याकरण—**

१. सुक्षत्रम्, स्वपत्यम्, सुवीर्यम् – सुष्ठु क्षत्रं यस्मिन् तादृशम्, सुष्ठु अपत्यं यस्मिन् तादृशम्, सुष्ठु वीर्यं यस्मिन् तादृशम् (बहुव्रीहि)।
२. वहन्ता – √वह् + शतृ, प्रथमा द्विवचन वहन्तौ का वैदिकरूप।
३. समनसा – सम मनः ययोः तादृशौ (बहुव्रीहि) समनसौ का वैदिकरूप।
४. जह्नावीम् – जह्नु + अण् + ङीप्, द्वितीया एकवचन।
५. दधतीम् – √धा + शतृ + ङीप्, द्वितीया एकवचन।

परिविष्टं जाहुषं विश्वतः सीं
सुगेभिर्नक्तमूहथू रजोभिः।

विभिन्दुना नासत्या रथेन
वि पर्वताँ अजरयू अयातम् ॥२०॥

**पदपाठ—** परिऽविष्टम् । जाहुषम् । विश्वतः । सीम् । सुऽगेभिः । नक्तम् । ऊहथुः । रजःऽभिः ॥ विऽभिन्दुना । नासत्या । रथेन । वि । पर्वतान् । अजरयू इति । अयातम् ॥२०॥

**सा० भा०—** जाहुषो नाम कश्चिद्राजा । विश्वतः सर्वतः परिविष्टं शत्रुभिः परिवृतं तं राजानं हे नासत्यावश्विनौ अजरयू जरारहितौ नित्यतरुणौ युवां विभिन्दुना विशेषेण सर्वस्य भेदकेनात्मीयेन रथेन नक्तं रात्रौ सुगेभिः सुष्ठु गन्तुं शक्यैः रजोभिः रञ्जकैर्मार्गैः ऊहथुः तस्मात् शत्रुसमूहान्निरगमयतम् । सीम् इत्येतत् पादपूरणम् । निर्गतेन तेन सह पर्वतान् शत्रुभिरारोढुमशक्यान् शिलोच्चयान् वि अयातं विशेषेणागच्छतम् ॥ परिविष्टम् । 'विश प्रवेशने' । कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । सुगेभिः । 'सुदुरोरधिकरणे' इति गमेर्डः । विभिन्दुना । 'भिदिर् विदारणे' । औणादिक उप्रत्ययो नुमागमश्च । अजरयू । न जरा अजरा तामात्मन इच्छतः । 'सुप आत्मनः क्यच्' । 'न च्छन्दस्यपुत्रस्य' इति इत्वदीर्घयोर्निषेधः । 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः ॥

**अन्वय—** विश्वतः परिविष्टं जाहुषं नक्तं सुगेभिः रजोभिः ऊहथुः । अजरयू नासत्या, विभिन्दुना रथेन पर्वतान् वि अयातम् ।

**पदार्थ—** विश्वतः = चारो ओर से । परिविष्टम् = घिरे हुए । जाहुषम् = जाहुष को । नक्तम् = रात्रि में । सुगेभिः = सुगम, चलने में आसान । रजोभिः = आकाश मार्ग से । ऊहथुः = ले आये । अजरयू = हे कभी वृद्ध न होने वाले । नासत्या = हे दोनों नासत्यो । विभिन्दुना = शत्रुओं का भेदन करने वाले । रथेन = रथ से । पर्वतान् = पर्वतों को । वि अयातम् = विशेषरूप से पार किया ।

**अनुवाद—** चारों ओर से (शत्रुओं द्वारा) घिरे हुए जाहुष को रात्रि में सुगम आकाश आकाश मार्ग से ले आये । हे कभी वृद्ध न होने वाले दोनों नासत्यों, शत्रुओं को भेदन (विनष्ट) करने वाले रथ से पर्वतों को पार किया ।

**व्याकरण—**

१. परिविष्टम् – परि + विष् + क्त द्वितीया एकवचन ।

२. सीम् – पादपूरणार्थकनिपात ।

३. सुगेभिः – तृतीया बहुवचन, सुगैः का वैदिकरूप ।

४. विभिन्दुना – √भिद् + उ । तृतीया एकवचन ।

५. अजरयू – नञ् + √जृ + क्यच् + उ। पदान्त अकार प्रगृह्य है।
६. अयातम् – √या + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

एकस्या वस्तोरावतं रणाय
वशमश्विना सनयै सहस्रा।
निरहतं दुच्छुना इन्द्रवन्ता
पृथुश्रवसो वृषणावरातीः ॥२१॥

**पदपाठ**— एकस्याः। वस्तोः। आवतम्। रणाय। वशम्। अश्विना। सनयै। सहस्रा॥ निः। अहतम्। दुच्छुनाः। इन्द्रऽवन्ता। पृथुऽश्रवसः। वृषणौ। अरातीः ॥२१॥

**सा० भा०**— हे अश्विनौ वशम् एतत्संज्ञमृषिम् एकस्याः वस्तोः एकस्याह्नः रणाय रमणीयाय सहस्रा सहस्रसङ्ख्याकाय सनये धनलाभाय आवतम् अरक्षतम्। स ऋषिः प्रत्यहं यथा सहस्रसङ्ख्यं धनं लभते तथा रक्षितवन्तावित्यर्थः। अपि च हे वृषणौ कामानां वर्षितारावश्विनौ इन्द्रवन्ता इन्द्रेण संयुक्तौ युवां दुच्छुनाः दुष्टसुखान् दुःखस्य कर्तॄन् पृथुश्रवसः विस्तीर्णयशसः अरातीः शत्रून् निरहतं निःशेषेणावधिष्टम्। यद्वा। कानीनस्य पृथुश्रवःसंज्ञस्य राज्ञः शत्रूनिति योज्यम्॥ सहस्रा। 'सुपां सुलुक्०' इति चतुर्थ्या डादेशः। अहतम्। लङि थसस्तम्। 'अनुदात्तोपदेश०' इत्यादिना अनुनासिकलोपः। दुच्छुनाः शुनमिति सुखनाम। दुष्टं सुखं यासां तास्तथोक्ताः। 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्॥

**अन्वय**— अश्विना, वशम् एकस्याः वस्तोः सहस्रा रणाय सनये आवतम्। वृषणौ, इन्द्रवन्ता पृथुश्रवसः दुच्छुनाः अरातीः निरहतम्।

**पदार्थ**— अश्विना = हे दोनों अश्विनो! वशम् = वश को। एकस्याः = एक ही। वस्तोः = दिन में। सहस्रा = हजारो। रणाय = रमणीय, सुन्दर। सनये = धन की प्राप्ति के लिए। आवतम् = तुम दोनों ने रक्षा किया। वृषणौ = हे कामनाओं (अभिलाषों) की वर्षा (पूर्ति) करने वाले। इन्द्रवन्ता = इन्द्र से युक्त, इन्द्र के साथ। पृथुश्रवसः = पृथुश्रवस् के। दुच्छुना = कष्ट देने वाले, दुष्ट। अरातीः = शत्रुओं को। निरहतम् = तुम दोनों ने मार डाला (विनष्ट कर दिया)।

**अनुवाद**— हे दोनों अश्विनो, वश की एक ही दिन में हजारों सुन्दर धन की प्राप्ति के लिए तुम दोनों ने रक्षा किया। हे कामनाओं (अभिलाषाओं) की वर्षा (पूर्ति)

करने वाले (दोनों अश्विनो), इन्द्र के साथ तुम दोनों ने पृथुश्रवस् के कष्ट देने वाले (दुष्ट) शत्रुओं को मार डाला।

**व्याकरण—**

१. आवतम् – आ + √अव् +लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

२. सनये – √सन् + तुमर्थक अये प्रत्यय।

३. अहतम् – √हन् + लङ् मध्यमपुरुष द्विवचन।

४. दुच्छुना – दुष्टं सुखं यासां तथोक्ताः (बहुव्रीहि)।

> **शरस्य चिदार्चत्कस्यावतादा**
> **नीचादुच्चा चक्रथुः पातवे वाः।**
> **शयवे चिन्नासत्या शचीभि-**
> **र्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम् ॥२२॥**

**पदपाठ—** शरस्य। चित्। आर्चत्ऽकस्य। अवतात्। आ। नीचात्। उच्चा। चक्रथुः। पातवे। वारिति वाः॥ शयवे। चित्। नासत्या। शचीभिः। जसुरये। स्तर्यम्। पिप्यथुः। गाम् ॥२२॥

**सा॰भा॰—** आर्चत्कस्य ऋचत्कपुत्रस्य शरस्य एतत्संज्ञस्यापि स्तोतुः पिपासितस्य पातवे पानार्थं नीचात् नीचानात् अवतात् कूपात् उच्चा उच्चैरुपरिष्टात् वाः उदकं हे अश्विनौ युवाम् आ चक्रथुः आभिमुख्येन कृतवन्तौ। तथा हे नासत्यावश्विनौ शचीभिः युष्मदीयैः कर्मभिः परिचरणैः जसुरये श्रान्ताय शयवे चित् शयुनाम्ने ऋषये निवृत्तप्रसवां गाम् अग्निहोत्रार्थस्य पयसो दोग्ध्रीं पिप्यथुः पयसा युवामापूरितवन्तौ॥ पातवे। 'पा पाने'। 'तुमर्थे सेसेन्॰' इति तवेन्प्रत्ययः। जसुरये। 'जसु हिंसायाम्।' 'जसिसहोरुरिन्' (उ॰सू॰ २.२३१)। स्तर्यम्। स्तीर्यते आच्छाद्यते प्रसवसामर्थ्याभावेन इति स्तरीः। 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्यः ईः' (उ॰सू॰ ३.४३८) इति ईकारप्रत्ययः। 'वाच्छन्दसि' इति अमि पूर्वत्वस्य विकल्पितत्वात् अभावे यणादेशः। 'उदात्तस्वरितयोर्यणः॰' इति परस्यानुदात्तस्य स्वरितत्वम्। पिप्यथुः। 'प्यायी वृद्धौ' लिटि व्यत्ययेन परस्मैपदम्। 'लिड्यङोश्च' (पा॰सू॰ ६.१.२९) इति पीभावः॥

**अन्वय—** आर्चत्कस्य शरस्य चित् पातवे नीचात् अवतात् वाः उच्चा आ चक्रथुः। नासत्या, जसुरये शयवे चित् शचीभिः स्तर्यं गां पिप्यथुः।

**पदार्थ—** आर्चत्कस्य = ऋचत्क के पुत्र। शरस्य = शर (नामक स्तुति करने वाले) को। चित् = आदरार्थक निपात। पातवे = पीने के लिए। नीचात् = नीचे। अवतात् = कुएँ से। वाः = जल को। उच्चा = ऊँचा, ऊपर। आ चक्रथुः = तुम दोनों ने किया। नासत्या = हे दोनों नासत्यो। जसुरये = थके हुए। शयवे = शयु के लिए। चित् = आदरार्थक निपात। शचीभिः = शक्ति से। स्तर्यम् = वन्ध्या। गाम् = गाय को। पिप्यथुः = दूध देने योग्य किया (बनाया)।

**अनुवाद—** तुम दोनों ने ऋचत्क के पुत्र शर (नामक स्तुति करने वाले ) के लिए नीचे कुएँ से जल को ऊँचा (ऊपर) किया। हे दोनों नासत्यो, थके हुए शयु के लिए (अपनी) शक्ति से वन्ध्या गाय को दूध देने योग्य बनाया।

**व्याकरण—**

१. पातवे – √पा + तुमर्थक वैदिक तवे प्रत्यय।

२. वाः – वार् का द्वितीया एकवचन।

३. जसुरये – जसुरि का चतुर्थी एकवचन। जसुरि = √जस् + उरिन्।

४. पिप्यथुः – √पि + लिट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

**अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय**
**ऋजूयते नासत्या शचीभिः।**
**पशुं न नष्टमिव दर्शनाय**
**विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ॥२३॥**

**पदपाठ—** अवस्यते। स्तुवते। कृष्णियाय। ऋजुऽयते। नासत्या। शचीभिः॥ पशुम्। न। नष्टम्ऽइव। दर्शनाय। विष्णाप्वम्। ददथुः। विश्वकाय ॥२३॥

**सा० भा०—** अवस्यते अवनं रक्षणमात्मन इच्छते। स्तुवते स्तुतिं कुर्वते कृष्णियाय। कृष्णो नाम कश्चित्। तस्य पुत्राय। ऋजूयते आर्जवमिच्छते विश्वकाय एतत्संज्ञाय ऋषये हे नासत्यौ युवां शचीभिः आत्मीयैः कर्मभिः विष्णाप्वं नाम विनष्टं पुत्रं दर्शनाय दर्शनार्थं ददथुः दत्तवन्तौ। तत्र दृष्टान्तः। पशुं न नष्टमिव। एक उपमार्थीयः पूरकः। यथा कश्चिद्विनष्टं पशुं स्वामिनो दृष्टिपथं प्रापयति तद्वत्॥ अवस्यते। अवः शब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्'। 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। कृष्णियाय। कृष्णशब्दादपत्यार्थे छान्दसो घच्॥

**अन्वय—** नासत्या, अवस्यते स्तुवते ऋजूयते कृष्णियाय विश्वकाय शचीभिः दर्शनाय नष्टं पशुं न विष्णाप्वम् ददथुः।

**पदार्थ—** नासत्या = हे दोनों नासत्यो। अवस्यते = सहायता के इच्छुक। स्तुवते = स्तुति करने वाले। ऋजूयते = सरल जीवन यापन करने वाले। कृष्णियाय = कृष्ण के पुत्र। विश्वकाय = विश्वक के लिए। शचीभिः = शक्ति से। दर्शनाय = दर्शन के लिए। नष्टं = नष्ट हुए। पशुं न = पशु के समान। विष्णाप्वम् = विष्णापु को। ददथुः = प्रदान किया।

**अनुवाद—** हे दोनों नासत्यो, सहायता के इच्छुक, स्तुति करने वाले (स्तोता), सरल जीवन यापन करने वाले, कृष्ण के पुत्र विश्वक के लिए तुम दोनों ने उसी प्रकार विष्णापु को दिया जिस प्रकार विनष्ट हुआ पशु (मालिक के पास) दर्शन (देखने) के लिए (आ जाय)।

**व्याकरण—**

१. अवस्यते – अवस्यत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन। अवस्यत् = अवस् + क्यच्।

२. स्तुवते – स्तुवत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन। स्तुवत् = √स्तु + शतृ।

३. ऋजूयते – ऋजूयत् का पुल्लिङ्ग चतुर्थी एकवचन। ऋजूयत् = √ऋजूय् + शतृ।

दश रात्रीरशिवेना नव द्यू-
नवनद्धं श्नथितमप्स्वशन्तः।
विप्रुतं रेभमुदनि प्रवृक्त-
मुन्निन्यथुः सोममिव स्रुवेण ॥२४॥

**पदपाठ—** दश। रात्रीः। अशिवेन। नव। द्यून्। अवऽनद्धम्। श्नथितम्। अप्ऽसु। अन्तरिति॥ विऽप्रुतम्। रेभम्। उदनि। प्रऽवृक्तम्। उत्। निन्यथुः। सोमम्ऽइव। स्रुवेण ॥२४॥

**सा० भा०—** पुरा खलु रेभमृषिं पाशैर्बध्वा असुराः कूपे कस्यचिद्दिवसस्य सायंकाले प्रचिक्षिपुः। स च अश्विनौ स्तुवन् दश रात्रीः नवाहानि च कूपमध्ये तथैवावतस्थे। दशमेऽहनि प्रातः अश्विनौ तं कूपात् उदतारयतामिति। तदाह। अप्सु कूपान्तर्वर्तमानासु अन्तः मध्ये असुरैः पातितम् अशिवेन दुःखहेतुना दाम्ना अवनद्धं बद्धं श्नथितं शत्रुभिर्हिंसितं दश रात्रीः दशसङ्ख्याका निशाः नव द्यून् नवसङ्ख्याकान्यहानि च। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। एतावन्तं कालं तत्रैव कूपेऽवस्थितम् अत एव उदनि उदके विप्रुतं

विप्लुतं व्याक्षिप्तसर्वाङ्गं प्रवृक्तम्। लुप्तोपममेतत्। प्रवृञ्जनेन सन्तप्तं घर्ममिव व्यथया सन्तप्यमानम् एवंभूतं रेभं हे अश्विनौ युवाम् उन्निन्यथुः तस्मात्कूपात् उन्नीतम् उत्तीर्णं कृतवन्तौ। तत्र दृष्टान्तः। सोममिव यथा अग्निहोत्रहोमार्थम् अभिषुतं सोमरसं कूप-सदृशे अग्निहोत्रस्थालीमध्ये वर्तमानं स्रुवेण अध्वर्युः उन्नयति नयति तद्वत्॥ अवनद्धम्। 'णह बन्धने'। कर्मणि निष्ठा। 'नहो धः' (पा०सू० ८.२.३४)। 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति निष्ठातकारस्य धत्वम्। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। श्नथितम्। 'श्नथ हिंसार्थः'। निष्ठा। विप्रुतम्। 'प्रुङ् गतौ'। अवनद्धवत् प्रत्ययस्वरौ। कपिल-कादित्वात् लत्वविकल्पः। उदनि। 'पद्दन्०' इत्यादिना उदकशब्दस्य उदन्भावः॥

**अन्वय**— दश रात्री नव द्यून् स्नथितम् अशिवेन अवनद्धम् अप्सु अन्तः विप्रुतम् उदनि प्रवृक्तं रेभं स्रुवेण सोमम् इव अन्निन्यथुः।

**पदार्थ**— दश = दस। रात्री = रात्रि। नव द्यून् = नव दिनों तक। स्नथितम् = पीटे हुए। अशिवेन = कष्टकारी रस्सी से। अनवद्धम् = बँधे हुए। अप्सु अन्तः = जल के मध्य में। विप्रुतम् = फेके गये। उदनि = जल में। प्रवृत्तम् = कष्ट सहते हुए। रेभम् = रेभ को। स्रुव्रेण = स्रुवा से। सोमम् इव = सोम के समान। उन्निन्यथुः = तुम दोनों ने बाहर निकाला।

**अनुवाद**— (हे दोनों अश्विनो), तुम दोनों ने दस रात्रि (और) नव दिनों तक पीटे हुए, कष्टकारी रस्सी से बाँधे हुए, जल के मध्य में फेके गये तथा जल में कष्ट सहते हुए रेभ को स्रुवा द्वारा सोम के समान बाहर निकाला।

**व्याकरण**—

१. अनवद्धम् – अव + √नह् + क्त, द्वितीया एकवचन।
२. श्नथितम् – √स्नथ् + क्त, द्वितीया एकवचन।
३. विप्रुतम् – वि + √प्रु + क्त, द्वितीया एकवचन।
४. प्रवृक्तम् – प्र + वृज् + क्त, द्वितीया एकवचन।

**प्र वां दंसांस्यश्विनाववोच-**
**मस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः।**
**उत पश्यन्नश्नुवन्दीर्घमायु-**
**रस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्॥२५॥**

**पदपाठ**— प्र। वाम्। दंसांसि। अश्विनौ। अवोचम्। अस्य। पतिः। स्याम्। सुऽगवः। सुऽवीरः॥ उत। पश्यन्। अश्नुवन्। दीर्घम्। आयुः।

**अस्तम्ऽइव । इत् । जरिमाणम् । जगम्याम् ॥२५॥**

**सा० भा०**— एवमनेन सूक्तेन अश्विनोर्महिमानं प्रशस्य अधुना मन्त्रद्रष्टा स्वाभीष्टं प्रार्थयते । हे अश्विनौ वां युवयोः दंसांसि पुरा कृतानि कर्माणि प्र अवोचम् इत्थम् उक्तवानस्मि । सोऽहं सुगवः शोभनगोयुक्तः सुवीरः शोभनवीरश्च भूत्वा अस्य राष्ट्रस्य पतिः अधिपतिः स्यां भवेयम् । उत अपि च पश्यन् अक्षिभ्यां पश्यन् । उपलक्षणमेतत् । सर्वैरिन्द्रियैः स्वस्वविषयदर्शनसमर्थैः दीर्घं वर्षशतरूपेण आयतम् आयुः जीवितं च अश्नुवन् प्राप्नुवन्नहम् अस्तमिव यथा गृहं गृहस्वामी निष्कण्टकं प्रविशति एवं जरिमाणं जरां जगम्यां कण्टकराहित्येन प्राप्नुयाम् । वृद्धः सन् चिरकालं निवसेयमित्यर्थः । स्याम् । अस्तेः प्रार्थनायां लिङ् । यासुट् । 'श्नसोरल्लोपः' इत्यकारलोपः । अश्नुवन् । 'अशू व्याप्तौ' । व्यत्ययेन शतृ । जरिमाणम् । 'जृष् वयोहानौ' । अस्मादौणादिकः इमनिच् । जगम्याम् । गमेः प्रार्थनायां लिङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः ॥

**अन्वय**— अश्विनौ, दंसांसि प्रवोचम्, सुगवः सुवीरः अस्य पतिः स्याम् । उत पश्यन् दीर्घम् आयुः अश्नुवन् अस्तम् इव जरिमाणं जगम्याम् ।

**पदार्थ**— अश्विनौ = हे दोनों अश्विनो ! दंसांसि = पराक्रमयुक्त कार्यों को । प्रवोचम् = मैंने कह दिया (वर्णन कर दिया) । सुगवः = सन्दर गायों वाला । सुवीरः = सुन्दर सन्तानों वाला । अस्य = इस (राष्ट्र) का । पतिः = स्वामी । स्याम् = मैं होऊँ । उत = और । पश्यन् = देखता हुआ । दीर्घम् = दीर्घ । आयुः = आयु को । अश्नन् = प्राप्त करता हुआ । अस्तम् इव = घर के समान । जरिमाणम् = वृद्धावस्था को । जगम्याम् = जाऊँ, प्राप्त करूँ ।

**अनुवाद**— हे दोनों अश्विनो, मैंने (तुम्हारे) पराक्रमयुक्त कार्यों के कह दिया (वर्णन कर दिया) । सुन्दर गायों वाला सुन्दर सन्तानों से युक्त मैं इस (राष्ट्र) का स्वामी होऊँ (और) देखता हुआ, दीर्घ आयु को प्राप्त करता हुआ मैं उसी प्रकार वृद्धावस्था को जाऊँ (प्राप्त करूँ) जैसे (लोग) घर को जाते हैं ।

**व्याकरण**—

१. अवोचम् – √वच् (कहना) + लुङ् उत्तमपुरुष एकवचन ।

२. सुवीरः, सुगवः – सुष्ठु वीरः यस्य तादृशः, सुष्ठु गौ यस्य तादृशः (बहुव्रीहि) ।

३. अश्नुवन् – √अश् + शतृ, पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन ।

४. पश्यन् – √दृश् + शतृ, पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन ।

५. जरिमाणम् – √जीर् + इमिनिच् ।

६. जगम्याम् – √गम् + लिट् उत्तमपुरुष एकवचन ।

# ७. अग्निसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१ | सूक्त संख्या–१४३

ऋषि–दीर्घतमा | देवता–अग्नि | छन्द–जगती, ८ त्रिष्टुप्

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये
वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।
अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो
होता पृथिव्यां न्यसीददृत्वियः ॥१॥

**पदपाठ—** प्र । तव्यसीम् । नव्यसीम् । धीतिम् । अग्नये । वाचः । मतिम् । सहसः । सूनवे । भरे ॥ अपाम् । नपात् । यः । वसुऽभिः । सह । प्रियः । होता । पृथिव्याम् । नि । असीदत् । ऋत्वियः ॥

**सा०भा०—** अहम् अग्नये तव्यसीं तवीयसीम् अतिशयेन वर्धयित्रीम् ॥ तवतिर्वृद्ध्यर्थः सौत्रो धातुः । अस्मात् तृजन्तात् 'तुश्छन्छसि' इति ईयसुन् । 'तुरिष्ठेमेयःसु' इति तृलोपः । छान्दस ईकारलोपः ॥ नव्यसीं नवतरामपूर्वां धीतिं यागलक्षणाम् उक्तगुणकं कर्म प्र भरे प्रकर्षेण करोमि । तथा उक्तलक्षणां वाचो मतिं स्तुतिरूपं कर्म भरे । कीदृशायाग्नये । सहसः बलस्य सूनवे पुत्राय । किञ्च यः अग्निः अपां नपात् तासां नप्ता । 'अद्भ्यः ओषधयः ओषधीभ्योऽग्निः' इति अग्नेर्नप्तृत्वम् । अथवा अपां न पातयिता वैद्युताग्निरूपेण प्रवर्षकत्वादिति भावः । तथा प्रियः यजमानस्य प्रीणयिता प्रियतमो वा तस्य होता होमनिष्पादकः सोऽग्निः ऋत्वियः प्राप्तकालः प्राप्तप्रदानसमयः सन् पृथिव्यां वेदिलक्षणायां वसुभिः निवासयोग्यैर्गवादिधनैः सहितः न्यसीदत् नितरां सीदति ॥

**अन्वय—** सहसः सूनवे अग्नये तव्यसीं नव्यसीं धीतिं वाचः मतिं प्र भरे । यः अपां नपात् प्रियः होता ऋत्वियः वसुभिः सह पृथिव्यां नि, असीदत् ।

**पदार्थ—** सहसः = बल के । सूनवे = पुत्र के लिए । अग्नये = अग्नि के लिए । तन्वसीं = शक्तिशाली, शक्ति को बढ़ाने वाली । नव्यसीम् = नवीन, नयी । धीतिम् = धारण की जाने वाली अथवा यज्ञरूप कार्य वाली । वाचः = वाणी के । मतिम् =

स्तुति को, स्तुतिरूप कर्म को। प्र भरे = प्रकृष्ट रूप से लाता हूँ (प्रस्तुत करता हूँ, पुष्ट करता हूँ)। यः = जो। अयाम् = जलों का। नपात् = पौत्र अथवा गिराने वाला (वर्षा करने वाला)। प्रियः = प्रिय, । होता = होता (ऋत्विक्)। ऋत्वियः = याग समय को जानने वाला, समयानुसार प्राप्त होने वाला, ऋतुओं को जानने वाला। वसुभिः सह = वसुओं के साथ। नि असीदत् = बैठता है, स्थिर होता है।

अनुवाद— मैं बल के पौत्र उस अग्नि के लिए शक्तिशाली (शक्ति को बढ़ाने वाली), नवीन और धारण की जाने वाली (अथवा यज्ञरूप कर्म वाली) वाणी को (वाचिक) स्तुति (अथवा स्तुतिरूप कर्म को) प्रकृष्ट रूप से प्रस्तुत करता हूँ जो जलों का पौत्र (अथवा जलों की वर्षा करने वाला), प्रिय होता (नामक ऋग्वेद) का ऋत्विक् (और) याग समय को (अथवा ऋतु) को जानने वाला (अग्नि) वसुओं के साथ बैठता है।

**व्याकरण—**

१. तव्यसीम् – √तु (वर्धने) + तृ = तोतृ + ईयसुन् + ङीप्, वैदिक रूप।
२. नव्यसीम् – नव + ईयसुन् + ङीप्।
३. वाचः – √वच् + क्विप्, उपधा-दीर्घ। षष्ठी एकवचन।
४. मतिम् – √मन् + क्तिन्।
५. प्रियः – प्री + क, इ को इयङ् आदेश।
६. भरे – √भृ + आत्मनेपद लट्, उत्तमपुरुष एकवचन।
७. ऋत्वियः – ऋतु + √इ + क = ऋत्विय, वैदिक रूप।

**स जायमानः परमे व्योम-**
**न्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने ।**
**अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना**
**प्र द्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ॥२॥**

पदपाठ— सः । जायमानः । परमे । विऽओमनि । आविः । अग्निः । अभवत् । मातरिश्वने ॥ अस्य । क्रत्वा । सम्ऽइधानस्य । मज्मना । प्र । द्यावा । शोचिः । पृथिवी इति । अरोचयत् ॥

सा० भा०— सः पूर्वोक्तः अग्निः जायमानः अरणीभ्यामुत्पद्यमानः काष्ठेषु वा

प्रादुर्भूतः सन् तदानीमेव परमे उत्कृष्टे व्योमनि विविधरक्षणवति वेदिदेशे मातरिश्वने अन्तरिक्षसञ्चारिणे वायवे प्रथमम् आविः अभवत् प्रत्यक्षोऽभूत्। 'त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव' (ऋ०सं० १.३१.३) इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। वायुसंयोगात् प्रज्वलित इत्यर्थः। अथवा मातरि फलस्य निर्मातरि यज्ञे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा यजमानः। तदर्थम्। किञ्च समिधानस्य इन्धनैः सम्यग्वर्धमानस्य अग्नेः मज्मना। बलनामैतत्। बलवता क्रत्वा क्रतुना कर्मणा ज्वलनादिव्यापारेण शोचिः द्यावा पृथिवी द्यां च पृथिवीं च प्र अरोचयत् प्रकर्षेणादीपयत्॥ मध्ये शोचिःशब्दश्छान्दसः॥ मज्मना क्रत्वा समिधानस्येति वा योज्यम्। प्रबलेन समिन्धनादिव्यापारेण समिध्यमानस्येत्यर्थः॥

**अन्वय**— परमे व्योमनि जायमानः सः अग्निः मातरिश्वने आविः अभवत् समिन्धानस्य अस्य क्रत्वा मज्मनाः शोचिः द्यावा पृथिवी प्र अरोचयत्।

**पदार्थ**— परमे = सर्वोच्च। व्योमनि = आकाश में। जायमानः = उत्पन्न। सः = वह। अग्निः = अग्नि। मातरिश्वने = वायु के लिए, यजमान के लिए। आविः अभवत् = प्रकट हुआ। समिन्धानस्य = अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित हुए। अस्य = इसके। क्रत्वा = कर्म से। मज्मना = बल से। शोचिः = प्रकाश ने, चमक ने। द्यावा = द्युलोक को। पृथिवी = पृथिवी को। प्रअरोचयत् = प्रकाशित कर दिया है।

**अनुवाद**— सर्वोच्च आकाश में उत्पन्न वह (प्रसिद्ध) अग्नि वायु (अथवा यजमान) के लिए प्रकट हुआ है। अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित हुए (अग्नि) के कर्म (और) बल से प्रकाश ने द्युलोक (और) पृथिवी को प्रकाशित कर दिया है।

**व्याकरण**—

१. व्योमनि – वि + √अव् (रक्षणे) + मनिन्; सप्तमी एकवचन।

२. मातरिश्वने – मातरिश्वन् का चतुर्थी एकवचन।

३. जायमानः – √जन् + श्यन् + (मुक्) + शानच् पुल्लिंग प्रथमा एकवचन।

४. द्यावा – दिव का वैदिक रूप द्यावा।

५. समिधानस्य – सम् + √इन्धी (दीप्तौ) + शानच्, पुल्लिंग प्रथमा एकवचन।

**अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः**
**सुसंदृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।**
**भात्वक्षसो अत्यक्तुर्न सिन्धवो-**
**ऽग्ने रेजन्ते अससन्तो अजराः ॥३॥**

**पदपाठ**— अ॒स्य । त्वे॒षाः । अ॒जराः । अ॒स्य । भा॒नवः । सु॒ऽसं॒दृशः । सु॒ऽप्रतीकस्य । सु॒ऽद्युतः ॥ भाऽत्वक्षसः । अति । अ॒क्तुः । न । सिन्धवः । अ॒ग्नेः । रे॒ज॒न्ते॒ । अससन्तः । अ॒जराः ॥

**सा० भा०**— अस्य स्तूयमानस्याग्नेः त्वेषाः दीप्तयः अजराः जरारहिताः अजीर्णाः अविरता इत्यर्थः । 'नञो जरमर०' इत्यादिना उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥ तथा सुप्रतीकस्य शोभनमुखस्य अस्य अग्नेः भानवः रश्मयः । दीप्तेरुक्तत्वादत्र विस्फुलिङ्गा अवगन्तव्याः । ते च सुसंदृशः सुष्ठु सम्यक् द्रष्टारः । सर्वतो व्याप्ता इत्यर्थः । सुद्युतः सुष्ठु सर्वतो द्योतमानाः । तथा अस्य अग्नेः भात्वक्षसः । त्वक्ष इति बलनाम, 'त्वक्षः शर्धः' (नि० २.९.६) इति बलनामसु पाठात् । भासमानबलाः । अक्तुः इति रात्रिनामैतत्, 'अक्तुः ऊर्म्या' (नि० १.७.४) इति तन्नामसूक्तत्वात् । द्वितायार्थे प्रथमा । अक्तुं जगदञ्जकं नैशं तमः अति अतिक्रम्य सिन्धवः स्यन्दमानाः सर्वत्र व्याप्नुवन्तः अससन्तः स्वव्यापारेषु अस्वपन्तोऽविरताः अत एव अजराः न रेजन्ते न कम्पन्ते । दाहपाकादिषु न चलन्ति न चाल्यन्ते वा अन्यैः । यद्वा । नशब्दो दृष्टान्तवचनः । भात्वक्षसो भा एव त्वक्षो बलं यस्य तादृशस्यादित्यस्य सिन्धवो न रश्मय इव । ते यथा स्यन्दनशीला व्याप्तिमन्तः अस्तुरिति अञ्जकं तमः अतिक्रम्य असमन्तो रेजन्ते तद्वत् भात्वक्षसोऽस्याग्नेरुक्तलक्षणा दीप्तयोऽसि सर्वत्र रेजन्ते कम्पन्ते व्याप्नुवन्तोत्यर्थः ॥

**अन्वय**— अस्य अग्नेः त्वेषाः अजराः, सुप्रतीकस्य सुद्युतः सुसंदृशः भात्वक्षसः अस्य अजराः मानवः भक्तुः अससन्तः सिन्धवः न रेजन्ते ।

**पदार्थ**— अस्य = इस । अग्नेः = अग्नि की । त्वेषाः = स्फुलिङ्गें, दीप्तियाँ, चिनगारियाँ । अजराः = जीर्ण नहीं होने वाली । सुप्रतीकस्य = सुन्दर मुख वाले की । सुद्युतः = सुन्दर कान्ति वाले की । सुसदृशः = सुन्दर दर्शन वाले की । भात्वक्षसः = प्रकाशरूप शक्ति वाले की । अस्य = इसकी । अजराः = कभी जीर्ण न होने वाली । अक्तुः = अन्धकार को । अससन्तः = कभी न सोती हुई । सिन्धवः न = नदियों के समान । रेजन्ते = व्याप्त होती हैं ।

**अनुवाद**— इस अग्नि की स्फुलिङ्गें (चिनगारियाँ) जीर्ण नहीं होने वाली हैं, सुन्दर मुख वाले, सुन्दर कान्ति वाले, सुन्दर दर्शन वाले, प्रकाश रूप शक्ति वाले इस (अग्नि) की कभी जीर्ण न होने वाली किरणें अन्धकार को कभी न सोती हुई (अविरल) नदियों के समान व्याप्त होती हैं ।

**व्याकरण**—

१. त्वेषाः – त्वेष, प्रथमा बहुवचन ।

२. सुसंदृशः – सु + सम् + √दृश् + क्विप् = सुसंदृश्, षष्ठी एकवचन।
३. सुद्युतः – सु + √द्युत् + क्विप् = सुद्युत्, षष्ठी एकवचन।
४. भानवः – भा + नु = भानु, प्रथमा बहुवचन।
५. अक्तुः – √अञ्ज् + कृतुन्।
६. भात्वक्षसः – भा + √त्वक्ष् + असुन्। भात्वक्षो यस्य तस्य (बहुव्रीहि)।

**यमैरि॒रे भृग॑वो वि॒श्ववे॑दसं**
**नाभा॑ पृथि॒व्या भुव॑नस्य म॒ज्मना॑।**
**अ॒ग्निं तं गी॒र्भिर्हि॑नुहि॒ स्व आ दमे॒**
**य एको॒ वस्वो॒ वरु॑णो॒ न राज॑ति ॥४॥**

**पदपाठ—** यम्। आ॒ऽई॒रि॒रे। भृग॑वः। वि॒श्वऽवे॑दसम्। नाभा॑। पृ॒थि॒व्याः। भुव॑नस्य। म॒ज्मना॑॥ अ॒ग्निम्। गी॒ःऽभिः। हि॒नु॒हि॒। स्वे। आ। दमे॑। यः। एकः॑। वस्वः॑। वरु॑णः। न। राज॑ति॥

**सा०भा०—** विश्ववेदसं सर्वधनम्। वेद इति धननाम, 'वेदः वरिवा' (नि० २.१०.४) इति तन्नामसु पाठात्। तादृशं यम् अग्निं भृगवः भृगुगोत्रोत्पन्नाः पापस्य भर्जकाः पृथिव्याः वेद्याः। एकदेशे कृत्स्नशब्दः। यद्वा। 'एतावती वै पृथिवी' (तै०सं० २.६.४.३) इत्यादिश्रुतेर्वेद्याः पृथिवीत्वम्। तस्या नाभौ उत्तरवेद्यां भुवनस्य भूतजातस्य मज्मना बलेन निमित्तेन आ आभिमुख्येन ईरिरे ईरितवन्तः स्थापितवन्तः तम् अग्निं स्वे स्वकीये दमे गृहे उत्तरवेद्यां गीर्भिः स्तुतिभिः आ हिनुहि प्राप्नुहि॥ 'हि गतौ वृद्धौ च'। 'उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वावचनम्' इति हेर्लुगभावः॥ यः अग्निः एकः मुख्यः सन् एक एव वा वस्वः वसुनो गवादिधनस्य राजति ईश्वरो भवति। प्रदातुमिति शेषः। राजति इत्यैश्वर्यकर्मा, 'क्षियति राजति' (नि० २.२१.४) इति तन्नामसु पाठात्। तत्र दृष्टान्तः। वरुणो न वारक आदित्य इव। स यथा सर्वस्य ईष्टे तद्वत्॥

**अन्वय—** विश्ववेदसं यं भृगवः मज्मना भुवनस्य पृथिव्याः नाभा आईरिरे; तम् अग्निं गीर्भिः स्वे दमे आ हिनुहि, यः एकः वरुणः न वस्वः राजति।

**पदार्थ—** विश्ववेदसं = सम्पूर्ण धन वाले। यं = जिसको। भृगवः = भृगुवंशी ऋषियों ने। मज्मना = शक्ति से। भुवनस्य = लोकों की। पृथिव्याः = पृथिवी की। नाभा = नाभि पर, वेदि पर। आ ईरिरे = चारो ओर से स्थापित किया है। तम् =

उस। अग्निम् = अग्नि को। गीर्भिः = स्तुतियों से, प्रार्थनाओं से। स्वे = अपने। दमे = घर में। आ हिनुहि = ले आओ। यः = जो। एकः = अकेला। वरुणः न = वरुण के समान। वस्वः = धन का। राजति = शासन करता है, स्वामी है।

**अनुवाद**— (हे यजमान) सम्पूर्ण धन वाले जिस (अग्नि) को भृगुवंशी ऋषियों ने (अपनी) शक्ति से लोकों की (तथा) पृथिवी की नाभि (वेदि) पर चारों ओर से स्थापित किया है, उस अग्नि को (अपनी) स्तुतियों द्वारा अपने घर में ले आओ, जो (अग्नि) अकेला वरुण के समान धन का शासन करता है।

**व्याकरण**—

१. ईरिरे – √ईर् + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप।
२. विश्ववेदसम् – विश्वं वेदः यस्य तम् (बहुव्रीहि)।
३. भृगवः – भृगु, प्रथमा बहुवचन।
४. भुवनस्य – √भू + क्युन्, ऊ को उवङ् आदेश, षष्ठी एकवचन।
५. वस्वः – वसु का षष्ठी एकवचन।
६. नाभा – नाभि का सप्तमी एकवचन, वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में नाभौ रूप बनता है।
७. मज्मना – √मज् + मनस् + ड, तृतीया एकवचन।
८. हिनुहि – √हि (गतौ वृद्धौ) + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
९. राजति – √राज् (शासने) लट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

**न यो वराय मरुतामिव स्वनः**
**सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।**
**अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति**
**योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते ॥५॥**

**पदपाठ**— न। यः। वराय। मरुताम्ऽइव। स्वनः। सेनाऽइव। सृष्टा दिव्या। यथा। अशनिः॥ अग्निः। जम्भैः। तिगितैः। अत्ति। भर्वति। योधः। न। शत्रून्। सः। वना। नि। ऋञ्जते॥

**सा० भा०**— यः अग्निः वरणाय निग्रहाय न शक्तो भवति। तत्र दृष्टान्तत्रय-मुच्यते। मरुतां स्वनः इव। स यथा अग्राह्यः तद्वत्। तथा सृष्टा वैरिक्षयार्थं प्रबलेन

अतिसृष्टा सेनेव। सा यथा अन्यैः अनिरोध्या तद्वत्। तथा दिव्या दिवि भवा अशनिः यथा पतत्येव न निवार्यते तद्वत्। ईदृक् सामर्थ्यमस्तीति दर्शयति। अयम् अग्निः तिगितैः निशितैस्तीक्ष्णीभूतैः॥ अन्त्यविकारश्छान्दसः। जम्भैः दन्तैर्दन्तस्थानीयाभि-र्ज्वालाभिः अत्ति अस्मद्विरोधिनो भक्षयति। तथा भर्वति हिनस्ति॥ 'भर्व हिंसायाम्'॥ यास्कस्त्वाह— 'भर्वतिरत्तिकर्मा' (निरु० ९.२३) इति यद्यपि अत्तिभर्वत्योः अदन-मेवार्थः तथापि तदवान्तरभेदोऽवगन्तव्यः। तत्र दृष्टान्तः। योधो न सम्प्रहर्ता शूर इव। स यथा शत्रून् भर्वति भक्षयति तद्वत्। किञ्च सः अग्निः वना वनानि वृक्षादिसमूहान् न्यृञ्जते नितरां प्रसाधयति दहतीत्यर्थः। 'ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा' इति यास्कः॥

**अन्वय**— यः मरुतां स्वनः इव, सृष्टा सेना इव, दिव्याः अशनिः यथा वराय न, सः अग्निः तिगितैः जम्भैः अत्ति भर्वति, शत्रून् बोधः न वना नि ऋञ्जते।

**पदार्थ**— यः = जो। मरुताम् = मरुतों के। स्वनः = इव शब्द के समान। सृष्टा = छोड़े गये भेजे गये, प्रेरित किये गये। सेना इव = बाण के समान। दिव्याः = दिव्य। अशनिः यथा = विद्युत के समान। वराय = रोकने के लिए। न = नहीं, सः = वह। अग्निः = अग्नि। तिगितैः = तीक्ष्ण। जम्भैः = दाँतो से, दन्तस्थानीय ज्वालाओं से। अत्ति = खाता है। भर्वति = विनष्ट करता है। शत्रून् = शत्रुओं को। योधः न = योद्धा के समान। वना = वनों को। नि ऋञ्जते = जला देता हैं।

**अनुवाद**— जो (अग्नि) मरुतों के शब्द (ध्वनि) के समान,छोड़े गये बाण के समान (और) विद्युत् के समान रोका नहीं जा सकता, वह अग्नि (अपने) तीक्ष्ण दाँतो (दन्तस्थानीय ज्वालाओं) से खाता है, (और) विनष्ट करता है। शत्रुओं को योद्धा के समान वनों को जला देता है।

**व्याकरण**—

१. वराय – वृ + अप् = वर, चतुर्थी एकवचन।

२. सृष्टा – √सृज् + क्त + टाप्।

३. स्वनः – √स्वन् + अप् = स्वन, प्रथमा एकवचन।

४. दिव्या – √दिव् + यत् + टाप्।

५. अशनिः – √अंश् + अनि

६. ऋञ्जते – √ऋजि (ऋञ्ज) + अच्, आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

७. जम्भैः – जम्भ् + अच्, तृतीया बहुवचन।

८. तिगितैः – √तिज् (निशाने) + क्त = तिगित, तृतीया बहुवचन।

९. भर्वति – √भर्व् (हिंसायाम्) लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

कुविन्नो॑ अ॒ग्निरु॒चथ॑स्य॒ वीरस॒-
द्व॑सु॑ष्कु॒विद्व॑सु॑भि॒ः काम॑मा॒वर॑त् ।
चो॒दः कु॒वित्तु॑तु॒ज्यात्सा॒तये॒ धिय॒ः
शुचि॑प्रतीकं॒ तम॒या धि॒या गृ॑णे ॥६॥

**पदपाठ**— कु॒वित् । न॒ः । अ॒ग्निः । उ॒चथ॑स्य । वीः । अस॑त् । वसु॑ः । कु॒वित् । वसु॑ऽभिः । काम॑म् । आ॒ऽवर॑त् ॥ चो॒दः । कु॒वित् । तु॒तु॒ज्यात् । सा॒तये॑ । धिय॑ः । शुचि॑ऽप्रतीकम् । तम् । अ॒या । धि॒या । गृ॒णे॒ ॥

**सा०भा०**— अयम् अग्निः नः अस्माकम् उचथस्य उक्थस्य स्तोत्रस्य कुवित् बहुवारं वीः कामयिता असत् भवतु ॥ अस्तेर्लेटि अडागमः ॥ यद्वा । उचथस्य एतन्नामकस्य महर्षेर्गोत्रप्रभवस्य नः इति सम्बन्धः । तथा वसुः वासयिता सर्वेषां वसुस्थानीयो वा वसुभिः वासयितृभिर्धनैः कामम् अत्यर्थमभिमतं वा कुवित् अतिप्रभूतम् आवरत् आवृणोतु । अभिमतप्रदानेन कामं निवर्तयत्वित्यर्थः ॥ वृणोतेर्लेटि अडागमः । छान्दसो विक-रणस्य लुक् । अयमग्निः चोदः अस्माकम् कर्मसु प्रेरकः सन् धियः कर्माणि सातये लाभाय कुवित् बहु तुतुज्यात् त्वरयतु प्रेरयतु इत्यर्थः ॥ तुजिः प्रेरणार्थः । छान्दसः शपः श्लु ॥ शुचिप्रतीकं शोभनावयवं शोभनज्वालं तम् अग्निम् अया धिया अनया स्तुतिरूपया प्रज्ञया गृणे उच्चारयामि स्तौमीत्यर्थः ।

**अन्वय**— अग्निः नः उचथस्य वीः कुवित् असत्, वसुः वसुभिः कामम् कुवित् आवरत्, चोदः धियः सातये कुवित् तुतुज्यात्, शुचिप्रतीकं तम् अया धिया गृणे ।

**पदार्थ**— अग्निः = अग्नि । नः = हमारी । उचथस्य = स्तोत्र अथवा सन्तान की । कुवित् = अनेक बार । वीः = कामना करने वाला । असत् = होवे । वसुः = सर्वत्र वास करने वाला । वसुभिः = धनों के साथ । कामम् = कामना को । कुवित् = अनेकबार । आवरत् = पूर्ण करे । चोदः = प्रेरित करने वाला । धियः = बुद्धि अथवा कर्म को । सातये = प्राप्ति के लिए । कुवित् = अनेक बार । तुतुज्यात् = प्रेरित करे । शुचिप्रतीकम् = सुन्दर मुख वाले, सुन्दर अवयवों वाले, सुन्दर ज्वाला वाले । तम् = उस को । अया = इस । धिया = (स्तुतिरूप) प्रज्ञा से । गृणे = स्तुति करता हूँ ।

**अनुवाद**— अग्नि हमारे स्तोत्र (अथवा सन्तान) की अनेक बार कामना करने वाला होवे । सर्वत्र वास करने वाला (अग्नि) धनों के साथ (हमारी) कामना को अनेक बार पूर्ण करें, प्रेरित करने वाला (अग्नि) हमारी बुद्धि (अथवा कर्म) की प्राप्ति के लिए

अनेक बार प्रेरित करे। सुन्दर मुख (ज्वाला) वाले उस (अग्नि) को इस (स्तुति रूप) प्रज्ञा से मैं स्तुति (गुणगान) करता हूँ।

**व्याकरण—**

१. उचथस्य – √वच् + अथक्, व् को सम्प्रसारण = उचथ, षष्ठी एकवचन।
२. असत् – √अस् + लोट् अर्थ में लेट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
३. आवरत् – आ + √वि + लोट् अर्थ में लेट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
४. तुतुज्यात् – √तुज् + (प्रेरणे) विधिलिङ्ग प्रथमपुरुष एकवचन। वैदिक द्वित्व।
५. सातये – √षणु (सन्) + क्तिन् = साति, चतुर्थी एकवचन।
६. धियः – √ध्या + क्विप्, य् का सम्प्रसारण तथा दीर्घ = धी, द्वितीया एकवचन।
७. चोदः – √चुद् (प्रेरणे) + अच्। प्रथमा एकवचन।
८. अया – इदम् का स्त्रीलिङ्ग एकवचन, वैदिक रूप, लौकिकसंस्कृत में अनया रूप बनता है।
९. गृणे – √गृ (सशब्दने) + आत्मनेपद लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षद-
मग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते।
इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्य-
च्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम् ॥७॥

**पदपाठ—** घृतऽप्रतीकम्। वः। ऋतस्य। धूःऽसदम्। अग्निम्। मित्रम्। न। सम्ऽइधानः। ऋञ्जते॥ इन्धानः। अक्रः। विदथेषु। दीद्यत्। शुक्रऽवर्णाम्। उत्। ऊँइति। नः। यंसते। धियम्॥

**सा०भा०—** घृतप्रतीकं घृतोपक्रमं प्रयाजादिषु आज्यैर्हूयमानत्वात्। यद्वा। प्रतीकमङ्गम्। दीप्तज्वालमित्यर्थः। किञ्च वः युष्मत्सम्बन्धिनः ऋतस्य यज्ञस्य धूर्षदं धुरि निर्वहणे सीदन्तं यज्ञनिर्वाहकम् अग्निं मित्रं न मित्रमिव समिधानः इध्मैर्दीपयमानः ऋञ्जते प्रसाधयति। ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा। एवम् इन्धानः सम्यग्दीप्यमानः अक्रः ज्वालासमिदादि-भिराक्रान्तः अन्यैः अनाक्रन्तः वा॥ क्रमेश्छान्दसो डः॥ विदथेषु यज्ञेषु वेदयत्सु स्तोत्रेषु निमित्तभूतेषु दीद्यत् स्वयं दीप्यमानः अस्मदीया धियां प्रज्ञां यागादि-विषयां शुक्रवर्णां शुभ्रवर्णां निर्मलां ज्योतिष्टोमादि कर्म वा उदु यंसते उद्योयत्येव॥ यमेर्लेटि अडागमः। सिप्॥ उशब्दोऽवधारणे। धीरिति कर्मनाम, 'धीः शमी' (नि० २.१.२१) इति तन्नामसु पाठात्॥

**अन्वय**— समिधानः घृतप्रतीकं वः ऋतस्य धूर्षदम् अग्निं मित्रं न ऋञ्जते। अक्रः विदथेषु इन्धान दीद्यत्, नः शुक्रवर्णां धियम् इत् यंसते।

**पदार्थ**— समिधानः = सम्यक् प्रकार से प्रज्वलित करने वाला। घृतप्रतीकम् = प्रदीप्तमुख (ज्वाला) वाले। वः = तुम्हारे। ऋतस्य = यज्ञ का। धूर्षदम् = निर्वाह करने वाले। अग्निम् = अग्नि को। मित्रं न = मित्र के समान। ऋञ्जते = प्रसाधित करता है। अक्रः = अनाक्रान्त, किसी के द्वारा आक्रान्त न होने वाला। विदथेषु = यज्ञों में। इन्धानः = प्रज्ज्वलित होता हुआ। दीद्यत् = प्रकाशित होता हुआ। नः = हमारी। शुक्लवर्णाम् = शुक्ल वर्ण वाली, सात्विक। धियम् = बुद्धि को। उत् यंसते = ऊपर उठाता है।

**अनुवाद**— सम्यक् प्रकार से प्रज्वलित करने वाला (ऋत्विक्) प्रदीप्त मुख (ज्वाला) वाले (तथा) तुम्हारे (तुम लोगों के) यज्ञ का निर्वाह करने वाले अग्नि को मित्र के समान प्रसाधित करता है। अनाक्रान्त (अग्नि) यज्ञों में प्रज्वलित (तथा) प्रकाशित होता हुआ हमारी सात्विक बुद्धि को ऊपर उठाता है।

**व्याकरण**—

१. ऋतस्य – √ऋ + क्त, षष्ठी एकवचन।
२. धूर्षदम् – धुर् + √सद् + अच्, द्वितीया एकवचन।
३. मित्रम् – मिनातेः हिंसायां त्रायते इति मित्रम्।
४. समिधानः – सम् + √इध् (इन्ध्) + अन् + अण् = समिधान, प्रथमा एकवचन।
५. इन्धानः – √इन्ध् + शानच्।
६. अक्रः – न + √क्रम् + ड, टि का लोप = अक्र, प्रथमा एकवचन।
७. विदथेषु – √विद् + अथच् सप्तमी बहुवचन।
८. यंसते – √यम्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचन, वैदिकरूप।

**अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने**
**शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः ।**
**अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽ-**
**निमिषद्भिः परि पाहि नो जाः ॥८॥**

**पदपाठ**— अप्रऽयुच्छन्। अप्रयुच्छत्ऽभिः। अग्ने। शिवेभिः। नः। पायुऽभिः। पाहि। शग्मैः॥ अदब्धेभिः। अदृपितेभिः। इष्टे। अनिमिषत्ऽभिः। परि। पाहि। नः। जाः॥

**सा० भा०**— हे अग्ने अप्रयुच्छन् अस्मासु अप्रमाद्यन् ॥ 'युच्छप्रमादे' । अविच्छिन्नप्रवृत्तिः सन् अप्रयुच्छद्भिः अप्रमाद्यद्भिः अनवधानरहितैः शिवेभिः मन्त्रकल्याणैः शग्मैः सुखकरैः पायुभिः रक्षणप्रकारैः नः अस्मान् पाहि रक्ष । किञ्च हे इष्टे एषणीयाग्ने जाः जायमानोऽस्माभिर्दीप्यमानः सन् अदब्धेभिः अहिंसितैः अदृपितेभिः केनचिदप्यपरिभूतैः ॥ 'दृप दृम्फ उत्क्लेशे' । तौदादिकः ॥ अनिमिषद्भिः निमेषरहितैः अनलसस्वभावैः ईदृशैः लक्षणैः नः अस्मान् परि परितः पाहि पालय । यद्वा । उपर्युपरि जायन्ते इति जाः । नो जाः अस्मत्सम्बन्धिनीः पुत्रपौत्रादिरूपाः प्रजाः परि पाहि परितो रक्ष । न केवलमस्मान् किन्तु अस्मत्पुत्रपौत्रादीनपि रक्ष ॥

**अन्वय**— अग्ने, अप्रयुच्छन् अप्रयुच्छद्भिः शिवेभिः शग्मैः पायुभिः नः पाहि, इष्टे, अदब्धेभिः दृषितेभिः अनिमिषद्भिः नः जाः परिपाहि ।

**पदार्थ**— अग्ने = हे अग्नि । अप्रयुच्छन् = प्रमादरहित होते हुए । अप्रयुच्छद्भिः = कभी न छोड़ने वाले । शिवेभिः = कल्याण कारक । पायुभिः = संरक्षणों से । नः = हमारी । पाहि = रक्षा करो । इष्टे = हे अभीष्ट (सभी द्वारा चाहे जाने वाले) । अदब्धेभिः = अहिंसित । अदृषितेभिः = अनभिभूत । अनिमिषद्भिः = निरन्तर, निमेषरहित । नः = हमारे । जाः = सन्तानों (पुत्र-पौत्रों) की । परि पाहि = चारो ओर से रक्षा करो ।

**अनुवाद**— हे अग्नि, कभी न छोड़ने वाले, कल्याणकारक (तथा) सुखकारक संरक्षणों से प्रमादरहित होकर हमारी रक्षा करो । हे अभीष्ट (सभी द्वारा चाहे जाने वाले अग्नि), अहिंसित, अनभिभूत तथा निरन्तर (संरक्षणों) से हमारी सन्तानों (पुत्र-पौत्रों) की चारो से रक्षा करो ।

**व्याकरण**—

१. अप्रयुच्छन् – नञ् + प्र + √युच्छ + शतृ, पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन ।
२. शग्मैः – √शक् + म वैदिक प्रत्यय, तृतीया बहुवचन ।
३. शिवेभिः – शिव का तृतीया बहुवचन, वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में शिवैः रूप होता है ।
४. पायुभिः – √पा + इण् + त्युक् का आगम = पायु, तृतीया बहुवचन ।
५. पाहि – √पा + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।
६. इष्टे – √यज् + क्तिन् = यष्टि, सम्बोधन एकवचन ।
७. अनिमिषद्भिः – नञ् + नि + √मिष् + शतृ, तृतीया बहुवचन ।
८. जाः – √जन् (प्रादुर्भावे) + ड + टाप् ।

## ८. सवितृसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–२ | सूक्त संख्या–३८
ऋषि–गृत्समद | देवता–सविता | छन्द–त्रिष्टुप्

उदु ष्य देवः सविता सवाय
शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्न-
मथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ ॥१॥

**पदपाठ**— उत्। ऊँ इति। स्यः। देवः। सविता। सवायं। शश्वत्ऽतमम्। तत्ऽअपाः। वह्निः। अस्थात्॥ नूनम्। देवेभ्यः। वि। हि। धाति। रत्नम्। अथ। आ। अभजत्। वीतिऽहोत्रम्। स्वस्तौ॥

**सा० भा०**— स्यः सः देवः द्योतमानः सविता सवाय लोकानां प्रसवाय अनुज्ञायै शश्वत्तमं प्रतिदिनम् उत् अस्थात् उत्तिष्ठति। कीदृशः सविता। तदपाः तत्प्रसवकर्मा॥ 'अप अप्नः' (नि० २.१.१) इति कर्मनामसु पाठात्॥ वह्निः वोढा जगताम्। किञ्च नूनं सम्प्रति देवेभ्यः स्तोभ्यः रत्नं धनं वि हि धाति प्रयच्छति। हि इति पूरणे। अथ अपि च वीतिहोत्रं कान्तयज्ञं यजमानं स्वस्तौ अविनाशे क्षेमे अभजत् भागिनं करोतु। यद्यपि स्वस्तिशब्दः विभक्त्यन्तनिर्दिष्टः शब्दपरः तथापि अपर्यवसानादर्थपरो भवति॥

**अन्वय**— वह्नि सविता देवः तदपाः स्यः सवाय शश्वतम् उदस्थात्। नूनं देवेभ्यः हि रत्नं विधाति, अथ वीतिहोत्रं स्वस्तौ आभजत्।

**पदार्थ**— वह्नि = (संसार का) वहन करने वाले। सविता देवः = सविता देवता। तदपाः = जिनका यही काम है। स्यः = वह। सवाय = उत्पन्न करने के लिए। शश्वतम् = सर्वदा, प्रतिदिन। उदस्थात् = उदित होते हैं। नूनम् = इस समय। देवेभ्यः = देवताओं (= पवित्र लोगों) के लिए। हि = निश्चित रूप से। रत्नम् = रत्न को, बहुमूल्य धन को। विधाति = दे रहे हैं, प्रदान कर रहे हैं। अथ = इसलिए। वीतिहोत्रम् = हविः देने वाले (यजमान) को। स्वस्तौ = कल्याण में। आभजत् =

भागीदार बनायें, प्रदान करें।

**अनुवाद**— (संसार का) वहन करने वाले सविता देव, जिनका यहीं काम है, वह 'प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए उदित (प्रकाशित) होते हैं। इस समय देवताओं (= पवित्र लोगों) के लिए प्रतिदिन निश्चित रूप से रत्न (बहुमूल्य धन) को दे रहे है। इसलिए हविः देने वाले (यजमान) की (अपने) कल्याण में भागीदार बनायें (अर्थात कल्याण प्रदान करें)।

**व्याकरण**—

१. स्यः - तत् शब्द के पुल्लिंग प्रथमा एकवचन में सः का वैदिक रूप।

२. वह्निः - √वह् + नि प्रथमा एकवचन।

३. उदस्थात् - उत् + √स्था (प्रकाशने) लुङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

४. विधाति - वि + √धा (दाने) लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. आभजत् - आ + √भज् (अनुमोदने) लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**विश्वस्य हि श्रुष्टयें देव ऊर्ध्वः**
**प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति ।**
**आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा**
**अयं चिद्वातों रमते परिज्मन् ॥२॥**

**पदपाठ**— विश्वस्य । हि । श्रुष्टयें । देवः । ऊर्ध्वः । प्र । बाहवा । पृथुऽपाणिः । सिसर्ति ॥ आपः । चित् । अस्य । व्रते । आ । निऽमृग्राः । अयम् । चित् । वातः । रमते । परिऽज्मन् ॥

**सा० भा०**— देवः द्योतमानः सविता पृथुपाणिः महत्करः विश्वस्य श्रुष्टये जगतः सुखाय ऊर्ध्वः उद्गतः सन् बाहवा बाहू प्र सिसर्ति प्रसारयति। आपश्चित् आपोऽपि अस्य व्रते प्रसवाख्ये कर्मणि सति। व्रतं कर्वरम्' (नि० १.१.७) इति तन्नामसु पाठात्। स्यन्दन्त इति शेषः। ताश्च निमृग्राः नितरां शोधयित्र्यो गङ्गादिरूपेणं जगत्पावयन्तीत्यर्थः। अयं चिद्वातः अयमपि वायुः परिज्यन् परितो गते व्याप्तेऽन्तरिक्षे रमते॥

**अन्वय**— विश्वस्य श्रुष्टये पृथुपाणिः ऊर्ध्वः देवः बाहवा प्रसिसर्ति, निमिग्राः आपः चित् अस्य व्रते आ (वहति), अयं वायुः चित् परिज्मन् रमते।

**पदार्थ—** विश्वस्य = सभी लोगों के। श्रुष्टये = कल्याण के लिए। पृथुपाणिः = लम्बे हाथों वाला। ऊर्ध्वः = ऊँचे (स्थान में) स्थित। देवः = (सविता) देव। बाहवा = भुजाओं को, किरणों को। प्र सिसर्ति = प्रकृष्ट रूप से फैला रहा है। निमिग्राः = पवित्र। आपः = जल। चित् = भी। अस्य = इस (सविता) के। व्रते = नियम में, आज्ञा में। आ = चारों ओर (प्रवाहित होता है)। अयं = यह। वायुः = वायु। चित् भी। परिज्मन् = आकाश में, अन्तरिक्ष में। रमते = रमण करता है, बहता है।

**अनुवाद—** सभी लोगों के कल्याण के लिए ऊँचे (स्थान में) स्थित लम्बे हाथों वाला (सविता) देव (अपनी) भुजाओं (किरणों) को प्रकृष्ट रूप से फैला रहा है। पवित्र जल (नदियाँ) भी इस (सविता) के नियम (आज्ञा) में चारों ओर (प्रवाहित होती हैं) और वायु भी (इसी की आज्ञा में) आकाश में रमण करता है (अर्थात् बहता है)।

**व्याकरण—**

१. श्रुष्टये - √श्रुष् + क्तिन् = श्रुष्टि, चतुर्थी एकवचन।

२. पृथुपाणिः - पृथुः पाणौ यस्य सः (बहुव्रीहि), प्रथमा एकवचन।

३. प्रसिसर्ति - प्र + √सृ + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४.निमिग्राः - नि + √मृज् (शोधने) + रक्।

५. रमते - √रम् आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नून-
मरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्या-
मनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥३॥

**पदपाठ—** आशुऽभिः। चित्। यान्। वि। मुचाति। नूनम्। अरीरमत्। अतमानम्। चित्। एतोः॥ अह्यर्षूणाम्। चित्। नि। अयान्। अविष्याम्। अनु। व्रतम्। सवितुः। मोकी। आ। अगात्॥

**सा० भा०—** यान् गच्छन् सविता आशुभिश्चित् शीघ्रगामिभिरपि रश्मिभिः वि मुचाति विमुच्यते। नूनम् इति पूरणः। अतमानं चित् सततं गच्छन्तमपि जनम् एतोः गमनात् अरीरमत् उपरमयति। किञ्च अह्यर्षूणाम्। अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छ-तीत्यह्यर्षवः। तेषामपि अविष्यां गमनेच्छां न्ययान् नियच्छति। सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य

व्रते कर्म अनु पश्चात् मोकी रात्रिः। 'मोकी शोकी' (नि० १.७.१८) इति रात्रिनामसु पाठात्। आगात् आगच्छति। सवितुश्चेष्टोपरतौ रात्रिरागच्छतीति यावत्॥

**अन्वय**— यान् नूनम् आशुभिः चित् वि मुचाति, अतमानं चित् एतोः अरीरमत्; अह्यर्षूणाम् अविष्याम् नि अयान्, सवितुः व्रतं अनु मोकी आ अगात्।

**पदार्थ**— यान् = घूमते हुए। नूनम् = अब। आशुभिः = शीघ्रगामी किरणों के द्वारा। चित् = भी। विमुचाति = विशेष रूप से छोड़ दिये गये हैं। अतमानम् = जाते हुए को, जाने वाले को। चित् = भी। एतोः = जाने से। अरीरमत = रोक दिया है। अह्यर्षूणाम् = (शत्रु पर) आक्रमण करने वालों की। अविष्याम् = जाने की इच्छा को। नि अयान् = नियन्त्रित कर दिया है। सवितुः = सविता के। व्रतम् अनु = नियम (कार्यकाल) के बाद। मोकी = रात्रि। आ अगात् = आ गयी है।

**अनुवाद**— घूमते हुए (सविता देव) अब शीघ्रगामी किरणों द्वारा भी विशेष रूप से छोड़ दिये गये हैं, (सविता ने) जाने वाले को भी जाने से रोक दिया है। (शत्रु पर) आक्रमण करने वालों की जाने की इच्छा को नियन्त्रित कर दिया है (क्योंकि) सविता के कार्यकाल के बाद (अब) रात्रि आ गयी है।

**व्याकरण**—

१. यान् - √या + शतृ = यात्, प्रथमा एकवचन।
२. विमुचाति - वि + √मुच् (त्यजने) + लट्मूलक लेट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
३. अरीरमत् - √रम् (अवरोधने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।
४. अतमानम् - √अत् + शानच्, द्वितीया एकवचन।
५. एतोः - √ई (गमने) + तुन् = एतु, पञ्चमी एकवचन।
६. नि अयान् - √नि + √यम् (नियमने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।
७. अगात् - √गा (गमने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

**पुनः समव्यद्वितंतं वयन्ती**
**मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।**
**उत्संहायास्थाद्व्यृ१तूँरदर्ध-**
**ररमतिः सविता देव आगात् ॥४॥**

**पदपाठ**— पुनरिति। सम्। अव्यत्। विऽतंतम्। वयन्ती। मध्या। कर्तोः।

नि । अधात् । शक्म । धीरः ॥ उत् । सम्ऽहाय । अस्थात् । वि । ऋतून् । अदर्धः । अरमतिः । सविता । देवः । आ । अगात् ॥

**सा० भा०**— वयन्ती वस्त्रं वयन्ती नारीव रात्रिः विततम् आलोकं पुनः समव्यत् संवेष्टयते। पुनःशब्दः पूर्वेद्युरप्येवमकार्षीदिति द्योतयति। धीरः प्रज्ञोऽपि सर्वो लोकः कर्तोः क्रियमाणं कर्म ॥ 'कर्तोः कर्तवै' (नि० २.१.१८) इति तन्नामसु पाठात् ॥ शक्म कर्तुं शक्यमपि मध्या मध्ये उपक्रान्तं कर्मापरिसमाप्येत्यर्थः। न्यधात् निहितवान्। सवितर्युपरते इति शेषः। सर्वो लोकः संहाय शय्यां विहाय उत् अस्थात्। अवशिष्टं कर्म कर्तुं पुनरुत्तिष्ठति ॥ सम्पूर्वो जहातिः शय्यापरित्यागे वर्तते ॥ तथा च श्रूयते— 'कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः' (ऐ०ब्रा० ७.१५) इति। सविता सर्वस्य प्रसविता सूर्यः अरमतिः अनुपरतिः देवः द्योतमानः आगात् आगच्छति उदेतीति यावत्। ऋतून् कालविशेषांश्च वि अदर्धः विदारयति ॥

**अन्वय**— वयन्ती विततं पुनः समव्यत्, धीरः शक्म कर्तोः मध्यानि अधात्, संहाय उदस्थात्, अरमतिः सविता देवः आ अगात् ऋतून् वि अदर्धः।

**पदार्थ**— वयन्ती = बुनती हुई। विततम् = फैले हुए (प्रकाश) को। पुनः = फिर। समव्यत् = घेर लिया है, आवृत कर लिया है। धीरः = प्रज्ञावान् (सविता) ने। शक्म = शक्ति को, सामर्थ्य की। कर्तोः = कार्य के। मध्या = मध्य में। नि अधात् = रोक दिया है। संहाय = छोड़कर। उदस्थात् = उठ गया है। अरमतिः = कभी न रुकने वाले। सविता देवः = सवितृ देव। आ अगात् = आ गये हैं। ऋतून् = ऋतुओं (अथवा समय) को। वि अदर्धः = विभाजित किया हैं।

**अनुवाद**— (वस्त्र बुनने वाली स्त्री के समान) बुनती हुई (रात्रि ने) फैले हुए (प्रकाश) को (अन्धकार से) ढक लिया है। प्रज्ञावान् (सविता) ने (अपनी) सामर्थ्य (शक्ति) को कार्य के मध्य में रोक दिया है। (प्रत्येक व्यक्ति शय्या को) छोड़कर उठ गया है (क्योंकि) कभी न रुकने वाले सवितृदेव आ गये हैं। (उन्होंने) ऋतुओं को (छः भागों में) (अथवा समय को रात-दिन में) विभाजित किया है।

**व्याकरण**—

१. समव्यत् - सम् + √वा लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. वयन्ती - √वा + शतृ, स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन।

३. न्यधात् - नि + √धा लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. शक्म - √शक् + मनिन्।

५. संहाय - सम् + √हा (त्यजने) + ल्यप्।

६. अस्थात् - √स्था लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

७. विअदर्धः - वि + √धृ (विभाजने) लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

८. अगात् - √गा (गमने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

नानौकांसि दुर्यो विश्वमायु-
र्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः।
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधा-
दन्वस्य केतमिषितं सवित्रा ॥५॥

**पदपाठ—** नाना। ओकांसि। दुर्यः। विश्वम्। आयुः। वि। तिष्ठते। प्रऽभवः। शोकः। अग्नेः॥ ज्येष्ठम्। माता। सूनवे। भागम्। आ। अधात्। अनु। अस्य। केतम्। इषितम्। सवित्रा॥

**सा०भा०—** प्रभवः प्रभूतः अग्नेः शोकः तेजः दुर्यः गृह्यो गृहे भवः नानौकांसि यजमानानां पृथग्भूतान् गृहान् वि तिष्ठते अधितिष्ठति। विश्वमायुः सर्वमन्नं चाधिष्ठति॥ 'आयुः सुनृता' (नि० २.७.२३) इत्यन्ननामसु पाठात्॥ माता उषाः सवित्रा अनु इषितं प्रेषितम् अस्य केतं प्रज्ञापकमग्नेः प्रथममग्निहोत्राख्यं भागं सूनवे अग्नये आधात् आदधाति॥

**अन्वय—** अग्नेः दुर्यः प्रभवः शोकः विश्वम् आयुः नाना ओकांसि वि तिष्ठते। माता सूनवे ज्येष्ठं भागम् आ अधात्, सवित्रा अस्य अनु केतम् इषितम्।

**पदार्थ—** अग्नेः = अग्नि का। दुर्यः = गृह्य, गृह में उत्पन्न होने वाला, प्रभवः = प्रभूत, शक्तिशाली। शोकः = तेज, प्रकाश। विश्वम् = सम्पूर्ण। आयुः = अन्न के लिए, जीवन के लिए। नाना = अनेक, प्रत्येक। ओकांसि = घर को। वि तिष्ठते = अधिष्ठित है। माता = माता (उषा)। सूनवे = पुत्र (अग्नि) के लिए। ज्येष्ठम् = श्रेष्ठ, प्रथम। भागम् = भाग को। आ अधात् = दिया है। सवित्रा = सविता के द्वारा। अस्य = इसके। अनु केतम् = सङ्केत के अनुसार, इच्छा के अनुसार। इषितम् = प्रेषित किया गया है।

**अनुवाद—** अग्नि का गृह्य (गृह में उत्पन्न होने वाला) प्रभूत (शक्तिशाली) तेज (प्रकाश) सम्पूर्ण अन्न (अर्थात् जीवन) के लिए प्रत्येक घर में अधिष्ठित है। माता (उषा) पुत्र (अग्नि) के लिए श्रेष्ठ (अग्निहोत्र नामक) भाग दिया है (जो) सविता के

द्वारा इसके सङ्केत (इच्छा) के अनुसार प्रेषित किया गया है।

**व्याकरण—**

१. ओकांसि - √युच् + असुन् = ओकस्, द्वितीया, बहुवचन।

२. तिष्ठते - √स्था आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. शोकः - √शुच् (प्रकाशने) + घञ्, प्रथमा एकवचन।

४. सूनवे - सुनु का चतुर्थी एकवचन।

५. केतम् - √कित् या √चित् + घञ्।

६. इषितम् - √इष् (प्रेषणे) + क्त।

**स॒मावव॑र्ति॒ विष्ठि॑तो जिगी॒षु-**
**र्विश्वे॑षा॒ं काम॒श्चर॑ताम॒माभू॑त्।**
**शश्वाँ॑ अपो॒ विकृ॑तं हि॒त्व्यागा॑-**
**दनु॑ व्र॒तं स॑वि॒तुर्दैव्य॑स्य ॥६॥**

**पदपाठ—** स॒म्ऽआव॑वर्ति। विऽस्थितः। जि॒गी॒षुः। विश्वे॑षाम्। कामः। चर॑ताम्। अ॒मा। अ॒भूत्॥ शश्वा॑न्। अपः। विऽकृ॑तम्। हि॒त्वी। आ। अ॒गा॒त्। अनु॑। व्र॒तम्। स॒वि॒तुः। दैव्य॑स्य॥

**सा० भा०—**जिगीषुः विजयेच्छुः योद्धा विस्थितः युद्धार्थं प्रस्थितः समाववर्ति समावर्तयति। विश्वेषां सर्वेषां चरतां जङ्गमानाम् अमा। 'अमा दमे' (नि० ३.४.११) इति गृहनामसु पाठात्। गृहं प्रति कामः अभूत् भवति। शश्वान् नित्यं कर्मरतः अपः कर्म विकृतम् अर्धकृतं हित्वी हित्वा आगात् गृहमागच्छति। एतत्सर्वं दैव्यस्य दिविभवस्य सवितुः प्रेरकस्य सूर्यस्य व्रतम् अस्तमयाख्यं कर्म अनु जायते इत्यर्थः।

**अन्वय—** दैव्यस्य सवितुः व्रतम् अनु जिगीषुः विथितः समाववर्ति। विश्वेषां चरतां कामः अमा अभूत् शश्वान् अपः विकृतं हित्वी आ अगात्।

**पदार्थ—** दैव्यस्य = द्युलोक में निवास करने वाले, अथवा प्रकाशमान्। सवितुः = सविता के। व्रतम् अनु = कार्य के पश्चात्। जिगीषुः = जीतने की इच्छा वाला। विथितः = युद्धार्थ बाहर गया योद्धा। समाववर्ति = वापस लौट रहा है। विश्वेषाम् = सम्पूर्ण। चरताम् = प्राणियों की। कामः = कामना, इच्छा। अमा = गृह

के प्रति। अभूत् = हो गयी है। शश्वान् = सभी लोग। अपः = कार्य को। विकृतम् = अधूरा। हित्वी = छोड़कर। आ अगात् = आ गये हैं।

**अनुवाद**— प्रकाशमान् सविता के कार्य के पश्चात् (अर्थात् रात्रि होने पर) जीतने की इच्छा वाला युद्धार्थ बाहर गया योद्धा (घर को) वापस लौट रहा है। सम्पूर्ण प्राणियों कामना घर के प्रति (लौटने की) हो गयी है और सभी लोग कार्य को अधूरा छोड़कर आ गये हैं।

**व्याकरण**—

१. समाववर्ति - सम् + आ + √वृत् (वर्तने) लट्मूलक लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. विथितः - वि + √स्था + क्त, विस्थितः का वैदिकरूप।

३. जिगीषुः - √जी (जये) + सन् + उ, प्रथमा एकवचन।

४. विकृतम् - वि + √कृ + क्त, द्वितीया एकवचन।

५. हित्वी - √हा (त्यजने) + क्त्वा अर्थ में वैदिक त्वी प्रत्यय।

**त्वया हितमप्प्यमप्सु भागं**
**धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थुः।**
**वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि**
**व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ॥७॥**

**पदपाठ**— त्वया। हितम्। अप्प्यम्। अप्ऽसु। भागम्। धन्व। अनु। आ। मृगयसः। वि। तस्थुः॥ वनानि। विऽभ्यः। नकिः। अस्य। तानि। व्रता। देवस्य। सवितुः। मिनन्ति॥

**सा० भा०**— हे सवितः त्वया अप्सु अन्तरिक्षे। 'आपः पृथिवी' (नि० १.३.८) इत्यन्तरिक्षनामसु पाठात्। जलाधारे वा हितं निहितम् अप्यम् अपां सम्बन्धिनं भागं धन्वानु निर्जलप्रदेशेष्वरण्येषु मृगयसः मृगमाणा मृगाः आ समन्तात् वि तस्थुः अधितिष्ठन्ति। किञ्च वनानि वृक्षाः विभ्यः पक्षिभ्य आवासादिरूपेण त्वया भागो दत्तः। अस्य देवस्य सवितुः तानि तादृशानि व्रता व्रतानि कर्माणि नकिः मिनन्ति केऽपि न हिंसन्ति॥

**अन्वय**— त्वया हितं भागम् अनु अप्यम् अप्सु मृगयसः धन्व वि तस्थुः, विभ्यः वनानि। देवस्य सवितुः तानि व्रता नकिः आ मिनन्ति।

**पदार्थ**— त्वया = तुम्हारे द्वारा। हितम् = निर्धारित। भागम् अनु = भाग

(हिस्से) के अनुसार। अप्यम् = जलचर। अप्सु = जलों में। मृगयसः = जङ्गली जानवर। धन्व - मैदान में। वितस्थुः = निवास करते हैं। विभ्यः = पक्षियों के लिए वनानि = वन। अस्य = इस। देवस्य = प्रकाशमान्। सवितुः = सविता के। तानि = उन। व्रता = नियमों को। नकिः = कोई भी नहीं। आमिनन्ति = लाँघता है, तिरस्कृत (उल्लङ्घन) करता है।

**अनुवाद**— (हे सविता देव,) तुम्हारे द्वारा निर्धारित हिस्से के अनुसार जलचर जलों में और जङ्गली जानवर मैदान में निवास करते हैं पक्षियों के (निवास के) लिए वन (निर्धारित हैं)। इस प्रकाशमान् सविता के उन (निर्धारित) नियमों को कोई भी नहीं तिरस्कृत करता है।

**व्याकरण—**

१. हितम् - √धा + क्त द्वितीया एकवचन।

२. आमिनन्ति - आ + √मी, लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**याद्राध्यं१ं वरुणो योनिमप्य-**
**मनिशितं निमिषि जर्भुराणः।**
**विश्वो मार्ताण्डो व्रजमा पशुर्गा-**
**त्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥८॥**

**पदपाठ**— यात्ऽराध्यम्। वरुणः। योनिम्। अप्यम्। अनिऽशितम्। निऽमिषि। जर्भुराणः॥ विश्वः। मार्ताण्डः। व्रजम्। आ। पशुः। गात्। स्थुऽशः। जन्मानि। सविता। वि। आ। अकरित्यकः॥

**सा० भा०**— वरुणः याद्राध्यं यातां गच्छत् राध्यं संराधनीयम् अप्यम् आप्तुं योग्यम् अनिशितम् अतीक्ष्णम्। सुखकरमिति यावत्। स्थानं निमिषि निमेषे सवितुरस्तमय सति विश्रमार्थं प्राणिन्यः प्रयच्छति। वरुणस्य रात्रेर्निर्वाहकत्वात्। जर्भुराणः भृशं गच्छन् विश्वः सर्वः मार्ताण्डः मृताद्भिन्नात् अण्डादुत्पद्यमानः पक्षी आ गात् आगच्छति। विश्वः पशुः अपि व्रजं गोष्ठमागात्। सविता प्रेरकः स्थशः स्थाने स्थाने जन्मानि जातानि भूतानि व्याकः पृथगकार्षीत्।

**अन्वय**— निमिषि वरुणः अप्यं योनिम् अनिशितं याद्राध्यम्, पशुः व्रजम् जर्भुराणः विश्वः मार्ताण्डः आगात्। सविता जन्मानि स्थशः विआ अकः।

**पदार्थ**— निमिषि = (सविता के) पलक झेंपने (आँखे बन्द करने अर्थात् सायंकाल होने) पर। वरुणः = वरुण। अप्यम् = जल वाले। अनिशितम् = सुखकर। योनिम् = स्थान को। याद्राध्यम् = शीघ्रतापूर्वक। पशुः = जानवर। व्रजम् = बाड़े को। जर्भुराणः = उड़ने वाले। विश्वः = सम्पूर्ण। मार्ताण्डः = पक्षी। आ अगात् = चले गये। सविता = सवितृ (देव)। जन्मानि = उत्पन्न हुए प्राणियों को। स्थशः = स्थान के अनुसार, अलग- अलग। वि आ अकः = स्थित किया है।

**अनुवाद**— (सविता देव के) पलक झेपने पर (अर्थात् सायंकाल होने पर) वरुण (जलचर) जल वाले (अपने) सुखकर स्थान को शीघ्रता पूर्वक (चले गये); जानवर (अपने) बाड़े को चले गये (और) उड़ने वाले सम्पूर्ण पक्षी (अपने घोसलों को चले गये। सविता (देव) ने उत्पन्न हुए सभी प्राणियों को (उनके) स्थान के अनुसार अलग-अलग स्थित किया है।

**व्याकरण**—

१. राध्यम् - √रात् + यत्।

२. अकः - √कृ + लेट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. अप्यम् - √अप् + य।

४. गात् - √गा (गमने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

**न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो**
**व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।**
**नारातयस्तमिदं स्वस्ति**
**हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥९॥**

**पदपाठ**— न। यस्य। इन्द्रः। वरुणः। न। मित्रः। व्रतम्। अर्यमा। न। मिनन्ति। रुद्रः॥ न। अरातयः। तम्। इदम्। स्वस्ति। हुवे। देवम्। सवितारम्। नमःऽभिः॥

**सा० भा०**— यस्य सवितुर्देवस्य व्रतं प्रसवाख्यं इन्द्रः न मिनाति न हिनस्ति। वरुणः च न मिनाति। मित्रः च अर्यमा च न मिनाति। रुद्रः च न मिनाति। अरातयः असुराश्च न मिनन्ति॥ मिनातीति श्रुतमाख्यातं यथायोगं विपरिणामेन प्रत्येकमभिसम्बध्यते॥ तं सवितारं सर्वस्य प्रेरकं देवं द्योतमानम् इदम् इदानीं नमोभिः अन्नरूपैर्हविर्भिः

सह। 'नमः आयुः' (नि० २.७.२२) इत्यन्नामसु पाठात्। स्वस्ति क्षेमाय हुवे स्तौमि ॥

**अन्वय**— इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा रुद्रः, यस्य व्रतं न मिनन्ति, न अरातयः (मिनन्ति), तं सवितारम् इदं नमोभिः स्वस्ति हुवे।

**पदार्थ**— इन्द्रः = इन्द्र। वरुणः = वरुण। मित्रः = मित्र। अर्यमा = अर्यमन्। रुद्रः = रुद्र। यस्य = जिस (सविता) के। वृतम् = नियम को, कार्य को, आज्ञा को। न मिनन्ति = नहीं लाँघते (तोड़ते) हैं। न अरातयः = न तो शत्रुगण। तम् = उस। सवितारम् = सविता को। इदम् = इस समय। नमोभिः = नमस्कारों (स्तुतियों) द्वारा। स्वस्ति = कल्याण के लिए। हुवे = मैं बुलाता हूँ।

**अनुवाद**— इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन् और रुद्र जिस (सविता) के नियम को नहीं लाँघते (तोड़ते) हैं। न तो शत्रुगण, (तोड़ते हैं), उस सविता को इस समय मैं नमस्कारों (स्तुतियों) द्वारा कल्याण के लिए बुलाता हूँ।

**व्याकरण**—

१. मिनन्ति - √मी (लङ्घने) + लट् प्रथपुरुष बहुवचन।

२. हुवे - √हू (आह्वाने) आत्मनेपद लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

**भगं धियं वाजयन्तः पुरंधिं**
**नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः।**
**आये वामस्य सङ्गथे रयीणां**
**प्रिया देवस्य सवितुः स्याम ॥१०॥**

**पदपाठ**— भगम्। धियम्। वाजयन्तः। पुरम्ऽधिम्। नराशंसः। ग्नाऽपतिः। पतिः। नः। अव्याः॥ आऽअये। वामस्य। सम्ऽगथे। रयीणाम्। प्रियाः। देवस्य। सवितुः। स्याम॥

**सा०भा०**— भगं भजनीयं धियं ध्यातव्यं पुरंधि पुरस्य धारयितारं बहुप्रज्ञं वा सवितारम्॥ 'पुरंधिर्बहुधीः' (निरु० ६.१३) इति यास्कः। वाजयन्तः वाजिनं बलिनं कुर्वतः॥ विभक्तिव्यत्ययः॥ नः स्तुवतोऽस्मान् नराशंसः नरैः शंसनीयः ग्नास्पतिः देवपत्नीनां पतिः छन्दसां पतिर्वा। तथा च श्रूयते- 'छन्दांसि वै ग्नाः' इति, 'उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीः' (ऋ०सं० ५.४६.८) इति च। सविता अव्याः अव्यात्। किञ्च वामस्य धनस्य रयीणां पशूनां च। तथा च श्रूयते— 'पशवो वै रयिः' इति। आये

आगमने सङ्गथे सङ्गमने च निमित्ते देवस्य द्योतमानस्य सवितुः प्रेरकस्य वयं प्रियाः स्याम भवेम ॥

**अन्वय—** भगं धियं पुरन्धिं वाजयन्तः नराशंसः ग्नास्पतिः नः अव्याः, वामस्य रयीणां सङ्गथे देवस्य सवितुः प्रियाः स्याम् ।

**पदार्थ—** भगम् = भाग्य को अथवा धन को । धियम् = बुद्धि को । पुरन्धिम् = ज्ञान को । वाजयन्तः = बढ़ाते हुए । नराशंसः = मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय । ग्ना-स्पतिः = देवियों के पति । नः = हमारी । अव्याः = रक्षा करें । वामस्य = धन के । रयीणाम् = पशुओं के । सङ्गथे = एकत्रित करने में । देवस्य सवितुः = प्रकाशमान् सविता के । प्रियाः = प्रिय । स्याम = हम होवें ।

**अनुवाद—** भाग्य को (अथवा धन) को; बुद्धि को और ज्ञान को बढ़ाते हुए, मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय (तथा) देवियों के पति (सविता देव) हमारी रक्षा करें । हम धन के (तथा) पशुओं के एकत्रित करने में प्रकाशमान् सविता के प्रिय होवें ।

**व्याकरण—**

१. अव्याः - √अव् (रक्षणे) लुङ् प्रथमपुरुष, एकवचन ।

**अ॒स्मभ्यं॒ तद्दि॒वो अ॒द्भ्यः पृ॑थि॒व्या-**
**स्त्वया॑ द॒त्तं काम्यं॒ राध॒ आ गा॑त् ।**
**शं यत्स्तो॒तृभ्य॑ आ॒पये॒ भवा॑-**
**त्युरु॒शंसा॑य सवितर्जरि॒त्रे ॥११॥**

**पदपाठ—** अ॒स्मभ्य॑म् । तत् । दि॒वः । अ॒त्ऽभ्यः । पृ॒थि॒व्याः । त्वया॑ । द॒त्तम् । काम्य॑म् । राध॑ः । आ । गा॒त् ॥ शम् । यत् । स्तो॒तृऽभ्य॑ः । आ॒पये॑ । भवा॑ति । उ॒रु॒ऽशंसा॑य । स॒वि॒त॒ः । ज॒रि॒त्रे ॥

**सा० भा०—** हे सवितः अस्मभ्यं त्वया दत्तं तत् प्रसिद्धं काम्यं कमनीयं राधः धनं दिवः द्युलोकात् अद्भ्यः अन्तरिक्षलोकात् पृथिव्याः भूमेश्च आ गात् आगच्छतु । किञ्च स्तोतृभ्यः स्तोतृणाम् आपये बन्धवे तद्वंशजाय यत् धनं शं सुखकरं भवति भवेत् उरुशंसाय बहुस्तुतये जरित्रे स्तोत्रे मह्यम् । 'जरिता कारुः' (नि० ३.१६.२) इति स्तोतृनामसु पाठात् । हे सवितः तत्प्रयच्छ ॥

**अन्वय**— त्वया दत्तं तत् काम्यं दिवः अद्भ्यः पृथिव्याः अस्मभ्यम् आगात्। सवितः स्तोतृभ्यः आपये यत् शं भवाति, उरुशंसाय जरित्रे।

**पदार्थ**— त्वया = तुम्हारे द्वारा। दत्तम् = प्रदान किया गया। तत् = वह। काम्यम् = कमनीय, वरणीय। राधः = धन। दिवः = अन्तरिक्ष से। अद्भ्यः = जलों से। पृथिव्याः = पृथिवी से। अस्मभ्यम् = हम लोगों के लिए। आगात् = आये। सवितः = हे सविता। स्तोतृभ्यः = स्तोताओं के लिए। आपये = वंश के लिए। यत् = जो। शम् = कल्याणकारी। भवाति हो। उरुशंसाय = प्रशंसा करने वाले के लिए। जरित्रे = स्तुति करने वाले के लिए (प्रदान करे)।

**अनुवाद**— (हे सवितृ देव,) तुम्हारे द्वारा प्रदान किया गया वह कमनीय (वरणीय) धन अन्तरिक्ष से, जलों से तथा पृथिवी से हम लोगों के लिए आये (प्राप्त होवे)। हे सविता, स्तोताओं के लिए, (तथा उसके) वंश के लिए जो (धन) कल्याणकारी (है, उसे) प्रशंसा करने वाले (तथा) स्तुति करने वाले (हम लोगों) के लिए (प्रदान करो)।

**व्याकरण**—

१. गात् - √गा गमने लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. भवाति- √भू लट्मूलक लेट् प्रथमपुरुष एकवचन।

# ९. विश्वामित्र-नदी-संवाद

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–३ | सूक्त संख्या–३३
ऋषि–१-५,७,९,११ विश्वामित्र | देवता–इन्द्र | छन्द–त्रिष्टुप्,
४,६,८,१० नदी | | ११ अनुष्टुप्

प्र पर्वतानामुशती उपस्था-
दश्वेइव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥१॥

पदपाठ— प्र । पर्वतानाम् । उशती इति । उपऽस्थात् । अश्वे इवेत्यश्वेऽइव । विसिते इति विऽसिते । हासमाने इति ॥ गावाऽइव । शुभ्रे इति । मातरा । रिहाणे इति । विऽपाट् । शुतुद्री । पयसा । जवेते इति ॥

सा० भा०— पर्वतानां गिरीणां शैलानाम् उपस्थात् उत्सङ्गान्निर्गत्य उशती समुद्र-गमनं कामयमाने । गमने दृष्टान्तः । अश्वेइव । यथा विसिते मन्दुरातो विमुक्ते हासमाने अन्योन्यजवेन स्पर्धमाने । यद्वा हृष्यन्त्यावश्वे इव बड़वे इव त्वरया गच्छन्त्यौ परस्परं हृष्यन्त्यौ । तथा गावेव शुभ्रे । यथा द्वौ गावौ शोभमानौ वर्तेते तद्वच्छुभ्रे शोभमाने । किञ्च मातरा । यथा मातरौ धेनू रिहाणे । अन्तर्णीतत्सन्नर्थो लिहिः । वत्सं जिह्वया लेढुमिच्छ-न्त्यौ शीघ्रं गच्छतस्तद्वत् समुद्रं गन्तुं जवात् गच्छन्त्यौ पयसा संयुक्ते विपाट् । कूलविपा-टनात् विपाशनाद्वा विमोचनाद्वा विपाट् । शुतुद्री । शु क्षिप्रं तु तुन्ना द्रवति गच्छतीति शुतुद्री । एतन्नामके नद्यौ प्र जवेते समुद्रं प्रति शीघ्रं गच्छतः । अत्र निरुक्तं 'पर्वतानामु-पस्थादुपस्थानादुशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा विषण्णे इति वा हासमाने हासतिः स्पर्धायां हर्षमाणे वा गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते' (निरु० ९.३९) इति ॥ उशती । 'वश कान्तौ' । अस्य शतुर्ङित्त्वात् 'ग्रहिज्यावयि' इत्यादिना संप्रसारणम् । विषिते । 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य कर्मणि निष्ठा । संहितायां 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसह०' इत्यादिना षत्वम् । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरः । हासमाने । हासतिः स्पर्धाकर्मा हसे हसने वा । शानच् । तस्य

लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः। रिहाणे। 'लिह आस्वादने'। स्वरितत्त्वादुभयपदी। शानच्। अदादित्वाच्छपो लुक्। लकारस्य रेफश्छान्दसः। रेफमवलम्ब्य णत्वम्। चित्वा-दन्तोदात्तः। विपाट्। 'पट गतौ' 'पश बाधनस्पर्शयोः' इति वा ण्यन्तावेतौ विपूर्वौ। शकारस्य व्रश्चादिना षत्वम्। शुतुद्री। छान्दसी रूपसिद्धिः। जवेते। 'जुङ् गतौ' भौवादिः। ङित्त्वादात्मनेपदम्। 'आतो ङितः' इति इयादेशः। निघातः॥

**अन्वय—** पर्वतानाम् उपस्थात् उशती, विषिते ह्रासमाने अश्वे इव, मातरा रिहाणे शुभ्रे गावा इव, विपाट्शुतुद्री पयसा प्र जवेते।

**पदार्थ—** पर्वतानाम् = पर्वतों की। उपस्थात् = गोद से। उशती = इच्छा करती हुई, कामना करती हुई। विषिते = खुले लगाम वाली, खोली गयी। ह्रासमाने = परस्पर स्पर्धा से दौड़ती हुई अथवा हिनहिनाती हुयी। अश्वे इव = दो घोड़ियों के समान। मातरा = माताएँ। रिहाणे = चाटती हुई। शुभ्रे = सफेद रंग की, शोभायमान होते हुए। गावा इव = दो गायों के समान। विपाट् = विपाट् (नाम वाली सिन्धु की सहायक एक नदी)। शुतुद्री = शुतुद्री (नाम वाली सिन्धु की एक सहायक नदी)। पयसा = जल के प्रवाह से। प्र जवेते = तेजी से बह रही हैं।

**अनुवाद—** पर्वतों की गोद से (निकलकर) समुद्र की ओर जाने की) इच्छा करती हुई, (परस्पर) स्पर्धा से दौड़ती हुई, खुले लगाम वाली दो घोड़ियों के समान, (बछड़े को) चाटती हुई दो सफेद माता गायों के समान, विपाट् और शुतुद्री (अपने) जल के प्रवाह से तेजी से बह रही हैं।

**व्याकरण—**

१. उशती – √वश् कान्तौ + शतृ (अत्) ङीप् + (ई)। 'ग्रहिज्या०' सूत्र से सम्प्रसारण होकर = उशती।

२. उपस्थात् – उपस्थीयते अत्र। उप + √स्था + क (अ) = उपस्थ। पञ्चमी विभक्ति का एकवचन।

३. विषिते – वि + √षिञ् (बन्धने) + क्त = विषित। स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा द्विवचन।

४. ह्रासमाने – √ह्रास (स्पर्धायां हर्षमाणे वा) + शानच् + ह्रासमान, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा द्विवचन।

५. शुभ्रे – √शुभ् (कान्तौ) शुभ् + र = शुभ्र स्त्रीलिङ्ग प्रथमा द्विवचन।

६. रिहाणे – √लिह् (आस्वादने) + शानच् (आन) 'ल को छान्दस र आदेश' 'न' को 'ण' होकर = रिहाण, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा द्विवचन।

७. विपाट् – वि + √पद् (गतौ) अथवा वि + √पश् (बन्धनस्पर्शयोः) + णिच् + क्विप्।

८. जवेते – √जुङ् (गतौ)। आत्मनेपद, लट्, प्रथमपुरुष, द्विवचन।

**विशेष—**

१. प्रस्तुत सूक्त के विषय में यह आख्यान प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषि सुदास नामक राजा के पुरोहित थे। पौरोहित्य से उनको प्रभूत धन प्राप्त हुआ। उस धन को लेकर वे अपने अनुयायियों के साथ विपाट् और शुतुद्री (व्यास और सतलज) नदियों के संगम पर पहुँचे। उन्होंने नदियों के पार जाने की इच्छा की। परन्तु नदियों के अगाध जल को देखकर उन्होंने उनकी स्तुति किया।

२. सायण ने 'उशती' की निष्पत्ति 'वश कान्तौ' से करके इनका अर्थ 'कामना करती हुई' किया है। पीटर्सन ने भी इसी प्रकार निष्पत्ति मानी है। परन्तु उसका अर्थ है— कान्ति से सम्भृत। विषित = वि + सि To let loose। लुई रेनो ने उशती का अर्थ 'Joyful ones' किया है। सायण ने हास धातु के दो अर्थ यास्क का अनुकरण करते हुए बताया हैं— स्पर्धा करना और प्रसन्न होना। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसका अर्थ दौड़ में दौड़ना भी करते हैं। पीटर्सन के अनुसार ऋग्वेद में 'हासमान' पद का प्रयोग तीन स्थानों पर हुआ है और इसका भाव है— Running। लुई रेनो यहाँ हसासमाने का अर्थ 'Who rush in to the arena' किया है।

**इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे**
**अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।**
**समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने**
**अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे ॥२॥**

**पदपाठ—** इन्द्रेषिते इतीन्द्रऽइषिते। प्रऽसवम्। भिक्षमाणे इति। अच्छ। समुद्रम्। रथ्याऽइव। याथः॥ समाराणे इति सम्ऽआराणे। ऊर्मिऽभिः। पिन्वमाने इति। अन्या। वाम्। अन्याम्। अपि। एति। शुभ्रे इति॥

**सा० भा०—** हे नद्यौ इन्द्रेषिते प्रेषिते प्रसवं तस्येन्द्रस्यानुज्ञां भिक्षमाणे प्रार्थयमाने युवां समुद्रम् अच्छ आभिमुख्येन याथः गच्छथः। तत्र दृष्टान्तः। रथ्येव इति। यथा रथिनौ लक्ष्यं देशमभिगच्छतस्तद्वत्। किं कुर्वत्यौ। समाराणे परस्परं सङ्गच्छन्त्यौ ऊर्मिभिः

तरङ्गैः पिन्वमाने परिसरप्रदेशं सन्तर्पयन्त्यौ शुभ्रे शोभमाने। युवां समुद्रं गच्छथ इति पूर्वेणान्वयः। तथा वां युवयोर्मध्ये अन्या एका अन्याम् अपरां नदीम् अप्येति अपि गच्छति। परस्परमैक्यमापद्यत इत्यर्थः ॥ इन्द्रेषिते। 'इष गतौ' इत्यस्य कर्मणि निष्ठायाः 'तीषसह०' इत्यादिना इडागमः। तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदस्वरः। प्रसवम्। 'षू प्रेरणे' इत्यस्य अप्। याथादिस्वरः। भिक्षमाणे। 'भिक्ष याच्ञायाम्'। आत्मनेपदी। शानचो लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वे धातुस्वरः। रथ्येव। रथस्येमौ। तस्येदम् इत्यर्थे 'रथाद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। तित्स्वरितः। इवेन विभक्त्यलोपः इत्यादि। याथः। यातेर्लटि रूपम्। समाराणे। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लिट्। सम्पूर्वस्यार्तेः 'समो गमि०' इत्यादिना आत्मनेपदत्वात् तस्य कानजादेशः। 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणः। पिन्वमाने। 'पिवि सेचने'। भूवादिः। लसार्वधातुकस्वरेण शानचोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

**अन्वय**— इन्द्रेषिते, प्रसवं भिक्षमाणे, समाराणे, ऊर्मिभिः पिन्वमाने, शुभ्रे समुद्रम् अच्छ रथ्या इव याथः। वाम् अन्या अन्यामपि एति।

**पदार्थ**— इन्द्रेषिते = इन्द्र के द्वारा भेजी गयी। प्रसवम् = प्रवाहित होने के लिए। भिक्षमाणे = प्रार्थना करती हुई, याचना करती हुई। समाराणे = एक साथ जाती हुई। ऊर्मिभिः = तरङ्गों से, लहरों से। पिन्वमाने = उमड़ती हुई, तृप्त करती हुई। शुभ्रे = हे सफेद वर्ण वाली। समुद्रम् अच्छ = समुद्र की ओर। रथ्या इव = दो रथियों के समान। याथः =जा रही हो। वाम् = तुम दोनों में से। अन्या = एक। अन्याम् = दूसरे के पास। अपि = भी। एति = जा रही है।

**अनुवाद**— (हे नदियो !) इन्द्र द्वारा भेजी गयी, बहने के लिए प्रार्थना करती हुई, दो रथियों के समान समुद्र की ओर जा रही हो। हे शुभ्रे ! एक साथ जाती हुई, लहरों से उमड़ती हुई, तुममें से प्रत्येक एक दूसरे की ओर जा रही हो।

**व्याकरण**—

१. इन्द्रेषिते – इन्द्रेण इषिते, (तृतीया तत्पुरुष), √इष् (गतौ) + क्त, इट् का आगम = इषित।

२. भिक्षमाणे – √भिक्ष् (याच्ञायाम्) + शानच् = भिक्षमाण।

३. प्रसवम् – प्र + √सू (प्रेरणे) + अ (अप्) = प्रसव।

४. रथ्या – रथ्यास्य इदम्। 'तस्येदम्' अर्थ में 'रथाधत्' सूत्र से 'यत्' प्रत्यय। रथ + य = रथ्य।

५. याथः – √या (गतौ) लट् लकार, मध्यमपुरुष, द्विवचन।

६. समाराणे – सम् + आ + √ऋ (गतौ) आन (कानच्) गुण होकर = अराण। सम् + आ + अराण = समाराण।

७. पिन्वमाने – √पिवि (सेचने) + आन (शानच्)। नुम् और मुक् का आगम होकर पिन्वमान।

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयास
विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे
समानं योनिमनु सञ्चरन्ती ॥३॥

**पदपाठ—** अच्छ। सिन्धुम्। मातृऽतमाम्। अयासम्। विऽपाशम्। उर्वीम्। सुऽभगाम्। अगन्म ॥ वत्सम्ऽइव। मातरा। संरिहाणे इति सम्ऽरिहाणे। समानम्। योनिम्। अनु। संचरन्ती इति सम्ऽचरन्ती ॥

**सा० भा०—** हे नद्यौ मातृतमाम् अतिशयेन मातरं सिन्धुं स्रवन्तीं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन अयासं विश्वामित्रोऽहं प्राप्तोऽभूवम्। उर्वीं महतीं सुभगां सौभाग्यवतीं विपाशं त्वाम् अगन्म वयं प्राप्ताः स्म। किं कुर्वत्यौ। मातरा मातरौ द्वे धेनू वत्समिव संरिहाणे अन्तर्णीतसन्नर्थो लिहिः। जिह्वया लेढुमिच्छन्त्यौ यथा वत्समनुगच्छतस्तद्वत् समानम् एकं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु अभिलक्ष्य सञ्चरन्ती रन्त्यौ। युवामयासिषमिति पूर्वेणान्वयः ॥ अयासम्। 'या प्रापणे' इत्यस्य रूपम्। इडभावश्छान्दसः। अगन्म। गमेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। 'म्वोश्च' इति मकारस्य नकारः। निघातः। सञ्चरन्ती। चरतिर्गत्यर्थः। तृतीयायुक्तत्वाभावात् आत्मनेपदाभावः। शतुर्लसार्वधातुक-स्वरेणानुदात्तत्वे कृते धातुस्वरः ॥

**अन्वय—** मातृतमाम् सिन्धुम् अच्छ अयासम्। उर्वीं, सुभगां विपाशम् अगन्म। मतरा वत्सम् इव संरिहाणे समानं योनिम् अनुसञ्चरन्ती (अयासम्)।

**पदार्थ—** मातृतमाम् = सर्वश्रेष्ठ माता। सिन्धुम् = नदी। अच्छ = ओर, पास। अयासम् = आया हूँ, पहुँच गया हूँ। उर्वीम् = विशाल। सुभगाम् = सुन्दर, सौभाग्यशालिनी। विपाशम् = विपाशा (विपाट् की ओर)। अगन्म = आया हूँ, पहुँच गए हैं। मातरा इव = दो माता गायों के समान। वत्सम् = बछड़े। संरिहाणे = चाटने की इच्छा करती हुई। समानं योनिम् = एक ही स्थान। अनु = और। सञ्चरन्ती = साथ-साथ जाती है।

**अनुवाद**— श्रेष्ठ नदी माता (शुतुद्री) के पास आया हूँ, चौड़ी तथा सौभाग्य-शालिनी (सुन्दर) विपाट् के पास आया हूँ। बछड़ों को चाटती हुई दो माता (गायों) के समान, एक ही स्थान (समुद्र को लक्ष्य कर) बहती हुई (शुतुद्री और विपाट् के पास आया हूँ)।

**व्याकरण**—

१. मातृतमाम् – अतिशयेन मातरम्। अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय।
२. अयासम् – √या (प्राप्त करना), लुङ् लकार, उत्तमपुरुष एकवचन।
३. सुभगाम् – शोभनः भगः यस्याः ताम् (बहुव्रीहि समास)।
४. संरिहाणे – सम् + √लिह् (आस्वादने) + शानच्, ल को र आदेश, नकार का णकार होकर रिहाण, स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा, द्विवचन।
५. अगन्म – √गम् लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन।
६. सञ्चरन्ती – सम् + √चर् (विचरणे) + शतृ + ङीप् प्रथमा द्विवचन, पदान्त ईकार प्रगृह्य।

**एना वयं पयसा पिन्वमाना**
**अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।**
**न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः**
**किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति ॥४॥**

**पदपाठ**— एना। वयम्। पयसा। पिन्वमानाः। अनु। योनिम्। देवऽकृतम्। चरन्तीः॥ न। वर्तवे। प्रऽसवः। सर्गऽतक्तः। किम्ऽयुः। विप्रः। नद्यः। जोहवीति॥

**सा० भा०**— एवं स्तुते नद्यौ विश्वामित्रं प्रत्यूचतुः। एना एनेन पयसा पिन्वमानाः सन्तर्पयन्त्यः देवकृतं देवेनेन्द्रेण कृतं संदिष्टं योनिं स्थानं समुद्रम् अनु लक्षीकृत्य चरन्तीः गच्छन्त्यः वयम् आस्महे। द्वयोर्बहुवचनं पूजार्थम्। तासामस्माकं सर्गतक्तः सर्गे गमने प्रवृत्तः प्रसवः उद्योगः न वर्तवे निवर्तनाय न भवति। किंयुः किमिच्छन् असौ विप्रः ब्राह्मणः नद्यः नदीः अस्मान् जोहवीति भृशमाह्वयति॥ एना। एतच्छब्दस्य तृतीयाया एनादेशः। 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया आजादेशः। 'ऊडिदम्०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। पिन्वमानाः। 'पिवि सेचने'। देवकृतम्। 'तृतीया कर्मणि' इति

पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । वर्तवे । 'वृतु वर्तने' । तुमर्थे तवेन्प्रत्ययः । नित्स्वरः । सर्गतक्तः । 'क्ते च' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । किंयुः । किमिच्छन् । 'क्यचि मान्ताव्ययप्रतिषेध' (पा०वा० ३.१.८.१) इति छान्दसत्वादत्र प्रतिषेधो न भवतीति क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । नद्यः । छान्दसो यणादेशः । जोहवीति । ह्वेञः यङ्लुकि 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणे कृते यङ्लुको:' इत्यभ्यासस्य गुणः । 'यङो वा' इति इडागमः । गुणः । निघातः ।

**अन्वय**— एना पयसा पिन्वमानाः वयं देवकृतं योनिम् अनुचरन्तीः । सर्गतक्तः प्रसवः वर्तवे न । किंयुः विप्रः नद्यः जोहवीति ।

**पदार्थ**— एना = इस, ऐसी, । पयसा = जल से । पिन्वमानाः = संतृप्त करती हुई, उमड़ती हुई । वयम् = हम लोग । देवकृतम् = देव इन्द्र द्वारा बताये गये, देवताओं द्वारा निर्मित । योनिम् = स्थान (की ओर) । अनुचरन्तीः = जाती हुई, विचरण करती हुई । सर्गतक्तः = बहने में प्रवृत्त होता हुआ, स्वाभाविक रूप से प्रवाहित । प्रसवः = प्रेरणा (उद्योग) । वर्तवे = रुकने के लिए । न = नहीं । किंयुः = क्या चाहता हुआ । विप्रः = ब्राह्मण (विश्वामित्र) । नद्यः = नदियों को । जोहवीति = बार-बार पुकारता है ।

**अनुवाद**— विश्वामित्र द्वारा स्तुतिकी जाती हुई नदियाँ उत्तर देती हैं— इस जल से प्रान्तभूमियों को संतृप्त करती हुई हम देवराज इन्द्र द्वारा बताए स्थान समुद्र की ओर जा रही हैं । हमारा बहने में प्रवृत्त होता हुआ उद्योग (बहाव) रुकने के लिए नहीं है । क्या चाहता हुआ (किस इच्छा वाला) यह ब्राह्मण (विश्वामित्र) हम नदियों को बार-बार पुकार रहा है?

**व्याकरण**—

१. एना – इदम् शब्द । तृतीया विभक्ति के एकवचन में इदम् को 'एन' आदेश और विभक्ति को आ आदेश ।

२. देवकृतम् – देवेन कृतम् । (तृतीया तत्पुरुष समास) । कृ + क्त = कृत ।

३. वर्तवे – √वृ, तुमर्थक वैदिक तवेन् प्रत्यय । वृ + तवे = वर्तवे ।

४. प्रसवः – प्र + √षू (प्रेरणे) + अ (अप्) = प्रसव ।

५. सर्गतक्तः – सर्गे तक्तः । √सृज् + घञ् = सर्ग । तक् + क्त = तक्त ।

६. किंयुः – 'किम् इच्छन्' अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय । किम् + य । 'क्यछन्दसि' सूत्र से उ प्रत्यय = किंयु ।

७. जोहवीति – पुनः पुनः ह्वयते। यङ् प्रत्यय, यङ् का लोप, द्वित्व अभ्यास को 'ज' आदेश और गुण, सम्प्रसारण, इट् का आगम, गुण और अव आदेश होकर = जोहवीति।

**विशेष—**

१. 'पयसा पिन्वमानाः' का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने 'Swrlling with water' किया है और 'योनि' का अर्थ 'River Bed' किया है। इस स्थान पर बहने के लिए इन्द्र ने उन नदियों को निर्देश किया था। नदियाँ दो हैं, तथापि 'वयम्' में बहुवचन का प्रयोग आदर के लिए है। इस सूक्त में नदियाँ जब कुछ कहती हैं, तो अपने के लिए बहुवचन का प्रयोग करती हैं।

रमध्वं मे वचसे सोम्याय
ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषा-
वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥५॥

पदपाठ— रमध्वम्। मे। वचसे। सोम्याय। ऋतऽवरीः। उप। मुहूर्तम्। एवैः॥ प्र। सिन्धुम्। अच्छ। बृहती। मनीषा। अवस्युः। अह्वे। कुशिकस्य। सूनुः॥

सा० भा०— विश्वामित्रो नदीः प्रति ब्रूते। ऋतावरीः। ऋतमुदकम् तद्वत्यो हे नद्यो यूयं मे विश्वामित्रस्य मम सोम्याय। उत्तीर्याहं सोमं संपादयामीत्येवं सोमसंपादिने वचसे तदर्थम् एवैः। पञ्चम्यर्थे तृतीया। शीघ्रगमनेभ्यः मुहूर्तं मुहूर्तमात्रम् उप रमध्वम्। उपपूर्वो रमिरुपसंहारे वर्तते। क्षणमात्रं शीघ्रगमनादुपरता भवत। सामान्येन नदीषूच्यमानासु समीहितं प्रयोजनमकुर्वतीषु पुरोवर्तिनीं शुतुद्रीं प्रति ब्रूते। कुशिकस्य राजर्षेः सूनुः विश्वामित्रोहऽहं बृहती महत्या मनीषा मनीषया स्तुत्या अवस्युः आत्मनो रक्षणमिच्छन् सन् सिन्धुं शुतुद्रीं त्वाम् अच्छ आभिमुख्येन प्र अह्वे प्रकर्षेणाह्वयामि। अत्र निरुक्तम्— 'उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिना ऋतावरीर्ऋतवस्य ऋतमित्युदकनाम प्रत्युतं भवति मुहूर्तमेवैरयनैरवनैर्वा। प्राभिह्वयामि सिन्धुं बृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वाननाय कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव (निरु० २.२५) इति॥ रमध्वम्। 'रमु उपरमे'। उपपूर्वाद्रमतेः 'विभाषाकर्मकात्' (पा०सू० १.३.८५) इत्यात्मनेपदम्। ऋतावरीः ऋतशब्दान्मत्वर्थे 'छन्दसीवनिपौ' इति वनिप्। 'वनो र च' इति ङीप् रेफश्चान्तादेशः। 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः। आमन्त्रितस्य पादादित्वात्

षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वम्। एवैः। 'इण् गतौ'। 'इण्शीङ्भ्यां वन्'। आर्धधातुकलक्षणो गुणः। नित्स्वरः। बृहती मनीषा। उभयत्र तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः। अवस्युः। अवो रक्षणमिच्छन्। सुप आत्मनः क्यच्। 'नः क्ये' इति नकारान्तस्य पदसंज्ञाया नियमितत्वादत्र सकारस्य रुनं नभति। 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः। अह्वे। ह्वयतेर्लुङि सिंचः 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इत्यङादेशः। गुणः। निघातः॥

**अन्वय**— ऋतावरीः मे सोम्याय वचसे एवैः मुहूर्तम् उपरमध्वम्। कुशिकस्य सूनुः अवस्युः सिन्धुम् अच्छ बृहती मनीषा प्र अह्वे।

**पदार्थ**— ऋतावरीः = जल से भरी हुई। मे = मेरे। सोम्याय = सोम रस को सम्पादित करने के लिए। वचसे = कथन के निमित्त से। एवैः = अपनी गतियों से। मुर्हुतम् = क्षण भर के लिए। उपरमध्वम् = रुक जाओ। कुशिकस्य सूनुः = कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र। अवस्युः = रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ। सिन्धुम् अच्छ = शुतुद्री नदी की ओर अभिमुख होकर। बृहती = महान्। मनीषा = स्तुति से। प्र अह्वे = जोर से पुकार रहा है।

**अनुवाद**— (नदियों के पूछने पर विश्वामित्र कहते हैं—) जल से भरी हुई हे नदियो ! मुझ विश्वामित्र के सोम को सम्पादित करने वाले कथन के निमित्त से ही तुम अपनी गति से क्षणभर के लिए रुक जाओ। (तदनन्तर विश्वामित्र शुतुद्री नदी की ओर उन्मुख होकर कहते हैं—) मैं कुशिक नामक राजर्षि का पुत्र (विश्वामित्र) रक्षा प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ (तुम) शुतुद्री नदी की ओर अभिमुख होकर (अपनी) महान् स्तुति से (तुमको) जोर से पुकार रहा हूँ।

**व्याकरण**—

१. ऋतावरीः – 'ऋतम् यस्याः सा' अर्थ में ऋत शब्द से मतुप् के अर्थ में 'छन्दसीवनिपौ' सूत्र से वनिप् प्रत्यय। ऋत् + वन्। 'वनो र च' सूत्र से ङीप् और वन् के न को र आदेश 'वा छन्दसि' से दीर्घ होकर = ऋतावरी, सम्बोधन बहुवचन।

२. एवैः – √इण् (गतौ) 'इण्शीङ्भ्यां वन्' सूत्र से वन् प्रत्यय। इ + व। गुण होकर = एव। तृतीया का बहुवचन = एवैः। यहाँ पञ्चमी के अर्थ में तृतीया है।

३. मनीषा – मनसः ईषा = मनीषा। तृतीया के अर्थ में प्रथमा।

४. अवस्युः – 'अवः आत्मन इच्छति' अर्थ में 'सुप आलनः क्यच्' से क्यच् प्रत्यय। अवस् + य। 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से उ प्रत्यय = अवस्युः।

**विशेष**—

१. यहाँ सायण ने 'ऋत' का अर्थ 'उदक करके' ऋतावरी का अर्थ 'जल से भरी हुई'

किया है। सायण ने अपने अर्थ की पुष्टि यास्क के निरुक्त से की है—'ऋतमित्युदकनाम'। पीटर्सन ने ऋत का अर्थ 'आदरणीय पवित्र' मानकर 'ऋतावरी' का अर्थ 'holy one' किया है। लुई रेनो ने इस शब्द का अर्थ Rite obsesvers किया है। उसके अनुसार ऋत का अर्थ 'वैदिक यज्ञ' है।

२. सायण ने 'सोम्याय' पद से यह अभिप्राय लेते हैं कि ऋषि को नदी के पार जाकर सोम का सम्पादन करना है, अतः उनका वचन 'सोम्य' है। यास्क ने भी 'सोम्याय' का अर्थ 'सोमसम्पादिने' किया है। पीटर्सन इससे यह अभिप्राय लेते है कि विश्वामित्र ऋषि अपने कथन के सोम भी प्रदान कर रहे हैं (My words that have accompanieal)। लुई रेनो सोम्याय में उपमा मानते है। विश्वामित्र के वचन सोम के समान मधुर है (my spech sweet like the Soma)

३. सायण ने 'मनीषा' का अर्थ स्तुति किया है। पीटर्सन इसका अर्थ अभिलाषा (Longing) करते हैं। लुई रेनो ने इसका अर्थ विचार (Thought) किया है। यास्क के अनुसार 'मनीषा' का अर्थ 'स्तुति अथवा प्रज्ञा' है।

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहु-
रपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणि-
स्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥६॥

**पदपाठ—** इन्द्रः। अस्मान्। अरदत्। वज्रऽबाहुः। अप। अहन्। वृत्रम्। परिऽधिम्। नदीनाम्॥ देवः। अनयत्। सविता। सुऽपाणिः। तस्य। वयम्। प्रऽसवे। यामः। उर्वीः॥

**सा० भा०—** नद्यः प्रत्यूचुः। हे विश्वामित्र वज्रबाहुः वज्रयुक्तो बाहुर्यस्यासौ वज्रबाहुः। तादृशो बलवान् इन्द्रः नदीः अस्मान् अरदत्। रदतिः खनतिकर्मा। अखनत्। कथमखनत्। उच्यते। नदीनां शब्दकारिणीनामपां परिधिं परितो निहितमुदकमन्तः कृत्वा परितो वर्तमानमित्यर्थः। तादृशं वृत्रम्। वृणोत्याकाशमिति वृत्रो मेघः। तं मेघम् अपाहन् जघान। तस्मिन् हते आपः पतिताः। ताभिर्गच्छन्तीभिर्वयं खाताः। एवं मेघहननद्वारेणाखनत्। न केवलखनत् किं तर्हि सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सुपाणिः शोभनहस्तः उत्पत्तिस्थितिकर्तृत्वात्तादृशः देवः द्योतमानः इन्द्रः अस्मान् अनयत्। मेघभेदनं कृत्वोदकप्रेरणेन समुद्रमपूरयत्। तस्य तादृशसामर्थ्योपेतस्य इन्द्रस्य प्रसवे अभ्यनुज्ञायां वर्त-

माना: उर्वी: उदकै: प्रभूता: वयं याम: गच्छाम: । न तव वचनादुपरमामहे । उक्तार्थं यास्को ब्रवीति— 'इन्द्रो अस्मानरदद्वज्रबाहू रदति: खनतिकर्मपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनामिति व्याख्यातम् । देवोऽनयत्सविता सुपाणि: कल्याणपाणि: पाणि: पणायते: पूजाकर्मण: प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीरुर्व्य:' (निरु० २.२६) इति ॥ अरदत् । रदतेर्लङि रूपम् । वज्रबाहु: बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वर: । अहन् । हन्तेर्लङि रूपम् । निघात: । परिधिम् । 'डुधाञ् धारणपोषणयो:' इत्यस्यात् कर्मण्युपसर्गे 'घो: कि:' इति किप्रत्यय: । आतो लोप: । कृदुत्तरपदस्वर: । अनयत् । नयतेर्लङि रूपम् । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' । 'अशिपणाय्यो रुडायलुकौ ' (उ०सू० ४.५७२) इतीण् । आयलुक् । बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' इति स्वर: । प्रसवे 'षू प्रेरणे' । 'ऋदोरप्' इति भावेऽप्प्रत्यय: । 'थाथघञ्क्ता' इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । याम: । 'या प्रापणे' इत्यस्य लटि रूपम् । निघात: । उर्वी: । उरुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घ: । प्रत्ययस्वर: ॥

**अन्वय**— वज्रबाहु: इन्द्र: अस्मान् अरदत् । नदीनां परिधिं वृत्रम् अपाहन् । सविता सुपाणि: देव: अनयत् । वयम् उर्वी: तस्य प्रसवे याम: ।

**पदार्थ**— वज्रबाहु: = भुजाओं में वज्र को धारण करने वाले । इन्द्र: = इन्द्र ने । अस्मान् = हमको । अरदत् = खोदा । नदीनाम् = नदियों की । परिधिम् = घेर कर रोकने वाले । वृत्रम् = वृत्र को । अपाहन् = मारा । सविता = प्रेरणा देने वाला । सुपाणि: = शोभन हाथों वाला । देव: = तेज से चमकता हुआ । अनयत् = ले गया । वयम् = हम । उर्वी: = विशाल । तस्य = उसके । प्रसवे = प्रेरणा से । याम: = जाती हैं ।

**अनुवाद**— (नदियाँ प्रत्युत्तर देती हैं— हे विश्वामित्र !) भुजाओं में वज्र को धारण करने वाले इन्द्र ने हमको खोदा । (अर्थात् उसने खोदकर हमारे लिए मार्ग बनाया) । नदियों को (अर्थात् जलों को) चारों ओर से घेर कर रोकने वाले वृत्र को (इन्द्र ने) मारा । सबको प्रेरणा देने वाले और शोभन हाथों वाले तेज से दीप्तिमान् (इन्द्र) हमें (इस मार्ग से) ले गये । हम विशाल जल से भरी नदियाँ उसकी प्रेरणा से जाती हैं (बहती) हैं ।

**व्याख्या**—

१. अस्माँ – स्वर बाद में होने पर वेद में पदान्त आकार से परवर्ती नकार का लोप और पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक ।

२. अरदत् – √रद्, लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. अनयत् – √नी; लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

४. याम: – √या, लट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१ंतत्-
दिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत् ।
वि वज्रेण परिषदो जघाना-
यन्नापोऽयनमिच्छमानाः ॥७॥

पदपाठ— प्रऽवाच्यम् । शश्वधा । वीर्यम् । तत् । इन्द्रस्य । कर्म । यत् । अहिम् । विऽवृश्चत् ॥ वि । वज्रेण । परिऽसदः । जघान । आयन् । आपः । अयनम् । इच्छमानाः ॥

सा० भा०— योऽयमिन्द्रः अहिं मेघं विवृश्चत् उदकप्रेरणार्थं जघानेति यत् कर्म छेदनरूपं तत् इदम् तस्य इन्द्रस्य वीर्यं सामर्थ्यं शश्वधा सर्वदा प्रवाच्यं प्रकर्षेण वचनीयम् । तथा स इन्द्रः परिषदः परितः सीदत आसीनान् प्रतिबन्धकारिणोऽसुरान् वज्रेण वि जघान । अथ अयनं स्थानम् इच्छमानाः इच्छन्त्यः आपः आयन् यान्ति ॥ प्रवाच्यम् । 'वच परिभाषणे' इत्यस्मात् 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् । णित्त्वादुपधावृद्धिः । 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' (पा०सू० ७.३.६७) इति कुत्वाभावः । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा वाचयतेः 'अचो यत्' । 'यतोऽनावः' इति स्वरः । शश्वधा । शश्वच्छब्दात् स्वार्थे धाप्रत्ययस्तकारलोपश्च द्रष्टव्यः । विवृश्चत् । 'ओव्रश्चू छेदने' । तुदादिः । लङि 'ग्रहिज्यावयि०' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'सह सुपा' इत्यत्र सहेति योगविभागात् समासः । समासस्वरः । परिषदः । क्विप् । संहितायां 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम् । जघान हन्तेर्लिटि णलि रूपम् । निघातः । आयन् । 'अय गतौ' इत्यस्य लङि रूपम् । पादादित्वादनिघातः । इच्छमानाः । इषु इच्छायाम् इत्यस्मात् व्यत्ययेन शानच् । तस्य लसार्वधातुकस्वरे कृते प्रत्ययस्वरः ॥

अन्वय— इन्द्रस्य तत् वीर्यं कर्म यत् अहिं विवृश्चत् शश्वधा प्रवाच्यम्, वज्रेण परिषदः विजघान, आपः अयनम् इच्छमानाः आयन् ।

पदार्थ— इन्द्रस्य = इन्द्र का । तत् = वह । वीर्यम् = पराक्रमयुक्त । कर्म = कार्य । यत् = जो । अहिम् = अहि (नामक असुर) को । विवृश्चत् = काट डाला, मार डाला । शश्वधा = सर्वदा । प्रवाच्यम् = प्रकृष्ट रूप से कहने (प्रशंसा करने) योग्य । वज्रेण = वज्र से । परिषदः = प्रतिबन्धकों को । वि जघान = मार डाला । आपः = जल । अयनम् = मार्ग को । इच्छमानाः = इच्छा करता हुआ, खोजता हुआ । आयन् = प्रवाहित हुआ ।

**अनुवाद—** इन्द्र का वह पराक्रमयुक्त कार्य, जो (उसने) अहि (जल को रोकने वाले अहि नामक असुर) को मार डाला, (वह) सर्वदा प्रकृष्टरूप से प्रशंसनीय है। (उस इन्द्र ने) वज्र से प्रतिबन्धकों (जल के रोकने वालों) को मार डाला (और) जल (अपने) मार्ग को खोजता हुआ प्रवाहित हुआ।

**व्याकरण—**

१. प्रवाच्यम् – प्र + √वच् + ण्यत्।

२. वीर्यम् – √वीर् + यत्।

३. विवृश्चत् – √व्रश्च् (कर्त्तने) + लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

४. परिषदः – परि + √सद् + क्विप्।

५. जघान – √हन् + लिट्, प्रथमपुरुष एवचन।

६. आयन् – √इ (गमने) + लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

७. इच्छमानाः – √इष् (अभिलाषे) + शानच्, प्रथमा बहुवचन।

**एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा**
**आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।**
**उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व**
**मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते ॥८॥**

**पदपाठ—** एतत्। वचः। जरितः। मा। अपि। मृष्ठाः। आ। यत्। ते। घोषान्। उत्ऽतरा। युगानि॥ उक्थेषु। कारो इति। प्रति। नः। जुषस्व। मा नः। नि। करिति कः। पुरुषऽत्रा। नमः। ते॥

**सा० भा०—** नद्यः प्रसङ्गादिन्द्रस्तोत्रं कृत्वा विश्वामित्रं प्रत्यूचुः। जरितः स्तोतः विश्वामित्र ते त्वदीयं यत् संवादात्मकं वचः त्वं नः अभीत्या घोषान् उद्घोषयन् वर्त तद्वचः मापि मृष्ठाः मा विस्मार्षीः। कि कारणम्। उत्तरा युगानि उत्तरेषु याज्ञिकेषु युगे अहःसु उक्थेषु कारो शास्त्राणां कर्तस्त्वं नः अस्मान् प्रति जुषस्व संवादात्मकेन ते वाक्येन प्रतिसेवस्व। इदानीं नः अस्मान् पुरुषत्रा पुरुषेषु मा नि कः। उक्तिप्रत्युक्ति रूपसंवादवाक्याध्यापनेन नितरां पुंवत् प्रागल्भाः मा कार्षीः। ते तुभ्यं नमः॥ मृष्ठाः 'मृजूष् शुद्धौ' इत्यस्य लङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। अदादित्वाच्छपो लुक्। व्रश्चा दिना षत्वम्। निघातः। घोषान्। 'घुषिर् संशब्दने' इत्यस्य शतरि सर्वविधीनां छन्द

विकल्पितत्वात् 'अतो गुणे' इति पररूपत्वाभावः। सवर्णदीर्घः। शतुर्लसार्वधातुकस्वरे कृते धातुस्वरः। युगानि। 'युजिर् योगे'। उञ्छादिषु घञन्तत्वेन निपातनादगुणत्वम्। विशिष्टविषयं च निपातनमिष्यते। 'कालविशेषे रथाद्युपकरणे च' इति तत्र पाठादेवान्तोदात्तत्वम्। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। कारो। करोतेः 'कृवापाजिमि०' इत्यादिना उण्प्रत्ययः। आमन्त्रितत्वान्निघातः। कः। करोतेर्लुङि च्लेः 'मन्त्रे घस०' इत्यादिना लुक् हल्ङ्यादिना सिचो लोपः। 'न माङ्योगे' इत्यडभावः। पुरुषत्रा। 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

**अन्वय**— जरितः, एतत् वचः अपि मा मृष्ठाः यत् ते उत्तरा युगानि आ घोषान्। कारो, उक्थेषु नः प्रति जुषस्व। नः पुरुषत्रा मा नि कः, ते नमः।

**पदार्थ**— जरितः = हे स्तोता, हे स्तुति करने वाले। एतत् = इस। वचः = वचन को। अपि = भी, कभी भी। मा = नहीं, मत। मृष्ठाः = भूलना। यत् = जिससे। ते = तुम्हारे। उत्तरा = उत्तरवर्ती, भावी। युगानि = युगों वाले लोग। आघोषान् = सुन सकें। कारो = हे क्रान्तद्रष्टा (कवि)। उक्थेषु = स्तुतियों में। नः = हमारे। प्रति जुषस्व = प्रति आदर करो (रखो)। नः = हम लोगों को। पुरुषत्रा = पुरुषों (की श्रेणी) में। मा = मत। नि कः = नीचे करो (रखो)। ते = तुमको। नमः = नमस्कार है।

**अनुवाद**— हे स्तुति करने वाले (विश्वामित्र), इस वचन को कभी भी मत भूलना जिससे तुम्हारे (इस वचन को) भावी युगों के लोग सुन सकें। हे क्रान्तद्रष्टा (कवि), (अपनी) स्तुतियों में हमारे लिए आदर रखो। हम लोगों पुरुष (की श्रेणी) में नीचे मत रखो। तुमको नमस्कार है।

**व्याकरण**—

१. जरितः – √जृ + तृच् = जरितृ, सम्बोधन।

२. मृष्ठाः – √मृष् + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. घोषान् – √घुष् (श्रवणे), लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप।

४. कारो – √कृ + उण्, सम्बोधन एकवचन।

५. जुषस्व – √जुष् आत्मनेपद, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

६. कः – √कृ, लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप।

७. पुरुषत्रा– पुरुष + सप्तम्यर्थ देवमनुष्यपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् (पा०सू० ६.२.४९) से त्रा प्रत्यय।

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत
ययौ वो दूरादनसा रथेन।
नि षू नमध्वं भवता सुपारा
अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥९॥

**पदपाठ**— ओ इति। सु। स्वसारः। कारवे। शृणोत। ययौ। वः। दूरात्। अनसा। रथेन ॥ नि। सु। नमध्वम्। भवत। सुऽपाराः। अधःऽअक्षाः। सिन्धवः। स्रोत्याभिः ॥

**सा० भा०**— विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच। स्वसारः भगिन्यः सिन्धवः हे नद्यः कारवे स्तोत्रं कुर्वाणस्य मम वचनं सुष्ठु ओ शृणोत शृणुतैव। अनया शकटेन रथेन च सह दूरात् विप्रकृष्टादेशात् वः युष्मात् ययौ प्राप्तोऽस्मि। यूयं सु सुष्ठु नि नमध्वम् आत्मना स्वयं प्रह्वाः भवत। तथा सुपाराः रथादीनां तीरात् सुखेनावरोहणावरोहणे यथा स्यातां तथा शोभनरोधसश्च भवत। किञ्च यूयं स्रोत्याभिः स्रवणशीलाभिरद्भिः अधोअक्षाः रथाङ्गस्याक्षस्याधस्ताद्भवत। यदापोऽक्षस्याधस्ताद्भवन्ति तदा रथादीनि नेतुं शक्यन्ते। तस्मात् तत्परिमाणोदकाः भवतेति अर्थाभिप्रायः॥ ओ अति प्रगृह्यसंज्ञा। शृणोत। 'श्रु श्रवणे' इत्यस्य लोटि तप्रत्ययस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च' इति तवादेशः। पित्त्वाद्गुणः। निघातः। ययौ। 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिट्युत्तमे णलि 'आत औ णलः' इत्यौकारः एकादेशस्वरः। वः। युष्मच्छब्दस्य द्वितीयायाः बहुवचनस्य वस्नसौ' इति वसादेशः। षू। 'निपातस्य' इति संहितायां दीर्घः। नमध्वम्। 'णमु प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यस्य कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुगमां यक्चिणौ' इति प्रतिषेधात् यगभावः। अधोअक्षाः अधरशब्दस्य 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' इत्यसिप्रत्ययोऽधादेशश्च। अक्षशब्दः 'अशूव्याप्तौ' इत्यस्मात् 'अशेर्देवने' (उ०सू० ३.३४५) इति सप्रत्ययान्तः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। सिन्धवः। आमन्त्रितत्वान्निघातः। स्रोत्याभिः स्रोतःशब्दात् 'स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ' (पा०सू० ४.४.११३) इति ड्वप्रत्ययः। डित्त्वात् टिलोपः। प्रत्ययस्वरः॥

**अन्वय**— ओ सु स्वसारः, कारवे शृणोत, वः दूरात् अनसा रथेन ययौ। सु नि नमध्वम्। सिन्धवः, स्रोत्याभिः अधो अक्षाः सुपारा भवत।

**पदार्थ**— ओ सु स्वसारः = हे सुन्दर बहनो। कारवे = कवि की बात को। शृणोत = सुनो। वः = तुम्हारे (समीप)। दूरात् = बहुत दूर से। अनसा = गाड़ी द्वारा। रथेन = रथ द्वारा। ययौ = आया हूँ। सु नि नमध्वम् = तुम लोग अच्छी प्रकार

से नीचे झुक जाओ। सिन्धवः = हे नदियो। स्रोत्याभिः = (अपनी) जलधाराओं से। अधोअक्षाः = अक्ष (धूरी) से नीचे। सुपारा = सरलता से पार होने योग्य। भवत = हो जाओ।

**अनुवाद**— हे सुन्दर बहनो, तुम लोग (मुझ) कवि की बात को सुनो, हम बहुत दूर से गाड़ी द्वारा (और) रथ द्वारा तुम्हारे समीप आये हैं। तुम लोग अच्छी प्रकार से नीचे झुक जाओ। हे नदियो, अपनी जलधाराओं से रथ के अक्ष (धूरी) के नीचे (बहती हुई) तुम लोग सरलतापूर्वक पार होनें योग्य हो जाओ।

**व्याकरण**—

१. ओ – सम्बोधन वाचक निपात, प्रगृह्य।

२. शृणोत – √श्रु (श्रवणे) लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

३. ययौ – √या (गमने) लिट् उत्तमपुरुष एकवचन।

४. नमध्वम् – √नम् आत्मनेपद लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

५. भवत – √भू लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**आ ते कारो शृणवामा वचांसि**
**ययाथ दूरादनसा रथेन।**
**नि ते नंसै पीप्यानेव योषा**
**मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥१०॥**

**पदपाठ**— आ। ते। कारो इति। शृणवाम। वचांसि। ययाथ। दूरात्। अनसा। रथेन॥ नि। ते। नंसै। पीप्यानाऽइव। योषा। मर्यायऽइव। कन्या। शश्वचै। ते इति ते॥

**सा० भा०**— नद्यः पूर्वं विश्वामित्रं प्रत्याख्यायानयर्चा तस्य वाक्यमाशुश्रुवुः। कारो स्तोत्रं कुर्वाण हे विश्वामित्र ते तव वचांसि इमानि वाक्यानि आ शृणवाम शृणुमः। तव समीहितं प्रयोजनं कुर्म इत्यर्थः। अनसा शकटेन रथेन च सह ययाथ। यतो दूरात् आगतोऽसि। वयं त्वदर्थं नि नंसै नीचैर्नमाम। प्रत्येकविवक्षया अत्रैकवचनम्। रथेन गन्तुं गाधोदका भवामेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। पीप्यानेव योषा। पीप्याना पुत्रं स्तनं पाययन्ती योषा माता यथा प्रह्वीभवति। दृष्टान्तान्तरम्। यथा कन्या युवतिः मर्यायेव मनुष्याय पित्रे भ्रात्रे वा शश्वचै परिष्वजनाय नम्रीभवति तद्वत् ते त्वदर्थं प्रह्वीभवामः॥ ते इति

पुनरुक्तिरादरार्थम्। एतामृचं यास्क एवं व्याचष्टे— 'आश्रणवाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा च रथेन च निनमाम ते पाययमानेव योषा पुत्रं मर्यायेव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वा' (निरु० २.२७) इति॥ कारो। 'संबुद्धौ शाकल्यस्येतौ०' (पा०सू० १.१.१६) इति प्रगृह्यसंज्ञा। शृणवाम। 'श्रु श्रवणे' इत्यस्य लोटि 'आडुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमः। पित्त्वात् गुणः। निघातः। ययाथ। 'या प्रापणे' इत्यस्य भूतमात्रे लिटि थलि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इतीट्प्रतिषेधः। लित्स्वरः। अनसा। सहार्थे तृतीया। नंसै। 'णमु प्रह्वत्वे' इत्यस्य लेट्युत्तमे लेटि सिब्बहुलमिति सिप्। 'वैतोऽन्यत्र' इत्यैकारादेशः। निघातः। पीप्यानेव। 'पीङ् पाने' इत्यस्यान्तर्भावितण्यर्थस्य लिटि कानचि रूपम्। चित्स्वरः। योषा। 'यू मिश्रणे'। 'वृतृवदिहनि' (उ०सू० ३.३४२) इत्यादिना सप्रत्ययः। यौतीति योषा। वृषादित्वादाद्युदात्तः। शश्वचै। 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इत्यस्मात् सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप्। पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धिरन्तोदात्तश्च॥

**अन्वय—** कारो, ते वचांसि आशृणवाम, दूरात् अनसा रथेन ययाथ। योषा पीप्यानेव कन्या मर्यायेव शश्वचैः ते नि नंसै।

**शब्दार्थ—** कारो = हे प्रार्थना (स्तुति) करने वाले (विश्वामित्र)। ते = तुम्हारी। वचांसि = बातों को। आशृणवाम = हम सुन रहीं हैं। दूरात् = दूर से। अनसा = गाड़ी द्वारा। रथेन = रथ द्वारा। ययाथ = तुम लोग आये हो। योषा = स्त्री। पीप्यानेव = दूध भरे स्तन के समान। कन्या = युवती। मर्यायेव = प्रेमी के समान। शश्वचैः = आलिङ्गन के लिए। ते = तुम्हारे लिए। नि नंसै = नीच झुक रही हूँ।

**अनुवाद—** हे स्तुति करने वाले (विश्वामित्र), तुम्हारी बातों को हम सुन रही है कि दूर से गाड़ी द्वारा और रथ द्वारा तुम लोग आये हो, जिस प्रकार दूध भरे स्तन वाली स्त्री (अपने पुत्र के और) जैसे युवती अपने प्रेमी के आलिङ्गन के लिए झुकती है, उसी प्रकार मैं नीचे झुक रही हूँ।

**व्याकरण—**

१. शृणवाम – √शृ (श्रवणे) लट् उत्तमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप।

२. ययाथ – √या (गमने) + लिट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

३. नंसै – √नम् आत्मनेपद, लुङ् उत्तमपुरुष एकवचन।

४. शश्वचैः – √श्वच् + क्विप्।

यदुङ्ग त्वा भरताः संतरेयु-

र्गव्यन्ग्रामं इषित इन्द्रजूतः।

अर्षादहं प्रसवः सर्गतक्त

आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् ॥११॥

**पदपाठ—** यत् । अङ्ग । त्वा । भरताः । सम्ऽतरेयुः । गव्यन् । ग्रामः । इषितः । इन्द्रऽजूतः ॥ अर्षात् । अहं । प्रऽसवः । सर्गऽतक्तः । आ । वः । वृणे । सुऽमतिम् । यज्ञियानाम् ॥

**सा० भा०—** विश्वामित्रो नदीः प्रत्युवाच। अङ्ग इत्यामन्त्रणे। हे नद्यः यत् यस्मात् युष्माभिरुत्तितीर्षोः ममोत्तरणमभ्यनुज्ञातं तस्मात् भरताः भरतकुलजा मदीयाः सर्वे त्वा परस्परमेकतामापन्नां नदीं त्वां संतरेयुः सम्यगुत्तीर्णा भवेयुः। तदेव विशिनष्टि। गव्यन् गा उदकानि तरीतुमिच्छन् इषितः त्वयाभ्यनुज्ञातः इन्द्रजूतः युष्माकं प्रवर्तकेनेन्द्रेण च प्रेरितः ग्रामः भरतानां सङ्घः अर्षात् संतरेत्। यतः सर्गतक्तः गमनाय प्रवृत्तः प्रसवः तेषामुद्योगः अह पूर्वं युष्माभिरनुज्ञातः। अहं तु यज्ञियानां यज्ञार्हाणां वः युष्माकं सुमतिं शोभनां स्तुतिम् आ वृणे सर्वतः संभजे॥ भरताः। भरतशब्दादुत्सादित्वादञ्। तस्य 'यञञोश्च' इति लुक्। अतच्प्रत्ययस्वरः। संतरेयुः। तरलेर्लिङि जुसि रूपम्। झेर्लसार्वधातुकस्वरे धातुस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' इति गतेर्निघातः। गव्यन्। गा आत्मन इच्छन्। सुपः क्यच्। एकादेशस्वरः। ग्रामः। 'ग्रसतेरा च' (उ०सू० १.१४०) इति मन्प्रत्यय आकारादेशश्च। नित्स्वरः। इन्द्रजूतः। जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः। 'श्र्युकः किति' इति निष्ठायामिट्प्रतिषेधः। 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। अर्षात्। 'ऋ गतौ' इत्यस्य लेटि तिपि 'सिब्बहुलम्' इति सिप्। लेट आडागमः। 'एकाचः' इतीट्प्रतिषेधः। गुणः। प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः। वृणे। 'वृङ् संभक्तौ' इत्यस्य लटि रूपम्। यज्ञियानाम्। 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' इति घप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

**अन्वय—** अङ्ग, यत् भरताः त्वा सन्तरेयुः, गव्यन् इषितः इन्द्रजूतः ग्रामः (सन्तरेयुः), वः प्रसवः सर्गतक्तः अर्षात्, यज्ञियानां सुमतिम् आवृणे।

**पदार्थ—** अङ्ग = सम्बोधन वाचक निपात, हे (नदियों)। यत् = जो (तुम्हारी अनुमति मिल गयी है)। भरताः = भरतवंश वाले (हम) लोग। त्वा = तुमको। सन्तरेयुः = पार करें। गव्यन् = (पार करने की) इच्छा वाले। इषितः = (तुम्हारे द्वारा) अनुज्ञात (पार जाने के निर्देश को प्राप्त)। इन्द्रजूतः = इन्द्र द्वारा भेजा गया। ग्रामः = (यह) समूह। वः = तुम लोगों का। प्रसवः = जलप्रवाह। सर्गसक्तः = स्वाभाविक रूप से। अर्षात् = प्रवाहित रहे। यज्ञियानाम् = पवित्र (नदियों) की। सुमतिम् =

सुन्दर मति, को समर्थन को। आवृणे = मैं चाहता हूँ।

**अनुवाद**— हे (नदियो), जो (तुम्हारी अनुमति मिल गयी है) (इसलिए) भरत-वंश वाले (हम) लोग तुमको पार करें। (पार जाने की) इच्छा वाले (तुम्हारे द्वारा) अनुज्ञात (और) इन्द्र द्वारा भेजा गया (यह) समूह (तुमको पार करे)। तुम लोगों का जल-प्रवाह स्वाभाविक रूप से प्रवाहित रहे, पवित्र (नदियों) के समर्थन को मैं चाहता (स्वीकार करता) हूँ।

**व्याकरण**—

१. सन्तरेयुः – सम् + √तृ (तरणे) विधिलिङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. इन्द्रजूतः – इन्द्रेण जूतः (तृतीया तत्पुरुष)।

३. गव्यन् – गो + क्यच्।

४. अर्षात् – √ऋष् – लेट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. वृणे – √वृ (चयने) आत्मनेपद् लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

**अतारिषुर्भरता गव्यवः स-**
**मभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।**
**प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा**
**आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम् ॥१२॥**

**पदपाठ— अतारिषुः। भरताः। गव्यवः। सम्। अभक्त। विप्रः। सुऽमतिम्। नदीनाम् ॥ प्र। पिन्वध्वम्। इषयन्तीः। सुऽराधाः। आ। वक्षणाः। पृणध्वम्। यात। शीभम् ॥**

**सा० भा०**— गव्यवः गा आत्मन इच्छन्तः भरताः भरतकुलजाः सर्वे अतारिषुः तां नदीं समतरन् विप्रः मेधावी विश्वामित्रः नदीनां सुमतिं शोभनां स्तुतिं समभक्त समभजत। यूयं तु यथापूर्वम् इषयन्तीः कुल्यादिद्वारा अन्नं कुर्वाणा अत एव सुराधाः शोभनधनोपेता यूयं वक्षणाः कृत्रिमसरितः कुल्याः प्र पिन्वध्वं प्रकर्षेण तर्पयत। आ पृणध्वं ताः सर्वतः पूरयत च। शीघ्रं यात गच्छत च॥ अतारिषुः। 'तिप्लवनतरणयोः' इत्यस्य लुङि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धिः। अडागमस्वरः। गव्यवः। सुपः क्यच्। 'क्याच्छन्दसि' इत्युप्रत्ययः। तस्य स्वरः। अभक्त। 'भज सेवायाम्'

इत्यस्य लुङि सिचः 'झलो झलि' इति लोपः । पादादित्वादनिघातः । पिन्वध्वम् । 'पिवि सेचने' इत्यस्य लोटि रूपम् । निघातः । इषयन्ताः । इषं कुर्वत्यः । 'तत्करोति' इति णिच् । 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति इष्ठवद्भावात् 'टेः' इति टिलोपः । 'वा छन्दसि' इति सवर्णदीर्घः । प्रत्ययस्वरः । पृणध्वम् । 'पृण प्रीणने' । लोटि रूपम् । व्यत्ययेनात्मनेपदम् । वाक्यभेदादनिघातः । यात । 'या प्रायणे' इत्यस्य लोटि रूपम् । अत्रापि न निघातः । शीभम् । 'शीभृ कत्थने' । श्लाघ्यतेऽनेन तद्वानिति करणे घञ् । ञित्स्वरः ॥

**अन्वय**— गव्यवः भरताः अतारिषुः, विप्रः नदीनां सुमतिं समभक्त । सुराधाः इषयन्तीः वक्षणाः प्र पिन्वध्वम् । आपृणध्वं शीभं यात ।

**पदार्थ**— गव्यवः = पार जाने की कामना वाले । भरता = भरतवंश वाले लोगों ने । अतारिषुः = पार कर लिया । विप्रः = विप्र (विश्वामित्र) ने । नदीनाम् = नदियों की । सुमतिम् = सुन्दर मति को, समर्थन को । समभक्त = प्राप्त कर लिया । सुराधाः = सुन्दर धन वाली (नदियाँ) । इषयन्तीः = धन लाती हुई । वक्षणाः = अपने स्थान पर । प्र पिन्वध्वम् = प्रकृष्ट रूप से प्रवाहित होवें । आ पृणध्वम् = पूर्णरूप से भर जाओ । शीभम् = शीघ्रता से । यात = बहो, प्रवाहित होवें ।

**अनुवाद**— पार जाने की कामना वाले भरतवंश के लोगों ने पार कर लिया (और) विप्र (विश्वामित्र) ने नदियों का समर्थन प्राप्त कर लिया । सुन्दर धन वाली (नदियाँ) (तुम लोग) धन लाती हुई (अपने) स्थान पर (यथावत्) प्रकृष्टरूप से प्रवाहित होवें, पूर्णरूप से भर जाओ (और) शीध्रता से बहो ।

**व्याकरण**—

१. अतारिषुः – √तृ लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. भक्त – √भज् अत्मनेपद लुंङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. इषयन्तीः – √इष् + णिच् ।

४. पिन्वध्वम् – √पिन्व आत्मनेपद लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन ।

५. पृणध्वम् – √पृञ्, आत्मनेपद, लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन ।

६. यात – √या (गमने) लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन ।

**उद्व ऊर्मिः शम्या हु-**

**न्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।**

मादुष्कृतौ व्यैनसा-
घ्न्यौ शूनमारताम् ॥१३॥

**पदपाठ—** उत् । वः । ऊर्मिः । शम्याः । हन्तु । आपः । योक्त्राणि । मुञ्चत ॥ मा । अदुःऽकृतौ । विऽएनसा । अघ्न्यौ । शूनम् । आ । अरताम् ॥

**सा० भा०—** पूर्वमुत्तितीर्षुर्विश्वामित्रो नदीरुक्त्वा अधुना उत्तितीर्षुः पुनराह । हे नद्यः वः युष्माकम् ऊर्मिः तरङ्गः शम्याः युग्मकण्ठपार्श्वादिसंलेग्ना रज्जवः उत् ऊर्ध्वं यथा भवन्ति तथा हन्तु गच्छतु । स तरङ्गो रज्जूनामधो गच्छत्वित्यभिप्रायः । तथा हे आपः यूयं येक्त्राणि ता रज्जूः मुञ्चत । यथा न स्पृशन्ति तथा यान्त्वित्यभिप्रायः । व्येनसा विगतपापे अत एव अदुष्कृतौ कल्याणकर्मकारिण्यौ अघ्न्ये न केनापि तिरस्करणीये विपाट्छुतुद्र्यौ शूनं समृद्धिं मा आरताम् आगच्छताम् । एवं विश्वामित्रो नदीः स्तुत्य ताभिरनुज्ञातोऽतरदिति ॥ ऊर्मिः । 'ऋ गतौ' । 'अर्तेरूच्च' इति मिप्रत्ययः । 'ऊः' इत्ययमादेशो धातोः । ऋच्छतीत्यूर्मिः । प्रत्ययस्वरः । शम्याः । 'शमु उपशमे' । 'पोरदुपधात्' इति यत्प्रत्ययः । 'यतोऽनावः इत्याद्युदात्तत्वम् । हन्तु । 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य लोटि रूपम् । निघातः । यौक्त्राणि । 'युजिर् योगे' । करणे 'दाम्नीशसयुयुजः०' इत्यादिना ष्ट्रन्प्रत्ययः । नित्स्वरः । मुञ्चत । मुच्लृ मोक्षणे' । निघातः । अदुष्कृतौ । 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । व्येनसा । बहुव्रीहौ पूर्वपदस्वरः । सुपो डादेशः । अघ्न्यौ । 'हन हिंसागत्योः' इत्यस्य नञ्पूर्वस्य 'अघ्न्यादयश्च' इति निपातनात् यक् । कित्त्वादुपधालोपः । 'हो हन्तेः' इति घत्वम् । सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वादत्र औङः शीभावाभावः । एकादेशस्वरः । शूनम् । श्वयतेः 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तः । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । 'हलः' इति दीर्घत्वम् । 'ओदितश्च' इति निष्ठानत्वम् । 'निष्टा च द्व्यजनात्' इत्याद्युदात्तः । अरताम् । 'ऋ गतौ' इत्यस्य लुङि च्लेः 'सतिशास्त्यतिभ्यश्च' इत्यङादेशः । 'ऋदृशोऽङि गुणः' । 'न माङ्योगे' इत्यडभावः । निघातः ॥

**अन्वय—** वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु, आपः योक्त्राणि मुञ्चत । अदुष्कृतौ व्येनसा अघ्न्यौ शूनं मा आ अरताम् ।

**पदार्थ—** वः = तुम्हारी । ऊर्मिः = तरङ्ग, धारा । शम्याः = जुए की कील को । उत् हन्तु = ऊपर से आघात करे । आपः = जल । योक्त्राणि = रस्सी को । मुञ्चत = छोड़ दे । अदुष्कृतौ = दृष्कृत्य न करने वाली, कल्याणकारी । व्येनसा = पापरहित । अघ्न्यौ = तिरस्कार न करने योग्य । शूनम् = वृद्धि को । मा = न । आ अरताम् = प्राप्त करें ।

अनुवाद— तुम्हारी तरङ्ग (धारा) जुए की कील को ऊपर से आघात करे (अर्थात् जुए की कील के नीचे से प्रवाहित होवे) (तुम्हारा) जल रस्सी को छोड़ दे। कल्याणकारी, पापरहित (तथा) तिरस्कार न करने योग्य दोनों (नदियाँ) वृद्धि को न प्राप्त करें।

व्याकरण—

१. हन्तु – √हन्, लोट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. मुञ्चत – √मुञ्च् लोट् प्रथमपुरुष बहुवहन।

३. अरताम् – √ऋ (गमने) लुङ् प्रथमपुरुष द्विवचन।

# १०. उषस्सूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–३ | सूक्त संख्या–६१

ऋषि–वामदेव | देवता–उषा | छन्द–त्रिष्टुप्

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः
स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धि-
रनुव्रतं चरसि विश्ववारे ॥१॥

**पदपाठ—** उषः । वाजेन । वाजिनि । प्रऽचेताः । स्तोमम् । जुषस्व । गृणतः ॥ मघोनि । पुराणी । देवि । युवतिः । पुरम्ऽधिः । अनु । व्रतम् । चरसि । विश्ववारे ॥

**सा० भा०—** वाजेन वाजिनि अन्नेनान्नवति । मघोनि धनवति । हे उषः प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानवती सती त्वं गृणतः त्वं स्तोत्रं कुर्वतः स्तोतुः स्तोमं स्तोत्रं जुषस्व सेवस्व । यद्वा वाजेन हविर्लक्षणेनान्नेन सह स्तोमं जुषस्वेति सम्बन्धः । विश्ववारे विश्वैः सर्वैः वरणीये हे उषः देवि पुराणी पुरातनी । युवतिः इत्युपमा । तद्वच्छोभमाना । पुरंधिः पुरु बहुधीः स्तोत्रलक्षणं कर्म यस्याः सा बहुस्तोत्रवती । पुरंधिर्बहुधीः इति यास्कः, पुरन्धिः शोभमाना वा । एवंविधगुणोपेता त्वम् अनुव्रतं यज्ञकर्माभिलक्ष्य चरसि यष्टव्यतया वर्तसे ॥१॥

**अन्वय—** वाजेन वाजिनि मघोनि उषः प्रचेताः गृणतः स्तोमं जुषस्व । विश्ववारे देवि पुराणी युवतिः पुरंधिः व्रतम् अनुचरसि ।

**पदार्थ—** वाजेन = अन्न के द्वारा । वाजिनि = अन्नवती । मघोनि = धनवती । उषः = हे उषा । प्रचेता = प्रकृष्टज्ञानवती । गृणतः = स्तुति करते हुए की । स्तोमम् = स्तोत्र को, प्रार्थना को । जुषस्व = स्वीकार करो, सेवन करो । विश्ववारे = हे सबके द्वारा चाही जाने वाली । देवि = देवी । पुराणी = पुरातनी, प्राचीन । युवतिः = युवति (के समान) । पुरन्धिः = अति बुद्धिमती, अधिक प्रकार से स्तुत होने वाली । अनु-

व्रतम् = व्रत को लक्ष्य करके, यज्ञ को लक्ष्य करके। चरसि = विचरण करती हो, वर्तमान रहती हो।

**अनुवाद**— अन्न के द्वारा अन्नवती (तथा) धनवती हे उषा! प्रकृष्टज्ञान सम्पन्न (तुम) स्तुति करते हुए (व्यक्ति) की प्रार्थना को स्वीकार करो। हे सबके द्वारा चाही जाने वाली देवी (उषा)! पुरातनी युवति की भाँति, अनेक प्रकार से स्तुत होने वाली (तुम) (इस) यज्ञ को लक्ष्य करके विचरण करती हो।

**व्याकरण**—

१. प्रचेताः – प्र + √चित् + तृच् प्रथमा बहुवचन।
२. गृणतः – √गृ + श्ना + शतृ, षष्ठी एकवचन।
३. जुषस्व – √जुष् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।
४. चरसि – √चर् + लट् + मध्यमपुरुष एकवचन।

**उषो देव्यमर्त्या वि भाहि**
**चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।**
**आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा**
**हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥२॥**

**पदपाठ**— उषः। देवि। अमर्त्या। वि। भाहि। चन्द्रऽरथा। सूनृता। ईरयन्ती॥ आ। त्वा। वहन्तु। सुऽयमासः। अश्वाः। हिरण्यवर्णाम्। पृथुऽपाजसः। ये॥

**सा० भा०**— हे उषो देवि अमर्त्या मरणधर्मरहिता चन्द्ररथा सुवर्णमयरथोपेता सूनृता प्रियसत्यरूपा वाचः ईरयन्ती उच्चारयन्ती। तादृशी त्वं वि भाहि सूर्यकिरणसम्बन्धात् विशेषेण दीप्यस्व, पृथुपाजसः प्रभूतबलयुक्ता अरुणवर्णा ये अश्वाः विद्यन्ते सुयमासः सुष्ठु नियन्तुं शक्या रथो योजितास्तेऽश्वाः हिरण्यवर्णां त्वा त्वाम् आ वहन्तु।

**अन्वय**— उषः देवि अमर्त्या चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती वि भाहि। पृथुपाजसः सुयमासः ये अश्वाः हिरण्यवर्णां त्वा आ वहन्तु।

**पदार्थ**— उषः देवि = हे उषा देवि। अमर्त्या = मरणधर्म से रहित, अमर। चन्द्ररथा = सुवर्णमय रथ वाली। सूनृता = प्रिय एवं सत्य वाणी को। ईरयन्ती = उच्चारण करती हुई। वि = विशेष रूप से। भाहि = प्रकाशित हो जाओ, सुशोभित

हो जाओ। पृथुपाजसः = प्रभूत बल से युक्त। सुयमासः = अच्छी प्रकार नियन्त्रित होने योग्य। ये = जो। अश्वाः = घोड़े। हिरण्यवर्णाम् = स्वर्णिम रंग वाली। त्वा = तुमको। आ वहन्तु = ले आवे।

**अनुवाद**— हे उषा देवि! मरणधर्म से रहित, सुवर्णमय रथ वाली, प्रिय एवं सत्य वाणी को (का) उच्चारण करती हुई (तुम) विशेष रूप से प्रकाशित हो जाओ। प्रभूत बल से युक्त अच्छी प्रकार नियन्त्रित होने योग्य जो (तुम्हारे) घोड़े (हैं), (वे) स्वर्णिम रंग वाली तुमको (इस यज्ञस्थल में) ले आवें।

**व्याकरण**—

१. भाहि – √भा + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।
२. ईरयन्ती – √ईर् + णिच् + शतृ + ङीप्, प्रथमा एकवचन।
३. वहन्तु – √वह् + लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
४. सुयमासः – सुयम शब्द के प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में सुयमाः रूप होता है।

**उषः प्रतीची भुवनानि विश्वो-**
**र्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।**
**समानमर्थं चरणीयमाना**
**चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥३॥**

**पदपाठ**— उषः। प्रतीची। भुवनानि। विश्वा। ऊर्ध्वा। तिष्ठसि। अमृतस्य। केतुः॥ समानम्। अर्थम्। चरणीयमाना। चक्रम्ऽइव। नव्यसि। आ। ववृत्स्व॥

**सा०भा०**— हे उषः देवि सर्वाणि भुवनानि प्रतीची। प्रति आभिमुख्येनाञ्चति प्राप्नोतीति प्रतीची। अमृतस्य मरणधर्मरहितस्य सूर्यस्य केतुः प्रज्ञापयित्री त्वम् ऊर्ध्वा नमस्युन्नता तिष्ठसि। नव्यसि पुनः पुनर्जायमानतया नवतरे हे उषो देवि, अर्थम् अर्यते गम्यतेऽस्मिन्नित्यर्थो मार्गः। समानम् एकमार्गमुदयात् प्राचीनकाललक्षणं चरणीयमाना चरितुमिच्छन्ती त्वम् आ ववृत्स्व पुनस्तस्मिन् मार्गे आवृत्ता भव। तत्र दृष्टान्तः। चक्रमिव। यथा नभसि चरितुः सूर्यस्य रथाङ्गं पुनः पुनरावर्तते तद्वत् ॥३॥

**अन्वय**— उषः विश्वा भुवनानि प्रतीची अमृतस्य केतुः ऊर्ध्वा तिष्ठसि, नव्यसि समानं चरणीयमाना चक्रमिव आ ववृत्स्व।

**पदार्थ**— उषः = हे उषा (देवि)! । विश्वा = सम्पूर्ण । भुवनानि = लोकों को (के) । प्रतीची = सम्मुख । अमृतस्य = मरणधर्म से रहित का । केतुः = ज्ञान कराने वाली । ऊर्ध्वा = ऊपर । तिष्ठसि = स्थित रहती हो । नव्यसि = हे सर्वदा नवीन रहने वाली । समानम् = एक ही । अर्थम् = मार्ग । चरणीयमाना = विचरण करती हुई । चक्रमिव = चक्र की भाँति । आ ववृत्स्व = बार-बार आती रहो ।

**अनुवाद**— हे उषा (देवि)! सम्पूर्ण लोकों के सम्मुख पहुँचने वाली (तथा) मरणधर्म से रहित (सूर्य के आगमन) का ज्ञान कराने वाली (तुम) ऊपर (आकाश में) स्थित रहती हो । हे (प्रतिदिन एक बार उदित होने के कारण) सर्वदा नवीन रहने वाली, (तुम) एक ही मार्ग (पर) विचरण करती हुई, चक्र की भाँति बार-बार आती रहो ।

**व्याकरण**—

१. प्रतीची – प्रति + √अञ्च् + क्विन् । प्रति आभिमुख्येन अञ्चति प्राप्नोति इति– सायण ।
२. तिष्ठसि – √स्था + लट् मध्यमपुरुष एकवचन ।
३. नव्यसि – √नव् + तृच् + ईयसुन्, सम्बोधन एकवचन ।
४. चरणीयमाना – √चर् + अनीयर् = चरणीय + शानच्, टाप्, प्रथमा एकवचन ।
५. ववृत्स्व – √वृत् + यङ्लुङन्त, लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन ।

अव॒ स्यूमे॑व॒ चि॒न्व॒ती म॒घो-
न्यु॒षा या॑ति॒ स्वस॑रस्य॒ पत्नी॑ ।
स्व१॒॑र्जन॑न्ती सु॒भगा॑ सु॒दंसा॒
आन्ता॑द्दि॒वः प॑प्रथ॒ आ पृ॑थि॒व्याः ॥४॥

**पदपाठ**— अव॑ । स्यूम॑ऽइव । चि॒न्व॒ती । म॒घोनी॑ । उ॒षा । या॒ति॒ । स्वस॑रस्य । पत्नी॑ ॥ स्वः॑ । जन॑न्ती । सु॒ऽभगा॑ । सु॒ऽदंसाः॑ । आ । अन्ता॑त् । दि॒वः । प॒प्र॒थे॒ । आ । पृ॒थि॒व्याः ॥

**सा० भा०**— येयम् उषा स्यूमेव वस्त्रमिव विस्तृतं तमः अवचिन्वती अवचयम-पक्षयं प्रापयन्ती मघोनी धनवती स्वसरस्य सुष्ठुवस्यति क्षिपति तम इति स्वसरा सूर्यो वासरो वा । तस्य पत्नी सती याति गच्छति । स्वः स्वकीयं तेजः जनन्ती जनयन्ती सुभगा सुधना सौभाग्ययुक्ता वा सुदंसा शोभनाग्निहोत्रकर्मा सेयमुषा दिवः द्युलोकस्य आ अन्तात् पृथिव्याः च आ अन्तात् अवसानात् पप्रथे प्रथते प्रकाशते इत्यर्थः ।

**अन्वय**— स्वसरस्य पत्नी मघोनी उषा स्यूम इव अव चिन्वती याति, स्वः जनन्ती सुभगा सुदंसा दिवः आ अन्तात् पृथिव्याः (अन्तात्) पप्रथे।

**पदार्थ**— स्वसरस्य = सूर्य की, दिन की। पत्नी = स्त्री। मघोनी = धनवाली, धन से युक्त। उषा = उषा देवी। स्यूम इव = वस्त्र की भाँति। अवचिन्वती = नष्ट करती हुई। याति = जाती है, गमन करती है। स्वः = अपने। जनन्ती = उत्पन्न करती हुई। सुभगा = सुन्दर धनवाली, सौभाग्य युक्त। सुदंसा = सुन्दर अग्निहोत्र (यज्ञ) कराने वाली। दिवः = द्यु लोक के। आ अन्तात् = अन्त तक। पृथिव्याः = पृथ्वी के। पप्रथे = फैलती है, प्रकाशित हो जाती है।

**अनुवाद**— सूर्य की स्त्री, धन से युक्त उषा देवी वस्त्र की भाँति (फैले हुए अन्धकार को) नष्ट करती हुई गमन करती है। अपने (तेज को) उत्पन्न करती हुई सुन्दर धन वाली (एवं) सुन्दर अग्नि होत्र कर्म (यज्ञ-विशेष) कराने वाली (उषा देवी) द्युलोक के अन्त तक एवं पृथिवी के (अन्त तक) फैलती है (अर्थात् प्रकाशित हो जाती है)।

**व्याकरण**—

१. चिन्वती – √चि + शतृ + ङीप्, प्रथमा एकवचन।
२. जनन्ती = √जन् + णिच् + शतृ + ङीप्, प्रथमा एकवचन, वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में 'जनयन्ती' रूप बनता है।
३. पप्रथे – √प्रथ् + लिट् + आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

**अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं**
**प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।**
**ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रे-**
**त्प्र रोचना रुरुचे रण्वसंदृक् ॥५॥**

**पदपाठ**— अच्छ। वः। देवीम्। उषसम्। विऽभातीम्। प्र। वः। भरध्वम्। नमसा। सुऽवृक्तिम्॥ ऊर्ध्वम्। मधुधा। दिवि। पाजः। अश्रेत्। प्र। रोचना। रुरुचे। रण्वऽसंदृक्॥

**सा० भा०**— हे स्तोतारः वः युष्मान् अच्छ अभिलक्ष्य विभातीं शोभमानाम् उषसं देवीं प्रति वः युष्माकं सम्बन्धिना नमसा नमस्कारेण सह सुवृक्तिं शोभनां स्तुतिं प्रभरध्वं यूयं कुरुत। मधुधा मधुराणि स्तुतिलक्षणानि वाक्यानि दधतीति। मधुः सोमः। तं धारयतीति वा। यद्वा। मधुधादित्यधात्री। यद्वा। अवग्रहाभावादव्युत्पन्ना-

वयवम् अखण्डमिदं पदम्, उषो नाम सेयमुषा दिवि नभसि दिवि नभसि ऊर्ध्वं पाजः ऊर्ध्वाभिमुखं पाजस्तेजः अश्रेत् श्रयति तथा रोचना रोचनशीला रण्वसंदृक् रमणीय-दर्शनोषाः प्र रुरुचे प्रकर्षेण यद्वा रोचना लोकान् प्ररुरुचे प्रकर्षेण स्वतेजसा दीपयति।

**अन्वय**— वः अच्छ विभातीं उषसं देवीं वः नमसा सुवृक्तिं प्रभरध्वम्। मधुधा दिवि ऊर्ध्वं पाजः अश्रेत्। रण्वसंदृक् रोचना प्ररुरुचे।

**पदार्थ**— वः = तुम लोगों को। अच्छ = लक्ष्य बनाकर। विभातीं = प्रकाशित होने वाली, शोभायमान। उषसं देवीम् = उषा देवी को। वः = तुम्हारी, अपनी। नमसा = नमस्कार के द्वारा, नमनयुक्त। सुवृक्तिम् = सुन्दर स्तुति को। प्रभरध्वम् = भर दो, समर्पित कर दो। मधुधा = मधु (सूर्य या सोम) को धारण करने वाली। दिवि = द्युलोक में। ऊर्ध्वं = ऊपर की ओर। पाजः = तेज को। अश्रेत् = आश्रित करती है, प्रसारित करती है। रण्वसदृक् = रमणीय दर्शन वाली, मनोहर दर्शन से युक्त। रोचन = लोकों को। प्ररुरुचे = अत्यधिक प्रकाशित कर देती है, अधिक प्रकाश करती है।

**अनुवाद**— (हे स्तोतागण!) तुम लोगों को लक्ष्य बनाकर प्रकाशित होने वाली उषा देवी को (के लिए) (तुम लोग) नमन-युक्त अपनी सुन्दर स्तुति को भर दो (अर्थात् समर्पित कर दो); मधु (सोम अथवा सूर्य) को धारण करने वाली (उषा देवी) द्युलोक में ऊपर की ओर तेज को आश्रित करती है (प्रसारित करती है)। रमणीय दर्शन से युक्त (उषा देवी) लोकों को अत्यधिक प्रकाशित कर देती है।

**व्याकरण**—

१. विभातीम् – वि + √भा + शतृ + ङीप्, द्वितीया एकवचन।
२. भरध्वम् – √भृ + लोट्, आत्मनेपद मध्यमपुरुष बहुवचन।
३. रोचना – √रुच् + ल्युट् (अन) + टाप्।
४. अश्रेत् – √श्रि + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन का वैदिक रूप।
५. रुरुचे – √रुच् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबो-
ध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं
वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥६॥

**पदपाठ—** ऋतवरी । दिवः । अर्कैः । अबोधि । आ । रेवती । रोदसी इति । चित्रम् । अस्थात् ॥ आऽयतीम् । अग्ने । उषसम् । विऽभातीम् । वामम् । एषि । द्रविणम् । भिक्षमाणः ॥

**सा० भा०—** ऋतावरी सत्यवती येयमुषा दिवः द्युलोकात् अर्कैः तेजोभिः अबोधि सर्वैर्ज्ञायते । ततः रेवती धनवती येयं रोदसी द्यावापृथिव्यौ चित्रं नानाविधरूपयुक्तं यथा भवति तथा अस्थात् सर्वतो व्याप्य तिष्ठति । हे अग्ने आयतीं त्वदभिमुखमागच्छन्तीं विभातीं भासमानाम् उषसम् उषोदेवीं भिक्षमाणः हवींषि याचमानस्त्वं वामं वरणीयं द्रविणम् अग्निहोत्रादिलक्षणं धनम् एषि प्राप्नोषि ।

**अन्वय—** ऋतावरी दिवः अर्कैः अबोधि । रेवती रोदसी । चित्रम् अस्थात् । अग्ने! आयतीं विभातीम् उषसम् भिक्षमाणः वामं द्रविणम् एषि ।

**पदार्थ—** ऋतावरी = सत्य नियमों वाली, सत्यवती । दिवः = द्युलोक से । अर्कैः = तेजों के द्वारा । अबोधि = जानी जाती है । रेवती = धनयुक्त, धनवती । रोदसी = द्युलोक एवं पृथ्वी लोक को । चित्रम् = विविध रूपों में, विविध प्रकार से । अस्थात् = स्थित रहती है । अग्ने! = हे अग्नि देव! । आयतीम् = आती हुई । विभातीम् = प्रकाशित होती हुई । उषसम् = उषा देवी से । भिक्षमाणः = याचना करते हुए । वामम् = वरण करने योग्य । द्रविणम् = धन को । एषि = प्राप्त करते हो ।

**अनुवाद—** सत्यवती (उषा) द्युलोक से (प्रसारित) तेजों के द्वारा जानी जाती है । धनवती (उषा देवी) द्युलोक एवं पृथिवी लोक को विविध प्रकार से (व्याप्त करके) स्थित रहती है । हे अग्नि (देव! तुम अपने सम्मुख) आती हुई, प्रकाशित होती हुई उषा (देवी) से याचना करते हुए वरण करने योग्य धन को प्राप्त करते हो ।

**व्याकरण—**

१. अस्थात् – √स्था + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. अबोधि – √बुध् + लङ्, प्रथम पुरुष एकवचन ।

३. आयतीम् – आङ् (आ) + √इण् (इ) + शतृ + ङीप् द्वितीया एकवचन ।

४. विभातीम् – वि + √भा + शतृ + ङीप् द्वितीया एकवचन ।

५. भिक्षमाणः – √भिक्ष् + शानच् + प्रथमा एकवचन ।

६. एषि – √इ + लट्, मध्यमपुरुष एकवचन ।

**ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्-**

**वृषा मही रोदसी आ विवेश ।**

मही मित्रस्य वरुणस्य माया
चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥७॥

**पदपाठ—** ऋतस्य । बुध्ने । उषसाम् । इषण्यन् । वृषा । मही इति । रोदसी इति । आ । विवेश ॥ मही । मित्रस्य । वरुणस्य । माया । चन्द्राऽइव । भानुम् । विऽदधे । पुरुत्रा ॥

**सा०भा०—** वृषा वृष्टिद्वारा अपां प्रेरक आदित्यः ऋतस्य अग्निहोत्रादिककर्म-करणे सत्यभूतस्याह्नः बुध्ने मूले उषसामिषण्यन् प्रेरणं कुर्वन् मही महत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ आ विवेश स्वतेजोभिः सर्वतः प्रविष्टवान् । यद्वा वृषा वर्षितेषण्यन् सर्वतो गच्छन्नुषसां सम्बन्धी रश्मिसमूहो रोदसी द्यावापृथिव्यौ विष्टवानिति योजनीयम् । ततः उषा मही महती मित्रस्य वरुणस्य मित्रावरुणयोः माया प्रभारूपा सती चन्द्रेव सुवर्णानीव भानुं स्वप्रभां पुरुत्रा बहुषु देशेषु विदधे विदधाति सर्वत्र प्रसारयति ।

**अन्वय—** वृषा ऋतस्य बुध्ने उषसाम् इषण्यन् मही रोदसी आ विवेश । मित्रस्य वरुणस्य मही माया चन्द्रा इव भानुं पुरुत्रा विदधे ।

**पदार्थ—** वृषा = वृष्टि के द्वारा जलों का प्रेरक । ऋतस्य = प्राकृतिक नियम के, सत्य के । बुध्ने = मूल में । उषसाम् = उषा को । इषण्यन् = प्रेरित करता हुआ । मही = महान् । रोदसी = द्युलोक एवं पृथ्वी लोक में । आ विवेश = सर्वत्र व्याप्त हो गया है । मित्रस्य = मित्र की । वरुणस्य = वरुण की । मही = महती । माया = शक्ति स्वरूपा, प्रभा के स्वरूप वाली । चन्द्रा इव = सुवर्णों की भाँति, स्वर्णिम कान्ति के समान । भानुम् = सूर्य को । पुरुत्रा = अनेक स्थानों में । विदधे = प्रसारित कर देती है ।

**अनुवाद—** वृष्टि के द्वारा जलों का प्रेरक (सूर्य) प्राकृतिक नियमों (दिन) के मूल में उषा को प्रेरित करता हुआ, महान् द्युलोक एवं पृथिवी लोक में सर्वत्र व्याप्त हो गया है । मित्र एवं वरुण (देवताओं) की महती प्रभा के स्वरूप वाली (अथवा शक्ति-स्वरूपा उषा) स्वर्णिम कान्ति के समान सूर्य को अनेक स्थानों में प्रसारित कर देती है ।

**व्याकरण—**

१. इषण्यन् – √इष् + णिच् + शतृ, प्रथमा एकवचन ।

२. विवेश – √विश् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. विदधे – वि + √धा + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

# ११. अग्निसूक्तम्

| वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–४ | सूक्त संख्या–७ |
|---|---|---|
| ऋषि–वामदेव | देवता–अग्नि | छन्द– १ जगती,<br>२–६ अनुष्टुप्,<br>शेष– त्रिष्टुप् । |

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि-
होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचु-
र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥१॥

**पदपाठ**— अयम् । इह । प्रथमः । धायि । धातृऽभिः । होता । यजिष्ठः । अध्वरेषु । ईड्यः ॥ यम् । अप्नवानः । भृगवः । विऽरुरुचुः । वनेषु । चित्रम् । विऽभ्वम् । विशेऽविशे ॥

**सा०भा०**— धातृभिः अग्न्यर्थं कर्म कुर्वद्भिरध्वर्युभिः इह अस्मिन् यज्ञे होता देवानामाह्वाता यजिष्ठाः अतिशयेन यष्टा अध्वरेषु यागेषु ईड्यः ऋत्विग्भिः स्तूयमानः प्रथमः सर्वेषां देवानां मुख्यः अयम् आह– वनीयादिस्थानेषु प्रत्यक्षेणोपलभ्यमानोऽग्निः धायि अधायि निहितः ॥ दधातेः कर्मणि लुङ् । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगे' इत्यडभावः । 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः ॥ अयमग्निरित्युक्तम् । कोऽसावग्निरित्यत आह । अप्नवानः भृगुसंबन्धी कश्चिदृषिः । स चान्ये भृगवः च वनेषु अरण्येषु चित्रं दावाग्निरूपेण बहुधा विशेविशे । वीप्सया सर्वजनव्याप्तिर्गृह्यते । सर्वस्या विशः प्रजायाः विभुमीश्वरं यं देवानां हविर्वाहकत्वेन प्रसिद्धमग्निं विरुरुचुः दीप्तियुक्तं कुर्वन्ति स्म । यमिति यच्छब्दस्यायमिति इदंशब्देन सम्बन्धः ॥

**अन्वय**— होता यजिष्ठः अध्वरेषु ईड्यः अयं धातृभिः इह प्रथमम् धायि । यम् आप्नवानः भृगवः विरुरुचुः, वनेषु चित्रं विशेविशे विभ्वम् (अस्ति) ।

**पदार्थ**— होता = होता (नामक ऋत्विक्) । यजिष्ठः = यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ, श्रेष्ठ यज्ञकर्ता । अध्वरेषु = हिंसारहित यज्ञों में । ईड्यः = पूजनीय । अयम् = यह

(अग्नि)। धातृभिः = यज्ञ कर्त्ताओं के द्वारा। इह = यहाँ, यज्ञवेदि पर। प्रथमम् = (सभी देवताओं से) पहिले। धायि = रखा गया है, स्थापित किया गया है। यम् = जिसको। अप्नवानः = अप्नवान (नामक ऋषियों) ने। भृगवः = भृगुवंशीय (ऋषियों) ने। विरुरुचुः = प्रज्ज्वलित किया है। वनेषु = वनों में। चित्रम् = चमकने वाला। विशेविशे = प्रत्येक घर में। विम्वम् = व्याप्त रहने वाला।

**अनुवाद**— होता, यज्ञकर्त्ताओं में श्रेष्ठ (और) हिंसाविहीन यज्ञों में पूजनीय यह अग्नि यज्ञकर्त्ताओं द्वारा यहाँ (यज्ञवेदि पर) सभी देवताओं से पहिले स्थापित किया गया है। जिस (अग्नि) को अप्नवान् और भृगुवंशीय (ऋषियों) ने प्रज्ज्वलित किया है (और जो) वनों में (दावाग्नि के रूप में) चमकने वाला (तथा) प्रत्येक घर में व्याप्त रहने वाला है।

**व्याकरण**—

१. धायि – √धा + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. होता – √हू + तृन्।

३. यजिष्ठ – √यज् + इष्ठन्।

४. ईड्यः – √ईड् + ण्यत्।

५. विरुरुचुः – वि + √रुच्, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**अग्ने॑ क॒दा त॒ आनु॑ष-**
**ग्भुव॑द्दे॒वस्य॒ चेत॑नम्।**
**अधा॒ हि त्वा॑ जगृ॒भ्रिरे॒**
**मर्ता॑सो वि॒क्ष्वीड्य॑म् ॥२॥**

**पदपाठ**— अग्ने॑। क॒दा। ते॒। आ॒नु॒षक्। भुव॑त्। दे॒वस्य॑। चेत॑नम् ॥ अध॑। हि। त्वा॒। ज॒गृ॒भ्रि॒रे। मर्ता॑सः। वि॒क्षु। ई॒ड्य॑म् ॥

**सा०भा०**— 'अग्ने कदा ते' इति। प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोराग्नेये क्रतौ आनुष्टुभे छन्दसि 'अग्ने कदा ते' इत्याद्याः पञ्चर्चः। सूत्रितं च— 'अग्ने कदा त इति पञ्च' (आश्व०श्रौ० ४.१३) इति॥

हे अग्ने अध अतः कारणात् देवस्य द्योतमानस्य ते तव सम्बन्धि चेतनं तेजः कदा आनुषक् अनुषक्तं भुवत् भवेत्॥ लेट्यडागमः। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य

लुक्। 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणप्रतिषेधः ॥ अतः कारणादित्युक्तम्। कस्माद्धेतोरित्युच्यते। हि यस्मात् कारणात् मर्तासः मनुष्याः विक्षु विड्भिः प्रजाभिः ईड्यं स्तुत्यं त्वा त्वां जगृभ्रिरे जगृहिरे गृह्णन्ति ॥ ग्रहेर्धातोर्लिटि 'हृग्रहोर्भः०' इति भत्वम्। 'बहुलं छन्दसि' इति रुडागमः ॥

**अन्वय**— अग्ने, ते देवस्य चेतनम् आनुषक् कदा भुवत्, अध हि मर्त्तासः ईड्यः त्वा विक्षु जगृभिरे।

**पदार्थ**— अग्ने = हे अग्नि। ते देवतस्य = तुम देव का। चेतनम् = तेज। आनुषक् = निर्बाधरूप से। कदा = कब। भुवत् = प्रकट होगा। हि = क्योंकि। अध = इसी कारण से। मंर्त्यासः = मनुष्य। इड्यः = पूजनीय। त्वा = तुमको। विक्षु = घरों में जगृभिरे = स्वीकार करते हैं।

**अनुवाद**— हे अग्नि, तुम देव का तेज निर्बाध रूप से कब प्रकट होगा क्योंकि इसी कारण से मनुष्य पूजनीय तुमको घरों में स्वीकार करते हैं।

**व्याकरण**—

१. भुवत् – √भू + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. जगृभिरे – √ग्रभ् + आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**ऋतावानं विचेतसं**
**पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।**
**विश्वेषामध्वराणां**
**हस्कर्तारं दमेदमे ॥३॥**

**पदपाठ**— ऋतऽवानम्। विऽचेतसम्। पश्यन्तः। द्याम्ऽइव। स्तृऽभिः ॥ विश्वेषाम्। अध्वराणाम्। हस्कर्तारम्। दमेऽदमे ॥

**सा० भा०**— ऋतावानम् अमायिनं विचेतसं विशिष्टज्ञानं स्तुभिः नक्षत्रैः परिवृतं द्यामिव विस्फुलिङ्गैः समेतं विश्वेषां सर्वेषाम् अध्वराणां ज्ञानां हस्कर्तारं प्रभासकं वृद्धेः कर्तारं वा अग्निं पश्यन्तः ऋत्विगादयः दमेदमे सर्वस्मिन् यज्ञगृहे। जगृभ्रिरे इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥

**अन्वय**— ऋतावानं विचेतसं स्तृभिः द्याम् इव विश्वेषाम् अध्वराणां हस्कर्त्तारं पश्यन्तः दमे दमे (जगृभिरे)।

**पदार्थ**— ऋतावानम् = सत्यवान्। विचेतसम् = विशिष्ट ज्ञानी। स्तृभिः = तारों से घिरे हुए। द्याम् इव = आकाश के समान। विश्वेसाम् = सम्पूर्ण। अध्वराणाम् = हिंसारहित यज्ञों के। हस्कर्त्तारम् = प्रकाशक को। पश्यन्तः = देखते हुए। दमे दमे = प्रत्येक घर में।

**अनुवाद**— सत्यवान् (सत्ययुक्त), विशिष्ट ज्ञानी (विशेष ज्ञान वाले), तारों से घिरे हुए आकाश के समान सम्पूर्ण हिंसारहित यज्ञों के प्रकाशक (अग्नि) को देखते हुए प्रत्येक घर में (मनुष्यों ने स्वीकार किया है)।

**व्याकरण**—

१. ऋतावानम् – ऋतावा + वतुप् द्वितीया एकवचन।

२. पश्यन्तः – √दृश् + शतृ पुल्लिङ्ग, प्रथमा बहुवचन।

**आशुं दूतं विवस्वतो**
**विश्वा यश्चर्षणीरभि।**
**आ जभ्रुः केतुमायवो**
**भृगवाणं विशेविशे ॥४॥**

**पदपाठ**— आशुम्। दूतम्। विवस्वतः। विश्वाः। यः। चर्षणीः। अभि॥ आ। जभ्रुः। केतुम्। आयवः। भृगवाणम्। विशेऽविशे॥

**सा० भा०**— यः अग्निः विश्वाः चर्षणीः सर्वाः प्रजाः अभि भवति आयव इति मनुष्यनाम 'आयवः यदवः' (निरु० २.३.१७) इति मनुष्यनामसु पाठात्। आशुं क्षिप्रगामिनं विवस्वतः मनुष्यस्य यजमानस्य दूतम्। विवस्वन्त इति मनुष्यनाम। केतुं प्रज्ञापकं भृगवाणं भृगुवदाचरन्तम्। दीप्यमानमित्यर्थः॥ 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विबब्वक्तव्यः' इति क्विप्। तदन्ताल्लटो व्यत्ययेन शानच्। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वात् आद्युदात्तत्वम्॥ तमग्निं विशेविशे सर्वस्यै प्रजायै आ जभ्रुः आजहः॥ 'हृग्रहोर्भः' इति भत्वम्॥

**अन्वय**— यः विश्वाः चर्षणीः अभि आ जभ्रुः विवस्वतः आशुं दूतं केतुम्, भृगवाणं विशेविशे (जगृभिरे)।

**पदार्थ**— यः = जो। विश्वाः = सम्पूर्ण। चर्षणीः = प्राणियों को। अभि आ जभ्रुः = अभिभूत करने वाला है। विवश्वतः = यजमान के। आशुम् = शीघ्रगामी, द्रुतगमन करने वाले। दूतम् = दूत को। केतुम् = यज्ञ के प्रज्ञापक। भृगवाणम् = भृगु

के समान आचरण करने वाले (अर्थात् चमकने वाले) (अग्नि) को। विशे विशे = प्रत्येक घर में।

**अनुवाद—** जो सम्पूर्ण प्राणियों को अभिभूत करने वाला है, यजमान के शीघ्रगामी दूत, यज्ञ के प्रज्ञापक और भृगु के समान आचरण करने वाले (अर्थात् चमकने वाले) (अग्नि) को प्रत्येक घर में (मनुष्यों ने स्वीकार किया है)।

**व्याकरण—**

१. जभ्रुः – √भृ + लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. भृगवाणम् – √वृज् + शानच् द्वितीया एकवचन।

तमीं होतारमानुष-
क्चिकित्वांसं नि षेदिरे।
रण्वं पावकशोचिषं
यजिष्ठं सप्त धामभिः ॥५॥

**पदपाठ—** तम्। ईम्। होतारम्। आनुषक्। चिकित्वांसम्। नि। सेदिरे॥ रण्वम्। पावकऽशोचिषम्। यजिष्ठम्। सप्त। धामऽभिः॥

**सा० भा०—** ऋत्विगादयो मनुष्याः आनुषक् आनुपूर्व्येण होतारं देवानामाह्वातारं चिकित्वांसं जानन्तम्॥ 'कित ज्ञाने'। लिटः क्वसुः। द्विर्भावहलादिशेषचुत्वदीर्घाः। प्रत्ययस्वरः॥ तमीं तमिममग्निं निषेदिरे निषादयन्ति स्म। कीदृशम् रण्वं रमणीयम् पावकशोचिषं शोधकदीप्तिं यजिष्ठं यष्टृतमं सप्त सप्तभिः तेजोभिर्युक्तम्॥

**अन्वय—** होतारं चिकित्वांसं रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्तधामभिः तं आनुषक् ईम् निषेदिरे।

**पदार्थ—** होतारम् = होता। चिकित्वांसम् = ज्ञाता, जानने वाले। रण्वम् = रमणीय। पावकशोचिषम् = पवित्र प्रकाश वाले। यजिष्ठम् = श्रेष्ठ यज्ञकर्त्ता। सप्तधामभिः = सात प्रकार के तेजो से (युक्त)। तम् = उस (अग्नि) को। आनुषक् = निर्बाध रूप से। ईम् = निश्चयेन। निषेदिरे = बैठाया है।

**अनुवाद—** होता, जानने वाले, रमणीय, पवित्र प्रकाश वाले, श्रेष्ठयज्ञकर्त्ता (और) सात प्रकार के तेजों से (सम्पन्न) उस (अग्नि) को (यज्ञकर्त्ता यजमानों ने) निर्बाध रूप से (अपने घरों में) निश्चयपूर्वक बैठाया (स्थापित किया) है।

**व्याकरण—**

१. चिकित्वांसम् – √चित् + क्वसु = चिकित्वस्, द्वितीया एकवचन।

२. निषेदिरे – नि + सद् (बैठना) + आत्मनेपद, लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

**तं शश्वतीषु मातृषु**
**वन आ वीतमश्रितम्।**
**चित्रं सन्तं गुहा हितं**
**सुवेदं कूचिदर्थिनम् ॥६॥**

**पदपाठ—** तम्। शश्वतीषु। मातृषु। वने। आ। वीतम्। अश्रितम् ॥ चित्रम्। सन्तम्। गुहा। हितम्। सुऽवेदम्। कूचित्ऽअर्थिनम् ॥

**साभा०—** शश्वतीषु बह्वीषु मातृषु अप्सु। ताः सत्यादिनिर्मातृकत्वात् मातर इत्युच्यन्त। वने आ वृक्षसमूहे च। आकारश्चार्थे। सन्तं विद्यमानं वीतं कान्तम् अश्रितं प्राणिभिर्दाहभयात् असेवितम्। दुरासदमित्यर्थः। चित्रं चायनीयं गुहा गुहायां निहितं सुवेदं सुविज्ञानं सुधनं वा कूचिदर्थिनं क्वापि हविष्यर्थिनं समिदाज्यपुरोडाशादिहविः स्वीकुर्वन्तम्॥ क्व इत्यत्र वकारस्य छान्दसे सम्प्रसारणे परपूर्वत्वे च 'हलः' इति दीर्घत्वम्। एवंभूतं तम् अग्निं निषेदिरे इति पूर्वेण सम्बन्धः॥

**अन्वय—** शश्वतीषु मातृषु आ वने वीतम् अश्रितं चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनं (निषेदिरे)।

**पदार्थ—** शश्वतीषु = शाश्वत्। मातृषु = माताओं (अर्थात् जलों) में। आ वने = और वन में। वीतम् = (सभी द्वारा) अभिलषित। अश्रितम् = असेवित। चित्रं सन्तम् = प्रकाशमान होते हुए। गुहा = गुहा (रहस्य) में। हितम् = निहित, छिपे हुए, पड़े हुए। सुवेदम् = सुन्दर ज्ञान वाले। कूचिदर्थिनम् = कहीं से भी (हविद्रव्य की) इच्छा करने वाले को।

**अनुवाद—** शाश्वत् माताओं (अर्थात् जलों में बड़वागिन रूप में) और वन में (दावाग्नि रूप में) (रहने वाले), (सभी द्वारा) अभिलषित, (तथापि) असेवित, प्रकाशमान होते हुए (भी) गुहा (रहस्य) में निहित (पड़े हुए), सुन्दर ज्ञान वाले (और) कहीं से भी (हविर्दव्य की) इच्छा करने वाले (अग्नि) को (घर में बैठाया है)।

**व्याकरण—**

१. वीतम् – √वी + क्त द्वितीया, एकवचन।

२. अश्रितम् – √श्रि + क्त, द्वितीया एकवचन = श्रितम्, न श्रितम् आश्रितम् (नञ् तत्पुरुष)।

३. सन्तम् – √अस् + शतृ, द्वितीया एकवचन।

४. हितम् – √धा अथवा √हि + क्त, द्वितीया एकवचन।

ससस्य यद्वियुता सस्मिन्नूध-

न्नृतस्य धामन्रणयन्त देवाः।

महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो

वेरध्वराय सदमिदृतावा ॥७॥

**पदपाठ—** ससस्य। यत्। विऽयुता। सस्मिन्। ऊधन्। ऋतस्य। धामन्। रणयन्त। देवाः। महान्। अग्निः। नमसा। रातऽहव्यः। वेः। अध्वराय। सदम्। इत्। ऋतऽवा॥

**सा० भा०—** प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोस्त्रैष्टुभे छन्दसि 'ससस्य यद्वियुता' इत्याद्याः पञ्चर्चः। सूत्रितं च— 'ससस्य यद्वियुतेति पञ्च' (आश्व०श्रौ० ४.१३) इति। यत् यमग्निं देवाः स्तोतारः ससस्य स्वप्नस्य वियुता वियुते वियोगे। उषरीत्यर्थः। ऋतस्य उदकस्य धामन् धामनि स्थाने सस्मिन् सर्वस्मिन् ऊधन् ऊधनि यज्ञे रणयन्त रमयन्ति। स्तोत्रैरिति शेषः। महान् प्रभूतः नमसा नमस्कारेण रातहव्यः दत्तहविष्कः ऋतावा सत्यवान् सः अग्निः सदमित् सदैव अध्वराय अध्वरं यजमानैः कृतं यज्ञम्॥ 'सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्' (पा०सूँ० ७.१.३९) इति वचनादत्र द्वितीयार्थे चतुर्थी॥ वेः वेत्ति जानाति। यद्वा। देवा इन्द्रादयः समस्य ऋत्विग्भिः सेव्यस्य यद्यस्याग्नेर्वियुता विशिष्टे सस्मिन् भजनीये ऋतस्य सत्यस्य धामन् धामनि ऊधन्नूधनि यज्ञे रणयन्त रमयन्ते। महान् प्रभूतो नमसा हविषा रातहव्यो दत्तहविष्क ऋतावा सत्यवान् सोऽग्निध्वराय यज्ञार्थं सदमित् सदैव वेः गन्ता भवति। अध्वराय यज्ञं वेः कामयते वा॥

**अन्वय—** ससस्य वियुता ऋतस्य धामन् सस्मिन् ऊधन् देवाः रणयन्त, महान् ऋतावा नमसा रातहव्यः अग्निः अध्वराय सदं वेः।

**पदार्थ—** ससस्य = स्वप्न के, रात्रि के। वियुता = वियुक्त होने पर, बीतने पर,

समाप्त होने पर। ऋतस्य = जल के, यज्ञ के। धामन् = स्थान पर। सस्मिन् = सभी। ऊधन् = यज्ञ में। देवा: = स्तुति करने वाले, यजमान। रणयन्त = रमण करते हैं, प्रसन्न करते हैं। महान् = महान्। ऋतावा = सत्यवान्। नमसा = नमस्कार के साथ। रातहव्य: = हवि की आहुति दिया जाने वाला। अग्नि: = अग्नि। अध्वराय = यज्ञ का। सदम् = सर्वदा। इत् = निश्चित रूप से। वे: = आनन्द लेता है।

**अनुवाद**— स्वप्न (रात्रि) के समाप्त होने पर (अर्थात् उष:काल होने पर) जल के (अथवा यज्ञ के) स्थान पर सभी यज्ञों में स्तुति करने वाले (यजमान) (जिस अग्नि को) प्रसन्न करते हैं, (वह) महान्, सत्यवान्, नमस्कार के साथ (नमस्कारपूर्वक) हवि की आहुति दिया जाने वाला (अग्नि) यज्ञ का सर्वदा निश्चित रूप से आनन्द लेता है।

**व्याकरण**—

१. वियुता – वि + √यु + क्त।
२. सस्मिन् – सर्व शब्द सप्तमी एकवचन में सर्वस्मिन् का वैदिकरूप।
३. ऊधन् – सप्तमी एकवचन ऊधनि का वैदिकरूप।
४. धामन् – धाम शब्द के सप्तमी एकवचन धामनि का वैदिकरूप, √धा + मनिन् = धाम।
५. रणयन्त – √रन् + आत्मनेपद लङ्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।
६. वे: – √वी विधानात्मक लट् + प्रथमपुरुष एकवचन।
७. रातहव्य: – रात = √रा + क्त, हव्य – √हु + यत्, रातं हव्यं यस्मै तम् (बहुव्रीहि)।

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वा-
नुभे अन्ता रोदसी सञ्चिकित्वान्।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो
विदुष्टरो दिव आरोधनानि ॥८॥

**पदपाठ**— वे:। अध्वरस्य। दूत्यानि। विद्वान्। उभे इति। अन्तरिति। रोदसी इति। सम्ऽचिकित्वान्॥ दूत:। ईयसे। प्रऽदिव:। उराण:। विदु:ऽतर:। दिव:। आऽरोधनानि॥

**सा० भा०**— हे अग्ने विद्वान् सर्वं जानानस्त्वम् अध्वरस्य यज्ञस्य सम्बन्धीनि दूत्यानि दूतकर्माणि वेः वेत्सि कामयसे वा। यद्वा वेरिति यज्ञविशेषणम्। वेर्यजमान-स्याभीष्टफलजनकस्याध्वरस्य यागस्य सम्बन्धीनि दूत्यानि दूतकर्माणि विद्वान् जानन्। उभे रोदसी उभयो रोदस्योर्द्यावापृथिव्योः अन्तः मध्ये स्थितमन्तरिक्षं सञ्चिकित्वान् सम्यक् जानन् प्रदिवः पुराणः। पुराणनामेदं 'प्रत्नं प्रदिवः' (नि० ३.२७.२) इति पुराणनामसु पाठात्। उराणः अल्पमपि हविः उरु बहु कुर्वाणः। 'उराण उरु कुर्वाणः' इति यास्के-नोक्तत्वात्। विदुष्टरः। विद्वत्तरो देवानां दूतः त्वं दिवः स्वर्गस्य आरोधनानि आरोहणानि। आरोहणार्हाणि स्थानानीत्यर्थः। देवानां हवींष्यर्पयितुम् ईयसे गच्छसि॥

**अन्वय**— विद्वान् अध्वरस्य दूत्यानि वेः, उभे रोदसी अन्तः सञ्चिकित्वान् दूतः प्रदिवः उराणः विदुष्टरः दिवः आरोधानि ईयसे।

**पदार्थ**— विद्वान् = (सब कुछ) जानने वाले। अध्वरस्य = यज्ञ के। दौत्यानि = दौत्यकार्य को। वेः = जानते हो। उभे = दोनों। रोदसी = आकाश और पृथिवी को। अन्तः = (दोनों के) मध्य को। सञ्चिकित्वान् = अच्छी प्रकार से जानते हुए। दूतः = दूत। प्रदिवः = प्राचीन। उराणः = चाहने वाले। विदुष्टरः = अत्यधिक बुद्धिमान्। दिवः = द्युलोक के। आरोधानि = आरोहणों पर। ईयसे = जाते हो।

**अनुवाद**— (सब कुछ) जानने वाला (अग्नि) यज्ञ के दौत्यकार्य को जानता है, दोनों आकाश तथा पृथिवी को, (उन दोनों के) मध्य को अच्छी प्रकार से जानते हुए दूत, प्राचीन, चाहने वाले, अत्यधिक बुद्धिमान (तुम) द्युलोक के आरोहणों पर जाते हो।

**व्याकरण**—

१. वेः – √वी + विधानात्मक लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. दूत्यानि – दूत + यत् द्वितीया बहुवचन।

३. विद्वान् – √विद् + शतृ (वस्) प्रथमा एकवचन।

४. सञ्चिकित्वान् – सम् + चित् + क्वसु = सञ्चिकित्वस्, प्रथमा एकवचन।

५. ईयसे – √ई, (गतौ) अत्मनेपद लट् मध्यमपुरुष एकवचन।

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भा-

श्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम् ।

यदप्रवीता दधते ह गर्भं
सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥९॥

**पदपाठ—** कृष्णम् । ते । एम । रुशतः । पुरः । भाः । चरिष्णु । अर्चिः । वपुषाम् । इत् । एकम् ॥ यत् । अप्रऽवीता । दधते । ह । गर्भम् । सद्यः । चित् । जातः । भवसि । इत् । ऊँ इति । दूतः ॥

**सा०भा०—** हे अग्ने रुशतः रोचमानस्य ते तव सम्बन्धि । अत्र एमञ्शब्देन गमनमार्ग उच्यते । एम वर्त्म कृष्णं कृष्णवर्णं भवति । भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति । चरिष्णु सञ्चरणशीलम् अर्चिः त्वदीयं तेजः वपुषां वपुष्मतां रूपवताम् । तेजस्विनामित्यर्थः । एकम् इत् मुख्यमेव भवति । यत् यं त्वाम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु । स त्वं सद्यश्चित् सद्यः एव जातः उत्पन्नः सन् दूतः भवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव ॥

**अन्वय—** रुशतः ते एम कृष्णम्, भाः पुरः, चरिष्णुः अर्चिः वपुषाम् इत् एकम्, यत् अप्रवीता ह गर्भं दधते, सद्यः चित् जातः इत् दूतः भवसि ।

**पदार्थ—** रुशतः = चमकने वाले । ते = तुम्हारा । एम = मार्ग । कृष्णम् = काला । भाः = दीप्ति । पुरः = सामने । चरिष्णुः = सञ्चरणशील । अर्चिः = तेज, किरण । वपुषाम् = सुन्दर रूप वालों में । इत् = निश्चय ही । एकम् = अद्वितीय । यत् = जब । अप्रवीता = उपस्थित यजमान । ह = निश्चितरूप से । गर्भम् = गर्भ को, अरणि को । दधते = धारण करता है । सद्यः = शीघ्र । चित् = ही । जातः = उत्पन्न हुए । इत् उ = निश्चित रूप से । दूतः = दूत । भवसि = तुम हो जाते हो ।

**अनुवाद—** (हे अग्नि), चमकने वाले तुम्हारा मार्ग काला (है), (तुम्हारी) दीप्ति सामने (है), (तुम्हारा) सञ्चरणशील तेज (किरण) सुन्दर रूप वालों में निश्चय ही अद्वितीय है । (हे अग्नि), जब उपस्थित यजमान निश्चितरूप से गर्भ (अरणि) को धारण करता है (तो) शीघ्र ही उत्पन्न हुए तुम निश्चित रूप से दूत हो जाते (बन जाते) हो ।

**व्याकरण—**

१. एम – √ई (गतौ) + मनिन् ।

२. रुशतः – √रुच् (दीप्तौ) + शतृ = रुशत्, पुलिङ्ग षष्ठी एकवचन ।

३. चरिष्णुः – √चर् + इष्णुच् ।

४. दधते – √धा + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।
५. भवसि – √भू लट् मध्यमपुरुष एकवचन।

सद्यो जातस्य ददृशानमोजो
यदस्य वातो अनुवाति शोचिः।
वृणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वां
स्थिरा चिदन्ना दयते वि जम्भैः ॥१०॥

**पदपाठ—** सद्यः। जातस्य। ददृशानम्। ओजः। यत्। अस्य। वातः। अनुऽवाति। शोचिः॥ वृणक्ति। तिग्माम्। अतसेषु। जिह्वाम्। स्थिरा। चित्। अन्ना। दयते। वि। जम्भैः॥

**सा० भा०—** सद्यो जातस्य अरणिनिर्मथनादनन्तरमेवोत्पन्नस्याग्नेः ओजः तेजः ददृशानम्। ऋत्विगादिभिर्दृश्यमानं भवतीति शेषः। वातः वायुः यत् यदा अग्नेः शोचिः दीप्तिम् अनु लक्षीकृत्य वाति गच्छति तदा सोऽयमग्निः अतसेषु वृक्षसङ्घेषु तिग्मां तीक्ष्णां जिह्वां ज्वालां वृणक्ति संयोजयति। स्थिरा चित् स्थिराण्यपि अन्ना अन्नरूपाणि काष्ठादीनि जम्भैः तेजोभिः वि दयते विखण्डयति। भक्षयतीत्यर्थः॥

**अन्वय—** सद्यः जातस्य ओजः ददृशानम्, यत् अस्य, शोधिः वातः अनुवाति तिग्मां जिह्वाम् असतेषु वृणक्ति, स्थिरा चित् अन्ना जम्भैः वि दयते।

**पदार्थ—** सद्यः = शीघ्र। जातस्य = उत्पन्न (अग्नि) का। ओजः = तेज, पराक्रम। ददृश्यानम् = देखने योग्य (होता है)। यत = जब। अस्य = (अग्नि) की। शोचिः = दीप्ति को, लपटों को। वातः = वायु। अनु वाति = लक्ष्य करके बहता है (हवा करता है)। तिग्माम् = तीक्ष्ण। जिह्वाम् = जिह्वा को। असतेषु = सूखी लकड़ियों पर। वृणक्ति = संयोजित करता है, लगाता है। स्थिरा चित् = खड़े भी। अन्ना = अन्नरूप (वृक्षों) को। जम्भैः = दाँतों से, तेजो से। विदयते = खा जाता है, जला देता है।

**अनुवाद—** शीघ्र उत्पन्न (अग्नि) का तेज (पराक्रम) देखने योग्य होता है। जब इस (अग्नि) की दीप्ति (लपटों) को लक्ष्य करके वायु बहता है (हवा करता है) (तब यह अग्नि अपनी) तीक्षण जिह्वा को सूखी लकड़ियों पर संयोजित करता (लगाता है) और खड़े भी अन्नरूप वृक्षों को (अपने) तेजों से (दाँत से) खा जाता है (जला देता है)।

**व्याकरण—**

१. ददृशानम् – √दृश् (दर्शने) + कानच् = ददृशान, प्रथमा एकवचन।

२. अनुवाति – अनु + √वा लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. वृणक्ति – √वृण् + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४. दयते – √दा (विभाजने) + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

५. स्थिरा, अन्ना– क्रमशः नपुंसकलिङ्ग स्थिर और अन्न के द्वितीया बहुवचन में स्थिराणि और अन्नानि के वैदिकरूप।

> **तृषु यदन्ना तृषुणा ववक्ष**
>
> **तृषुं दूतं कृणुते यह्वो अग्निः।**
>
> **वातस्य मेळिं सचते निजूर्व-**
>
> **न्नाशुं न वाजयते हिन्वे अर्वा ॥११॥**

**पदपाठ—** तृषु। यत्। अन्ना। तृषुणा। ववक्ष। तृषुम्। दूतम्। कृणुते। यह्वः। अग्निः॥ वातस्य। मेळिम्। सचते। निऽजूर्वन्। आशुम्। न। वाजयते। हिन्वे। अर्वा॥

**सा०भा०—** यत् यः अग्निः तृषु क्षिप्रमेव अन्ना अन्नानि काष्ठादीनि तृषुणा क्षिप्रेण रश्मिसमूहेन ववक्ष वहति। दहतीत्यर्थः। यह्वः महान् सः अग्निः तृषुम् आत्मानं दूतं कृणुते यजमानदूतं करोति। निजूर्वन् काष्ठानि निःशेषेण दहन्नग्निः वायोः मेळिं बलं सचते सेवते। आशुं न अश्वसादी यथाश्वं तथा अर्वा गमनशीलोऽग्निः स्वरश्मिं वाजयते वाजिनं बलवन्तं करोति। हिन्वे प्रेरयति च॥

**अन्वय—** यत् यह्वः अग्निः तृषुणा अन्ना तृषु ववक्ष तृषुं दूतं कृणुते। निजूर्वन् वातस्य मेळिं सचते, अर्वा आशुं न वाजयते हिन्वे (च)।

**पदार्थ—** यत् = जब। यह्वः = महान्। अग्निः = अग्नि। तृषुणा = शीघ्रगामी रश्मिसमूह से। अन्ना = (कष्ठादि) भोजन को। तृषु = शीघ्र। ववक्ष = लाता है। तृषुम् = शीघ्रगामी। दूतम् = दूत। कृणुते = करता है, बनाता है। निजूर्वन् = निःशेष रूप से खाता हुआ। वातस्य = वायु के। मेळिम् = बल को। सचते = सेवित करता है, उपयोग में लाता है। अर्वा = शीघ्रगामी (अग्नि)। आशुं न = अश्व के समान। वाजयते = बलशाली (शक्तिशाली) बनाता है। हिन्वे = प्रेरित करता है।

**अनुवाद**— जब महान् अग्नि शीघ्रगामी रश्मिसमूह से (काष्ठादि) भोजन को शीघ्र लाता है (तो अपने को) शीघ्रगामी दूत बनाता है। (उसको) पूर्णरूप से खाता हुआ (अग्नि) वायु के बल को सेवित करता है (उपयोग में लाता है)। शीघ्रगामी (अग्नि) अश्व के समान (अपनी लपटों को) शक्तिशाली बनाता है (और) प्रेरित करता है।

**व्याकरण**—

१. ववक्ष – √वक्ष् + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. कृणुते – √कृ + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन, कुरुते का वैदिकरूप।

३. सचते – √सच् + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. निजूर्वन् – नि + √जूर्व + शतृ, प्रथमा एकवचन।

५. वाजयते – नामधातु √वाजय् आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

६. हिन्वे – √हि आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

# १२. पर्जन्यसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–५ सूक्त संख्या–८३

देवता–पर्जन्य ऋषि–अत्रि छन्द–१, ५, ६, ७, ८, १०, त्रिष्टुप्, २, ३, ४, जगती, ९ अनुष्टुप्।

अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः
स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।
कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू
रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥१॥

**पदपाठ**— अच्छ । वद । तवसम् । गीःऽभिः । आभिः । स्तुहि । पर्जन्यम् । नमसा । आ । विवास ॥ कनिक्रदत् । वृषभः । जीरऽदानुः । रेतः । दधाति । ओषधीषु । गर्भम् ॥

**सा० भा०**— हे स्तोतः तवसं बलवन्तं पर्जन्यं अच्छ अभिप्राप्य वद प्रार्थय। पर्जन्यशब्दो यास्केन बहुधा निरुक्तः– 'पर्जन्यस्तृपेराद्यन्त विपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा 'रसानाम्' (निरु० १०.१०) इति। आभिः गीर्भिः स्तुवाग्भिः स्तुहि। नमसा अन्नेन हविर्लक्षणेन आ विवास सर्वतः परिचर। यः पर्जन्यः वृषभः अपां वर्षिता जीरदानुः क्षिप्रदानः कनिक्रदत् गर्जनशब्दं कुर्वन् ओषधीषु गर्भं गर्भस्थानीयं रेतः उदकं दधाति स्थापयति तं स्तुहि।

**अन्वय**— आभिः गीर्भिः तवसम् अच्छ वद, नमसा पर्जन्यं स्तुहिः, आ विवास; जीरदानुः वृषभः कनिक्रदत् ओषधीषु गर्भं रेतः दधाति।

**पदार्थ**— आभिः गीर्भिः = इन स्तुतियों के द्वारा। तवसम् = बलशाली को (की)। अच्छ = प्रार्थना, सम्मुख होकर। वद = बोलो, करो। नमसा = नमस्कार के द्वारा, हविरूप अन्न के द्वारा। पर्जन्यं स्तुहि = पर्जन्य की स्तुति करो। आ विवास = सभी ओर से सेवा करो, प्रसन्न करने की इच्छा करो। जीरदानुः = शीघ्र देने वाला।

कनिक्रदत् = गरजता हुआ। ओषधीषु = ओषधियों में, वनस्पतियों में। गर्भम् = गर्भ रूप वाले, गर्भस्वरूप। रेत: = बीज, जल। दधाति = धारण करता है।

**अनुवाद**— (हे स्तोता) इन स्तुतियों द्वारा बलशाली (पर्जन्य देव) की प्रार्थना बोलो (करो)। हविरूप अन्न के द्वारा स्तुति करो (तथा) सभी ओर से (उस पर्जन्य देव की) सेवा करो (प्रसन्न करने की इच्छा करो)। शीघ्र देने वाला, वर्षा करने वाला (पर्जन्य) गरजता हुआ वनस्पतियों में गर्भस्वरूप जल को धारण करता है।

**व्याकरण**—

१. वद – √वद् + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
२. स्तुहि – √स्तु + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
३. विवास – वि + √वस् + मध्यमपुरुष एकवचन।
४. कनिक्रदत् – √क्रन्द् + यङ् लुगन्त + प्रथमा पुरुष एकवचन।
५. दधाति – √धा + लट् + प्रथमपुरुष एकवचन।

**वि वृ॒क्षान् ह॑न्त्यु॒त ह॑न्ति र॒क्षसो॒**
**वि॒श्वं॑ बिभाय॒ भुव॑नं म॒हाव॑धात्।**
**उ॒ताना॑गा ईषते॒ वृष्ण्या॑वतो॒**
**यत्प॒र्जन्यः॑ स्त॒नय॒न् हन्ति॑ दु॒ष्कृतः॑ ॥२॥**

**पदपाठ**— वि। वृ॒क्षान्। ह॒न्ति॒। उ॒त। ह॒न्ति॒। र॒क्षसः॑। विश्व॑म्। बि॒भा॒य॒। भुव॑नम्। म॒हाऽव॑धात्॥ उ॒त। अना॑गाः। ई॒ष॒ते॒। वृष्ण्य॑ऽवतः। यत्। प॒र्जन्यः॑। स्त॒नय॑न्। हन्ति॑। दुः॒ऽकृतः॑॥

**सा० भा०**— अयं मन्त्रो निरुक्ते स्पष्टं व्याख्यात:; तदेवात्र लिख्यते– 'पर्जन्यो विहन्ति वृक्षान्विहन्ति च रक्षांसि सर्वाणि चास्मद्भूतानि बिभ्यति महाबधात् महान् ह्यस्य बध:। अप्यनपराधो भीत: पलायते वर्षकर्मवतो यत्पर्जन्य: स्तनयन् हन्ति दुष्कृत: पापकृत: (निरु० १०.११) इति॥

**अन्वय**— पर्जन्य: वृक्षान् विहन्ति उत रक्षस: हन्ति। महाबधात् विश्वं भुवनं बिभाय यत् स्तनयन् दुष्कृत: हन्ति अनागा: वृष्ण्यावत: ईषते।

**पदार्थ**— पर्जन्य: = पर्जन्य देव। वृक्षान् = वृक्षों को। विहन्ति = नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। उत् = और। रक्षस: = राक्षसों को, असुरों को। हन्ति = मार डालता है।

महावधात् = शक्तिशाली आयुधों वाले से। विश्वं भुवनम् = सम्पूर्ण लोक। विभाय = डरता है। यत् = जब। स्तनयन् = गर्जन करता हुआ। दुष्कृतः = बुरे कर्म करने वाले लोगों को, अपराधियों को। हन्ति = मारता है। अनागाः = पाप कर्म न करने वाला व्यक्ति। वृष्ण्यावतः = शक्तिशाली से, पराक्रमी के सामने से। ईषते = दूर भाग जाता है।

**अनुवाद**— पर्जन्य देव वृक्षों को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है और राक्षसों को मार डालता है शक्तिशाली आयुधों वाले (पर्जन्य) से सम्पूर्ण लोक डरता है। जब गर्जन करता हुआ (पर्जन्य) अपराधियों को मारता है (तब) पाप कर्म न करने वाला व्यक्ति भी शक्तिशाली (पर्जन्य) से दूर भाग जाता है।

**व्याकरण—**

१. विहन्ति – वि + √हन् + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. विभाय – √भी + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. स्तनयन् – √स्तन् (गर्जन करना) + शतृ, प्रथमा एकवचन।

४. ईषते – √ईष् + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिप-
न्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्याँ३ अह।
दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते
यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं१ नभः ॥३॥

**पदपाठ**— रथीऽईव। कशया। अश्वान्। अभिऽक्षिपन्। आविः। दूतान्। कृणुते। वर्ष्यान्। अह॥ दूरात्। सिंहस्य। स्तनथाः। उत्। ईरते। यत्। पर्जन्यः। कृणुते। वर्ष्यम्। नभः॥

**सा० भा०**— रथीव रथस्वामीव। स यथा कशया अश्वान् अभिक्षिपन् दूतान् भटान् आविष्करोति तद्वदसौ पर्जन्योऽपि कशया अश्वान् मेघान् अभिक्षिपन् अभिप्रेरयन् वर्ष्यान् वर्षकान् दूतान् दूतवत् वृष्टिप्रेरकान् मेघान् मरुतो वा आविः कृणुते प्रकटयति। अह इति पूरणः। एवं सति सिंहस्य। सहतेर्हिंसतेर्वा शब्दकर्मणः सिंहशब्दः। अवर्षणेनाभिभवितुः शब्दयितुर्वा मेघस्य स्तनथाः, गर्जनशब्दाः दूरात् उदीरते उद्गच्छन्ति। कदा। यत् यदा पर्जन्यः नभः अन्तरिक्षं वर्ष्यं वर्षोपेतं कृणुते करोति तदा॥

**अन्वय—** कशया अश्वान् अभिक्षिपन् रथी इव अहं वर्ष्यान् दूतान् आविष्कृणुते यत् पर्जन्यः नभः वर्षम् कृणुते, दूरात् सिंहस्य स्तनथाः उदीरते ॥

**पदार्थ—** कशया = कोड़े से। अश्वान् = घोड़ों को। अभिक्षिपन् = हाँकते हुए, प्रेरित करते हुए। रथी इव = रथस्वामी की भाँति। अह = पादपूरणार्थक निपात। वर्ष्यान् = वर्षा करने वाले, वर्षा से सम्बन्धित। दूतान् = दूतों को। आविष्कृणुते = प्रकट करता है। यत् = जब। पर्जन्यः = पर्जन्य देव। नभः = आकाश को। वर्षम् = वर्षा से युक्त। कृणुते = करते हैं। दूरात् = दूर से। सिंहस्य = सिंह के। स्तनथाः = गर्जन, गरजने की ध्वनि। उदीरते = उठती है, सुनायी पड़ती है।

**अनुवाद—** कोड़े से घोड़ों को प्रेरित करते हुए रथ-स्वामी की भाँति (पर्जन्य देव) वर्षा से सम्बन्धित दूतों (बादलों) को प्रकट करता है। जब पर्जन्य (देव) आकाश को वर्षा से युक्त करते हैं (तब) दूर से सिंह के गरजने की ध्वनि (के समान ध्वनि) सुनायी पड़ती है।

**व्याकरण—**

१. कशया – √कश् + अच् + टाप्, तृतीया एकवचन।

२. अभिक्षिपन् – अभि + √क्षिप् + शतृ, प्रथमा एकवचन।

३. कृणुते – √कृ + लट् आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन। (वैदिक रूप) लौकिक संस्कृत में 'कुरुते' रूप होता है।

४. उदीरते – उत् + √ईर् आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. **वर्ष्यां ३ अहं वर्ष्यं १ नभः – कम्प स्वरित के रूप।**

**प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत**
**उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।**
**इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते**
**यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥४॥**

**पदपाठ—** प्र। वाताः। वान्ति। पतयन्ति। विऽद्युतः। उत्। ओषधीः। जिहते। पिन्वते। स्व १ रिति स्वः ॥ इरा। विश्वस्मै। भुवनाय। जायते। यत्। पर्जन्यः। पृथिवीम्। रेतसा। अवति ॥

**सा०भा०—** 'प्र वाताः' इति चतुर्थी पर्जन्यस्य चरोर्याज्या। सूत्रितं च– 'प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत इत्यग्न्याधेय प्रभृति' (आश्व० २.१५) इति। प्र वान्ति वाताः वृष्ट्यर्थम्। पतयन्ति गच्छन्ति समन्तात् सञ्चरन्ति विद्युतः। ओषधीः ओषधयः उत् जिहते उद्गच्छन्ति प्रवर्धन्ते। स्वः अन्तरिक्षं पिन्वते क्षरति। इरा भूमिः विश्वस्मै सर्वस्मै भुवनाय सर्वजगद्धिताय जायते समर्थाः भवति। कदैवमिति। यत् यदा पर्जन्यः देवः पृथिवीं रेतसा उदकेन अवति रक्षति अभिगच्छति वा तदैवं भवति॥

**अन्वय—** यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसा अवति, वाताः प्रवान्ति, विद्युतः पतयन्ति, ओषधीः उज्जिहते, स्वः पिन्वते, विश्वस्मै भुवनाय इरा जायते।

**पदार्थ—** यत् = जब। पर्जन्यः = पर्जन्य देव। पृथिवीम् = पृथिवी को। रेतसा = जल के द्वारा। अवति = सींचता है, रक्षा करता है। वाताः = हवाएँ। प्र वान्ति = तेज चलती हैं। विद्युतः = बिजलियाँ। पतयन्ति = गिरती हैं। ओषधीः = वनस्पतियाँ। उज्जिहते = अङ्कुरित होती हैं, बढ़ती हैं। स्वः = आकाश। पिन्वते = उड़ेलता है। विश्वस्मै = सम्पूर्ण। भुवनाय = लोक के लिए, प्राणियों के लिए। इरा = पृथिवी, अन्न। जायते = समर्थ होता है, उत्पन्न होती है।

**अनुवाद—** जब पर्जन्य देव पृथिवी को जल के द्वारा सींचता है, (तब) हवाएँ तेज चलती हैं, बिजलियाँ गिरती हैं, वनस्पतियाँ होती हैं, आकाश (जल) उड़ेलता है, सम्पूर्ण लोक के लिए पृथिवी (खाद्य पदार्थ प्रदान करने के लिए) समर्थ होती है।

**व्याकरण—**

१. वान्ति – √वा लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. पतयन्ति – √पत् लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. उज्जिहते – उत् + √हा + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

४. पिन्वते – √पिन्व् + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

५. अवति – √अव् + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

६. जायते – √जन् + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

**यस्य॑ व्र॒ते पृ॑थि॒वी नन्न॑मीति॒**
**यस्य॑ व्र॒ते श॒फव॒ज्जर्भु॑रीति।**
**यस्य॑ व्र॒ते ओष॑धीर्वि॒श्वरू॑पाः**
**स नः॑ पर्जन्य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छ॥५॥**

**पदपाठ—** यस्य॑ । व्र॒ते । पृ॒थि॒वी । नन्न॑मीति । यस्य॑ । व्र॒ते । श॒फऽव॑त् । जर्भु॑रीति ॥ यस्य॑ । व्र॒ते । ओष॑धीः । वि॒श्वऽरू॑पाः । सः । नः॒ । प॒र्ज॒न्यः॒ । महि॑ । शर्म॑ । य॒च्छ॒ ॥

**सा० भा०—** यस्य पर्जन्यस्य व्रते कर्मणि पृथिवी नन्नमीति अत्यर्थं नमति सर्वेषामधो भवति। यस्य व्रते शफवत् पादोपेतं जर्भुरीति भ्रियते पूर्यते गच्छतीति वा। यस्य व्रते कर्मणि ओषधीः ओषधयः विश्वरूपाः नानारूपाः भवन्ति । हे पर्जन्यः सः महांस्त्वं नः अस्मभ्यं महि शर्म महत् सुखं यच्छ प्रयच्छ।

**अन्वय—** यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवत् जर्भुरीति, यस्य व्रते ओषधीः विश्वरूपाः सः पर्जन्यः नः महि शर्म यच्छ।

**पदार्थ—** यस्य = जिसके। व्रते = आज्ञा में, वर्षा रूप कर्म में। पृथिवी = पृथिवी। नन्नमीति = अत्यन्त झुक जाती है। शफवत् = खुरों वाला, पैरों वाला। जर्भुरीति = विचरण करता है, प्रसन्नता से उछलता है। ओषधीः = ओषधियाँ, वनस्पतियाँ। विश्वरूपाः = विविध रूपों वाली। पर्जन्यः = हे पर्जन्य देव। सः = वह। नः = हमारे लिए। महि = महान्। शर्म = सुख। यच्छ = प्रदान करो।

**अनुवाद—** जिसकी आज्ञा में पृथिवी अत्यन्त झुक जाती है, जिसकी आज्ञा में खुरों वाला (पशुसमुदाय) विचरण करता है, जिसकी आज्ञा में वनस्पतियाँ विविध रूपों वाली (हो जाती हैं)। हे पर्जन्य देव! वह (तुम) हमारे लिए महान् सुख प्रदान करो।

**व्याकरण—**

१. नन्नमीति – √नम् + यङ्लुगन्त + लट् प्रथमपुरुष एकवचन।
२. जर्भुरीति – √भुर् + यङ्लुङन्त + लट् प्रथमपुरुष एकवचन।
३. यच्छ – √यम् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**दि॒वो नो॑ वृ॒ष्टिं म॑रुतो ररीध्वं**
**प्र पि॑न्वत॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ धाराः॑ ।**
**अ॒र्वाङे॒तेन॑ स्तनयि॒त्नुने-**
**ह्य॒पो नि॑षि॒ञ्चन्नसु॑रः पि॒ता नः॑ ॥६॥**

**पदपाठ—** दि॒वः । नः॒ । वृ॒ष्टिम् । म॒रु॒तः॒ । र॒री॒ध्व॒म् । प्र । पि॒न्व॒त॒ । वृष्णः॑ ।

अश्वस्य । धाराः ॥ अर्वाङ् । एतेन । स्तनयित्नुना । आ । इहि । अपः । निऽसिञ्चन् । असुरः । पिता । नः ॥

**सा० भा०**— हे मरुतः यूयं दिवः अन्तरिक्षसकासात् नः अस्मदर्थं वृष्टिं ररीध्वं दत्त। वृष्णः वर्षकस्य अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य सम्बन्धिन्यः धाराः उदकधाराः प्रपिन्वत प्रक्षरत । हे पर्जन्य त्वं एतेन स्तनयित्नुना गर्जता मेघेन सह अर्वाङ् अस्मदभिमुखान् एहि आगच्छ। किं कुर्वन् अपः अम्भांसि निषिञ्चन् स देवः असुरः उदकानां निरसितापि सन् नः अस्माकं पिता पालकश्च ।

**अन्वय**— मरुतः दिवः नः वृष्टिं ररीध्वम्, वृष्णः अश्वस्य धाराः प्रपिन्वत । नः पिता असुरः अपः निषिञ्चन् एतेन स्तनयित्नुना अर्वाङ् एहि ।

**पदार्थ**— मरुतः = हे मरुतो! दिवः = अन्तरिक्ष से । नः = हमारे लिए । वृष्टिम् = वर्षा को । ररीध्वम् = दे दो, प्रदान कर दो । वृष्णः = वर्षा करने वाले । अश्वस्य = व्यापक मेघ की । धाराः = धाराओं को । प्रपिन्वत = प्रवाहित करो, गिरा दो । नः = हमारे । पिता = पालन करने वाले । असुरः = प्राण देने वाले । अपः = जलों को । निषिञ्चन् = छिड़कते हुए, गिराते हुए । एतेन स्तनयित्नुना = इस गरजते हुए के साथ । अर्वाङ् = (हमारी) ओर । एहि = आओ ।

**अनुवाद**— हे मरुतो! अन्तरिक्ष से हमारे लिए वर्षा को प्रदान कर दो । वर्षा करने वाले व्यापक मेघ की धाराओं को प्रवाहित करो । हमारे पालन करने वाले (एवं) प्राण देने वाले (तुम) जलों को छिड़कते हुए इस गरजते हुए (मेघ) के साथ (हमारी) ओर आओ ।

**व्याकरण**—

१. ररीध्वम् – √रा दाने लट् आत्मनेपद मध्यमपुरुष बहुवचन ।

२. प्रपिन्वत – प्र + √पिन्व + लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन ।

३. निषिञ्चन् – नि + √सिञ्च् + शतृ प्रथमा एकवचन ।

४. असुरः – असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः ।

५. एहि – आङ् (आ) + √इ + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा

उदन्वता परि दीया रथेन ।

दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं
समा भवन्तूद्वतो निपादाः ॥७॥

**पदपाठ—** अभि । क्रन्द । स्तनय । गर्भम् । आ । धाः । उदन्ऽवता । परि । दीय । रथेन ॥ दृतिम् । सु । कर्ष । विऽसितम् । न्यञ्चम् । समाः । भवन्तु । उत्ऽवतः । निऽपादाः ॥

**सा०भा०—** अभि भूम्यभिमुखं क्रन्द शब्दय। तदेव पुनरुच्यते। दार्ढ्याय। स्तनय गर्ज। गर्भं गर्भस्थानीयमुदकम् ओषधीषु आ धाः आधेहि। तदर्थम् उदन्वता उदकवता रथेन परिदीय परितो गच्छ। दृतिं दृतिवदुदकधारकं मेघं विषितं विशेषेण सितं बद्धं न्यञ्चं न्यक् अधोमुखं सु सुष्ठु आकर्ष वृष्ट्यर्थम् । यद्वा। विषितं विमुक्त-बन्धनमेवं कर्ष। एवं कृते उद्वतः ऊर्ध्ववन्तः उन्नतप्रदेशाः निपादाः न्यग्भूतपादा निकृष्ट-पादा वा निम्नोन्नतप्रदेशाः समाः एकस्थाः। भवन्तु उदकपूर्णा भवन्त्वित्यर्थः ॥

**अन्वय—** अभि क्रन्द, स्तनय, गर्भम् आ धाः, उदन्वता रथेन परि दीय, विषितं दृतिं न्यञ्चम् सु कर्ष। उद्वतः निपादाः समाः भवन्तु।

**पदार्थ—** अभि = अभिमुख होकर। क्रन्द = शब्द करो, क्रन्दन करो। स्तनय = गर्जन करो। गर्भम् = गर्भ को। आ धाः = स्थापित करो, धारण कराओ। उदन्वता = जल युक्त। रथेन = रथ से। परि दीय = चारो ओर घूमो, सभी ओर जाओं। विषितम् = विशिष्ट रूप से बँधे हुए। दृतिम् = चर्मनिर्मित जलपात्र विशेष को। न्यञ्चम् = नीचे की ओर, अधोमुख करके। सु = भलीभाँति। कर्ष = खींचो, उड़ेलो। उद्वतः = उन्नत स्थान। निपादाः = निचले स्थान। समाः = समान। भवन्तु = हो जाँय।

**अनुवाद—** (हे पर्जन्य देव) (भूमि की ओर) अभिमुख होकर शब्द करो (तथा) गर्जन करो। (ओषधियों में) गर्भ (रूप जल) को स्थापित करो। जलयुक्त रथ से चारो ओर घूमो। विशिष्ट रूप से बँधे हुए चर्मनिर्मित जलपात्र को अधोमुख करके भली-भाँति उड़ेलो। (जिससे) उन्नत स्थान (तथा) निम्न स्थान समान हो जाँय ॥७॥

**व्याकरण—**

१. क्रन्द – √क्रन्द् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. स्तनय – √स्तन् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. धाः – √धा + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

४. दीया = √दी + लोट् + मध्यमपुरुष एकवचन। वैदिक दीर्घता।

५. विषितम् – वि + √सि + क्त।

६. कर्ष – √कृष् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

७. न्यञ्चम् = नि + √अञ्च् का रूप।

महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च
स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।
घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि
सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥८॥

**पदपाठ**— महान्तम्। कोशम्। उत्। अच। नि। सिञ्च। स्यन्दन्ताम्। कुल्याः। विऽसिताः। पुरस्तात्॥ घृतेन। द्यावापृथिवी इति। वि। उन्धि। सुऽप्रपानम्। भवतु। अघ्न्याभ्यः॥

**सा० भा०**— हे पर्जन्य त्वं महान्तं प्रवृद्धं कोशं कोशस्थानीयं मेघम् उदच उद्गच्छ। उद्गमय वा। तथा कृत्वा निषिञ्च नीचैः क्षारय। कुल्याः नद्यः विषिताः विष्यूताः सत्यः स्यन्दन्तां प्रवहन्तु पुरस्तात् पूर्वाभिमुखम्। प्रायेण नद्यः प्राच्यः स्यन्दन्ते घृतेन उदकेन द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं च व्युन्धि क्लेदय अत्यधिकम्। अघ्न्याभ्यः गोभ्यः सुप्रपाणं सुष्ठु प्रकर्षेण पातव्यमुदकं भवतु।

**अन्वय**— महान्तं कोशम् उदच, निषिञ्च। कुल्याः विषिताः पुरस्तात् स्यन्दन्ताम्। घृतेन द्यावापृथिवी वि उन्धि। अघ्न्याभ्यः सु प्रपाणं भवतु।

**पदार्थ**— महान्तम् = विशाल, महान्। कोशम् = (जल के) भण्डार स्वरूप को। उदच = ऊपर ले जाओ। निषिञ्च = नीचे की ओर बरसाओ। कुल्याः = नदियाँ, नालियाँ। विषिताः = बन्धनरहित होती हुईं। पुरस्तात् = पूर्व की ओर, सामने की ओर। स्यन्दन्ताम् = प्रवाहित हो जाँय। घृतेन = जल से। द्यावापृथिवी = द्युलोक और पृथिवी को। वि उन्धि = विशेष रूप से सिक्त कर दो। अघ्न्याभ्यः = अबध्यों के लिए, बध न किये जाने योग्य के लिए। सुप्रपाणम् = भली भाँति पीने योग्य। भवतु = हो जाय।

**अनुवाद**— (हे पर्जन्य देव) विशाल (जल के) भण्डार स्वरूप (मेघ) को ऊपर ले जाओ (तथा उसको) नीचे की ओर बरसाओ। नदियाँ बन्धन-रहित होती हुईं सामने

की ओर प्रवाहित हो जायँ। जल से द्युलोक एवं पृथिवी लोक को विशेष रूप से सिक्त कर दो। बध न किये जाने योग्य (गायों) के लिए भली-भाँति पीने योग्य (पर्याप्त जल) हो जाय।

**व्याकरण—**

१. उदच – उत् + √अच् (अञ्च्) + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन। वैदिक दीर्घता।
२. निषिञ्च – नि + √सिञ्च् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।
३. स्यन्दन्ताम् – √स्यन्द् + लोट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन।
४. उन्धि – √उद् (उन्द्) + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।

**यत्पर्जन्य कनिक्रद-**
**त्स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।**
**प्रतीदं विश्वं मोदते**
**यत्किं च पृथिव्यामधि ॥९॥**

**पदपाठ—** यत्। पर्जन्य। कनिक्रदत्। स्तनयन्। हंसि। दुःऽकृतः। प्रति। इदम्। विश्वम्। मोदते। यत्। किम्। च। पृथिव्याम्। अधि ॥

**सा० भा०—** हे पर्जन्य यत् यदा त्वं कनिक्रदत् अत्यर्थं शब्दयन् स्तनयन् दुष्कृतः पापकृतो मेघान् हंसि विदारयसि तदानीम् इदं विश्वं जगत् प्रति मोदते। विश्वं विशेष्यते। यत्किञ्च पृथिव्यामधि भूम्यामधिष्ठितं यच्चराचरात्मकं तदिदं मोदते। वृष्टेः सर्वजगत्प्रीतिकारणत्वं प्रसिद्धम्।

**अन्वय—** पर्जन्य! यत् कनिक्रदत् स्तनयन् दुष्कृतः हंसि इदं विश्वं यत् किंच पृथिव्यां अधि मोदते।

**पदार्थ—** पर्जन्य = हे पर्जन्य देव। यत् = जब। कनिक्रदत् = शब्द करते हुए। स्तनयन् = गर्जन करते हुए। दुष्कृतः = दुष्कर्म करने वालों को। हंसि = मारते हो, बध करते हो। इदम् = यह। विश्वम् = सम्पूर्ण, संसार। यत् = जो। किञ्च = कोई भी। पृथिव्याम् अधि = पृथ्वी पर है। मोदते = प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है।

**अनुवाद—** हे पर्जन्य देव! जब (तुम) तीव्र शब्द करते हुए (तथा) गर्जन करते हुए दुष्कर्म करने वालों को मारते हो (बध करते हो) (तब) यह सम्पूर्ण संसार जो कोई

भी पृथिवी पर है, आनन्दित होता है।

**व्याकरण—**

१. हंसि – √हन् + लट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. मोदते – √मुद् + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

**अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ।**
**अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम् ॥१०॥**

**पदपाठ—** अवर्षीः। वर्षम्। उत्। ऊँ इति। सु। गृभाय। अकः। धन्वानि। अतिऽएतवै। ऊँ इति। अजीजनः। ओषधीः। भोजनाय। कम्। उत। प्रऽजाभ्यः। अविदः। मनीषाम्॥

**सा० भा०—** इयमतिवृष्टिविमोचनी। हे पर्जन्य त्वम् अवर्षीः वृष्टवानसि। वर्षमृदु षू गृभाय उत्कृष्टं सु सुष्ठु गृभाय गृहाण। परिहरेत्यर्थः। धन्वानि निरुदकप्रदेशान् अकः जलवतः कृतवानसि। किमर्थम् अत्येतवा उ अतिक्रम्य गन्तुम्। ओषधीः अजीजनः उत्पादय। किमर्थम्। भोजनाय धनाय भोगाय वा कम् इत्ययं 'शिशिरं जीवनाय कम्' इतिवद् पादपूरणः (निरु० १.१०)। अपि च प्रजाभ्यः सकाशात् मनीषां अविदः प्राप्तवानसि।

**अन्वय—** वर्षम् अवर्षीः। उत् उ सु गृभाय। धन्वानि अति एतवै अकः। भोजनाय कम् ओषधीः अजीजनः उत प्रजाभ्यः मनीषाम् अविदः।

**पदार्थ—** वर्षम् = वर्षा को। अवर्षीः = बरसा दो। उत् = और। उ = पादपूरणार्थक निपात। सु = पूर्ण रूप से, सुष्ठुरूपेण। गृभाय = ग्रहण करो, रोक दो। धन्वानि = जलविहीन प्रदेशों को, मरुस्थलों को। अति एतवै = पार करने योग्य, अतिक्रमण करके पहुँचने के लिए। अकः = कर दिया, बना दिया। भोजनाय = भोग करने के लिए। ओषधीः = वनस्पतियों को। अजीजनः = उत्पन्न कर दिया है। उत = और। प्रजाभ्यः = प्राणियों से, लोगों से। मनीषाम् = प्रशंसा को, प्रार्थना को। अविदः = प्राप्त कर लिया।

**अनुवाद**— (हे पर्जन्य देव) तुम वर्षा को बरसा दिये (कर चुके)। अब इसको पूर्ण रूपेण रोक दो। जलविहीन प्रदेशों को (तुमने) पार करके पहुँचने योग्य बना दिया। भोग करने के लिए वनस्पतियों को उत्पन्न कर दिया है, तथा लोगों से प्रशंसा (भी) प्राप्त कर लिया है।

**व्याकरण**—

१. अवर्षीः – √वृष् + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।
२. गृभाय – √ग्रभ् + लट् या लोट् मध्यमपुरुष एकवचन। कतिपय विद्वानों के अनुसार यह √ग्रह् धातु का वैदिक रूप हैं।
३. एतवै – √इण् (इ) धातु + तुमर्थक 'तवै' प्रत्यय।
४. अकः – √कृ + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन वैदिक रूप।
५. अजीजनः – √जन् + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।
६. अविदः – √विद् + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

# १३. पूषन्सूक्तम्

| वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–६ | सूक्त संख्या–५३ |
|---|---|---|
| ऋषि–भरद्वाज | देवता–पूषा (पूषन्) | छन्द–गायत्री |

**वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये ।**

**धिये पूषन्नयुज्महि ॥१॥**

**पदपाठ—** वयम् । ऊँ इति । त्वा । पथः । पते । रथम् । न । वाजऽसातये । धिये । पूषन् । अयुज्महि ॥

**सा० भा०—** हे पथस्पते मार्गस्य पालयितः पूषन् धिये कर्मार्थं वाजसातये अन्नस्य लाभाय च वयं न युद्धे रथमिव त्वा त्वाम् अयुज्महि युज्महि । अस्मदभिमुखं कुर्मः । उ इति पूरकः ।

**अन्वय—** पथस्पते पूषन्, वयम् उ वाजसातये धिये रथं न त्वा अयुज्महि ।

**पदार्थ—** पथस्पते = हे मार्गों के स्वामी, हे मार्ग-रक्षक । पूषन् = हे पूषन् (देव) । वयम् = हम लोग । वाजसातये = धन प्राप्त करने के लिए । धिये = कर्म के लिए अथवा बुद्धि के लिए । रथं न = रथ के समान । उ पादरणार्थक निपात । त्वा = तुमको । अयुज्महि = नियोजित करते हैं, जोड़ते (जोतते) हैं ।

**अनुवाद—** हे मार्ग रक्षक पूषन् (देव), हम लोग धन की प्राप्ति के लिए (और) कर्म सम्पादन के लिए तुमको नियोजित करते हैं ।

**व्याकरण—**

१. पथस्पते – पथः मार्गस्य पते (अलुक् तत्पुरुष) सम्बोधन, एकवचन ।

२. सातये – √सन् + क्तिन् + साति, चतुर्थी एकवचन ।

३. अयुज्महि – युजिर् (योजने), लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप, लौकिक-संस्कृत में अयुज्मः रूप बनेगा ।

४. पूषन् – √पुष् + कनिन् = पूषन्, सम्बोधन एकवचन ।

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् ।
वामं गृहपतिं नय ॥२॥

**पदपाठ—** अभि । नः । नर्यम् । वसु । वीरम् । प्रयतऽदक्षिणम् । वामम् । गृहऽपतिम् । नय ॥

**सा० भा०—** हे पूषन् नर्यं नृभ्यो हितं वसु धनम् अभि प्राप्तुं वीरं दारिद्र्यस्य विशेषेण ईरयितारं गमयितारं पूर्वमन्येभ्योऽपि दत्तधनम् । यद्वा । प्रयतं शुद्धं दक्षिणं धनं यस्य तादृशम् । वामं वननीयमेवंविधं गृहपतिं गृहस्थं नः अस्मान् नय प्रापय ॥

**अन्वय—** नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणं वामं गृहपतिं अभि नः नय ।

**पदार्थ—** नर्यम् = मनुष्यों के लिए । वसु = अभि धन की ओर । वीरम् = पराक्रमी, शत्रुओं भगाने वाले । प्रयतदक्षिणम् = दक्षिणा देने वाले । वामम् = प्रशंसनीय । गृहपतिम् = गृहस्थ । अभि = ओर । नः = हमको । नय = ले जाओ ।

**अनुवाद—** (हे मित्र) मनुष्यों के लिए धन की ओर (तथा) पराक्रमी, दक्षिणा देने वाले, प्रशंसनीय गृहस्थ की ओर हम लोगों को ले जाओ ।

**व्याकरण—**

१. नर्यम् – नृ + यत्, नृभ्यः हितम् ।

२. वामम् – √वन् + मनिन् ।

३. प्रयत – प्र + √यत् + क्त ।

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय ।
पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ॥३॥

**पदपाठ—** अदित्सन्तम् । चित् । आघृणे । पूषन् । दानाय । चोदय । पणेः । चित् । वि । म्रद । मनः ॥

**सा० भा०—** हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् अदित्सन्तं चित् दातुमनिच्छन्तमपि पुरुषं दानाय अस्मद्दानार्थं चोदय प्रेरय । पणेश्चित् वणिजोऽपि वार्धुषिकस्य लुब्धस्यापि मनः हृदयं वि म्रद दानार्थं मृदूकुरु ॥

**अन्वय—** आघृणे पूषन्, अदित्सन्तं दानाय चोदय, पणेः चित् मनः वि म्रद ।

**पदार्थ—** आघृणे = हे प्राप्तदीप्ति (दीप्तिमान्) । पूषन् = हे पूषन् (देव) ।

अदित्सन्तम् = देने की इच्छा न करने वाले को। दानाय = देने के लिए। चोदय = प्रेरित करो। पणेः चित् = बनिये के भी, सूदखोर के भी, व्यापारी के भी। मनः = मन को। वि म्रद = विशेष रूप से कोमल बनाओ।

**अनुवाद**— हे दीप्तिमान् पूषन् (देव), देने की इच्छा न करने वाले को देने के लिए प्रेरित करो (और) बनिये (सूदखोर) के भी मन को विशेष रूप से कोमल बनाओ।

**व्याकरण—**

१. अदित्सन्तम् – नञ् + सन्नन्त √दा + शतृ, द्वितीया एकवचन।

२. चोदय – √चुद् + यण्, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. वि म्रद – वि + √म्रद्, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधौ जहि ।**

**साधन्तामुग्र नो धियः ॥४॥**

**पदपाठ**— वि । पथः । वाजऽसातये । चिनुहि । वि । मृधः । जहि । साधन्ताम् । उग्र । नः । धियः ॥

**सा० भा०**— हे उग्र उद्गूर्णबल पूषन् पथः मार्गान् वाजसातये अन्नलाभाय वि चिनुहि। शोधितान् कुरु। यैः पथिभिर्गता धनं लभेमहि तादृशान् पथः पृथक्कुर्वित्यर्थः। मृधः बाधकान् तस्करादींश्च वि जहि बाधस्व। तथा नः अस्माकं धियः कर्माणि अन्नलाभार्थं क्रियमाणानि साधन्तां सिध्यन्तु। सफलानि भवन्तु ॥

**अन्वय**— उग्र, वाजसातये पथः विचिनुहि, मृधः वि जहि, नः धियः साधन्ताम्।

**पदार्थ**— उग्र = हे प्रचण्ड (पूषन्)। वाजसातये = धन (अथवा अन्न) की प्राप्ति के लिए। पथः = मार्ग को। वि चिनुहि = विविध प्रकार से चुनो (साफ करो)। मृधः = बाधा उत्पन्न करने वाले को। वि जहि = विविध प्रकार से नष्ट करो (मार डालो)। नः = हमारी। धियः = बुद्धि को, कर्म को। साधन्ताम् = सिद्ध करो, पूर्ण करो।

**अनुवाद**— हे प्रचण्ड (पूषन्), धन (अथवा अन्न) की प्राप्ति के लिए (धन प्राप्ति के) मार्ग को विविध प्रकार से साफ करो (और) बाधा उत्पन्न करने वाले (शत्रुओं) को विविध प्रकार से नष्ट करो (मार डालो)। हमारे कर्म को सिद्ध (पूर्ण) करो।

**व्याकरण—**

१. चिनुहि – √चि, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. मृधः – √मृध् (हिंसायाम्) + क्विप्, द्वितीया बहुवचन।

३. जहि – √हन् + लोट् मध्यमपुरुष, एकवचन।

४. साधन्ताम् – √साध् + आत्मनेपद लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन।

**परि॑ तृन्धि प॒णी॒नामार॑या॒ हृद॑या कवे ।**
**अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥५॥**

**पदपाठ—** परि॑ । तृ॒न्धि॒ । प॒णी॒नाम् । आर॑या । हृद॑या । क॒वे॒ । अथ॑ । ई॒म् । अ॒स्मभ्य॑म् । र॒न्ध॒य॒ ॥

**सा०भा०—** हे कवे प्राज्ञ पूषन् पणीनां वणिजां लुब्धानां हृदया हृदयानि कठिनानि आरया। सूक्ष्मलोहाग्रो दण्डः प्रतोद इति आरा इति चाख्यायते। तथा परि तृन्धि परिविध्य। हृद्गतं काठिन्यमपनयेत्यर्थः। अथ अनन्तरम् ईम् एनान् पणीन् अस्मभ्यं रन्धय वशीकुरु ॥

**अन्वय—** कवि, आरया पणीनां हृदया परि तृन्धि, अथ ईम् अस्मभ्यं रन्धय।

**पदार्थ—** कवि = हे प्रज्ञावान्, हे क्रान्तद्रष्टा, हे बुद्धिमान्। आरया = आरा से। पणीनाम् = बनियों के, सूदखोरों के। हृदया = हृदयों को। परितृन्धि = चारों ओर से काट डालो (बींध दो)। अथ = इसके बाद। ईम् = उनको। अस्मभ्यमृ = हमारे लिए, हमारे। रन्धय = वश में कर दो।

**अनुवाद—** हे प्रज्ञावान् (पूषन्), (अपने) आरा से बनियों (या सूदखोरों) के हृदय का चारों ओर से काट डालो, इसके बाद उनको हमारे वश में कर दो।

**व्याकरण—**

१. तृन्धि – √तृद् (हिंसायाम्), लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. रन्धय – √रध् (वशीकरणे) + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. हृदया – हृदय का द्वितीया बहुवचन, वैदिक रूप, लौकिकसंस्कृत में हृदयानि रूप बनता है।

४. आरया – √ऋ गतौ + अण् + टाप्, तृतीया एकवचन।

**वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम् ।**

**अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥६॥**

**पदपाठ—** वि । पूषन् । आरया । तुद । पणेः । इच्छ । हृदि । प्रियम् । अथ । ईम् । अस्मभ्यम् । रन्धय ॥

**सा० भा०—** हे पूषन्, आरया प्रतोदेन पणेः वणिजः हृदयं वि तुद विविध्य। तस्य पणेः हृदि हृदये प्रियम् अस्मभ्यमनुकूलं धनम् इच्छ दातव्यमितीच्छां जनय। अथ अनन्तरम् ईम् एनान् रन्धय वशीकुरु ॥

**अन्वय—** पूषन्, आरया वितुद, पणेः (हृदि) प्रियम् इच्छ, अथ ईम् अस्मभ्यं रन्धय।

**पदार्थ—** पूषन् = हे पूषन् (देव)। आरया = आरा से। वितुद = विशेष प्रकार से व्यथित (पीड़ित) करो। पणेः = बनिये के। हृदि = हृदय में। प्रियम् = प्रिय को। इच्छ = इच्छा करो। अथ = इसके बाद। ईम् = उनको। अस्मभ्यम् = हमारे लिए। रन्धय = वश में करो।

**अनुवाद —** हे पूषन् (देव), (अपने) आरा से लोभी बनिये में हृदय को विशेष प्रकार से व्यधित करो, बनिये के हृदय में जो प्रिय है, (उसकी) इच्छा करो; इसके बाद उनकों हमारे वश में करो।

**व्याकरण—**

१. तुद- √तुद् लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. इच्छ - इष् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे ।**

**अथेमस्मभ्यं रन्धय ॥७॥**

**पदपाठ—** आ । रिख । किकिरा । कृणु । पणीनाम् । हृदया । कवे । अथ । ईम् । अस्मभ्यम् । रन्धय ॥

**सा० भा०—** हे कवे प्राज्ञ पूषन् पणीनां वणिजां हृदया हृदयानि आ रिख आलिख। च किकिरा कीर्णानि प्रशिथिलानि कृणु कुरु। मृदूनि कुर्वित्यर्थः। अन्यद्गतम् ॥

**अन्वय—** कवे, पणीनां हृदया आ रिख, किकिरा कृणु, अथ ईम् अस्मभ्यं रन्धय।

**पदार्थ**— कवे = हे प्रज्ञावान्। पणीनाम् = बनियों के। हृदया = हृदयों को। आ रिख = खुरच दो, लिख दो, अनुकूल बना दो। किकिरा = विकीर्ण। कुरु = कर दो। अथ = इसके बाद। ईम् = उनको। अस्मभ्यं = हमारे। रन्धय = वश में कर दो।

**अनुवाद**— हे प्रज्ञावान् (पूषन् देव), बनियों के हृदयों को खुरच दो (अनुकूल बना दो) (और) विकीर्ण (कोमल) कर दो, इसके बाद उनको हमारे वश में कर दो।

**व्याकरण**—

१. रिख – √रिख् (लेखने) लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. किकिरा – √कृ (विक्षोभे) + अच्, नपुंसक लिङ्ग द्वितीया बहुवचन का वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में किकिराणि बनेगा।

३. कृणु – √कृ + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन, कुरु का वैदिकरूप।

**यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे।**
**तया समस्य हृदयमा रिख किकिरा कृणु ॥८॥**

**पदपाठ**— याम्। पूषन्। ब्रह्मऽचोदनीम्। आराम्। बिभर्षि। आघृणे। तया। समस्य। हृदयम्। आ। रिख। किकिरा। कृणु॥

**सा०भा०**— हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ब्रह्मचोदनीं ब्रह्मणोऽन्नस्य प्रेरयित्रीं याम् आरां बिभर्षि हस्ते धारयसि तथा समस्य सर्वस्य लुब्धजनस्य हृदयम् आ रिख आलिख। किकिरा किकिराणि कीर्णानि प्रशिथिलानि च कृणु कुरु।

**अन्वय**— आघृणे पूषन्, ब्रह्मचोदनीयम् आरां बिभर्षि तया समस्य हृदयं आरिख, किकिरा कृणु।

**पदार्थ**— आघृणे = हे दीप्तिमान्। पूषन् = हे पूषन् देव। ब्रह्मचोदनीम् = अन्न को प्रेरित करने वाली। याम् = जिस। आराम् = आरा को। बिभर्षि = तुम धारण करते हो। तया = उसके द्वारा। समस्य = सभी लोगों को। हृदयम् = हृदय को। आरिख = खुरच दो, कोमल बना दो। किकिरा = विकीर्ण। कृणु = कर दो।

**अनुवाद**— हे दीप्तिमान् पूषन् (देव) तुम अन्न को प्रेरित करने वाली जिस आरा को धारण करते हो, उस (आरा) के द्वारा सभी लोगों के हृदय को खुरच दो (कोमल बना दो) (और) विकीर्ण कर दो।

**व्याकरण—**

१. ब्रह्मचोदनीम् – ब्रह्म + √चुद् + ल्युट् + ङीप्।

२. विभर्षि – वि + √भृ (धारणे) लट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी।**

**तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥९॥**

**पदपाठ—** या। ते। अष्ट्रा। गोऽओपशा। आघृणे। पशुऽसाधनी। तस्याः। ते। सुम्नम्। ईमहे॥

**सा०भा०—** हे आघृणे आगतदीप्ते पूषन् ते त्वदीया या अष्ट्रा आरा गो-ओपशा। उपदेशेरते इत्योपशाः। गाव ओपशा यस्यास्तादृशी। अत एव पशुसाधनी पशूनां साधयित्री भवति ते त्वदीयायाः तस्याः सम्बन्धि सुम्नं सुखम् ईमहे याचामहे॥

**अन्वय—** आघृणे, ते या गोओपशा पशुसाधनी अष्ट्रा ते तस्याः सुम्नम् ईमहे।

**पदार्थ—** आघृणे = हे दीप्तिमान्। ते = तुम्हारी। या = जो। गोओपशा = गायों के पास शयन करने वाली। पशुसाधनी = पशुओं को सकुशल पहुँचानेवाली। अष्ट्रा = आरा। ते = तुम्हारी। तस्याः = उसके। सुम्नम् = सुख को। ईमहे = हम लोग मागते हैं, याचना करते हैं कामना करते हैं।

**अनुवाद—** हे दीप्तिमान् (पूषन्), तुम्हारी जो गायों के पास शयन करने वाली (और) पशुओं को सकुशल पहुँचाने वाली आरा है, हम लोग तुम्हारी उस (आरा) के सुख को माँगते हैं (कामना करते हैं)।

**व्याकरण—**

१. अष्ट्रा – √अश् (व्याप्तौ) + ष्ट्रन् + टाप्।

२. गोओपशा – गवाम् ओपशा तत्पुरुष। आ + उप + √शीङ् + ड् + टाप् = ओपशा।

३. पशुसाधनी – पशोः साधनी (तत्पुरुष)। √साध् + ल्युट् + ङीप् = साधनी।

४. सुम्नम् – सु + √म्ना + क = सुम्न, द्वितीया एकवचन।

५. ईमहे – √ईङ् (कामनायाम्) + आत्मनेपद लट्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

**उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत।**

**नृवत्कृणुहि वीतये ॥१०॥**

**पदपाठ—** उत । नः । गोऽसनिम् । धियम् । अश्वऽसाम् । वाजऽसाम् । उत । नृऽवत् । कृणुहि । वीतये ॥

**सा० भा०—** उत अपि व हे पूषन् गोषणिं गवां सनित्रीम् अश्वसाम् अश्वानां सनित्रीं वाजसां वाजानामन्नानां सनित्रीम् उत अपि च नृवत् नृवतीं यद्वा नृणां वनीत्रीं दात्रीमेवंभूतां धियं बुद्धिं कर्म वा नः अस्माकं वीतये खादनायोपभोगार्थं कृणुहि कुरु ॥

**अन्वय—** नः गोषणिम् उत अश्वसां उत वाजसां धियं नृवत् वीतये कृणुहि।

**पदार्थ—** नः = हमारी। गोषणिम् = गायों को प्राप्त करने वाली। अश्वसाम् = अश्वों को प्राप्त करने वाली। उत = और। वाजसाम् = अन्नों को प्राप्त करने वाली। धियम् = अभिलाषा को। नृवत् = राजा के सामने। वीतये = आनन्द के लिए। कृणुहि – (पूर्ण) करो।

**अनुवाद—** (हे पूषन्), हमारी गायों को प्राप्त करने वाली, अश्वों को प्राप्त करने वाली और अन्नों को प्राप्त करने वाली अभिलाषा को राजा के समान आनन्द के लिए (पूर्ण) करो।

**व्याकरण—**

१. गोषणिम् – गो + √षणु + इ = गोषणि, द्वितीया एकवचन।

२. अश्वसाम्, वाजसाम् – षष्ठी बहुवचन का वैदिक रूप; लौकिक संस्कृत में क्रमशः अश्वानाम् और वाजानाम् रूप बनेगा।

३. नृवत् – नृ + मतुप्।

४. वीतये – √वी + क्तिन् = वीति, चतुर्थी एकवचन।

५. कृणुहि – √कृ + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में कुरु रूप बनता है।

# १४. इन्द्रावरुणसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–७ सूक्त संख्या–८३

ऋषि–वसिष्ठ देवता–इन्द्रावरुणौ छन्द–जगती

युवां नरा पश्यमानास आप्यं
प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च
सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥१॥

**पदपाठ**— युवाम् । नरा । पश्यमानासः । आप्यम् । प्राचा । गव्यन्तः । पृथुऽपर्शवः । ययुः ॥ दासा । च । वृत्रा । हतम् । आर्याणि । च । सुऽदासम् । इन्द्रावरुणा । अवसा । अवतम् ॥

**सा०भा०**— हे नरा नेताराविन्द्रावरुणौ युवाम्। षष्ठ्यर्थे द्वितीया। युवयोः आप्यं बन्धुभावं पश्यमानासः पश्यन्तो युष्मद्बान्धवलाभार्थिनः गव्यन्तः गा आत्मन इच्छन्तो यजमानाः पृथुपर्शवः । पृथुर्विस्तीर्णः पर्शुः पार्श्वास्थि येषां ते तथोक्ताः। विस्तीर्णाश्वपर्शुहस्ताः सन्तः प्राचा प्राचीनं ययुः बर्हिराहरणार्थं गच्छन्ति । पर्श्वा हि बर्हिराच्छिद्यते। तथा च तैत्तिरीयकम्— 'अश्वपर्श्वा बर्हिरच्छैति' (तै०ब्रा० ३.२.२.१) इति। हे इन्द्रावरुणौ युवां दासा दासान्युपक्षपयितॄणि च वृत्राणि आवरकाणि शत्रुजातानि आर्याणि च धर्मानुष्ठानपराणि च शत्रुजातानि हतं हिंस्तम्। अपि च सुदासम् अस्मद्याज्यमेतत्संज्ञं राजानम् अवसा रक्षणेन सार्धम् अवतम् आगच्छतम्॥

**अन्वय**— नरा, युवां आप्यं पश्यमानासः पृथुपर्शवः गव्यन्तः प्राचा ययुः। इन्द्रावरुणा, दासा आर्याणि च वृत्रा हतम् अवसा सुदासम् अवतम्।

**पदार्थ**— नरा = हे दोनों नेताओं । युवाम् = तुम दोनों को। आप्यम् = बन्धुत्वभाव को। पश्यमानासः = देखते हुए। पृथुपर्शवः = विशाल फरसों को धारण करने वाले। गन्तव्यः = विजयप्राप्ति की कामना करते हुए। प्राचा = आगे। ययुः = गये हुए हैं। इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र और वरुण (देवो)। दासा = दासों को। आर्याणि च = आर्यों को। वृत्रा = शत्रुओं को। हतम् = तुम दोनों मार डालो। अवसा = रक्षण

से, संरक्षण से। सुदासम् = सुदास की। अवतम् = रक्षा करो।

**अनुवाद**— हे दोनों नेताओं (इन्द्र और वरुण), तुम दोनों को (और तुम दोनों के) बन्धुत्व को देखते हुए विशाल फरसे धारण करने वाले (तथा) विजय की कामना करते हुए (हमारे सैनिक) आगे गये हैं। हे इन्द्र और वरुण, तुम दोनों (हमारे) दासों और आर्य शत्रुओं को मार डालो। (अपने) संरक्षण से सुदास की रक्षा करो।

**व्याकरण**—

१. नरा – सम्बोधन द्विवचन, नरौ का वैदिकरूप।
२. पश्यमानासः – √दृश् + शानच्, प्रथमा बहुवचन, दृश्यमानाः का वैदिकरूप।
३. आप्यम् – √अप् + ण्यत्।
४. हतम् – √हन् लोट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।
५. गव्यन्तः – गो + क्यप् + शतृ, प्रथमा बहुवचन।
६. दासा, वृत्रा – द्वितीया बहुवचन क्रमशः दासानि और वृत्राणि का वैदिकरूप।
७. अवतम् – √अव् + लोट् मध्यमपुरुष द्विवचन।
८. इन्द्रावरुणा – इन्द्रश्च वरुणश्च इन्द्रावरुणौ। सम्बोधन द्विवचन इन्द्रावरुणौ का वैदिकरूप।

**यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो**
**यस्मिन्नाजा भवति किञ्चन प्रियम्।**
**यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृश-**
**स्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् ॥२॥**

**पदपाठ**— यत्र । नरः । सम्ऽअयन्ते । कृतऽध्वजः । यस्मिन् । आजा । भवति । किम् । चन ॥ प्रियम् । यत्र । भयन्ते । भुवना । स्वःऽदृशः । तत्र । नः । इन्द्रावरुणा । अधि । वोचतम् ॥

**सा० भा०**— यत्र यस्मिन् सङ्ग्रामे नरः मनुष्याः कृतध्वजः उच्छ्रितध्वजाः समयन्ते युद्धार्थं सङ्गच्छन्ते। यस्मिन् च आजा आजौ युद्धे। चन इति निपातद्वयसमुदायो विभज्य योजनीयः। किञ्च किमपि प्रियम् अनुकूलं न भवति तु सर्वं दुष्करं भवति यत्र च युद्धे भुवना भुवनानि भूतजातानि स्वर्दृशः शरीरपातादूर्ध्वं स्वर्गस्य द्रष्टारो वीराश्च भयन्ते बिभ्यति तत्र तादृशे सङ्ग्रामे हे इन्द्रावरुणौ नः अस्मान् अधि वोचतम्। अस्मत्पक्षपातवचनौ भवतम्॥

**अन्वय—** यत्र कृतध्वजः नरः समयन्ते, यस्मिन् आजा किञ्चन प्रियं भवति। यत्र भुवना स्वर्दृशः भयन्ते, इन्द्रावरुणा, तत्र नः अधिवोचतम्।

**पदार्थ—** यत्र = जहाँ। कृतध्वजः = ध्वजा को ऊपर उठाये हुए। नरः = मनुष्य लोग। समयन्ते = एक साथ (सम्यक् रूप से) जाते है। यस्मिन् = जिस। आजा = युद्ध में। किञ्चन = कुछ भी नहीं। प्रियः = प्रिय। भवति = होता है। यत्र = जहाँ। भुवना = प्राणीगण। स्वर्दृशः = देवगण। भयन्ते = भयभीत हो जाते हैं। इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र और वरुण (देव)। तत्र = वहाँ। नः अधि = हमारी ओर से। वोचतम् = तुम दोनों बोलो (वचन दो)।

**अनुवाद—** जहाँ (जिस युद्ध में) ध्वजा को ऊपर उठाये हुए मनुष्य लोग एक साथ जाते हैं, जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं होता; जहाँ प्राणीगण और देवगण भयभीत हो जाते हैं, हे इन्द्र और वरुण, वहाँ तुम दोनों हमारी ओर से (विजय के लिए) वचन दो।

**व्याकरण—**

१. नरः – नृ, प्रथमा एकवचन।

२. समयन्ते – सम् + √अय् (गतौ) + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. आजा – सप्तमी एकवचन आजौ का वैदिकरूप।

४. स्वर्दृशः – स्वः + √दृश् + क्विप्, प्रथमा बहुवचन।

५. वोचतम् – √वच्, लोट् मध्यमपुरुष द्विवचन।

> सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्ष-
> तेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत्।
> अस्थुर्जनानामुप मामरातयो-
> ऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम् ॥३॥

**पदपाठ—** सम्। भूम्याः। अन्ताः। ध्वसिराः। अदृक्षत। इन्द्रावरुणा। दिवि। घोषः। आ। अरुहत्॥ अस्थुः। जनानाम्। उप। माम्। अरातयः। अर्वाक्। अवसा। हवनऽश्रुता। आ। गतम्॥

**सा० भा०—** हे इन्द्रावरुणौ भूम्याः अन्ताः पर्यन्ताः ध्वसिराः सैनिकैर्ध्वस्ताः सम् अदृक्षत सन्दृश्यन्ते। तथा दिवि द्युलोके घोषः सैनिकानां शब्दश्च आरुहत् आरूढो-

ऽभूत्। जनानाम् अस्मदीयानां भटानां अरातयः शत्रवः माम् उप अस्थुः उपस्थिताः। एवं प्रवर्तमानेऽस्मिन् युद्धे हे हवनश्रुता आह्वानशीलाविन्द्रावरुणौ अर्वाक् अस्मदभिमुखम् अवसा रक्षणेन सह आ गतम् आगच्छतम्॥

**अन्वय**— इन्द्रावरुणा, भूम्याः अन्ताः ध्वसिराः सम् अदृक्षत, घोषः दिवि आ अरुहत्, जनानाम् अरातयः माम् अर्वाक् उप अस्थुः, हवनश्रुता, अवसा आ गतम्।

**पदार्थ**— इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र और वरुण। भूम्याः = पृथिवी के। अन्ताः = अन्तभाग, छोर। ध्वसिराः = धूल से धूसरित। सम् अदृक्षत = दिखलायी पड़ते हैं। घोषः = (सैनिको के) शब्द (ध्वनि)। दिवि = द्युलोक में। आ अरुहत् = ऊपर चढ़ रहा (उठ रहा) है। जनानाम् = मनुष्यों के। अरातयः = शत्रुगण। माम् = मुझको। अर्वाक् = सामने से। उप अस्थुः = घेर लिये हैं। हवनश्रुता = हे आह्वान (स्तुति) को सुनने वाले। अवसा = संरक्षण के साथ। आ गतम् = आओ।

**अनुवाद**— हे इन्द्र और वरुण, पृथिवी के छोर धूल धूसरित दिखलायी पड़ते हैं, सैनिकों के शब्द (ध्वनियाँ) द्युलोक में ऊपर चढ़ रहा (व्याप्त हो रहा) है, मनुष्यों के शत्रुगण मुझको सामने से घेर लिये हैं, हे आह्वान (स्तुति) को सुनने वाले (इन्द्र और वरुण), (अपने) संरक्षण के साथ (हमारी ओर) आओ।

**व्याकरण**—

१. अदृक्षत – √दृश्, भावकर्म में, लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. ध्वंसिरा – √ध्वंस् + किरच्।

३. अस्थुः – √स्था + लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. अवसा – √अव् + असुन्; तृतीया एकवचन।

५. हवनश्रुता – हवन + √श्रु + क्विप्। सम्बोधन द्विवचन हवनश्रुतौ का वैदिकरूप।

६. आगतम् – आ + √गम् + लोट्, मध्यमपुरुष द्विवचन।

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति
भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम्।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि
सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः॥४॥

**पदपाठ**— इन्द्रावरुणा। वधनाभिः। अप्रति। भेदम्। वन्वन्ता। प्र।

सुऽदासम् । आवतम् ॥ ब्रह्माणि । एषाम् । शृणुतम् । हवीमनि । सत्या । तृत्सूनाम् । अभवत् । पुरःऽहितिः ॥

**सा० भा०**— हे इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ वधनाभिः वधकरैरायुधैरप्रतिगतमप्राप्तं भेदम् एतत्संज्ञं सुदासः शत्रुं वन्वन्ता हिंसन्तौ युवां सुदासम् । शोभनं ददातीति सुदाः । एतत्सज्ञं मम याज्यं राजानं प्र आवतं प्रकर्षेणारक्षतम् । एषां तृत्सूनां मम याज्यानां ब्रह्माणि स्तोत्राणि शृणुतम् अशृणुतम् । कदा । हवीमनि । आहूयन्तेऽस्मिन् युद्धार्थं परस्परमिति हवीमा संग्रामः । तस्मिन् । यस्मादेवं तस्मात् तृत्सूनाम् एतत्संज्ञानां मम याज्यानां पुरोहितिः मम पुरोधानं सत्या सत्यफलम् अभवत् । तेषु यन्मम पौरोहित्यं तत् सफलं जात-मित्यर्थः ॥

**अन्वय**— इन्द्रावरुणा, वधनाभिः अप्रति भेदम् वन्वन्ता सुदासं प्र आवतम् । हवीमनि एषां ब्रह्माणि श्रुणुतम् तृत्सूनां पुरोहितिः सत्या अभवत् ।

**पदार्थ**— इन्द्रावरुण = हे इन्द्र और वरुण । वधनाभिः = शस्त्रों के द्वारा । अप्रति = अप्रतिहतरूप से । भेदम् = भेद (नामक सुदास के शत्रु) को । वन्वन्ता = मारते हुए । सुदासम् = सुदास को । प्र आवतम् = प्रकृष्ट रूप से तुम दोनों ने सुरक्षित किया (रक्षा किया) । हवीमनि = आह्वान करने (बुलाने, पुकारने) पर । एषाम् = इनकी । ब्रह्माणि = स्तुतियों को । शृणुतम् = तुम दोनों ने सुना । तृत्सूनाम् = तृत्सुओं की । पुरोहितिः = पुरोहिती, पुरोहित होना, पौरोहितत्व । सत्या = सत्य, यथार्थ, सफल । अभवत् = हुई ।

**अनुवाद**— हे इन्द्र और वरुण, शस्त्रों के द्वारा अप्रतिहत भेद (नामक सुदास के शत्रु) को मारते हुए तुम दोनों (इन्द्र और वरुण) ने सुदास को प्रकृष्ट रूप से सुरक्षित किया (रक्षा किया) । आह्वान करने (बुलाने) पर तुम दोनों ने इनकी स्तुतियों को सुना (जिससे) तृत्सुओं की पुरोहिती (पुरोहित होना) सफल हुई ।

**व्याकरण**—

१. वधनाभिः – √वध् + युच् + टाप्, तृतीया एकवचन ।

२. वन्वता – √वन् + उ + शतृ, प्रथमा द्विवचन वन्वन्तौ का वैदिकरूप ।

३. हवीमनि – आहूयन्ते अस्मिन्, √हू +आह्वाने + मनिन्, सप्तमी एकवचन ।

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति

माघान्यर्यो वनुषामरातयः ।

युवं हि वस्वं उभयस्य राजथो-

ऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ॥५॥

**पदपाठ—** इन्द्रावरुणौ । अभि । आ । तपन्ति । मा । अघानि । अर्यः । वनुषाम् । अरातयः ॥ युवम् । हि । वस्वः । उभयस्य । राजथः । अर्ध । स्म । नः । अवतम् । पार्ये । दिवि ॥

**सा० भा०—** हे इन्द्रावरुणौ अर्यः अरेः शत्रोः सम्बन्धीनि अघानि आहन्तॄण्याधानि मा माम् अभ्या तपन्ति अभितो बाधन्ते । अपि च वनुषां हिंसकानां मध्ये अरातयः अभिगमनशीलाः शत्रवश्च मामभितपन्ति । युवं हि युवां खलु उभयस्य पार्थिवस्य दिव्यस्य वस्वः वसुनो धनस्य राजथः ईशाथे । राजतिरैश्वर्यकर्मा । अध स्म अतः कारणात् पार्ये तरणीये दिवि विदसे युद्धदिने नः अस्मान् अवतं रक्षतम् ॥

**अन्वय—** इन्द्रावरुणौ, अर्यः अधानि वनुषाम् असतयः मा अभि आ तपन्ति, हि युवम् उभयस्य वस्वः राजथः, अध स्म पाये दिवि नः अवतम् ।

**पदार्थ—** इन्द्रावरुणौ = हे इन्द्र और वरुण । अर्यः = शत्रु के । अधानि = पाप । वनुषाम् = हिंसकों की । असतयः = शत्रुता । मा = मुझको । अभि = चारो ओर से । आतपन्ति = सन्तप्त करते हैं । हि = निश्चित रूप से । युवम् = तुम दोनों । उभयस्य = दोनों के । वस्वः = धन को । राजथः = शासन करते हो, शासक (स्वामी) हो । अध स्म – इसलिए । पाये = युद्ध के अन्तिम । दिवि = दिन में । नः= हमारी । अवतम् = तुम दोनों रक्षा करो ।

**अनुवाद—** हे इन्द्र और वरुण, शत्रु के पाप (और) हिंसकों की शत्रुता मुझको चारो ओर से सन्तप्त कर रही है, निश्चित रूप से तुम दोनों के धन के शासक हो, इसलिए युद्ध के अन्तिम दिन में हमारी रक्षा करो ।

**व्याकरण—**

१. अधानि – आ समन्तान् अधन्तीति अधानि ।

२. अर्यः – अरि का षष्ठी एकवचन, अरेः का वैदिकरूप ।

३. युवम् – युष्मद् का प्रथमा द्विवचन, युवाम् का वैदिकरूप ।

४. वस्वः – वसु के षष्ठी एकवचन वसुमः का वैदिकरूप ।

५. वनुषाम् – √वन् (हिंसायाम्) + उषस् = वनुष् षष्ठी बहुवचन ।

६. राजथः – √राज + लट् मध्यमपुरुष द्विवचन ।

युवां हवन्त उभयास आजि-
ष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं
प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥६॥

**पदपाठ**— युवाम् । हवन्ते । उभयासः । आजिषु । इन्द्रम् । च । वस्वः । वरुणम् । च । सातये ॥ यत्र । राजऽभिः । दशऽभिः । निऽबाधितम् । प्र । सुऽदासम् । आवतम् । तृत्सुऽभिः । सह ॥

**सा० भा०**— उभयासः उभयविधाः सुदाःसंज्ञो राजा तत्सहायभूतास्तृत्सवश्चैवं द्विप्रकारा जनाः आजिषु सङ्ग्रामेषु इन्द्रं च वरुणं च युवां हवन्ते आह्वयन्ते । किमर्थम् । वस्वः धनस्य सातये सम्भजनार्थम् । यत्र येष्वाजिषु दशभिः दशसङ्ख्याकैः राजभिः शत्रुभूतैर्नृपैः निबाधितं नितरां हिंसितं सुदासं तृत्सुभिः सह वर्तमानं प्र आवतं युवां प्रकर्षेणारक्षतम् । तेष्वाजिष्वित्यन्वयः ॥

**अन्वय**— आजिषु उभयासः वस्वः सातये युवाम् इन्द्रम् च वरुणं च हवन्ते, यत्र दशभिः राजभिः निबाधितं सुदासं तृत्सुभिः सह प्र आवतम् ।

**पदार्थ**— आजिषु = युद्धों में । उभयासः = दोनों (सेनाओं के) लोग । वस्वः = धन को । सातये = पाने के लिए । युवाम् = तुम दोनों । इन्द्रम् = इन्द्र को । वरुणं च = और वरुण को । हवन्ते = पुकारते हैं । यत्र = जहाँ, जिसमें । दशभिः = दश । राजाभिः = राजाओं के साथ । निबाधितम् = पूर्ण रूप से बाधित । सुदासम् = सुदास को । तृत्सुभिः सह = तृत्सुओं के साथ । प्र आवतम् = प्रकृष्ट रूप से तुम दोनों ने सुरक्षित किया ।

**अनुवाद**— (हे इन्द्र और वरुण), युद्धों मे दोनों (सेनाओं के) लोग धन को पाने के लिए तुम दोनों – इन्द्र और वरुण को पुकारते है जिस (युद्ध) में तुम दोनों ने दश राजाओं द्वारा पूर्णरूप से बाधित (पीड़ित किये जाते हुए) सुदास को तृत्सुओं के साथ प्रकृष्ट रूप से सुरक्षित किया ।

**व्याकरण**—

१. उभयासः – उभय का प्रथमा एकवचन, उभयाः का वैदिकरूप ।

२. वस्वः – वसु के षष्ठी एकवचन वसुनः का वैदिकरूप ।

३. निबाधितम् – नि + √बाध् (इट्) + क्त द्वितीया एकवचन ।

४. आवतम् – आ + √अव् + लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

५. सुदासम् – सुष्ठु ददातीति सुदासम्, सु + √दा + असुन्,द्वितीया एकवचन।

६.तृत्सु – त्रिषु लोकेषु स्तौति इति, त्रि + √स्तु + विच्।

**दश राजानः समिता अयज्यवः**

**सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।**

**सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुति-**

**र्देवा एषामभवन्देवहूतिषु ॥७॥**

**पदपाठ**— दश। राजानः। सम्ऽइताः। अयज्यवः। सुऽदासम्। इन्द्रावरुणा। न। युयुधुः॥ सत्या। नृणाम्। अद्मऽसदाम्। उपऽस्तुतिः। देवाः। एषाम्। अभवन्। देवऽहूतिषु॥

**सा०भा०**— हे इन्द्रावरुणौ दशसङ्ख्याकाः राजानः सुदासः शत्रवः समिताः सङ्गताः परस्परं समवेताः अयज्यवः अयजमाना एवम्भूतास्ते सुदासम् एतत्सञ्ज्ञमेकमपि राजानं न युयुधुः न सम्प्रजहुः। युवाभ्यामनुगृहीतं तं प्रहर्तुं न शेकुः। तदानीम् अद्मसदाम्। अद्मन्यन्ने हवींषि सीदन्तीत्यद्मसद ऋत्विजः। हविर्भिर्युक्तानां नृणां यज्ञस्य नेतृणामृत्विजाम् उपस्तुतिः स्तोत्रं सत्या सफलाभूता। अपि च एषां देवहूतिषु। देवा हूयन्त एष्विति देवहूतयो यज्ञाः। तेषु सर्वे च देवाः अभवन् युष्मदनुग्रहात् प्रादुर्भवन्ति॥

**अन्वय**— इन्द्रावरुणा, अयज्यवः दश राजानः समिताः सुदासं न युयुधुः। नृणाम् अद्मसदाम् उपस्तुतिः सत्या, एषां देवहूतिषु अभवन्।

**पदार्थ**— इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र और वरुण। अयज्यवः = यज्ञ न करने वाले। दश = दश। राजानः = राजा लोग। समिताः = मिले हुए, मिल कर। सुदासं = सुदास को। न युयुधुः = युद्ध नहीं कर सके, प्रहार नहीं कर सके। नृणाम् = मनुष्यों की। अद्मसदाम् = ऋत्विजों की। उपस्तुतिः = स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना। सत्या = सत्य। एषाम् = इनके। देवहूतिषु = यज्ञों में। देवाः = देवगण। अभवन् = (उपस्थित) हुए।

**अनुवाद**— हे इन्द्र और वरुण, यज्ञ न करने वाले दश राजा लोग मिल कर सुदास पर प्रहार नहीं कर सके। मनुष्य ऋत्विजों की स्तुति (प्रार्थना) सत्य हुई, (और) इनके यज्ञों में देवगण (उपस्थित) हुए।

**व्याकरण—**

१. समिताः – सम् + √इ + क्त, प्रथमा बहुवचन।

२. अयज्यवः – नञ् + √यज् + यु = अयज्यु, प्रथमा बहुवचन।

३. युयुधुः – √युध् + लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. अद्मसदाम् – अद्मनि अन्ने हवींषि सीदति प्राणाः येषाम् ते (बहुव्रीहि)। अद्म + √सद् + क्विप् = अद्मसद्, षष्ठी बहुवचन।

५. देवहूतिषु – देव + √ह्वा + क्तिन् = देवहूति; सप्तमी बहुवचन।

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः
सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो
धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥८॥

**पदपाठ—** दाशऽराज्ञे । परिऽयत्ताय । विश्वतः । सुऽदासे । इन्द्रावरुणौ । अशिक्षतम् ॥ श्वित्यञ्चः । यत्र । नमसा । कपर्दिनः । धिया । धीऽवन्तः । असपन्त । तृत्सवः ॥

**सा० भा०—** हे इन्द्रावरुणौ दाशराज्ञे दशशब्दस्य छान्दसो दीर्घः। विभक्तिव्यत्ययः। दशभी राजभिः शत्रुभूतैः विश्वतः सर्वतः परियत्ताय परिवेष्टिताय सुदासे राज्ञे अशिक्षतं बलं प्रायच्छतम्। यत्र यस्मिन् देशे श्वित्यञ्चः श्वितिं श्वैत्यं नैर्मल्यमञ्चन्तो गच्छन्तः कपर्दिनः जटिलाः धीवन्तः कर्मभिर्युक्ताः तृत्सवः वसिष्ठशिष्या एतत्संज्ञा ऋत्विजः नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन धिया स्तुत्या च असपन्त पर्यचरन्। तस्मिन् देशे युवां तस्मै राज्ञे बलं प्रायच्छतमित्यर्थः।

**अन्वय—** इन्द्रावरुणौ दाशराज्ञे परियत्ताय सुदासे अशिक्षतम् यत्र श्वितञ्चः कपर्दिनः धीवन्तः तृत्सवः नमसा धिया असपन्त।

**पदार्थ—** इन्द्रवरुणौ = हे इन्द्र और वरुण। दाशराज्ञे = दस राजाओं के साथ युद्ध में। परियत्ताय = चारों ओर से घिरे हुए। सुदासे = सुदास के लिए। अशिक्षतम् = तुम दोनों ने प्रदान किया। यत्र = जहाँ। श्वितञ्चः = शुभ्रवस्त्र वाले। कपर्दिनः = जटा वाले। धीवन्तः = प्रज्ञावान् बुद्धिमान्। तृत्सवः = तृत्सवों ने। नमसा = नमस्कार के साथ। धिया = स्तोत्र (स्तुति) से। असपन्त = अर्चना (पूजा) किया था।

**अनुवाद**— हे इन्द्र और वरुण, दस राजाओं के साथ युद्ध में चारों ओर से घिरे हुए सुदास के लिए तुम दोनों ने (बल) प्रदान किया जहाँ शुभ्र वस्त्रों वाले (और) जटाओं वाले प्रज्ञावान् तृत्सों ने नमस्कार के साथ स्तोत्र से (तुम लोगों की) अर्चना (पूजा) किया था।

**व्याकरण**—

१. दाशराज्ञे – दशानां राज्ञां समाहारः यस्मिन् तस्मिन्, अथवा दशभिः राज्ञैः स प्रवृतं युद्धं तस्मिन्।

२. परियत्ताय – परि + √यत् + क्त = परियत्त, चतुर्थी एकवचन।

३. अशिक्षितम् – √शिक्ष् (दानार्थे) लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

४. कपर्दिनः = कपर्द + इनि = कपर्दिन् प्रथमा बहुवचन।

५. धीवन्तः – √धी + मतुप् = धीवत्, प्रथमा बहुवचन।

६. असपन्त – √सप् (समवाये) + लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

७. श्वित्यञ्चः – श्विति + क्तिन् + √अञ्च् + क्विप्; प्रथमा बहुवचन।

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते
व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभि-
रस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥९॥

**पदपाठ**— वृत्राणि। अन्यः। सम्ऽइथेषु। जिघ्नते। व्रतानि। अन्यः। अभि। रक्षते। सदा॥ हवामहे। वाम्। वृषणा। सुवृक्तिऽभिः। अस्मे इति। इन्द्रावरुणा। शर्म। यच्छतम्॥

**सा० भा०**— हे इन्द्रावरुणौ युवयोः अन्यः एक इन्द्रः वृत्राणि शत्रून् समिथेषु सङ्ग्रामेषु जिघ्नते हन्ति। अन्यः एको वरुणः सदा सर्वदा व्रतानि कर्माणि अभि रक्षते अभितः सर्वतो रक्षति। हे वृषणा कामानां वर्षिताराविन्द्रावरुणौ तथाविधौ वां युवां सुवृक्तिभिः सुप्रवृत्ताभिः स्तुतिभिः हवामहे आह्वयामहे। आहूतौ च युवाम् अस्मे अस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छतं दत्तम्॥

**अन्वय**— अन्यः समिथेषु वृत्राणि जिघ्नते, अन्यः सदा व्रतानि अभिरक्षते। वृषणा इन्द्रावरुणा, सुवृक्तिभिः वां हवामहे अस्मे शर्म यच्छतम्।

**पदार्थ**— अन्यः = एक (इन्द्र)। समिथेषु = युद्धों में। वृत्राणि = शत्रुओं को। जिघ्नते = मारता है। अन्यः = दूसरा (वरुण)। सदा = सर्वदा। व्रतानि = नियमों को (की)। अभिरक्षते = चारों ओर से रक्षा करता है। वृषणा = हे कामनाओं को पूर्ण करने वाले। इन्द्रावरुणा = हे इन्द्र और वरुण। सुवृक्तिभिः = सुन्दर स्तुतियों से। वाम् = तुम दोनों को। हवामहे = हम बुला रहे हैं। अस्मे = हमारे लिए। शर्म = संरक्षण। यच्छताम् = तुम दोनों प्रदान करो।

**अनुवाद**— (तुम दोनों में से) एक (इन्द्र) युद्धों में शत्रुओं को मारता है (और) दूसरा (वरुण) सर्वदा नियमों की रक्षा करता है। हे कामनाओं को पूर्ण करने वाले इन्द्र और वरुण, हम लोग सुन्दर स्तुतियों से तुम दोनों को बुलाते है, तुम दोनों हमारे लिए संरक्षण प्रदान करो।

**व्याकरणं**—

१. समिथेषु – सम् + √मिथ् + अप् अथवा सम् + √इ + थक् = समिथ, सप्तमी बहुवचन।
२. जिघ्नते – √हन् + लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन। वैदिकरूप।
३. अस्मे – अस्मत् का षष्ठी बहुवचन का वैदिकरूप, लौकिंकसंस्कृत में अस्मभ्यम् रूप बनता है।
४. रक्षते – √रक्ष् + लट् प्रथमपुरुष एकवचन, वैदिक आत्मनेपद।
५. हवामहे – √हू + आत्मनेपद लट् उत्तमपुरुष बहुवचन।
६. यच्छतम् – √दा (यच्छ्) लोट् मध्यमपुरुष द्विवचन।
७. सुवृक्तिभिः – सु √वृज् + क्तिन्, तृतीया बहुवचन।

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा
द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो
देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ॥१०॥

**पदपाठ**— अस्मे इति। इन्द्रः। वरुणः। मित्रः। अर्यमा। द्युम्नम्। यच्छन्तु। महि। शर्म। सऽप्रथः॥ अवध्रम्। ज्योतिः। अदितेः। ऋतऽवृधः। देवस्य। श्लोकम्। सवितुः। मनामहे॥

**सा० भा०**— अस्मे अस्यभ्यमिन्द्रादयः द्युम्नं द्योतमानं धनं यच्छन्तु प्रयच्छन्तु। तथा महि महत् सप्रथः सर्वतः पृथु विस्तीर्णं शर्म गृहं च प्रयच्छन्तु। अपि च ऋतावृधः ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयित्र्याः अदितेः अदीनाया देवामातुः ज्योतिः तेजश्च नोऽस्माकम् अवध्रम् अहिंसकमस्तु। वयं च देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य सवितुः सर्वस्व प्रेरकस्य श्लोकं स्तोत्रं मनामहे जानीमः। कुर्म इत्यर्थः। यद्वा। देवेन सवित्रास्मभ्यं देयं श्लोकं यशो मनामहे याचामहे ॥

**अन्वय**— इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा अस्मे द्युम्नं महि स प्रथः यच्छन्तु। ऋतावृधः अदितेः अवध्रं ज्योतिः सवितुः देवस्य श्लोकं मनामहे।

**पदार्थ**— इन्द्रः = इन्द्र। वरुणः = वरुण। मित्रः = मित्र। अर्यमा = अर्यमन्। अस्मे = हमारे लिए। द्युम्नम् = धन को। महि = महान्। सप्रथः = विस्तृत। शर्म = सुरक्षा को। यच्छन्तु = प्रदान करें। अदितेः = अदिति की। ऋतावृधः = ऋत को बढ़ाने वाली। अवध्रम् = अहिंसित, कभी विनष्ट न होने वाली। ज्योतिः = प्रकाश को। सवितुः देवस्य = सविता देवता की। श्लोकम् = स्तुति को या कीर्ति को। मनामहे = हम माँगते हैं (याचना करते हैं)।

**अनुवाद**— इन्द्र, वरुण, मित्र (और) अर्यमन् हमारे लिए धन को (तथा) महान् विस्तृत सुरक्षा को प्रदान करें। अदिति की ऋत को बढ़ाने वाली, कभी विनष्ट न होने वाली ज्योति को और सविता देवता की कीर्ति को हम लोग माँगते (याचना करते) हैं।

**व्याकरण**—

१. सप्रथः – √प्रथ् (विस्तारे) + अच् = प्रथ, प्रथेन सहितं सप्रथः।

२. अवध्रम् – √वध् + रा + अच् = वध्र, न वध्रम् अवध्रम्।

३. ऋतावृधः – ऋत + √वृध् + क्विप् = ऋतावृध्, षष्ठी एकवचन।

४. मनामहे – √मन् + आत्मनेपद लट् उत्तमपुरुष बहुवचन।

# १५. मण्डूकसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–७ सूक्त संख्या–१०३

ऋषि–वशिष्ठ देवता–मण्डूक छन्द–१–अनुष्टुप्, शेष त्रिष्टुप्

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१॥

**पदपाठ—** संवत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रतऽचारिणः ॥ वाचम् । पर्जन्यऽजिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥

**सा० भा०—** अत्र निरुक्तं— 'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव' (निरु० ९.६) इति । 'मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा तेषामेषा भवति' (निरु० ९.५) इति । व्रतचारिणः व्रतं संवत्सरसत्रात्मकं कर्माचरन्तः ब्राह्मणाः । लुप्तोपममेतत् । एवम्भूता ब्राह्मणा इव संवत्सरं शरत्प्रभृति आ वर्षर्तोरेकं संवत्सरं शशयानाः शिष्याना वर्षणार्थं तपश्चरन्त इव बिल एव सन्त एते मण्डुकाः पर्जन्यजिन्वितां पर्जन्येन प्रीतां यथा वाचा पर्जन्यः प्रीतो भवति तादृशीं वाचं प्र अवादिषुः प्रवदन्ति ॥

**अन्वय—** व्रतचारिणः ब्राह्मणाः संवत्सरं शशयानाः मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं प्र अवादिषुः ।

**पदार्थ—** व्रतचारिणः = व्रत (नियम) का आचरण करने वाले । ब्राह्मणाः = ब्राह्मणगण (के समान) । संवत्सरम् = वर्ष भर, एक वर्ष तक । शशयानाः = तपस्या करते हुए, (बिलों में) सोने वाले । मण्डूकाः = मेढ़क समूह । पर्जन्यजिन्विताम् = पर्जन्य को प्रिय लगने वाली, पर्जन्य को प्रसन्न करने वाली । वाचम् = वाणी को, वचन को । प्र अवादिषुः = प्रकृष्ट रूप से बोल रहे हैं ।

**अनुवाद—** वर्ष भर (एक वर्ष तक) (बिलों में) सोने वाले मेढकगण उसी प्रकार पर्जन्य को प्रिय लगने वाली (पर्जन्य को प्रसन्न करने वाली) वाणी बोल रहें हैं जैसे व्रत (नियम) का आचरण करने वाले ब्राह्मणगण बोलते हैं ।

**व्याकरण—**

१. व्रतचारिणः – व्रतं चरन्तीति ते व्रतचारिणः, व्रत + √चर् + णिनि = व्रतचारिन्, प्रथमा बहुवचन।

२. शशयानाः – √शी + कानच् = शशयान, प्रथमा बहुवचन।

३. अवादिषुः – √वद् + लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. जिन्विताम् – √जिन्वि (स्तुतौ) + क्त + टाप् = जिन्विता।

**विशेष—**

(१) वशिष्ठ ऋषि वर्षा के लिए मेघों को उद्बोधित करते हैं, तथा मेढकगण उस स्तुति का अनुमोदन करते हैं।

(२) मैक्डानल ने पर्जन्यजिन्विताम् का अर्थ मेघों से उद्बोधित होने वाली किया है।

**दि॒व्या आपो॑ अ॒भि यदे॑न॒माय॒-**
**न्दृतिं॒ न शुष्कं॑ स॒रसी॒ शया॑नम्।**
**गवा॒मह॒ न मा॒युर्व॒त्सिनी॑नां**
**म॒ण्डूका॑नां व॒ग्नुरत्रा॒ समे॑ति ॥२॥**

**पदपाठ—** दि॒व्याः। आपः॑। अ॒भि। यत्। ए॒न॒म्। आय॑न्। दृति॑म्। न। शुष्क॑म्। स॒र॒सी इति॑। शया॑नम्॥ गवा॑म्। अह॑। न। मा॒युः। व॒त्सिनी॑नाम्। म॒ण्डूका॑नाम्। व॒ग्नुः। अत्र॑। सम्। ए॒ति॒॥

**सा० भा०—** दिव्याः दिवि भवाः आपः दृतिं न दृतिमिव शुष्कं नीरसं सरसी। महत्सरः सरसी। गौरादिलक्षणो ङीष्। सरस्याम्। 'सुपां सुलुक्०' इति सप्तम्या लुक्। 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति प्रगृह्यसञ्ज्ञा। महति सरसि निर्जले धर्मकाले शयानं निवसन्तम् एनं मण्डूकगणं यत् यदा आयन् अभिगच्छन्ति तदा अत्र अस्मिन् वर्षणे पर्जन्ये वा सति वत्सिनीनां वत्सयुक्तानां गवां न मायुः गवां शब्द इव मण्डूकानां वग्नुः शब्दः समेति सङ्गच्छते। यथा वत्सैः सङ्गतासु गोषु महान् घोषो जायते तद्वद्वृष्टे पर्जन्ये महान् कलकल-शब्दो जायत इत्यर्थः। अह इति पूरकः॥

**अन्वय—** दिव्याः आपः हतिं न शुष्कं सरसी शयानम् एनं यत् आ अभि आयन्, अह अत्र वत्सिनीनां गवां मायुः न मण्डूकाः वग्नुः सम् एति।

**पदार्थ—** दिव्याः = आकाश में उत्पन्न होने वाले। आपः = जल। हतिं न = मशक के समान। शुष्कं = सूखे, जल विहीन। सरसी = जलाशय में। शयानम् = सोये हुए, शयन करने वाले। एनम् = इनको। यत् = जब। आ अभि आयन् = चारों ओर से प्राप्त होते हैं। अह = पादपूरक निपात। अत्र = यहाँ। वत्सिनीनाम् = बछड़ों वाली। गवाम् = गायों की। मायुः न = ध्वनि (रभाँने) के समान। मण्डूकाः = मेढकगण। वग्नुः = (टर्टर की) ध्वनि को। सम् ऐति = एक साथ आते (उठाते, निकालते) हैं।

**अनुवाद—** दिव्य (आकाश में उत्पन्न होने वाले) जल मशक के समान सूखे (जलविहीन) जलाशय (तालाब) में सोये हुए इन (मण्डूकों) को जब चारों ओर से (वर्षा के द्वारा) प्राप्त होते हैं तब बछड़ों वाली गायों की ध्वनि (रभाँने) के समान (ये) मेढकगण (टर्टर की) ध्वनि एक साथ उठाते (निकालते) हैं।

**व्याकरण—**

१. शयानम् – √शी + शानच् = शयान, द्वितीया एकवचन।

२. आयन् – आ + √इ लङ् प्रथमपुरुष, बहुवचन।

३. वत्सिनीनाम् – वत्स + इनि + ङीप्, षष्ठी बहुवचन।

४. समेति – सम् + √इ, लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. वग्नुः – √वच् (परिभाषणे) + औणादिक नु प्रत्यय।

**यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षी-**
**त्तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।**
**अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो**
**अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥३॥**

**पदपाठ—** यत्। ईम्। एनान्। उशतः। अभि। अवर्षीत्। तृष्याऽवतः। प्रावृषि। आऽगतायाम् ॥ अख्खलीकृत्य। पितरम्। न। पुत्रः। अन्यः। अन्यम्। उप। वदन्तम्। एति ॥

**सा० भा०—** उशतः कामयमानान् तृष्यावतः तृष्णावतः एनान् मण्डूकान् प्रावृषि वर्षर्तौ आगतायाम् आगते सति यत् यदा अभ्यवर्षीत् पर्जन्यो जलैरभिषिञ्चति। ईम् इति पूरणः। तदानीम् अख्खलीकृत्य। अख्खल इति शब्दानुकरणम्। अख्खलाशब्दं

कृत्वा पुत्रः पितरं न पितरमिव अन्यः मण्डूकः वदन्तं शब्दयन्तम् अन्यं मण्डूकम् उप एति प्राप्नोति।

**अन्वय**— प्रावृषि आगतायाम् उशतः तृष्यावतः एनान् यत् ईम् अभि अवर्षीत्, अन्यः अखखलीकृत्य वदन्तम् अन्यम् पुत्रः पितरं न उप एति।

**पदार्थ**— प्रविषि = वर्षाकाल के। आगतायाम् = आने पर। उशतः = इच्छा करने वाले। तृष्यावतः = प्यासे। एनान् = इनको। यत् = जब। ईम् = निश्चित रूप से। अभि अवर्षीत् = चारों ओर से वर्षा किया। अन्यः = एक। अखखलीकृत्य = अनुरणात्मक अस्पष्ट (टर्टर की) ध्वनि करके। वदन्तं = बोलते हुए। अन्यम् = दूसरे के समीप। पुत्रः = पुत्र। पितरं = पिता के समीप। न = समान। उप एति = जाता है।

**अनुवाद**— वर्षाकाल के आने पर पर्जन्य ने जल की इच्छा करने वाले प्यासे इन (मेढकों) पर जब निश्चित रूप से चारो ओर से वर्षा किया (तब) एक (मेढ़क) अनुकरणात्मक अस्पष्ट (टर्टर की) ध्वनि करके बोलते हुए दूसरे (मेढ़क) के समीप उसी प्रकार जाता है जैसे पुत्र पिता के समीप जाता है।

**व्याकरण**—

१. उशतः – √वश् + शतृ, सम्प्रसारण होकर उशत, द्वितीया बहुवचन।

२. तृष्यावतः – √तृष् + क्यप् + टाप् = तृष्या + मतुप् तृष्यावत् द्वितीया बहुवचन।

३. अभ्यवर्षीत् = अभि + √वृष् लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

**अ॒न्यो अ॒न्यमनु॑ गृभ्णात्येनो-**
**र॒पां प्र॑स॒र्गे यदम॑न्दिषाताम्।**
**म॒ण्डूको॒ यद॒भिवृ॑ष्टः॒ कनि॑ष्क॒-**
**न्पृश्नि॑ः संपृ॒ङ्क्ते हरि॑तेन॒ वाच॑म् ॥४॥**

**पदपाठ**— अ॒न्यः। अ॒न्यम्। अनु॑। गृ॒भ्णा॒ति॒। ए॒नोः॑। अ॒पाम्। प्र॒ऽस॒र्गे। यत्। अम॑न्दिषाताम्॥ म॒ण्डूकः॑। यत्। अ॒भिऽवृ॑ष्टः। कनि॑स्कन्। पृश्नि॑ः। स॒म्ऽपृ॒ङ्क्ते। हरि॑तेन। वाच॑म्॥

**सा० भा०**— एनोः एनयोर्द्वयोर्मण्डूकयोः अन्यः मण्डूकः अन्यं मण्डूकमनुगम्य गृभ्णाति गृह्णाति। अपाम् उदकानां प्रसर्गे प्रसर्जने वर्षणे सति यत् यदा अमन्दिषातां

हृष्टावभूताम्। यत् यदा च अभिवृष्टः पर्जन्येनाभिषिक्तः कनिष्कन्। स्कन्दतेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। भृशं स्कन्दन्नुत्प्लवं कुर्वन् पृश्निः पृश्निवर्णः मण्डूकः हरितेन हरितवर्णेनान्येन मण्डूकेन वाचं सम्पृङ्क्ते संयोजयति। उभावप्येकविधं शब्दं कुर्वाते। तदानीमन्योऽन्यमनु गृभ्णातीत्यन्वयः॥

**अन्वय**— अपां प्रसर्गे यत् अमन्दिषाताम् एनोः अन्यः अन्यं प्रति गृभ्णाति। यत् अभिवृष्टः कनिष्कन् पृश्निः मण्डूकः हरितेन वाचः सम्पृङ्क्ते।

**पदार्थ**— अपाम् = जलों के। प्रसर्गे = बरसने पर। यत् = जब। अमन्दिषाम् = दोनों प्रसन्न होते है। एनोः = इन दोनो में से। अन्यः = एक। अन्यम् प्रति = दूसरे के प्रति, दूसरे के लिए। गृभ्णाति = स्वागत करता है, पकड़ लेता है। यत् = जब। अभिवृष्टः = जल से स्नान करता हुआ, वर्षा से भींगता हुआ। कनिष्कन् = बार-बार उछलता हुआ (कूदता हुआ)। पृश्निः = चितकबरा। मण्डूकः = मेढ़क। हरितेन = हरे रङ्ग वाले (मेढ़क) के साथ। वाचः = ध्वनि (टर्टर) को। सम्पृक्ते = मिलाता है।

**अनुवाद**— जलों के बरसने पर जब दोनों (मेढक) प्रसन्न होते हैं (तब) इन दोनों मे से एक (मेढ़क) दूसरे (मेढ़क) के लिए स्वागत करता है (या दूसरे को पकड़ लेता है)। वर्षा से भींगता हुआ, बार-बार उछलता (कूदता) हुआ चितकबरा मेढ़क हरे रङ्ग के (मेढ़क) के साथ (टर्टर) की ध्वनि मिलाता है (अर्थात् दोनों मिलकर एक साथ टर्टराने लगते हैं)।

**व्याकरण**—

१. अमन्दिषाताम् – √मद् लुङ्, प्रथमपुरुष द्विवचन।

२. कनिष्कन् – √स्कन्द + शतृ = वैदिक रूप।

३. अभिवृष्टः – अभि + √वृष् + क्त प्रथमा एकवचन।

४. सम्पृक्ते – सम् + √पृच् लट् आत्मनेपद, प्रथमपुरुष एकवचन।

**यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं**
**शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।**
**सर्वं तदेषां समृधेव पर्व**
**यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥५॥**

**पदपाठ**— यत्। एषाम्। अन्यः। अन्यस्य। वाचम्। शाक्तस्यऽइव।

वदति । शिक्षमाणः ॥ सर्वम् । तत् । एषाम् । समृधाऽइव । पर्व । यत् । सुऽवाचः । वदथन । अधि । अप्ऽसु ॥

**सा० भा०**— हे मण्डूकाः यत् यदा एषा युष्माकं मध्ये अन्यः मण्डूक अन्यस्य मण्डूकस्य वाचं वदति अनुवदति अनुकरोति शिक्षमाणः शिक्ष्यमाणः शिष्यः शक्तस्येव शक्तिमतः शिक्षकस्य वाचं यथानुवदति तद्वत् । यत् यदा च सुवाचः शोभनवाचो यूयं सर्वे अप्सु वृष्टेषूदकेषु अधि उपरि प्लवन्तः वदथन वदत शब्दं कुरुत । तत् तदा एषां युष्माकं सर्वं पर्वं परुष्मच्छरीरं समृधेव समृद्धमेवाविकलावयवमेव भवति । इवशब्दोऽवधारणे । घर्मकाले मृद्भावमापन्ना मण्डूकाः पुनर्वर्षणे सत्यविकलाङ्गाः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥

**अन्वय**— यत् एषाम् अन्यः अन्यस्य वाचं शिक्षमाणः शाक्तस्य इव वदति यत् सुवाचः अप्सु अधि वदथन तत् एषां सर्वं पर्वं समृधा इव ।

**पदार्थ**— यत् = जब । एषाम् = इनमें से । अन्यः = एक । अन्यस्य = दूसरे की । वाचम् = वाणी को, ध्वनि को, टर्टर को । शिक्षमाणः = सीखता हुआ, सीखने वाला । शाक्तस्य = शिक्षक के (शब्द के) समान । वदति = बोलता है । यत् = जब । सुवाचः = अच्छी वाणी बोलने वाले । अप्सु अधि = (बरसे हुए) जलों पर । वदथन = बोलते हो । तत् = तब । एषाम् = इनका । सर्वम् = सम्पूर्ण । पर्वम् = जोड़ । समृधा इव = समृद्ध सा (हो जाता है) ।

**अनुवाद**— (हे मेढ़को), जब इनमें (तुमसे) से (कोई) एक दूसरे की वाणी को (ध्वनि को) सीखता हुआ उसी प्रकार बोलता है, जिस प्रकार शिक्षक का अनुसरण करने वाले शिष्य बोलते हैं । तब अच्छी वाणी को बोलने वाले तुम लोग (बरसे हुए) जलों पर बोलते हो तब इनका (तुम्हारा) सम्पूर्ण जोड़ (वाला शरीर) समृद्ध सा (हो जाता है) ।

**व्याकरण**—

१. शिक्षमाणः – √शिक्ष् + शप् + सुक् + शानच् प्रथमा एकवचन ।

२. शाक्तस्य – √शक् + क्त + अण् = शाक्त, षष्ठी एकवचन ।

३. वदथन – √वद् + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन ।

४. समृधा – सम् + √ऋध् + अ + टाप् ।

गोमायुरेको अजमायुरेकः
पृश्निरेको हरित एक एषाम् ।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः
पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः ॥६॥

**पदपाठ—** गोऽमायुः । एकः । अजऽमायुः । एकः । पृश्निः । एकः । हरितः । एकः । एषाम् ॥ समानम् । नाम । बिभ्रतः । विऽरूपाः । पुरुऽत्रा । वाचम् । पिपिशुः । वदन्तः ॥

**सा० भा०—** एषां मण्डूकानां मध्ये एकः मण्डूकः गोमायुः गोमायुरिव मायुः शब्दो यस्य तादृशो भवति। एकः अन्यो मण्डूकः अजमायुः अजस्य मायुरिव मायुर्यस्य तादृशो भवति। एकः पृश्निः पृश्निवर्णः। एकः अपरः हरितः हरितवर्णः। एवं विरूपाः नानारूपा अपि समानम् एकं मण्डूका इति नाम बिभ्रतः धारयन्तः पुरुत्रा बहुषु देशेषु वाचं वदन्तः शब्दं कुर्वन्तः पिपिशुः अवयवीभवन्ति प्रादुर्भवन्ति। 'पिश अवयवे'। पुरुशब्दात् 'देवमनुष्य:०' इत्यादिना त्राप्रत्ययः ॥

**अन्वय—** एषाम् एकः गोमायुः एकः अजमायुः एकः पृश्निः एकः हरितः। विरूपाः समानं नाम बिभ्रतः पुरुत्रा वाचं वदन्तः पिपिशुः ।

**पदार्थ—** एषाम् = इन (मेढ़कों) में। एकः = एक, कुछ। गोमायुः = गाय के समान बोलने वाले। एकः = एक; कुछ। अजमायुः = बकरे के समान बोलने वाले। एकः = कुछ; एक। पृश्निः = चितकरे। एकः = एक, कुछ। हरितः = हरे (रङ्ग वाले)। विरूपाः = विविध (अनेक) रूप वाले। समानम् = समान। नाम = नाम को। बिभ्रतः = धारण करते हुए। पुरुत्रा = अनेक स्थानों पर। वाचं = वाणी को, ध्वनि को। वदन्तः = बोलते हुए, करते हुए। पिपिशुः = सजाते हैं, उत्पन्न हो जाते हैं।

**अनुवाद—** इन (मेढ़कों) में कुछ गाय के समान बोलने वाले, कुछ बकरे के समान बोलने वाले, कुछ चितकबरे और कुछ हरे (रङ्ग वाले) (होते हैं)। (इस प्रकार) विविध रूप वाले (मेढ़क) समान नाम को धारण करते हुए अनेक स्थानो पर ध्वनि को करते हुए उत्पन्न हो जाते हैं।

**व्याकरण—**

१. बिभ्रतः – √भृ + शतृ; प्रथमा बहुवचन।
२. वदन्तः – √वद् + शतृ, प्रथमा बहुवचन।

३. पुरुत्रा – पुरु शब्द से 'देवमनुष्य' सूत्र से त्रा प्रत्यय।

४. पिपिशुः – √पिश् (अवयवे) लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष—**

१. मैक्डानल के अनुसार हरितः का अर्थ पीला और पिपिशुः का अर्थ सजाना हैं।

**ब्राह्मणासौ अतिरात्रे न सोमे**
**सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।**
**संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ**
**यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥७॥**

**पदपाठ—** ब्राह्मणासः। अतिऽरात्रे। न। सोमे। सरः। न। पूर्णम्। अभितः। वदन्तः॥ संवत्सरस्य। तत्। अहरिति। परि। स्थ। यत्। मण्डूकाः। प्रावृषीणम्। बभूव॥

**सा० भा०—** रात्रिमतीत्य वर्तत इत्यतिरात्रः। अतिरात्रे न सोमे। यथातिरात्राख्ये सोमयागे ब्राह्मणासः ब्राह्मणा रात्रौ स्तुतशस्त्राणि पर्यायेण शंसन्ति हे मण्डूकाः। द्वितीयो नशब्दः सम्प्रत्यर्थे। न सम्प्रति पूर्णं सरः अभितः सर्वतः वदन्तः रात्रौ शब्दं कुर्वाणा यूयं तदहः तद्दिनं परि ष्ठ परितः सर्वतो भवथ। यत् अहः प्रावृषीणं प्रावृषि भवं बभूवः तस्मिन्नहनि सर्वतो वर्तमाना भवथेत्यर्थः॥

**अन्वय—** मण्डूकाः संवत्सरस्य तत् अहः अतिरात्रे सोमे ब्राह्मणासः न पूर्णं सरः अभितः वदन्तः परि स्थः यत् प्राविषीणं बभूव।

**पदार्थ—** मण्डूकाः = हे मेढकों। संवत्सरस्य = वर्ष के। तत् = उस। अहः दिन। अतिरात्रे सोमे = अतिरात्र (नामक) सोम याग में। ब्राह्मणासः न = ब्राह्मणों के समान। पूर्णम् = भरे हुए। सरः = सरोवर (तालाब) के। अभितः = चारों ओर। वदन्तः = बोलते हुए। परि स्थः = तुम लोग विद्यमान थे। यत् = जब। प्राविषीणम् = वर्षा। बभूव = हुई थी।

**अनुवाद—** हे मेढ़को, वर्ष के उस दिन तुम लोग अतिरात्र सोमयाग में ब्राह्मणों के समान, (जल से) भरे हुए तालाब के चारो ओर बोलते हुए विद्यमान थे, जब वर्षा हुई थी।

**व्याकरण—**

१. ब्राह्मणासः – ब्राह्मण शब्द के प्रथमा बहुवचन का वैदिकरूप, लौकिकसंस्कृत में ब्राह्मणाः रूप बनता हैं।

२. प्राविषीणम् – प्राविषि भवं प्राविषीणम्, प्रावृष् + ख (ईन्)।

**विशेष—**

१. मैक्डानल ने परिष्ठ का अर्थ 'प्रसन्नता मनाते हो, किया है।

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत
ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना
आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥८॥

**पदपाठ—** ब्राह्मणासः। सोमिनः। वाचम्। अक्रत। ब्रह्म। कृण्वन्तः। परिवत्सरीणम्॥ अध्वर्यवः। घर्मिणः। सिस्विदानाः। आविः। भवन्ति। गुह्याः। न। के। चित्॥

**सा०भा०—** सोमिनः सोमयुक्ताः परिवत्सरीणं सांवत्सरिकं गवामयनिकं ब्रह्म स्तुतशास्त्रात्मकं कृण्वन्तः कुर्वन्तः ब्राह्मणासः। लुप्तोपममेतत्। ब्राह्मण इव वाचं शब्दम् अक्रत अकृषतेमे मण्डूकाः। अपि च घर्मिणः धर्मेण प्रवर्ग्येण चरन्तः अध्वर्यवः अध्वरस्य नेतार ऋत्विज इव सिष्विदानाः स्विद्यद्गात्राः गुह्याः घर्मकाले बिलेऽभिगूढाः केचित् केचन मण्डूकाः न सम्प्रति वृष्टौ सत्याम् आविर्भवन्ति जायन्ते॥

**अन्वय—** परिवत्सरीणं ब्रह्म कृण्वन्तः सोमिनः ब्राह्मणासः (इव) वाचम् अक्रत। घर्मिणः सिष्विदानाः अध्वर्यवः (इव) आविः भवन्ति, केचित् गुह्याः न (भवन्ति)।

**पदार्थ—** परिवत्सरीणम् = वर्षभर। ब्रह्म = स्तुति को, प्रार्थना को। कृण्वन्तः = करते हुए। सोमिनः = सोम को धारण करने वाले, सोम का अभिसवन करने वाले। ब्राह्माणासः = ब्राह्मणगण। वाचम् = वाणी को, ध्वनि को। अक्रंत = करते हैं। घर्मिणः = प्रवर्ग्ययाग में लगे हुए। सिष्विदानाः = पसीना चूते हुए। अध्वर्यवः = अध्वर्युगण। आविः = प्रकट। भवन्ति = होते हैं। केचित् = कोई। गुह्याः = छिंपे हुए। न = नहीं (रहता)।

**अनुवाद—** (गवागमन में) वर्षभर स्तुति (प्रार्थना) को करते हुए सोम को धारण

करने वाले ब्राह्मणगण (के समान) (मेढ़कगण) ध्वनि करते हैं। प्रवर्ग्य याग में लगे हुए (और) पसीना चूते हुए अध्वर्यु (के समान) (मेढ़क वर्षाकाल में) प्रकट हो जाते हैं, कोई छिपे हुए नहीं रहता।

**व्याकरण—**

१. परिवत्सरीणम् – परिवत्सरे भवम् इति, परिवत्सर + ख (ईन्)।

२. कृतवन्तः = √कृ + शतृ, कुर्वन्तः का वैदिक रूप।

३. सिष्विदानाः – √स्विद् + कानच् = सिष्विदान, प्रथमा बहुवचन।

**देवहिंतिं जुगुपुर्द्वादशस्यं**
**ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते।**
**संवत्सरे प्रावृष्यागतायां**
**तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥९॥**

**पदपाठ—** देवऽहिंतिम्। जुगुपुः। द्वादशस्यं। ऋतुम्। नरः। न। प्र। मिनन्ति। एते॥ संवत्सरे। प्रावृषि। आऽगतायाम्। तप्ताः। घर्माः। अश्नुवते। विऽसर्गम्॥

**सा० भा०—** नरः नेतारः एते मण्डूकाः देवहितिं देवैः कृतं विधानम् अस्यर्तोरयं घर्म इत्येवंरूपं जुगुपुः गोपायन्ति। काले काले रक्षन्ति। अत एव द्वादशस्य द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य ऋतुं तं तं वसन्तादिकं न प्र भिनन्ति न हिंसन्ति। पर्जन्यस्तुतेरनुमोदनेन तत्तत्काले वृष्टिहेतवो भवन्तीत्यर्थः। सम्वत्सरे सम्पूर्णे प्रावृषि वर्षर्तौ आगतायाम् आगते सति घर्माः पूर्वघर्मकाले वर्तमानाः तप्ताः तापेन पीडिताः सम्प्रति विसर्गं विसर्जनं बिलान्मोचनम् अश्नुवते प्राप्नुवन्ति॥

**अन्वय—** नरः एते देवहितिं जुगुपुः, द्वादशस्य ऋतुम् न प्र मिनन्ति। संवत्सरे प्रावृषि आगताप्यां घर्माः तप्ताः विसर्गम् अश्नुवते।

**पदार्थ—** नरः = नेतृत्व करने वाले, नेता। एते = ये (मेढ़क)। देवहितिम् = देवनिर्मित विधान को। जुगुपुः = रक्षा करते हैं, पालन करते हैं। द्वादशस्य = बारह महीनों वाले (संवत्सर) की। ऋतुम् = ऋतु को। न प्र मिनन्ति = उलङ्घन (अतिक्रमण) नहीं करते। संवत्सरे = वर्ष में। प्रावृषि = वर्षाकाल के। आगतायाम् = आने

पर। घर्माः तप्ताः = घाम से पीड़ित, घाम से तपे हुए। विसर्गम् = मुक्ति को। अश्नुवते = पाते हैं, प्राप्त करते हैं।

**अनुवाद**— नेतृत्व करने वाले ये (मेढ़क) देवनिर्मित विधान की रक्षा (पालन) करते है (और) बारह महीनों वाले (संवत्सर) को ऋतु का अतिक्रमण (उल्लङ्घन) नहीं करते। वर्ष में वर्षाकाल के आने पर घाम से तपे हुए (ये) मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

**व्याकरण**—

१. देवहितिम् – देव + √धा + क्तिन्।

२. जुगुपुः – √गुप् + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. अश्नुवते – √अश् + आत्मनेपद·लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**गोमा॑युरदादुजमा॑युरदा-**
**त्पृश्नि॑रदाद्धरि॑तो नो वसू॑नि।**
**गवां॑ मण्डूका दद॑तः शतानि॑**
**सहस्रसावे प्र ति॑रन्त आयुः॑ ॥१०॥**

**पदपाठ**— गोऽमा॑युः। अदात्। अजऽमा॑युः। अदात्। पृश्नि॑ः। अदात्। हरि॑तः। नः। वसू॑नि ॥ गवा॑म्। मण्डूका॑ः। दद॑तः। शतानि॑। सहस्रऽसावे। प्र। तिरन्ते। आयु॑ः ॥

**सा० भा०**— गोमायुः गोरिव मायुः शब्दो यस्य तादृशो मण्डूकः वसूनि धनानि नः अस्मभ्यम् अदात् ददातु। अजमायुः च अदात् ददातु। हरितः हरितवर्णश्च अदात् ददातु। पृश्निः पृश्निवर्णश्च अदात् ददातु। तथा सहस्रसावे सहस्रसङ्ख्याका ओषधयः सूयन्त उत्पद्यन्त इति वर्षर्तुः सहस्रसावः। तस्मिन् सति सर्वे मण्डूकाः गवां शतानि अपरिमिता गाः ददतः अस्मभ्यं प्रयच्छन्तः आयुः जीवनं प्र तिरन्ते प्रवर्धयन्तु॥

**अन्वय**— गोमायुः नः वसूनि अदात्, अजमायुः अदात् पृश्निः अदात्, हरितः अदात्। सहस्रसाये मण्डूकाः शतानिः गवाम् ददतः आयुः प्रतिरन्ते।

**पदार्थ**— गोमायुः = गाय के समान ध्वनि करने वाला। नः = हम लोगों को। वसूनि = धनों को। अदात् = देवे, प्रदान करे। अजमायुः = बकरे के समान ध्वनि करने वाला। अदात् = देवे। पृश्निः = चितकबरा। अदात् = देवे। हरितः = हरे रङ्ग वाला। अदात् = देवे। सहस्रसाये = हजारो ओषधियों को उत्पन्न करने वाली

(वर्षात्रृतु) में। मण्डूकाः = मेढकगण। शतानि = सौ। गवाम् = गायों को। ददतः = देते हुए। आयुः = आयु को। प्रतिरन्ते = प्रकृष्ट रूप से बढ़ाये।

**अनुवाद**— गाय के समान ध्वनि करने वाला (मेढ़क) हम लोगों को धन प्रदान करे, बकरे के समान ध्वनि करने वाला (मेढ़क हमें धन) प्रदान करे। चितकबरा (मेढ़क) हमे धन प्रदान करे, हरे रङ्ग वाला (मेढ़क हमें धन) प्रदान करे। सैकड़ों औषधियों को उत्पन्न करने वाली (वर्षा ऋतु) में मेढकगण (हमें) सौ गायों को देते हुए (हमारी) आयु को प्रकृष्ट रूप से बढ़ायें।

**व्याकरण**—

१. अदात् – √दा + लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. सहस्रसावे – सहस्रं सुनोतीति तस्मिन्; सहस्र + √सू + घञ् = सहस्रसाव, सप्तमी एकवचन।

३. तिरन्ते – √तॄ + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

# १६. सोमसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–८ सूक्त संख्या–४८

ऋषि–कण्वपुत्र प्रगाथ देवता–सोम छन्द–५ जगती
शेष–त्रिष्टुप्

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधाः
स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो
मधु ब्रुवन्तो अभि सञ्चरन्ति ॥१॥

पदपाठ— स्वादोः । अभक्षि । वयसः । सुऽमेधाः । सुऽआध्यः । वरिवोवित्ऽतरस्य ॥ विश्वे । यम् । देवाः । उत । मर्त्यासः । मधु । ब्रुवन्तः । अभि । सम्ऽचरन्ति ॥

सा०भा०— अहं प्रगाथः सुमेधाः शोभनप्रज्ञः स्वाध्यः स्वाध्ययनः सुकर्मा वरिवोवित्तरस्य अतिशयेन पूजां लभमानस्य स्वादोः सुष्ठ्वदनीयस्य स्वादुभूतस्य वयसः अन्नस्य। एताः कर्मणि षष्ठ्यः। उक्तलक्षणं वयोऽन्नं सोमाख्यम् अभक्षि भक्षयेयः। यं यदन्नं विश्वे देवाः सर्वेऽपीन्द्रादयः उत अपि च मत्यसिः मर्त्या मनुष्याः मधु ब्रुवन्तः मनोहरमेतदिति शब्दायन्तः अभि सञ्चरन्ति अभिसङ्गच्छन्ते प्राप्नुवन्ति तदन्नमभक्षीति ॥

अन्वय— सुमेधाः स्वाध्यः वरिवोवित्तरस्य स्वादोः वयसः अभक्षि, यं विश्वे देवाः उत मर्त्यासः मधु ब्रुवन्तः अभि सञ्चरन्ति।

पदार्थ— सुमेधाः = उत्तम बुद्धिवाला, सुन्दर मेधा वाला। स्वाध्यः = सुन्दर चिन्तन वाला, अथवा सुन्दर कर्म वाला, सुन्दर अध्ययन वाला। वरिवोवित्तरस्य = अत्यधिक पूजनीय का, अतिशय श्रेष्ठ का। स्वादोः = स्वादिष्ट का। वयसः = अन्न का। अभक्षि = मैने भक्षण किया है, मैने ग्रहण किया है, मैने खाया है। यम् = जिसको। विश्वे देवाः = सम्पूर्ण देवताओं ने। उत् = और। मर्त्यासः = मनुष्यों ने। मध = मीठा। ब्रुवन्तः = कहते हुए। सञ्चरन्ति = एक साथ। विचरण करते हैं, घूमते हैं, एक साथ बढ़ते हैं।

**अनुवाद**— उत्तम बुद्धि (सुन्दर मेधा) वाला (और) सुन्दर चिन्तन (अध्ययन) वाला मैंने अत्यधिक पूजनीय (और) स्वादिष्ट अन्न (सोमरस) का भक्षण (ग्रहण) किया है जिसको सम्पूर्ण देवता और मनुष्य मधु (मीठा) कहते हुए कि एक साथ विचरण करते हैं।

**व्याकरण**—

१. वरिवोवित्तरस्य – वरिवस् + √विद्ऌ + क्विप् + तरप् = वरिवोवित्तर, षष्ठी एकवचन।

२. अभक्षि – √भक्ष् + लुङ्, उत्तमपुरुष एकवचन।

३. ब्रुवन्तः – √ब्रु + शतृ, प्रथमा।

> **अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवा-**
> **स्यवयाता हरसो दैव्यस्य।**
> **इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः**
> **श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ॥२॥**

**पदपाठ**— अन्तरिति। च। प्र। अगाः। अदितिः। भवासि। अवऽयाता। हरसः। दैव्यस्य॥ इन्दो इति। इन्द्रस्य सख्यम्। जुषाणः। श्रौष्टीऽइव। धुरम्। अनु। राये। ऋध्याः॥

**सा० भा०**— अग्निषोमप्रणयने 'अन्तश्च' इत्येषा। तत् च सूत्रितम्— 'अन्तश्च प्रागा अदितिर्भयासि श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतम्' (आश्व०श्रौ० ४.१०) इति॥ हे सोम त्वम् अन्तश्च प्रागाः। हृदयस्य यागागारस्य वान्तर्गच्छसि। गत्वा च अदितिः अदीनस्त्वं दैव्यस्य हरसः क्रोधस्य अवयाता पृथक्कर्त्ता क्वापि भवति। हर इति क्रोधनाम। हे इन्दो सोम त्वम् इन्द्रस्य सख्यं जुषाणः सेवमानः श्रौष्टी। श्रुष्टीति क्षिप्रनाम। तत्सम्बन्धी श्रौष्टी। क्षिप्रगाम्यश्वः धुरम् इव राये अस्माकं धनलाभाय अनु ऋध्याः अनुगच्छसि। अथवाश्वो यथा धुरं वृत्त्वाभिमतदेशं प्रापयति तद्वदस्मान् प्रापय। अनुपूर्व ऋधिर्गत्यर्थः॥

**अन्वय**— अन्तः च प्र अगाः दैव्यस्य हरसः अवयाता अदितिः भवासि। इन्दो, इन्द्रस्य सख्यं जुषाणः धुरम् श्रौष्टी इव राये अनु ऋध्याः।

**पदार्थ**— अन्तः च = यदि (हृदये के) अन्दर। प्र अगाः = प्रकृष्ट रूप से प्रविष्ट

कर चुके हो। दैव्यस्य = देवता के। हरसः = क्रोध को। अवयाता = दूर करने वाले। अदितिः = अदिति। भवासि = होवोगे। इन्दो = हे सोमरस। इन्द्रस्य = इन्द्र की। सख्यम् = मित्रता को। जुषाणः = प्राप्त करते हुए। धुरम् = (रथ की) जुआ की ओर। श्रौष्टी इव = आज्ञाकारी अश्व के समान। राये = धन को प्राप्त कराने के लिए। अनुऋध्याः = आगे बढ़ाओ, अनुगमन करो।

**अनुवाद**— यदि (हृदय के) अन्दर प्रकृष्ट रूप से प्रविष्ट कर चुके हो (तो) देवता के (देवता से सम्बन्धित) क्रोध को दूर करने वाले अदिति होवोगे। हे सोमरस, इन्द्र की मित्रता को प्राप्त करते हुए (रथ की) जुवा की ओर (बढ़ने वाले) आज्ञाकारी अश्व के समान धन (को प्राप्त कराने) के लिए हमें आगे बढ़ाओ।

**व्याकरण**—

१. प्रागाः – प्र + √इ (गा), लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

२. भवासि – √भू, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन, वैदिक रूप।

३. जुषाणः – √जुष् + शानच्, प्रथमा एकवचन।

४. श्रौष्टी – श्रुष्टि + अण् + ङीप्।

५. ऋध्याः – √ऋध्, विधिलिङ्, मध्यमपुरुष एकवचन।

**विशेष**—

१. मैक्डानल ने श्रौष्टीः का अर्थ आज्ञाकारिणी घोड़ी और अनुऋध्याः का अर्थ आगे बढ़ते हो, किया है।

**अपा॑म॒ सोम॑म॒मृता॑ अभू॒-**
**मागन्म॒ ज्योति॒रवि॑दाम दे॒वान्।**
**किं नू॒नम॒स्मान्कृ॑णव॒दरा॑तिः**
**किमु॑ धू॒र्तिर॑मृत॒ मर्त्य॑स्य ॥३॥**

**पदपाठ**— अपा॑म। सोम॑म्। अ॒मृताः॑। अ॒भू॒म॒। अग॑न्म। ज्योतिः॑। अवि॑दाम। दे॒वान् ॥ किम्। नू॒नम्। अ॒स्मान्। कृ॒ण॒व॒त्। अरा॑तिः। किम्। ऊँ इति॑। धू॒र्तिः। अ॒मृ॒त॒। मर्त्य॑स्य ॥

**सा०भा०**— हे अमृत अमरण सोम त्वाम् अपाम पानं करवाम। कुर्मः। ततः अमृताः अभूम भवेम। यस्मात्त्वममृतः अतस्तव पानाद्वयमप्यमृताः स्याम। पश्चात् ज्योतिः

द्योतमानं स्वर्गम् अगन्म । अविदाम ज्ञातवन्तः देवान् । तथाभूतान् अस्मान् नूनम् इदानीम् अरातिः शत्रु किं कृणवत् कुर्यात् । किमु किं वा मर्त्यस्य इदानीं मनुष्यभूतस्य मम धूर्तिः हिंसकः किं कृणवत् कुर्यात् ।

**अन्वय**— अमृत, सोमम् अपाम, अमृताः अभूम, ज्योतिः अगन्म, देवान् अविदाम अस्मान् असतिः नूनं किं कृणवत् । मर्त्यस्य धूर्तिः किम्?

**पदार्थ**— अमृत = हे अमर (सोम) । सोमम् = सोम को । अपाम = हम लोगों ने पी लिया हैं (पान कर लिया है) । अमृताः = अमर, मरण-रहित । अभूम = हम लोग हो गये हैं । ज्योतिः = प्रकाश को । अगन्म = हमलोग पहुँच गये है, जान लिये हैं या प्राप्त कर लिए हैं । देवान् = देवताओं को । अविदाम = हम लोगों ने जान लिया हैं, प्राप्त कर लिया है । अस्मान् = हम लोगों को । अशतिः = शत्रु । नूनम् = निश्चित रूप से । किं कृणवत् = क्या कर सकता है । मर्त्यस्य = मनुष्य की । धूर्तिः = धूर्तता । किम् = क्या (कर सकती है) ।

**अनुवाद**— हे अमर (मरण-रहित) (सोम), हम लोगों ने सोम को पी लिया है और अमर (मृत्यु-रहित) हो गये हैं । हम लोगों ने प्रकाश को प्राप्त कर लिया है, और देवताओं को जान लिया है । हम लोगों को शत्रु निश्चित रूप से क्या कर सकते है (अर्थात् कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते) । मनुष्य की धूर्तता (भी) क्या कर सकती है (अर्थात् कुछ नहीं कर सकती) ।

**व्याकरण**—

१. अपाम – √पा लुङ् उत्तमपुरुष, बहुवचन ।

२. अभूम – √भू लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

३. अगन्म – √गम् लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

४. अविदाम – √विद् लङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

५. कृणवत् – √कृवि (कृण्व), लेट्, प्रथम पुरुष एकवचन ।

**शं नो भव हृद आ पीत इन्दो**
**पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।**
**सखेव सख्य उरुशंस धीरः**
**प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः ॥४॥**

**पदपाठ—** शम् । नः । भव । हृदे । आ । पीतः । इन्दो इति । पिताऽइव । सोम । सूनवे । सुऽशेवः ।। सखाऽइव । सख्ये । उरुऽशंस । धीरः । प्र । नः । आयुः । जीवसे । सोम । तारीः ॥

**सा० भा०—** हे इन्दो सोम अस्माभिः पीतः त्वं नः अस्माकं हृदे हृदयाय शं सुखम् आ भव । सुखभवने दृष्टान्तद्वयम् । पिता सूनवे स्वात्मजाय यथा सुखाय भवति यथा वा सखा अहितान्निवर्त्य हिते स्थापयिता सखा स स्वसख्ये यथा सुशेवः सुसुखो भवति । शेवमिति सुखनाम । तद्वत्त्वमपि भव । किञ्च हे उरुशंस बहुभिर्बहुधा वा शंसनीय बहुकीर्ते सोम धीरः धीमांस्त्वं नः अस्माकं जीवसे जीवनाय आयुः आयुष्यं प्र तारीः प्रवर्धय ॥

**अन्वय—** इन्दो, आपीतः नः हृदे शम् भव । सोम, पिता सूनवे इव, सखा सख्ये इव सुशेवः । उरुशंस सोम, धीरः नः जीवसे आयुः प्रतारीः ।

**पदार्थ—** इन्दो = हे सोमरस । आपीतः = पान किये गये । नः = हम लोगों के । हृदि = हृदय में । शं भव = कल्याणकारी होंवो, सुखदायक होवो । सोम = हे सोम । पिता = पिता । सूनवे = पुत्र के लिए । इव = समान । सखा = मित्र । सख्ये = मित्र के लिए । इव = समान । सुशेवः = सुखदायक । उरुशंस = हे बहुतों द्वारा प्रशंसनीय । सोम = हे सोम ! धीरः = बुद्धिमान्, धैर्यवान् । नः = हम लोगों के । जीवसे = जीवित रहने के लिए । आयुः = आयु को । प्रतारीः = प्रकृष्टरूप से बढ़ाओ ।

**अनुवाद—** हे सोमरस, (हम लोगों द्वारा) पान किये गये (तुम) हम लोगो के हृदय में उसी प्रकार सुखदायक होवों हे सोम, जैसे पिता पुत्र के लिए और मित्र मित्र के लिए (सुखदायक होता है) । हे बहुतों द्वारा प्रशंसनीय सोम, बुद्धिमान् (तुम) हम लोगों को जीवित रहने के लिए आयु को प्रकृष्ट रूप से बढ़ाओ ।

**व्याकरण—**

१. आपीतः – आ + √पा + क्त, पा के आ को ई आदेश, प्रथमा एकवचन ।

२. जीवसे – √जीव् + तुमुन् अर्थ वाला वैदिक असे प्रत्यय ।

३. तारीः – √तृ + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन ।

**इमे मा पीता यशस उरुष्यवो**

**रथं न गावः समनाह पर्वसु ।**

ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रा-
दुत मा स्रामाद्यवयन्त्विन्दवः ॥५॥

**पदपाठ—** इमे । मा । पीताः । यशसः । उरुष्यवः । रथम् । न । गावः । सम् । अनाह । पर्वऽसु ॥ ते । मा । रक्षन्तु । विऽस्रसः । चरित्रात् । उत । मा । स्रामात् । यवयन्तु । इन्दवः ॥

**सा० भा०—** इमे पीताः यशसः यशस्कराः उरुष्यवः अस्माकं रक्षाकामाः सोमाः गावः गोविकारभूता वध्रयः रथं न रथमिव तथा यथा रथं विस्रस्तं पर्वसु समनाह सन्दधते तद्वत् मां पीताः सोमाः पर्वसु सन्नह्यन्तु । किञ्च ते सोमाः मा मां विस्रसः विस्रस्तात् चरित्रात् चरणादनुष्ठानात् । रक्षन्तु । सोमः पीतश्चेत् कर्म ह्यविस्रस्तं भवति । उत अपि च मा मां स्रामात् व्याधेः सकाशात् इन्दवः पीताः यवयन्तु पृथक्कुर्वन्तु ॥

**अन्वय—** इमे पीताः यशसः उरुष्यवः, गावः रथं न पर्वसु मा समनाह, ते इन्दवः मा विस्रसः चरित्रात् रक्षन्तु उत इन्दवः मा स्रामात् यवयन्तु ।

**पदार्थ—** इमे = ये । पीताः = पान किये गये । यशसः = यशस्वी, यश वाले । उरुष्यवः = रक्षा की कामना करने वाले । गावः = बैल । रथं न = रथ के समान । पर्वसु = पर्व (अवसरों) पर । मा = मुझको । समनाह = पुष्ट करे, बाँधे । ते = वे । इन्दवः = सोमरस । मा = मुझको । स्रामात् = रोग से । यवयन्तु = मुक्त करें ।

**अनुवाद—** ये पान किये गये यशस्वी (तथा) रक्षा की कामना करने वाले (सोम) पर्व (के अवसरों) पर मुझकों उसी प्रकार बाधें (पुष्ट करें) जैसे बैल रथ में (बाँधा जाता है)। वे सोमरस मुझको पतित होते चरित्र से रक्षा करें (बचायें) (और) मुझकों रोग से मुक्त करें।

**व्याकरण—**

१. यशसः – यश् + मतुप्, मतुप् का छान्दस् लोप, प्रथमा बहुवचन ।
२. उरुष्यवः – उरुष्य् + उ, प्रथमा बहुवचन ।
३. समनाह – णिजन्त √णह् + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन = अनाह, सम् + अनाह = समनाह ।
४. चरित्रात् – √चर् + इत्र = चरित्र, पञ्चमी एकवचन ।
५. यवयन्तु – √यु + लोट् प्रथमपुरुष, बहुवचन, वैदिकरूप ।

अ॒ग्निं न मा॑ मथि॒तं सं दि॑दीपः
प्र च॑क्षय कृणु॒हि वस्य॑सो नः ।
यथा॒ हि ते॒ मद॒ आ सो॑म॒ मन्ये॑
रे॒वाँइ॑व॒ प्र च॑रा पु॒ष्टिमच्छ॑ ॥६॥

**पदपाठ—** अ॒ग्निम् । न । मा॒ । म॒थि॒तम् । सम् । दि॒दी॒पः॒ । प्र । च॒क्ष॒य॒ । कृ॒णु॒हि । वस्य॑सः । नः॒ ॥ अथ॑ । हि । ते॒ । मदे॑ । आ । सो॒म॒ । मन्ये॑ । रे॒वान्ऽइ॑व । प्र । च॒र॒ । पु॒ष्टिम् । अच्छ॑ ॥

**सा० भा०—** हे सोम पीतस्त्वं मा मां मथितम् अग्निं न अग्निमिव सं दिदीपः सन्दीपय । प्र चक्षय च चक्षुषः सन्धुक्षणेन । नः अस्मान् वस्यसः अतिशयेन वसुमतः कृणुहि कुरु । अथ अधुना हि खलु ते त्वां हे मोम मदे मदाय मन्ये स्तौमि । तथा सति रेवानिव धनवानिह । इवेति सम्प्रत्ययर्थे । पुष्टिम् अस्मत्पोषम् अच्छ प्र चर अभिगच्छ ॥

**अन्वय—** मथितम् अग्निं न सं दिदीपः प्रचक्षय, नः वस्यसः कृणुहि । सोम, अथ हि ते मदे आ मन्ये, रेयान् इव पुष्टिम् अच्छ प्रचर ।

**पदार्थ—** मथितम् = मथे गये, मथ कर उत्पन्न किये गये । अग्निं न = अग्नि के समान । मा = मुझको । संदिदीपः = सम्यक् प्रकार से (अच्छी प्रकार सें) प्रज्वलित (प्रकाशित) करो । प्रचक्षय = प्रकृष्ट रूप से दृष्टि युक्त करो । नः = हम लोगों को । वस्यसः = धनसम्पन्न । कृणुहि = करो । सोम = हे सोम । अथ = इस समय । हिं = निश्चित रूप से । ते = तुम्हारे । मदे = मद में, आनन्द में । आ मन्ये = स्तुति करता हूँ । रेयान् इव = धनवान् के समान । पुष्टिम् अच्छ = समृद्धि की ओर । प्रचर = प्रकृष्ट रूप से, विचरण करो, प्रवृत्त करो ।

**अनुवाद—** (हे सोम), मथ कर उत्पन्न किये गये अग्नि के समान मुझको सम्यक् प्रकार से प्रज्वलित (प्रकाशित) करो (और) अच्छी प्रकार से सृष्टियुक्त करो हमलोगों को धनसम्पन्न करो । हे सोम, ईस समय मैं निश्चित रूप से तुम्हारे मद (आनन्द) में स्तुति करता हूँ (इसलिए) धनवान् के समान समृद्धि की ओर (हमें) प्रवृत्त करो ।

**व्याकरण—**

१. मथितम् – √मथ् + (इट्) + क्त, द्वितीया एकवचन ।

२. दिदीपः – √दीप् + लिट् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. वस्यसः – वसु + मतुप् + ईयसुन्; द्वितीया बहुवचन।

४. कृणुहि – √कृ लोट् मध्यमपुरुष एकवचन, कुरु का वैदिक रूप।

५. रेवान् – √रै + मतुप् प्रथमा एकवचन।

**विशेष—**

१. मैक्डानल ने मथितम् = गड़ने से उत्पन्न, प्रचक्षय = प्रकाशित करो, मदे = नशे में, रेवान् इव मन्ये = मैं अपने को धनवान् के समान मानता हूँ, अर्थ किया है।

**इ॒षि॒रेण॑ ते॒ मन॑सा सु॒तस्य॑**
**भ॒क्षी॒महि॒ पित्र्य॑स्येव रा॒यः।**
**सोम॑ राजन्प्र ण॒ आयूं॑षि तारी-**
**रहा॑नीव॒ सूर्यो॑ वास॒राणि॑ ॥७॥**

**पदपाठ—** इ॒षि॒रेण॑। ते॒। मन॑सा। सु॒तस्य॑। भ॒क्षी॒महि॑। पित्र्य॑स्यऽइव। रा॒यः॥ सोम॑। रा॒ज॒न्। प्र। नः॒। आयूं॑षि। ता॒रीः॒। अहा॑निऽइव। सूर्यः॑। वा॒स॒राणि॑॥

**सा० भा०—** इषिरेण इच्छावता मनसा सुतस्य ते सुतमभिषुतं त्वां भक्षीमहि। पित्र्यस्य पितृसम्बन्धिनो धनस्येव धनमिव। पित्र्यं धनं यथैषणेन मनसोपभुञ्जते तद्वत्। भक्षित हे सोम राजन् स्वामिन् नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारीः प्रवर्धय। वासराणि जगद्वासकानि अहानि सूर्यः इव। अत्र 'ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा' (निरु० ४.७) इत्यादि निरुक्तं ज्ञातव्यम्॥

**अन्वय—** इषिरेण मनसा सुतस्य ते पित्र्यस्य रायः इव भक्षिमहि। राजन् सोम, नः आयूंषि सूर्यः वासराणि अहानि इव प्रतारीः।

**पदार्थ—** इषिरेण = स्वेच्छया, इच्छायुक्त। मनसा = मन से। सुतस्य = सवन किये गये, पीसे गये। ते = तुम्हारा। पित्र्यस्य = पिता के। रायः इव = धन के समान। भक्षिमहि = हम लोग भक्षण करे (पान करें)। राजन् सोम = हे राजन् सोम्। नः = हमारी। आयूंषि = आयु को। सूर्यः = सूर्य। वासराणि = प्रकाशित करने वाले। अहानि इव = दिनों के समान। प्रतारीः = बढ़ाओ।

**अनुवाद**— इच्छायुक्त मन से सवन किये गये (पीसे गये) तुम्हारा हम लोग उसी प्रकार भक्षण (पान) करें जिस प्रकार पिता के धन का (उपभोग किया जाता है)। हे राजन् सोम, हमारी आयुओं को उसी प्रकार बढ़ाओ जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित करने वाले दिन को (बढ़ाता है)।

**व्याकरण**—

१. इषिरेण – √इष् + इरय् = इषिर, तृतीया एकवचन।

२. सुतस्य – √सु + क्त, षष्ठी एकवचन।

३. भक्षीमहि – √भक्ष् + आत्मनेपद, विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन।

४. तारीः – √तृ लुङ्, मध्यमपुरुष, एकवचन, वैदिकरूप।

**विशेष**—

१. मैक्डानल के अनुसार वासराणि का अर्थ वसन्तसम्बन्धी है।

**सोम राजन्मृळया नः स्वस्ति**
**तव स्मसि व्रत्यास्तस्य विद्धि।**
**अलर्ति दक्ष उत मन्युरिन्दो**
**मा नो अर्यो अनुकामं परा दाः॥८॥**

**पदपाठ**— सोम। राजन्। मृळय। नः। स्वस्ति। तव। स्मसि। व्रत्याः। तस्य। विद्धि॥ अलर्ति। दक्षः। उत। मन्युः। इन्दो इति। मा। नः। अर्यः। अनुऽकामम्। परा। दाः॥

**सा० भा०**— हे सोम राजन् नः अस्मान् स्वस्ति अविनाशाय मृळय सुखय च। व्रत्याः व्रतिनो वयं तव स्मसि स्वभूताः स्मः। तस्य तं स्वकीयं तव विद्धि जानीहि। अथवा तव त्वमित्यर्थः। त्वं जानीहि। किञ्च हे इन्दो दक्षः प्रवृद्धोऽस्मच्छत्रुः अलर्ति गच्छति। उत अपि च मन्युः क्रोधः क्रुद्धो वा अलर्ति। तादृशस्योभयविधस्य अर्यः अरेः अनुकामं यथाकामं नः अस्मान् मा परा दाः परा देहि॥

**अन्वय**— राजन् सोम, नः स्वस्ति मृत्तय, व्रत्याः तव स्मसि, तस्य विद्धि। इन्दो; दक्षः उत मन्युः अलर्ति, अर्यः अनुकामं नः मा परा दाः।

**पदार्थ**— राजन् सोम = हे राजन् सोम। नः = हमारे। स्वस्ति = कल्याण के लिए। मृळय = दया करो। व्रत्याः = व्रत का आचरण करने वाले। तव = तुम्हारे।

स्मसि = हम होते हैं। तस्य = इसको। विद्धि = जानो। इन्दो = हे सोमरस। दक्षः = बलवान्, समृद्धिशाली। उत = और। मन्युः = क्रोध। अलर्ति = उठ रहा है। अर्यः = शत्रु की। अनुकामम् = इच्छा के अनुसार। नः = हम लोगों को। मा = मंत। परा दाः = दो, छोड़ो।

**अनुवाद**— हे राजन् सोम,हम लोगों के कल्याण के लिए दया करो। व्रत का आचरण करने वाले हम लोग तुम्हारे हैं, इस (बात) को तुम जानो। हे सोमरस, बलवान् (शत्रु) और (उसके) क्रोध उठ रहे हैं। शत्रु की इच्छा के अनुसार हम लोगों को मत छोड़ो।

**व्याकरण**—

१. व्रत्याः – व्रत + यत् = व्रत्य। प्रथमा बहुवचन।

२. अलर्ति – √ऋ (गतौ) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन, वैदिकरूप।

३. अर्यः = अरि शब्द, षष्ठी एकवचन अरेः का वैदिकरूप।

४. परादाः – परा + √दा, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**त्वं हि नस्तन्वः सोम गोपा**
**गात्रेगात्रे निषसत्था नृचक्षाः।**
**यत्ते वयं प्रमिनाम व्रतानि**
**स नो सुषखादेव वस्यः ॥९॥**

**पदपाठ**— त्वम्। हि। नः। तन्वः। सोम। गोपाः। गात्रेऽगात्रे। निऽससत्थ। नृऽचक्षाः ॥ यत्। ते। वयम्। प्रऽमिनाम। व्रतानि। सः। नः। मृळ। सुऽसखा। देव। वस्यः ॥

**सा० भा०**— हे सोम देव त्वं नः अस्माकं तन्वः तनोरङ्गस्य गोपाः हि रक्षिता खलु। अतः गात्रेगात्रे सर्वेष्वङ्गेषु नृचक्षाः नृणां कर्मनेतॄणां द्रष्टा त्वं निषसत्थ निषीदसि। यत् यद्यपि ते तव व्रतानि कर्माणि वयं प्रमिनाम हिंस्मः तथापि हे देव सः त्वं श्रेष्ठान् नः अस्मान् सुषखा शोभनसखा सन् मृळ सुखय ॥

**अन्वय**— सोम, त्वं हि नः तन्वः गोपाः, नृचक्षाः गात्रे-गात्रे निषसत्थ। यत् ते व्रतानि वयं प्रमिनाम, देव, सः वस्यः सुसखा नः मृळ।

**पदार्थ**— सोम् = हे सोम। त्वम् = तुम। हिं = निश्चित रूप से। नः = हमारे,

हम लोगों के। तन्वः = शरीर के। गोपाः = रक्षक। गात्रे-गात्रे = प्रत्येक अङ्ग में। नृचक्षाः = मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा होते हुए। निषसंत्थ = स्थित हो जाओ। यत = यद्यपि। ते = तुम्हारे। व्रतानि = कर्मों अथवा नियमों को। वयम् = हम लोग। प्रमिनाम = प्रकृष्ट रूप से नष्ट करते हैं (तोड़ते हैं, उलङ्घन करते है)। देव = हे देव। सः = वह। वस्यः = श्रेष्ठ। सुसखा = सुन्दर मित्र। नः = हमारे ऊपर। मृळ = कृपा करो।

**अनुवाद**— हे सोम, तुम निश्चित रूप से हम लोगों के शरीर के रक्षक (रहो), मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा होते हुए (तुम) (हमारे शरीर के) प्रत्येक अङ्ग में स्थित हो जाओ। यद्यपि हम तुम्हारे कर्मों (अथवा नियमों) को नष्ट करते हैं (उलङ्घन करते हैं) (फिर भी) हे देव वह श्रेष्ठ, सुन्दर मित्र (तुम) हमारे ऊपर कृमा करो।

**व्याकरण**—

१. तन्वः – तनु शब्द का षष्ठी एकवचन।

२. गोपाः – णिजन्त √गुप् + क्विप्।

३. निषसत्थ – नि + √सद्, लिट् मध्यमपुरुष एकवचन।

४. नृचक्षाः – नृ + चक्ष + असुन्, प्रथमा एकवचन।

५. प्रमिनाम – प्र + √मी, लट्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

ऋदूदरेण सख्या सचेय
यो मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः।
अयं यः सोमो न्यधाय्यस्मे
तस्मा इन्द्रं प्रतिरमेम्यायुः ॥१०॥

**पदपाठ**— ऋदूदरेण। सख्या। सचेय। यः। मा। न। रिष्येत्। हरिऽअश्व। पीतः॥ अयम्। यः। सोमः। नि। अधायि। अस्मे इति। तस्मै। इन्द्रम्। प्रऽतिरम्। एमि। आयुः॥

**सा० भा०**— अहं प्रगाय ऋदुदरेण उदराबाधकेन सोमेन सख्या सचेय सङ्गच्छेय। सङ्गतो भवामि। 'ऋदूदरः सोमो मृदूदरः' (निरु० ६.४) इति यास्कः। यः सोमः पीतः सन् मा मां न रिष्येत् न हिंस्येत् हे हर्यश्व इन्द्र। सौम्ये सूक्त इन्द्रस्य कीर्तनं सोमस्येन्द्रस्वामिकत्वान्न विरुद्धम्। यः अयं सोमः अस्मे अस्मासु न्यधायि निहितो-

ऽभूत् तस्मै सोमाय प्रतिरम् आयुः जठरे चिरकालावस्थानम् इन्द्रम् एमि याचे ॥

**अन्वय**— हर्यश्व ऋदूदरेण सख्या सचेय, पीतः यः मा न रिष्येत्। अयं यः सोमः अस्मे न्यधायि तस्मै प्रतिरम् आयुः इन्द्रम् एमि।

**पदार्थ**— हर्यश्व = हे हरित वर्ण के अश्व वाले (इन्द्र)। ऋदूदरेण = पेट को कष्ट न देने वाले, अथवा उदार हृदय वाले। सख्या = मित्रता के साथ। सचेय = होऊँ। यः = जो। पीतः = पान किया गया। मा = मुझको। न रिष्येत् = हिंसित न करे। अयम् = यह। यः = जो। सोमः = सोम। अस्मे = हमारे लिए, हममें। नि अधायि = रखा गया है, निहित है, पान किया गया है। तस्मै = उसके लिए। प्रतिरम् = लम्बी। आयुः = आयु को। इन्द्रम् = इन्द्र से। एमि = जाता हूँ, याचना करता हूँ।

**अनुवाद**— हे हरित वर्ण के अश्व वाले (इन्द्र), उदार हृदय वाले मित्र (सोम) के साथ (संयुक्त) होऊँ, पान किया गया जो (सोम है, वह) मुझको हिंसित न करे। यह जो सोम हममें रखा गया है (पान किया गया है) उस (सोम) के लम्बी आयु को मैं इन्द्र से याचना करता हूँ।

**व्याकरण**—

१. ऋदूदरेण – ऋदु उदरः यस्य (तेन), बहुव्रीहि।

२. सचेय – √सच्, विधिलिङ्, उत्तमपुरुष, एकवचन।

३. रिष्येत् – √रिष्, विधिलिङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. हर्यश्व – हरयः अश्वाः यस्य सः (बहुव्रीहि), सम्बोधन एकवचन।

५. अस्मे – सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी, एकवचन, वैदिकरूप।

६. न्यधायि – नि + √धा, लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

**अप॒ त्या अ॑स्थुरनि॑रा॒ अमी॑वा॒**
**निर॑त्रस॒न्तमि॑षीची॒रभै॑षुः ।**
**आ सोमो॑ अ॒स्माँ अ॑रुहद्विहा॑या॒**
**अग॑न्म॒ यत्र॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ॥११॥**

**पदपाठ**— अप॑ । त्याः । अ॒स्थुः । अनि॑राः । अमी॑वाः । निः । अ॒त्र॒स॒न् ।

तमीषीचीः । अभैषुः ॥ आ । सोमः । अस्मान् । अरुहत् । विऽहायाः । अगन्म । यत्र । प्रऽतिरन्ते । आयुः ॥

**सा० भा०**— त्याः ताः अनिराः प्रेरयितुमशक्याः अमीवाः बलवत्यः पीडाः अप अस्थुः अपगच्छन्तु । याः तमिषीचीः बलवत्योऽस्मान् निः नितराम् अवसन् प्राप्नुवन् कम्पयन्ति तथा अभैषुः । अपगमे कारणमाह । यस्मात् सोमः विहायाः सन् अस्मान् आ अरुहत् प्राप्तवान् अतोऽपास्थुरिति भावः । यत्र यस्मिन् सोमे आयुः आयुष्यं प्रतिरन्ते वर्धयन्ति मनुष्यास्तं सोमम् अगन्म इति ॥

**अन्वय**— त्याः अनिराः अमीवाः अप अस्थुः, तमिषीचीः निः अत्रसन् अभैषुः । विहायाः सोमः अस्मान् आ रुहत्, यत्र आयुः प्रतिरन्ते अगन्म ।

**पदार्थ**— त्याः = वे । अनिराः = असाध्य, कभी दूर न होने वाले । अमीवाः = रोग । अप अस्थुः = दूर हो गये हैं । तमिषीचीः = पीड़ित करने वाले । निः अत्रसन् = डराते थे । अभैषुः = भयभीत हो गये हैं । विहायाः = महान्, विशाल, शक्तिशाली । सोमः = सोम । अस्मान् = हम लोगों को, हमारे ऊपर । आ रुहत् = आरुढ़ हो गया है, चढ़ गया है । यत्र = जहाँ । आयुः = आयु को । प्रतिरन्ते = बढ़ाते हैं । अगन्म = पहुँचे हैं ।

**अनुवाद**— वे असाध्य (कभी दूर न होने वाले) रोग दूर हो गये हैं । पीड़ित करने वाले (रोग) (जो) डराते थे, (वे) भयभीत हो गये हैं । शक्तिशाली सोम हम-लोगों के ऊपर चढ़ गया है । हमलोग (वहाँ) पहुँचे हैं जहाँ (मनुष्य अपनी) आयु को बढ़ाते हैं ।

**व्याकरण**—

१. तमिषीचीः – तमीषी + अञ्च + क्विप् = तमिष्यन्, प्रथमा बहुवचन ।

२. प्रतिरन्ते – प्र + √तिर्, आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

३. अगन्म – √गम् + लुङ्, उत्तमपुरुष बहुवचन ।

४. अप अस्थुः – अप + √स्था, लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

५. अभैषुः – √भी + लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

६. आ अरुहत् – आ + √रुह; लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

**विशेष**—

१. मैक्डानल ने तमिषीचीः का अर्थ अन्धकार की शक्तियाँ तथा विहायाः का अर्थ शक्ति, किया है ।

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्याँ आविवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम
मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥१२॥

**पदपाठ—** यः । नः । इन्दुः । पितरः । हृत्ऽसु । पीतः । अमर्त्यः । मर्त्यान् । आऽविवेश ॥ तस्मै । सोमाय । हविषा विधेम । मृळीके । अस्य । सुऽमतौ । स्याम ॥

**सा० भा०—** हे पितरः इन्दुः हृत्सु पीतः सन् अमर्त्यः मृतिरहितः सन् आविवेश मर्त्यान् नः अस्मान् तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचरेम । अस्य सोमस्य मृळीके सुखे सुमतौ चानुग्रहबुद्धौ च स्याम भवेम ॥

**अन्वय—** पितरः, अमर्त्यः यः पीतः इन्दुः नः मर्त्यान् हृत्सु आ विवेश, तस्मै सोमाय हविषा विधेम, तस्य मृळीके सुमतौ स्याम ।

**पदार्थ—** पितरः = हे पितर । अमर्त्यः = अमर, मरणविहीन । यः = जो । पीतः = पान किया गया । इन्दुः = सोम । नः = हम । मर्त्यान् = मनुष्यों के (को) । हृत्सु = हृदयों में । आविवेश = प्रविष्ट हुआ है । तस्मै = उसके लिए । सोमाय = सोम के लिए । हविषा = हविष् के द्वारा । विधेम = हम पूजन करें । तस्य = उस (सोम) के । मृळीके = दया में । सुमतौ = सुन्दर मति में । स्याम = होवें ।

**अनुवाद—** हे पितर, अमर जो पान किया गया सोम हम मनुष्यों के हृदयों में प्रविष्ट हुआ है, उस सोम के लिए हविष् के द्वारा पूजन करें । उस (सोम) के दया के (और) सुन्दर मति में होवें ।

**व्याकरण—**

१. आविवेश – आ + √विश् लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन ।

२. विधेय – √विध्, विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

३. स्याम – √अस्, विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

त्वं सोम पितृभिः संविदानो-
ऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।

तस्मै त इन्दो हविषा विधेम

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१३॥

**पदपाठ—** त्वम् । सोम । पितृऽभिः । सम्ऽविदानः । अनु । द्यावापृथिवी इति । आ । ततन्थ ॥ तस्मै । ते । इन्दो इति । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥

**सा० भा०—** हे सोम त्वं पितृभिः सह संविदानः सङ्गच्छमानः द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अनु आ ततन्थ क्रमेण विस्तारयसि । तस्मै सोमाय हविषा विधेम परिचेरम । वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम ॥

**अन्वय—** सोम, त्वं पितृभिः संविदानः द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ, तस्मै ते हविषा विधेय । वयं रयीणां पतयः स्याम ।

**पदार्थ—** सोम = हे सोम । त्वम् = तुमने । पितृभिः = पितरों के साथ । संविदानः = एकमत होते हुए । द्यावापृथिवी = द्युलोक और पृथिवी लोक को । अनु आततन्थ = विस्तारित किया है, फैलाया है । तस्मै = उस । ते = तुम्हारे लिए । हविषा = हविष् के द्वारा । विधेय = हम पूजन करें । वयम् = हम लोग । रयीणाम् = धनों के । पतयः = स्वामी । स्याम = होवें ।

**अनुवाद—** हे सोम, तुमने पितरों के साथ एकमत होते हुए द्युलोक और पृथिवी लोक को विस्तारित किया है, उस तुम्हारे लिए हम हविष् के द्वारा पूजन करें । हम लोग धनों के स्वामी होते ।

**व्याकरण—**

१. संविदानः – सम् √विद् + शानच्, प्रथमा एकवचन ।

२. द्यावापृथिवी – द्यौश्च पृथिवी च (द्वन्द्व); वैदिकरूप ।

३. आततन्थ – आ + √तन्, लिट् मध्यमपुरुष, एकवचन ।

४. रयीणाम् – रयि शब्द का षष्ठी बहुवचन ।

५. विधेम – √विध्, विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

६. स्याम – √अस्, विधिलिङ् उत्तमपुरुष बहुवचन ।

**विशेष—**

१. मैक्डानल के अनुसार द्यावापृथिवी अनु आ ततन्थ का अर्थ है अन्तरिक्ष और पृथिवी के ऊपर फैले हुए हो।

त्रातारो देवा अधि वोचता नो
मानो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१४॥

**पदपाठ—** त्रातारः। देवाः। अधि। वोचत। नः। मा। नः। निऽद्राः। ईशत। मा। उत। जल्पिः। वयम्। सोमस्य। विश्वहः। प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्। आ। वदेम॥

**सा० भा०—** हे त्रातारः रक्षितारो हे देवाः नः अस्मान् अधि वोचत अधिवचनं कुरुत। किञ्च नः अस्मान् निद्राः स्वप्नाः मा ईशत ईश्वरा मा भूवन् बाधितुम्। उत अपि च जल्पिः निन्दकः अस्मान् मा निन्दतु। वयं सोमस्य प्रियासः प्रियाः स्याम विश्वह सर्वेष्वप्यहःसु। सर्वदेत्यर्थः। सुवीरासः शोभनपुत्राः सन्तः विदथं स्तोत्रम् आ वदेम आभिमुख्येन वदेम। अथवा सुपुत्रा विदथं गृहमा वदेम। आवदनं पुत्रपौत्राणां धनेनोपच्छन्दनम्॥

**अन्वय—** त्रातारः देवाः नः अधि वोचत,नः निद्रा उत जल्पिः मा ईशत। विश्वह सोमस्य प्रियासः सुवीरासः वयं विदथम् आ वदेम।

**पदार्थ—** त्रातारः = हे रक्षा करने वाले। देवाः = हे देवतागण। नः = हमको। अधि वोचत = वचन दो, उपदेश दो। नः = हमारे ऊपर। निद्रा = निद्रा, नींद। मा ईशत = शासन न करे अधिकार न करे। उत = और। जल्पिः = निन्दक। विश्वह = सर्वदा। सोमस्य = सोम के। प्रियासः = प्रिय। सुवीरासः = उत्तम पुत्रों वाले, सुन्दर और वीर पुत्रों वाले। वयम् = हम लोग। विदथम् = स्तोत्र को। आ वदेम = चारो ओर से बोले।

**अनुवाद—** हे रक्षा करने वाले देवतागण, हमको उपदेश करो (वचन दो) (जिससे) हमारे ऊपर निद्रा शासन न करे (अधिकार न करे) और निन्दक शासन न करे। सर्वदा सोम के प्रिय और सुन्दर वीर पुत्रों वाले हम लोग स्तोत्र को चारो ओर से बोलें।

व्याकरण—

१. त्रातारः – √त्रा + तृच् = त्रातृ, सम्बोधन बहुवचन।

२. देवाः – देव शब्द सम्बोधन बहुवचन।

३. वोचत – √वच्, लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन, वैदिकरूप।

४. प्रियासः, सुवीरासः – क्रमशः प्रिय और सुवीर शब्द का प्रथमा बहुवचन, प्रियाः और सुवीराः का वैदिकरूप।

५. विदथम् – √विद् + अथक।

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधा-
स्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः।
त्वं न इन्द ऊतिभिः सजोषाः
पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात् ॥१५॥

पदपाठ— त्वम्। नः। सोम। विश्वतः। वयःऽधाः। त्वम्। स्वःऽवित्। आ। विश। नृऽचक्षाः॥ त्वम्। नः। इन्दो इति। ऊतिऽभिः। सऽजोषाः। पाहि। पश्चातात्। उत। वा। पुरस्तात्॥

सा०भा०— हे सोम त्वं नः अस्माकं विश्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः वयोधाः अन्नदाता। तथा त्वं स्वर्वित् स्वर्गलम्भकः नृचक्षाः सर्वमनुष्यद्रष्टा त्वम् आ विश। हे इन्दो त्वं सजोषाः सह प्रीयमाणः सन् ऊतिभिः सह। अथवोतयो गन्तारो मरुतः। तैः सहितः सन् पश्चातात् पश्चात् उत वा पुरस्तात् च पाहि॥

अन्वय— सोम, त्वं नः विश्वतः वयोधाः, स्वर्वित् नृचक्षाः त्वम् आ विश। इन्दो, अतिभिः सजोषाः त्वं नः पश्चातात् उ वा पुरस्तात् पाहि।

पदार्थ— सोम = हे सोम, त्वम् = तुम। नः = हम लोगों को। विश्वतः = सभी ओर से, सभी दिशाओं से। वयोधाः = आयु अथवा अन्न को देने वाले हो। स्वर्वित् = प्रकाश को देने वाले। नृचक्षाः = मनुष्यों को देखने वाले। त्वम् = तुम। आविश = चारों ओर से प्रवेश करो। इन्दो = हे सोम। अतिभिः = रक्षाओं से। सजोषाः = प्रसन्नता देने वाले, प्रसन्न होकर। त्वम् = तुम। नः = हम लोगो को। पश्चातात् = पीछे से। उ वा = अथवा। पुरस्तात् = सामने से। पाहि = रक्षा करो।

**अनुवाद**— हे सोम, तुम हम लोगों को सभी ओर से (सभी दिशाओं से) आयु (अथवा अन्न) को देने वाले हो, तुम प्रकाश को देने वाले और मनुष्यों के देखने वाले तुम (हमारे भीतर) चारो ओर से प्रवेश करो। हे सोम, (अपनी) रक्षाओं से प्रसन्न होकर तुम हम लोगों को पीछे से अथवा सामने से रक्षा करो।

**व्याकरण**—

१. वयोधाः – वयस् + √धा + क्विप्।

२. स्वर्वित् – स्वर् + √विद् + क्विप्।

३. विश – √विश् + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

४. पाहि – √पा (रक्षणे) + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

# १७. पितृसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद　　मण्डल संख्या–१०　　सूक्त संख्या–१५

ऋषि–शङ्ख　　देवता–पितर　　छन्द–त्रिष्टुप्, ११ जगती

उदीरतामवर उत्परास
उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा-
स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥१॥

**पदपाठ**— उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः ॥ असुम् । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतऽज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥

**सा० भा०**— त्रिविधाः पितर उत्तमा मध्यमा अधमाश्चेति । यथाविधं श्रौतं कर्मानुष्ठाय पितृत्वं प्राप्ता उत्तमाः । स्मार्तकर्ममात्रपरा मध्यमाः । अत्रापि कैश्चित्संस्कारैर्विकला अधमाः । एतदेवाभिप्रेत्य 'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः' इत्यादिमन्त्रः समाम्नातः । तेषु अवरे निकृष्टाः उदीरताम् उत्तमं हविः प्राप्नुवन्तु । परासः पितरः उत् ईरताम् । मध्यमाः पितरश्च उत् ईरताम् । ते सर्वेऽप्यस्मद्विषये सोम्यासः सोम्या अनुग्रहपराः सन्तु । ये पितरः अवृकाः वृकवदरण्यश्ववदस्मासु हिंसामकुर्वन्तः ऋतज्ञाः अस्मदनुष्ठितं यज्ञं जानन्तः असुम् अस्मत्त्राणम् ईयुः रक्षितुं प्राप्ताः ते पितरः हवेषु अस्मदीयेष्वाह्वानेषु नः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु ॥

**अन्वय**— सोम्यासः = अवरे पितरः उत् ईरताम् परासः उत् मध्यमाः उत् । अवृकाः ऋतज्ञाः ये असुम् ईयुः ते पितरः हवेषु नः अवन्तु ।

**पदार्थ**— सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले । अवरे = नीचे के अधम । पितरः = पितर । उत् ईरताम् = उत्तम हविः को प्राप्त करें । परासः = ऊपर वाले, उत्तम (पितर) । उत् = उत्तम हवि को (प्राप्त करें) । मध्यमा = मध्यम (पितर) । उत् = उत्तम हवि को (प्राप्त करें) । अवृकाः = हिंसारहित । ऋतज्ञाः = ऋत (यज्ञ)

को जानने वाले ये = ये। असुम् = प्राण को। ईयुः = जा चुके हैं। ते = वे। पितरः = पितर। हवेषु = पुकारने (बुलाने) पर। नः = हम लोगों की। अवन्तु = रक्षा करें।

**अनुवाद**— सोम से प्रेम करने वाले नीचे के (अधम) पितर उत्तम हविः को प्राप्त करें ऊपर वाले (उत्तम) (पितर और) मध्यम पितर उत्तम हवि को (प्राप्त करें)। हिंसारहित (और) ऋत (यज्ञ) को जानने वाले जो (सूक्ष्म) प्राण को जा चुके हैं, वे पितर बुलाने पर हम लोगों की रक्षा करें।

**व्याकरण**—

१. ऋतज्ञाः – ऋत + √ज्ञा + क, प्रथमा बहुवचन।

२. ईयुः – √इण् (गतौ) लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. परासः, सोम्यासः – क्रमशः पर और सोम्य का प्रथमा बहुवचन, पराः और सोम्याः का वैदिकरूप।

४. अवन्तु – √अव् (रक्षणे), लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष**—

१. मैक्डानल ने सोम्यासः = सोम को चाहने वाले, अवृकाः = मित्रता को प्राप्त हुए और असुम् ईयुः = अमर जीवन को प्राप्त हुए, अर्थ किया है।

२. इस मन्त्र के अनुसार पितर तीन प्रकार के है— (१) वेदोक्त विधि से कर्म करने वाले उत्तम पितर है। स्मार्तविधि से कर्म करने वाले मध्यम पितर है। दोनों प्रकार के कर्मों से रहित पितर अधम हैं।

**इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य**
**ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।**
**ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता**
**ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥२॥**

**पदपाठ**— इदम्। पितृऽभ्यः। नमः। अस्तु। अद्य। ये। पूर्वासः। ये। उपरासः। ईयुः॥ ये। पार्थिवे। रजसि। निऽसत्ताः। ये। वा। नूनम्। सुऽवृजनासु। विक्षु॥

**सा० भा०**— पूर्वासः यजमानोत्पत्तेः पूर्वमुत्पन्ना ज्येष्ठभ्रातृपितामहादयः ये ईयुः पितृलोकं प्राप्ताः। ये चान्ये उपरासः यजमानजन्मन उपरि उत्पन्नाः कनिष्ठभ्रातृस्व-पुत्रादय ईयुः पितृलोकं प्राप्ताः। ये अप्यन्ये पार्थिवे पृथिवीसम्बन्धिनि रजसि रजोगुण-कार्येऽस्मिन् कर्मणि आ निषत्ताः हविः स्वीकर्तुमागत्योपविष्टाः ये वा केचिदन्ये बन्धुवर्ग-रूपाः पितरः विक्षु बन्धुरूपासु प्रजासु आ निषत्ताः श्राद्धादिस्वीकारायागत्योपविष्टाः। कीदृशीषु विक्षु। सुवृजनासु। वृज्यते परित्यज्यते दारिद्र्यमनेनेति वृजनं धनम्। शोभनं वृजनं यासां ताःसुवृजनाः। तादृशीषु। धनसमृद्ध्यादिकर्मपरास्वित्यर्थः। सर्वेभ्यः उक्तेभ्यः पितृभ्यः अद्य अस्मिन् कर्मणि इदं नमः अस्तु। अयमाहूतिप्रदानपूर्वको नमस्कारो भवतु॥

**अन्वय**— ये पूर्वासः ये उपरासः ईयुः, ये पार्थिवे रजसि आ मिषताः, ये वा सुवृजनासु विक्षु नूनम्, पितृभ्यः अद्यः इदं नमः अस्तु।

**पदार्थ**— ये = जो। पूर्वासः = पूर्ववर्ती, पहले के। ये = ज़ो। उपरासः = परवर्ती, बाद के। ईयुः = गये हैं। ये = जो। पार्थिवे = पृथिवी सम्बन्धी। रजसि = लोक में। निसत्ताः = बैठे हुए हैं। ये वा = अथवा जो। सुवृजनासु = सुन्दर निवास वाली। विक्षु = बस्तियों में। नूनम् = इस समय। पितृभ्यः = उन पितरों के लिए। अद्य = आज। इदम् = यह। नमः = नमस्कार है।

**अनुवाद**— जो पूर्ववर्ती (पहले के) (और) जो परवर्ती (बाद के) (पितर मर कर पितृलोक में) गये हैं, जो पृथिवी सम्बन्धी लोक में बैठे हुए है, अथवा जो सुन्दर निवास वाली बस्तियों में इस समय है, (उन) पितरों के लिए आज यह नमस्कार है।

**व्याकरण**—

१. उपरासः – ऊपरि + √अस् + अण्, प्रथमा बहुवचन वैदिकरूप।

२. आ निषत्ता – आ + नि + √सद् + क्त।

३. सुवृजनासु – सु + √वृ + ल्युट् = सुवृजन + टाप्, सप्तमी बहुवचन, शोभनं वृजनं यासां तासु बहुव्रीहि।

**आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि**
**नपातं च विक्रमेणं च विष्णोः।**
**बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य**
**भजन्त पित्वस्य इहागमिष्ठाः ॥३॥**

पदपाठ— आ । अहम् । पितॄन् । सुऽविदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । च । विऽक्रमणम् । च । विष्णोः ॥ बर्हिऽसदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आऽगमिष्ठाः ॥

सा० भा०— अहं यजमानः सुविदत्रान् मदीयां भक्तिं सुष्ठु जानतः पितॄन् अवित्सि आभिमुख्येन लब्धवानस्मि। विष्णोः व्यापिनो यज्ञस्य नपातं च विनाशाभावं च विक्रमणं च विशेषेण प्रवृत्तिं च लब्धवानस्मि। ये पितरः बर्हिषदः बर्हिषि सीदन्ति ते इह अस्मिन् कर्मणि आगमिष्ठाः अतिशयेनागताः। आदरपूर्वं समागत्य स्वधया पुरोडाशाद्यन्नेन सह सुतस्य अभिषुतस्य सोमलक्षणस्य पित्वः पितोरन्नस्य भागं भजन्त सेवन्ते उपयुञ्जते ॥

अन्वय— अहं सुविदत्रान् पितॄन् विष्णोः नपातं च विक्रमणं च अवित्सि। ये बर्हिषदः स्वधया पीत्वः सुतस्य भजन्त ते इह आगमिष्ठाः।

पदार्थ— अहम् = मैं। सुविदत्रान् = सुन्दर दान देने वाले अथवा (भक्ति को) अच्छी प्रकार से जानने वाले। पितॄन् = पितरों को। विष्णोः नपातं च = और विष्णु के पुत्र (यम) को। विक्रमणं च = और (विष्णु के) सङ्क्रमण (अथवा विशेष प्रवृत्ति को)। अवित्सि = जान चुका हूँ। ये = जो। बर्हिषदः = कुश पर बैठने वाले। स्वधया = स्वधा के साथ। सुतस्य = सवन किये गये (पीसे गये) का। पीत्वः = अन्न का। भजन्त = सेवन करेगें। ते = वे। इह = यहाँ। आगमिष्ठाः = आदरपूर्वक आने वाले (होवें)।

अनुवाद— मैं सुन्दर दान देने वाले (अथवा भक्ति को अच्छी प्रकार से जानने वाले पितरों को, विष्णु के पुत्र (यम) को और (विष्णु के) सङ्क्रमण (अथवा विशेष प्रवृत्ति) को जान चुका हूँ। जो कुश पर बैठने वाले, स्वधा के साथ सवन किये गये (सोम) का (और) अन्न का सेवन करेगें वे (पितर) यहाँ आदरपूर्वक आने वाले होंवे (अर्थात् आदरपूर्वक आयें)।

**व्याकरण—**

१. सुविदत्रान् – सु + √विद् + अत्र = सुविदत्र, द्वितीया बहुवचन।

२. अवित्सि – √विद् आत्मनेपद लुङ्, उत्तमपुरुष एकवचन।

३. स्वधया – स्वधा तृतीया एकवचन।

४. भजन्ते – √भज् + आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

५. आगमिष्ठाः – आ + √गम् + इष्ठन्, प्रथमा बहुवचन।

**विशेष—**

१. मैक्डानल ने सुविदत्र = उदार हृदय, अवित्सि = जीत लिया है, नपातम् = पौत्र, पित्वः = मृतक के लिए दिया जाने वाला द्रव्य, यह अर्थ किया है।

**बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो**
**हव्या चकृमा जुषध्वम् ।**
**त आ गतावसा शंतमेना-**
**था नः शं योररपो दधात ॥४॥**

**पदपाठ—** बर्हिऽसदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् ॥ ते । आ । गत । अवसा । शम्ऽतमेन । अथ । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥

**सा०भा०—** हे बर्हिषदः । यज्ञे सीदन्तीति बर्हिषदः अत्रापि 'ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः' (तै०ब्रा० १.६.९) इत्यत्र श्रुतत्वाद्यागं कृत्वा प्रेत्य पितृलोकं प्राप्ता बर्हिषदः । तादृशा हे पितरः अर्वाक् अर्वाचीनानामस्माकम् ऊती रक्षा भवद्भिः कर्तव्येति शेषः । वः युष्मदर्थम् इमा हव्या एतानि हवींषि चकृम अतस्तानि जुषध्वम् । ते हविर्जुष्ट-वन्तो यूयं शन्तमेन सुखमेन अवसा रक्षणेन निमित्तभूतेन आ गत आभिमुख्ये-नास्मान् प्राप्नुत । अथ अनन्तरं नः अस्मभ्यं सुखं योः दुःखवियोगम् अरपः पापरहितं च दधात दत्त ॥

**अन्वय—** बर्हिषदः पितरः, अर्वाक् ऊती; वः इमा हव्या चकृमः, जुषध्वम् । ते शन्तमेन अवसा आ गत । अथ नः शं योः अरपः दधात ।

**पदार्थ—** बर्हिषदः = हे कुश पर बैठने वाले । पितरः = हे पितर । अर्वाक् = अर्वाचीन (हमारी) । ऊती = रक्षा (कीजिए) । वः = तुम्हारे लिए । इमाः = ये । हव्या = हवियाँ, आहुतियाँ । चकृमः = हमने तैयार किया है । जुषध्वम् = सेवन करो । ते = तुम्हारे अपने । शन्तमेन = अत्यधिक सुखकारक । अवसा = सुरक्षा के साथ । आगत = आओ । अथ = इसके बाद । नः = हमारे लिए । शम् = कल्याण को, सुख को । योः = आरोग्य को । अरपः = पापराहित्य को । दधात = प्रदान करो ।

**अनुवाद—** हे कुश पर बैठने वाले पितरो, अर्वाचीन (हमारी) रक्षा (किजिए), तुम्हारे लिए ये हवियाँ (आहुतियाँ) हमने तैयार किया है (इसका) सेवन करो । अपने अत्यधिक सुखकारक सुरक्षा के साथ आओ, इसके बाद हमारे लिए सुख (कल्याण)

को, आरोग्य को (और) पापराहित्य को प्रदान करो।

**व्याकरण—**

१. ऊती – √अव् (क्षणे) + क्तिन्।

२. हव्या – नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन, हव्यानि का वैदिकरूप।

३. इमा – नपुसंकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन इमानि का वैदिकरूप।

४. जुषध्वम् – √जुष् (आनन्द लेना) आत्मनेपद लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

५. आगत – आ + √गम् लङ् मध्यमपुरुष बहुवचन।

६. अथा – वैदिक पदान्तदीर्घता।

७. शन्तमेन – शम् + तमप्, तृतीया एकवचन।

**विशेष—**

१. मैक्डानल ने शम् का अर्थ स्वास्थ्य, योः का अर्थ आशीर्वाद और अरपः का अर्थ अक्षत किया है।

**उप॑हूता पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑**
**ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।**
**त आ ग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑व॒-**
**न्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्व॒स्मान् ॥५॥**

**पदपाठ—** उप॑ऽहूताः। पि॒तर॑ः। सो॒म्यास॑ः। ब॒र्हि॒ष्ये॑षु। नि॒ऽधिषु॑। प्रि॒येषु॑ ॥ ते। आ। ग॒म॒न्तु॒। ते। इ॒ह। श्रु॒व॒न्तु॒। अधि॑। ब्रु॒व॒न्तु॒। ते। अ॒व॒न्तु॒। अ॒स्मान् ॥

**सा० भा०—** सोम्यासः सोम्या अस्मदनुग्रहपराः सोमसम्पादिनो वा पितरः बर्हिष्येषु यागार्हेषु प्रियेषु तृप्तिकरेषु निधिसदृशेषु हविःषु निमित्तभूतेषु सत्सु उपहूताः अस्माभिराहूताः ते पितरः आ गमन्तु आगच्छन्तु। आगत्य च इह अस्मिन् कर्मणि अस्माभिः प्रयुक्ताः स्तुतीः श्रुवन्तु शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधि ब्रुवन्तु। साधुरयं यजमान इत्यादरेण कथयन्तु। ते तादृशाः पितरः अस्मान् अवन्तु रक्षन्तु ॥

**अन्वय—** सोम्यासः पितरः बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु उपहूताः ते इहं आ गमन्तु। ते श्रुवन्तु अविब्रुवन्तु, ते अस्मान् रक्षन्तु।

**पदार्थ—**सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले। पितरः = पितर। बर्हिष्येषु =

कुशों पर रखे गये। प्रियेषु = प्रीतिदायक। निधिषु = हविर्द्रव्यों पर। उपहूताः = बुलाये गये। ते = वे। इह = यहाँ। आ गमन्तु = आयें। ते = वे। श्रुवन्तु = सुने। अविब्रुवन्तु = हमारे लिए बोले। ते = वे। अस्मान् = हम लोगों की (को)। रक्षन्तु = रक्षा करें।

**अनुवाद**— सोम से प्रेम करने वाले पितर कुशों पर रखे गये प्रीतिदायक हविर्द्रव्यों के लिए बुलाये गये हैं। वे यहाँ आयें, वे (यहाँ) सुने, हमारे लिए बोलें (और) वे हम लोगों की रक्षा करें।

**व्याकरण**—

१. उपहूताः – उप + √हू + क्त, प्रथमा बहुवचन।

२. निधिषु – नि + √धा + कि, सप्तमी बहुवचन।

३. आगमन्तु – आ √गम् लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. श्रुवन्तु – √श्रु, लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन, शृण्वन्तु का वैदिकरूप।

५. ब्रुवन्तु – √ब्रु, लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

६. अवन्तु – √अव्, लोट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**विशेष**—

१. मैक्डानल के अनुसार सोम्यासः = सोम को चाहने वाले, बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु = कुशों पर रखी गयी प्रियनिधियों पर, अवन्तु = सहायता करें, यह अर्थ है।

**आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।**
**मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥६॥**

**पदपाठ**— आऽअच्य । जानु । दक्षिणतः । निऽसद्य । इमम् । यज्ञम् । अभि । गृणीत । विश्वे ॥ मा । हिंसिष्ट । पितरः । पितरः । केन । चित् । नः । यत् । वः । आगः । पुरुषता । कराम ॥

**सा०भा०**— पितृणामयं स्वाभाविको धर्मः 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्य' (श०ब्रा० २.४.२.२) इति वचनात्। हे पितरः विश्वे सर्वे यूयं जानु आच्य भूमौ निपात्य दक्षिणतः दक्षिणपार्श्वे निषद्य उपविश्य इमम् अस्मदीयं यज्ञमभि गृणीत

अभिष्टुत। विशिष्टतृप्तियोगात् परया प्रीत्या सगुणोऽयं यज्ञ इति प्रशंसतेत्यर्थः। अपि च वः युष्माकं यत् किञ्चित् कर्मवैगुण्यजनितम् आगः अपराधं पुरुषता मनुष्यत्वेन हेतुना कराम वयं कृतवन्तः हे पितरः तेन केन चित् अप्यपराधेन नः अस्मान् मा हिंसिष्ट॥

**अन्वय—** पितरः, विश्वे जानु आच्य दक्षिणतः निषद्य इमं यज्ञम् अभिगृणीत पुरुषता यत् वः आगः कराम, केनचित् नः मा हिंसिष्ट।

**पदार्थ—** पितरः = हे पितरो। विश्वे = (तुम) सभी। जानु = घुटने को। आच्य = टेककर। दक्षिणतः = दक्षिण की ओर। निषद्य = बैठकर। इमम् = इस। यज्ञम् = यज्ञ को। अभिगृणीत = स्वीकार करो, प्रशंसा करो। पुरुषता = मनुष्य होने के कारण। यत् = जो। वः = तुम लोगों को। आगः = पाप, अपराध। कराम = हम लोग करें। केनचित् = किसी (पाप) से। नः = हम लोगों को। मा हिंसिष्ट = मत मारो।

**अनुवाद—** हे पितरों, (तुम) सभी घुटने को टेक कर दक्षिण की ओर बैठकर इस यज्ञ को स्वीकार करो। मनुष्य होने के कारण हम लोग जो तुम लोगों का पाप करें (उनमें से) किसी (भी अपराध) से हम लोगों को मत मारो।

**व्याकरण—**

१. आच्य – आ + √अच् + ल्यप्।

२. गृणीत – √भृ + लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन

३. हिंसिष्ट – √हिंस्, लुङ्, मध्यमपुरुष बहुवचन।

४. कराम – √कृ + लुङ् उत्तमपुरुष बहुवचन।

५. निषद्य – नि + √षद् + ल्यप्।

**आसीनासो अरुणीनामुपस्थे**
**रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।**
**पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः**
**प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥७॥**

**पदपाठ—** आसीनासः। अरुणीनाम्। उपऽस्थे। रयिम्। धत्त। दाशुषे। मर्त्याय॥ पुत्रेभ्यः। पितरः। तस्य। वस्वः। प्र। यच्छत। ते। इह। ऊर्जम्। दधात॥

**सा० भा०**— आरुणीनाम् आरोचमानानां ज्वालानां वा देवतानां वा उपस्थे समीपस्थाने वेद्याख्ये आसीनासः उपविष्टाः पितरो यूयं दाशुषे हविर्दत्तवते मर्त्याय मनुष्याय यजमानाय रयिं धनं धत्त दत्त। हे पितरः यूयं तस्य यजमानस्य पुत्रेभ्यः वस्वः वसुं धनं प्र यच्छत। ते तादृशा यूयम् इह अस्मिन् अस्मदीये कर्मणि ऊर्जं धनं दधात निधत्त॥

**अन्वय**— आरुणीनाम् उपस्थे आसीनासः दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त। पितरः, तस्य पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत, ते इह ऊर्जं दधात।

**पदार्थ**— आरुणीनाम् = प्रकाशमान ज्वालाओं अथवा देवताओं की। उपस्थे = गोद में, समीप में। आसीनासः = आसीन हुए, बैठे हुए। दाशुषे = हवि प्रदान करने वाले। मर्त्याय = मनुष्य के लिए। रयिम् = धन को। धत्त = धारण करो, प्रदान करो। पितरः = हे पितरो । तस्य = उसके। पुत्रेभ्यः = पुत्रों के लिए। वस्वः = धनों को। प्रयच्छ = प्रदान करो। ते = वे। इह = इस (कर्म) में। ऊर्जम् = धन को। दधात = प्रदान करो।

**अनुवाद**— (हे पितर) प्रकाशमान ज्वालाओं (अथवा देवताओं) की गोद (समीप) में बैठे हुए (तुम) हवि प्रदान करने वाले मनुष्य के लिए धन को प्रदान करो। हे पितरो, उस (हविष्प्रदाता) के पुत्रों के लिए धनों को प्रदान करो। वे (तुम) इस (कर्म) में धन को प्रदान करो।

**व्याकरण**—

१. आसीनासः – √आस् + शानच्, प्रथमा बहुवचन, आसीनाः का वैदिकरूप।
२. धत्त – √धा + लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन।
३. दाशुषे – √दाशृ + क्वसु, चतुर्थी एकवचन।
४. यच्छत – √यम् लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन।

**ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासो-**
**ऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।**
**तेभिर्यमः संरराणो हवीं-**
**ष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥८॥**

**पदपाठ**— ये। नः। पूर्वे। पितरः। सोम्यासः। अनुऽऊहिरे। सोमऽपीथम्। वसिष्ठाः॥ तेभिः। यमः। सम्ऽरराणः। हवींषि। उशन्। उशत्ऽभिः। प्रतिऽकामम्। अत्तु॥

**सा० भा०**— सोम्यासः सोमसम्पादिनः वसिष्ठाः । वस्तृतमाः कृताच्छादना धनवत्तमा वा नः अस्माकं ये पूर्वे पितरः सोमपीथं सोमपानम् अमूहिरे अनुपूर्व्येण देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च प्राप्नुवन्तः । दत्तवन्त इत्यर्थः । उशन् पितृभिः सह सम्भोगं कामयमानः यमः पितृपतिः उशद्भिः यमेन सह सम्भोगं कामयमानैः तेभिः तैरस्मदीयैः पितृभिः सह रराणः रममाणः हवींषि अस्माभिर्दत्तानि प्रतिकामं कामंकामं प्रति अत्तु । यानि यानि हवींषि कामयत्ते तानि तानि भक्षयत्वित्यर्थः ।।

**अन्वय**— नः ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः सोमपीथम् अनु ऊ हिरे, उशद्भिः तेभिः संरराणः उशन् यमः हवींषि प्रतिकामम् अत्तु ।

**पदार्थ**— नः = हमारे । ये = जो । पूर्वे = प्राचीन । सोम्यासः = सोम से प्रेम करने वाले अथवा सोम को निष्पन्न (सवन) करने वाले । वसिष्ठाः = श्रेष्ठ अथवा वस्त्र से शरीर को ढकने वाले । पित्तरः = पित्तर । सोमपीथम् = सोमपान को । अनु हिरे = प्राप्त किये थे, अनुक्रम से प्राप्त किये थे । उशद्भिः = कामना करने वालों के साथ । तेभिः = उनके साथ । संरराणः = आनन्दित होते हुए । उशन् = कामना करते हुए । यमः = यम । हवींषि = हविर्द्रव्यों को । प्रतिकामम् = इच्छानुसार । अत्तु = खायें, भक्षण करें ।

**अनुवाद**— हमारे जो प्राचीन (पूर्ववर्ता) सोम से प्रेम करने वाले (अथवा सोम को निष्पन्न करने वाले) श्रेष्ठ (अथवा वस्त्र से शरीर को ढकने वाले) पित्तर सोमपान को प्राप्त किये हैं (अथवा अमुक्रम से प्राप्त किये हैं), कामना करने वाले उन (पित्तरों) के साथ आनन्दित होते हुए (और हविर्द्रव्यों की) कामना करते हुए यम हविर्द्रव्यों को खायें ।

**व्याकरण**—

१. अनु हिरे – अनु + √वह् (वहकनना) आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. सोमपीथम् – सोम + √पी + थक् ।

३. वशिष्ठाः – √वस् + इष्ठम् ।

४. संरराणः – सम् + √रा (दाने) + कानच् ।

५. अत्तु – √अद् (भक्षणे) + लोट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना

होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।

अग्नै याहि सुविदत्रैभिरर्वाङ्
सत्यैः कव्यैः पितृभिर्धर्मसद्भिः ॥९॥

**पदपाठ—** ये । ततृषुः । देवऽत्रा । जेहमानाः । होत्राऽविदः । स्तोमऽतष्टासः । अर्कैः ॥ आ । अग्ने । याहि । सुऽविदत्रैभिः । अर्वाङ् । सत्यैः । कव्यैः । पितृऽभिः । धर्मसत्ऽभिः ॥

**सा०भा०—** देवत्रा देवान् जेहमानाः क्रमेण गच्छन्तः क्रमेण देवत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । होत्राविदः यज्ञान् सम्यक् कर्तुं वेदितारः अर्कैः अर्चनीयैः स्तोत्रैः स्तोमतष्टासः स्तोमानां च सम्यक्कर्तारः ये पितरः तातृषुः तृष्यन्ति हे अग्ने त्वं तैः पितृभिः अर्वाङ् अस्मदभिमुखः आ याहि आगच्छ । कीदृशैः । सुविदत्रेभि सुविदत्रैः सत्यैः अविसंवादिभिः कव्यैः । कव्यं नाम पितृदेवत्यं हविः । तत्सम्बन्धिभिः । यद्वा कव्यैः कविभिर्मेधाविभिः । स्वार्थिको यत् । धर्मसद्भिः यज्ञसादिभिः ॥

**अन्वय—** देवत्रा जेहमानाः होत्राविदः अर्कैः स्तोमतष्टासः ये तातृषुः, अग्ने सुविदत्रेभिः सत्यैः कव्यैः धर्मसद्भिः पितृभिः अर्वाङ् आ याहि ।

**पदार्थ—** देवत्राः = देवताओं की ओर । जेहमानाः = क्रम से जाते हुए । होत्राविदः = यज्ञविधियों को जानने वाले । अर्कैः = स्तोत्रों द्वारा । स्तोमतष्टासः = यज्ञों को सम्पादित करने वाले । ये = जो (पितर) । तातृषुः = तृष्णा करते हैं, इच्छा करते हैं, प्यासे हैं । अग्ने = हे अग्नि (देव) । सुविदत्रेभिः = सुन्दर ज्ञान वाले । सत्यैः = सत्य बोलने वाले । कव्यैः = (पितरों के दिये जाने वाले) भक्ष्य अन्नों वाले । धर्मसद्भिः = यज्ञ में अवस्थित होने वाले । पितृभिः = पितरों के साथ । आ याहि = आओ ।

**अनुवाद—** देवताओं की ओर क्रम से जाते हुए, यज्ञ विधियों को जानने वाले (और) स्तोत्रों द्वारा यज्ञों को सम्पादित करने वाले जो (मितर) इच्छा करते हैं (या प्यासे हैं), हे अग्नि (उन) सुन्दर ज्ञान वाले, सत्य बोलने वाले, (पितरों को दिये जाने वाले) भक्ष्य अन्नों वाले (और) यज्ञ में अवस्थित होने वाले पितरों के साथ (यहाँ) आओ ।

**व्याकरण—**

१. तातृषुः – √तृष् + लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिक दीर्घता ।

२. जेहमानाः – √जेह् + शानच्, प्रथमा बहुवचन ।

३. स्तोमतष्टासः – स्तोम + √स्तु + मन् = तष्टास, प्रथमा बहुवचन वैदिकरूप ।

४. आ याहि – आ + √या + लोट् मध्यमपुरुष एकवचन ।

**विशेष—**

१. मैक्डानल के अनुसार तातृषुः = प्यासे हैं, सुविदत्रेभिः = उदार, धर्मसद्भिः = गर्म पात्र पर बैठे हुए, यह अर्थ है।

**ये स॒त्यासो॑ हवि॒रदो॑ हवि॒ष्पा**

**इन्द्रे॑ण दे॒वैः स॒रथं॒ दधा॑नाः ।**

**आग्ने॑ याहि स॒हस्रं॑ देवव॒न्दैः**

**परै॒ः पूर्वैः॑ पि॒तृभि॑र्घर्म॒सद्भिः ॥१०॥**

**पदपाठ—** ये । स॒त्यासः॑ । ह॒वि॒ःऽअदः॑ । ह॒वि॒ःऽपाः॑ । इन्द्रे॑ण । दे॒वैः । स॒ऽरथ॑म् । दधा॑नाः ॥ आ । अ॒ग्ने॒ । या॒हि॒ । स॒हस्र॑म् । दे॒व॒ऽव॒न्दैः । परैः॑ । पूर्वैः॑ । पि॒तृऽभिः॑ । घ॒र्म॒सत्ऽभिः॑ ॥

**सा० भा०—** सत्यासः सत्याः ते पितरः हविरदः भक्षणयोग्यस्य हविषोऽत्तारो भक्षयितारः हविष्पाः पानयोग्यस्य हविषः पातारः इन्द्रेण देवैः सरथं समानमेकं तुल्यं वा रथं दधानाः । लडर्थे शानच् । गमनाय सदा धारयन्ति हे अग्ने तैः पितृभिः सह आ याहि आगच्छ । कीदृशः । सहस्रम् । तृतीयार्थे प्रथमा । सहस्रेण । बहुभिरित्यर्थः । देववन्दैः देवसम्बन्धिभिः स्तोत्रैर्युक्तः परैः परकालीनैः पूर्वैः पूर्वकालीनैः । धर्मसद्भिर्यज्ञसादिभिर्म-हावीरसादिभिरादित्यसादिभिर्वा ॥

**अन्वय—** सत्यासः हविरदः हविष्पाः ये इन्द्रेण देवैः दधानाः, अग्ने, सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः धर्मसद्भिः पितृभिः आ याहि ।

**पदार्थ—** सत्यासः = सत्य बोलने वाले। हविरदः = हवि का भक्षण करने वाले। हविष्पाः = हवि की रक्षा करने वाले। ये = जो। इन्द्रेण = इन्द्र के साथ। देवैः = देवताओं के साथ। सरथम् = एक ही रथ को। दधानाः = धारण करते हुए। अग्ने = हे अग्नि। सहस्रम् = हज़ारों। देववन्दैः = देवता-विषयक स्तोत्रों से युक्त। परैः = परवर्ती। धर्मसद्भिः = यज्ञ में अवस्थित। पितृभिः = पितरों के साथ। आ याहि = आओ।

**अनुवाद—** सत्य बोलने वाले, हवि का भक्षण करने वाले, हवि की रक्षा करने वाले जो इन्द्र और (अन्य) देवताओं के साथ समान रथ को धारण करने हुए (एक समान रथ पर बैठे हुए) (पितर हैं) हे अग्नि, (उन) हज़ारों देवताविषयक स्तोत्रों से युक्त, परवर्ती, पूर्ववर्ती, यज्ञ में अवस्थित पितरों के साथ यहाँ आओ।

व्याकरण—

१. हविष्या – √हविस् + √पा + क = हविष्य, प्रथमा बहुवचन।

२. सत्यासः – प्रथमा बहुवचन सत्याः का वैदिकरूप।

३. दधानाः = √धा + शानच्, प्रथमा बहुवचन।

**अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत**
**सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।**
**अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हि-**
**ष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥११॥**

**पदपाठ—** अग्निस्वात्ताः। पितरः। आ। इह। गच्छत। सदःऽसदः। सदत। सुऽप्रनीतयः॥ अत्त। हवींषि। प्रऽयतानि। बर्हिषि। अथ। रयिम्। सर्वऽवीरम्। दधातन॥

**सा० भा०—** अग्निष्वात्ताः अग्निना स्वादिता एतन्नामकाः पितरः यूयम् इह अस्मिन् पितृकर्मणि आगच्छत। आगत्य च हे सुप्रणीतयः अभिपूजितप्रणयनाः यूयं सदःसदः तत्तत्स्थानं सदत सीदत। तत्र तत्र स्थाने यथेष्टमुपविशतेत्यर्थः। उपविश्य च बर्हिषि आसादितानि प्रयतानि शुचीनि हवींषि अत्त भक्षयत। अथ अनन्तरं सर्ववीरं सर्वैर्वीरैः पुत्रपौत्रैरुपेतं रयिं धनं दधातन अस्मभ्यं दत्त॥

**अन्वय—** अग्निष्वाताः पितरः इह आ गच्छत, सुप्रणीतयः सदः सदः सदत। बर्हिभिः प्रयतानि हवींषि अत्त, अथ सर्ववीरं रयिं दधातन।

**पदार्थ—** हे अग्निष्वाताः = अग्नि द्वारा जलाये गये। पितरः = हे पितरो। इह = यहाँ। आगच्छत = आओ। सुप्रणीतयः = हे सुन्दर नेत्र वाले अथवा अच्छी प्रकार प्रसन्न किये गये। सदः सदः = अपने-अपने स्थान पर। सदत = बैठो। बर्हिषि = कुशाओं के ऊपर। प्रयतानि = प्रदान किये गये, दिये गये। हवींषि = हविर्द्रव्यों को। अत्त = भक्षण करो। अथ = इसके बाद। सर्ववीरम् = सभी वीर पुत्रादिकों से युक्त। रयिम् = धन को। दधातन = प्रदान करो।

**अनुवाद—** हे अग्नि द्वारा जलाये गये पितरो, यहाँ आओ। हे सुन्दर नेत्र वाले (अथवा अच्छी प्रकार से प्रसन्न किये गये) अपने-अपने स्थान पर बैठो, कुशाओं के ऊपर प्रदान किये गये हविर्द्रव्यों का भक्षण करो, इसके बाद सभी वीर पुत्रादिकों से युक्त धन को प्रदान करो।

**व्याकरण—**

१. अग्निष्वाताः – अग्निषु स्वात्ताः (तत्पुरुष) सम्बोधन बहुवचन।

२. आगच्छत – आ + √गम् + लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

३. सदत – √सद् लोट्मूलक लुङ् मध्यमपुरुष बहुवचन।

४.सुप्रणीतयः – सु + प्र + √नी + सुप्रनीति, सम्बोधन बहुवचन।

५. अत्त – √अद् (भक्षणे) लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

६. अथा – वैदिक पदान्त स्वर की दीर्घता।

त्वमग्न ईळितो जातवेदो-
ऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्ष-
न्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥१२॥

**पदपाठ—** त्वम्। अग्ने। ईळितः। जातऽवेदः। अवाट्। हव्यानि। सुरभीणि। कृत्वी॥ प्र। अदाः। पितृऽभ्यः। स्वधया। ते। अक्षन्। अद्धि। त्वम्। देव। प्रऽयता। हवींषि॥

**सा० भा०—** हे जातवेदः। जातं सर्वं जगद्वेत्तीति जातवेदाः। तथाविध हे अग्ने ईळितः अस्माभिः स्तुतः त्वं हव्यानि अस्मदीयानि हवींषि सुरभीणि सुगन्धीनि कृत्वी कृत्वा अवाट् वहनं कृतवानसि। कृत्वा च पितृभ्यः प्रादाः। ते च पितरः स्वधया स्वधाकारेण दत्तं हविः अक्षन् अदन्तु। हे देव त्वम् अपि प्रयता प्रयत्नसम्पादितानि हवींषि अद्धि भक्षय॥

**अन्वय—** जातवेद अग्ने, ईळितः हव्यानि सुरभीणि कृत्वी अवाट् पितृभ्यः प्रादाः, ते स्वधया अक्षन्। देव, त्वम् प्रयता हवींषि अद्धि।

**पदार्थ—** जातवेद = हे जातवेद (उत्पन्न हुए जगत् को जानने वाले)। अग्ने = हे अग्नि। ईळितः = स्तुति किये गये (तुम)। हव्यानि = हविर्द्रव्यों को। सुरभीणि = सुगन्धित। कृत्वी = करके। अवाट् = ढोये हैं, वहन किये हैं। पितृभ्यः = पितरों के लिए। प्रदाः = प्रदान किये गये हो। ते = उन (पितरों) ने। स्वधया = स्वधा के साथ। अक्षन् = खाया है। त्वम् = तुम। प्रयता = प्रदान किये गये। हवींषि = हविर्द्रव्यों को। अद्धि = भक्षण करो।

**अनुवाद**— हे जातवेद अग्नि, स्तुति किये गये (तुम) हविर्द्रव्यों को सुगन्धित करके वहन किये (ले गये) हो (और) पितरों के लिए प्रदान किये हो। (उस हविर्द्रव्यों को) उन (पितरों) ने स्वधा (शब्द) के साथ खाया है, तुम प्रदान किये गये हविर्द्रव्यों को भक्षण करो।

**व्याकरण**—

१. इळितः – √ईड् + क्त, प्रथमा एकवचन।

२. अवाट् – √वह, लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

३. कृत्वी – √कृ + त्व अर्थ में वैदिक त्वी प्रत्यय।

४. प्रादाः – प्र + √दा + लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

५. अक्षन् – √घस् (भक्षणे) + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

६. अद्धि – √अद् (भक्षणे) लङ् मध्यमपुरुष एकवचन।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च
विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः
स्वधाभिर्यज्ञं सकृतं जुषस्व ॥१३॥

**पदपाठ**— ये। च। इह। पितरः। ये। च। न। इह। यान्। च। विद्म। यान्। ऊँ इति। च। न। प्रऽविद्म॥ त्वम्। वेत्थ। यति। ते। जातऽवेदः। स्वधाभिः। यज्ञम्। सुऽकृतम्। जुषस्व॥

**सा० भा०**— ये च पितरः इह अस्मत्समीपे वर्तन्ते ये च इह न सन्ति। यांश्च पितॄन् विद्म सन्निकृष्टत्वात्वाज्जानीमः याँ उ च न अपि च न प्रविद्म विप्रकृष्टत्वाद्वयं न विजानीमः। यति ते यावन्तस्ते भवन्ति तान् सर्वान् यथोक्तान् हे जातवेदः उत्पन्न-सर्ववस्तुविषयज्ञानाग्ने त्वं वेत्थ जानासि। स्वधाभिः हविर्लक्षणैरन्नैः सुकृतं साधुकृतं यज्ञं जुषस्व प्रीत्या गृहाण॥

**अन्वय**— ये च पितरः इह, ये च इह न, यान् च विद्म, यान् च उ न विद्म, यति ते जातवेदः त्वं वेत्थ, स्वधाभिः सुकृतं यज्ञं जुषस्व।

**पदार्थ**— ये = जो। पितरः = पितर। इह = यहाँ (हैं)। ये च = और जो। इह = यहाँ। न = नहीं (हैं)। यान् = जिन (पितरों) को। विद्म = हम लोग जानते

हैं। यान् च = और जिनको। उ = निश्चित रूप से। न विद्म = हम लोग नहीं जानते हैं। यति = जितने। ते = वे (पितर हैं)। जातवेदः = सबको जानने वाले (अग्नि)। त्वम् = तुम। वेत्थ = जानते हो। स्वधाभिः = स्वधा के साथ। सुकृतम् = अच्छी प्रकार से तैयार किये गये। यज्ञम् = यज्ञ को। जुषस्व = स्वीकार करो।

**अनुवाद**— जो पितर यहाँ (इस याग में) हैं और जो नहीं है, जिन (पितरों) को हम लोग जानते है और जिनको हम लोग निश्चित रूप से नहीं जानते हैं, हे सबको जानने वाले (अग्नि), तुम (उन सभी को) जानते हो। स्वधा के साथ अच्छी प्रकार तैयार किये गये यज्ञ को तुम स्वीकार करो।

**व्याकरण**—

१. विद्म – √विद् लिट् उत्तमपुरुष बहुवचन।
२. याँ उ – स्वर वाद में होने से आकार से बाद वाले नकार का लोम और पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक हो गया है।
३. वेत्थ – √विद्, लट् मध्यमपुरुष बहुवचन।
४. जुषस्व – √जुष् (आनन्द करना), आत्मनेपद लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**ये अ॒ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒**
**मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।**
**तेभि॑ः स्व॒राळसु॑नीतिमे॒तां**
**य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयस्व ॥१४॥**

**पदपाठ**— ये। अ॒ग्नि॒ऽद॒ग्धाः। ये। अन॑ग्निऽदग्धाः। मध्ये॑। दि॒वः। स्व॒धया॑। मा॒दय॑न्ते॥ तेभि॑ः। स्व॒ऽराट्। असु॑ऽनीतिम्। ए॒ताम्। य॒था॒ऽव॒शम्। त॒न्व॑म्। क॒ल्प॒य॒स्व॒॥

**सा० भा०**— ये पितरः अग्निदग्धाः अग्निना भस्मीकृताः। श्मशानं प्राप्ता इत्यर्थः। ये च पितरः अनग्निदग्धाः श्मशानकर्म न प्राप्ताः मध्ये दिवः द्युलोकस्य मध्ये स्वधया हविर्लक्षणेनान्नेन मादयन्ते तृप्यन्ति हे अग्ने स्वराट् स्वकर्मोपभोगेन दीप्यमानः तेभिः तैः पितृभिः सहितः सन् असुनीतिं प्राणानां विषयेषु नेतारमस्मत्पित्रन्तरात्मानम् एतां तन्वम् एतद्देवताशरीरं यथावशं यथाकामं कल्पयस्व समर्थयस्व। ग्रासयेत्यर्थः॥

**अन्वय**— ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धाः दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते, स्वराट्

तेभिः असुनीतिम् एताम् तन्वं यथावशं कल्पयस्व।

**पदार्थ—** ये = जो। अग्निदग्धाः = अग्नि में जालाये गये। ये = जो। अनग्निदग्धाः = अग्नि में नहीं जलाये गये। दिवः मध्ये = द्युलोक के बीच में। स्वधया = स्वधा के साथ। मादयन्ते = आनन्दित किये जाते हैं। स्वराट् = स्वयं दीप्तिमान्। तेभिः = उनके साथ। असुनीतिम् = प्राण को धारण कराने वाले। एताम् = उस। तन्वम् = शरीर को। यथावशम् = स्वेच्छया, इच्छानुसार। कल्पयस्व = ग्रहण कराओ।

**अनुवाद—** जो (पितर) अग्नि में जलाये गये (हैं) (और) जो अग्नि में नहीं जलाये गये हैं, वे द्युलोक के मध्य में स्वधा के साथ आनन्दित किये जाते हैं, (हे अग्नि) स्वयं दीप्तिमान् (तुम) उनके साथ प्राण को धारण कराने वाले उस शरीर को स्वेच्छया ग्रहण कराओ।

**व्याकरण—**

१. अग्निदग्धाः – अग्नि + दिह् + क्त = अग्निदग्ध, प्रथमा बहुवचन, अग्निषु दग्धाः (तत्पुरुष)।

२. मादयन्ते – √मद् + णिच्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. स्वराट् – स्व + √राज् + क्विप्।

४. कल्पयस्व – √क्लृप् + आत्मनेपद, लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

## १८. अक्षसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१० | सूक्त संख्या–३४
ऋषि–ऐलूष कवष | देवता–अक्ष ऋषिः | छन्द–७ जगती, अवशिष्ट त्रिष्टुप्

**प्रा॒वे॒पा मा॑ बृह॒तो मा॑दयन्ति**
**प्रवा॒ते॒जा इरि॑णे॒ वर्वृ॑तानाः ।**
**सोम॑स्येव मौजव॒तस्य॑ भ॒क्षो**
**वि॒भीद॑को॒ जागृ॑वि॒र्मह्य॑मच्छान् ॥१॥**

**पदपाठ**—प्रा॒वे॒पाः । मा॒ । बृ॒ह॒तः । मा॒द॒य॒न्ति॒ । प्र॒वा॒ते॒ऽजाः । इरि॑णे । वर्वृ॑तानाः ॥ सोम॑स्यऽइव । मौ॒ज॒ऽव॒तस्य॑ । भ॒क्षः । वि॒ऽभीद॑कः । जागृ॑विः । मह्य॑म् । अ॒च्छा॒न् ॥

**सा०भा०**— बृहतः महतो विभीतकस्य फलत्वेन सम्बन्धिनः प्रवातेजाः प्रवणे देशे जाताः इरिणे आस्फारे वर्वतानाः प्रवर्तमानाः प्रावेपाः प्रवेपिणः कम्पनशीला अक्षाः मा मां मादयन्ति हर्षयन्ति । किंच जागृविः जयपराजययोर्हर्षशोकाभ्यां कितवानां जागरणस्य कर्त्ता विभीदकः विभीदकविकाराऽक्षो मह्यं माम् अच्छान् अचच्छदत् अत्यर्थं मादयति । तत्र दृष्टान्तः । सोमस्येव यथा सोमस्य मौजवतस्य । मूजवति पर्वते जातो मौजवतः । तस्य । तत्र ह्युत्तमः सोमो जायते । भक्षः पानं यजमानान् देवांश्च मादयति तद्वदित्यर्थः । तथा च यास्कः– 'प्रवेपणो मा महतो विभीतकस्य फलानि मादयन्ति । प्रवातेजाः प्रवणेजा इरिणे वर्तमाना इरिणं निर्ऋणमृणातेरपार्णं भवत्यपरता अस्मादोषधय इति वा । सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो मौजवतो मूजवति जातो मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकयेषीकेषतेर्गतिकर्मण इयमपीतरेषीकैतस्मादेव विभीदको विभेदनाज्जागृविर्जागरणन्मह्यमचच्छदत्' (निरु० ९.८) इति ।

**अन्वय**— प्रवातेजाः बृहतः इरिणे वर्वृताना प्रावेपाः मा मादयन्ति । मौजवतस्य सोमस्य भक्ष इव जागृविः विभीदकः मह्यम् अच्छान् ।

**पदार्थ—** प्रवातेजाः = तेज वायु वाले स्थानों में उत्पन्न होने वाले; ढालू प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले। बृहतः = बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त। इरिणे = अक्ष-फलक (खेलने के फर्श, चौपड़, अक्षपटल) पर। वर्वृतानाः = बार-बार नाचते हुए (लुढ़कते हुए)। प्रावेपाः = कम्पनशील, काँपते हुए। मा = मुझको। मादयन्ति = आनन्दित (उन्मादित, मस्त) करते हैं। मौजवतस्य = मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले। सोमस्य = सोमरस के। भक्ष इव = भक्षण (पान) के समान। जागृविः = जगाने वाला, जागृत रखने वाला। विभीदकः = बहेड़ा का बीज, अक्ष; जुए का पासा। मह्यम् = मुझको। अच्छान् = आनन्दित करता है, आह्लादित करता है।

**अनुवाद—** तेज वायु वाले स्थान में उत्पन्न होने वाले तथा बड़े (विभीतक वृक्ष) से प्राप्त (जुए के पासे) अक्षफलक पर बार-बार नाचते हुए (लुढ़कते हुए) तथा काँपते हुए मुझको आनन्दित करते हैं। (जुआरियों को) जगाने वाला जुए का पासा (बहेड़े का बीज, अक्ष) मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम के पान (भक्षण) के समान मुझको आनन्दित करता है। (अर्थात् जिस प्रकार मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न होने वाले सोम का पान व्यक्ति को मदोन्मत्त कर देता है, उसी प्रकार जुआड़ियो को रात-दिन जगाने वाला जुए का पासा मुझको अत्यधिक उन्मादित करता है। जो व्यक्ति जुए में जीतता है वह हर्ष से जागता है और जो व्यक्ति जुए में हारता है, वह दुख से जागता है। अतः जुए को जगाने वाला कहा गया है)।

**व्याकरण—**

१. वर्वृतानाः – √वृत् (होना) + लङ्-लुक् + शानच्, प्रथमा बहुवचन।

२. मादयन्ति – √मद् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + णिच् (मादय्) + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. अच्छान् – √छन्द् (प्रसन्न करना, आनन्दित करना) + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**न मा मिमेथ न जिहीळ एषा**
**शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।**
**अक्षस्याहमेकपरस्य हेतो-**
**रनुव्रतामप जायामरोधम् ॥२॥**

पदपाठ— न। मा। मिमेथ। न। जिहीळे। एषा। शिवा। सखिभ्यः।

उत । मह्यम् । आसीत् ॥ अक्षस्य । अहम् । एकऽपरस्य । हेतोः । अनुऽव्रताम् । अप । जायाम् । अरोधम् ॥

**सा० भा०**— एषा अस्मदीया जाया मा मां कितवं न मिमेथ न चुक्रोध, न जिहीळे न च लज्जितवती। सखिभ्यः अस्मदीयेभ्यः शिवा सुखकरी आसीत् अभूत्। उत अपि च मह्यं शिवासीत् । इत्थम् । अनुव्रताम् अनुकूलां जायाम् एकपरस्य एकः परः प्रधानं यस्य तस्य अक्षस्य हेतोः कारणात् अहम् अप अरोधं परित्यक्त-वानस्मीत्यर्थः ।

**अन्वय**— एषा मा न मिमेथ, न जिहीळे, सखिभ्यः उत मह्यम् शिवा आसीत्, अहम् एकपरस्य अक्षस्य हेतोः अनुव्रताम् जायाम् अप अरोधम् ।

**पदार्थ**— एषा = यह (मेरी पत्नी)। मा = मुझको, मुझसे। न = नहीं। मिमेथ = कलह (झगड़ा) करती थी। न = नहीं। जिहीळे = क्रोध करती थी। सखिभ्यः = मित्रों के लिए। उत = और। मह्यम् = मेरे लिए। शिवा = कल्याण-कारिणी। आसीत् = थी। अहम् = मैनें। एकपरस्य = एक है प्रधान जिसमें ऐसे, एकमात्र। अक्षस्य = अक्ष के। हेतोः = कारण। अनुव्रताम् = अनुगमन करने वाली, आज्ञाकारिणी। जायाम् = पत्नी को। अप अरोधम् = परित्याग कर दिया, छोड़ दिया, घर से निकाल दिया।

**अनुवाद**— यह (मेरी पत्नी) मुझसे कलह (झगड़ा) नहीं करती थी और न मुझ पर क्रोध करती थी। मेरे मित्रों के लिए और मेरे लिए यह कल्याणकारी (अच्छा व्यवहार करने वाली) थी। एकमात्र जुए के कारण मैनें अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी का परित्याग कर दिया।

**व्याकरण**—

१. मिमेथ – √मिथ् (कलह करना, हिंसा करना) + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।
२. जिहीळे – √हीड् (क्रोध करना) + लिट्, प्रथम पुरुष एकवचन। दो स्वरों के मध्य में आने के कारण ड् का ळ् हो गया है।
३. अरोधम् – √रुध् (रोकना) + लुङ्, उत्तमपुरुष एकवचन का वैदिक रूप।

**द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि**
**न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।**
**अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य**
**नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥३॥**

**पदपाठ**— द्वेष्टि । श्वश्रूः । अप । जाया । रुणद्धि । न । नाथितः । विन्दते । मर्डितारम् ॥ अश्वस्यऽइव । जरतः । वस्न्यस्य । न । अहम् । विन्दामि । कितवस्य । भोगम् ॥

**सा० भा०**— श्वश्रूः जायाया माता गृहगतं कितवं द्वेष्टि निन्दतीत्यर्थः । किंच जाया भार्या अप रुणद्धि निरुणद्धि । अपि च नाथितः याचमानः कितवो धनं मर्डितारं धनदानेन सुखयितारं न विन्दते न लभते । इत्थं बुद्ध्या विमृशन् अहं जरतः वृद्धस्य वस्न्यस्य । वस्नं मूल्यं तदर्हस्य अश्वस्येव कितवस्य भोगं न विन्दामि न लभे ।

**अन्वय**— श्वश्रूः द्वेष्टि, जाया अप रुणद्धि, नाथितः मर्डितारम् न विन्दते । अहम् वस्न्यस्य जरतः अश्वस्य इव कितवस्य भोगम् न विन्दामि ।

**पदार्थ**— श्वश्रूः = सास, पत्नी की माता । द्वेष्टि = द्वेष करती है । जाया = पत्नी । अप रुणद्धि = रोकती है, दूर भगा देती है, ढकेल देती है । नाथितः = याचना करता हुआ (जुआड़ी) । मर्डितारम् = सुख देने वाले को,दया करने वाले को । न = नहीं । विन्दते = प्राप्त करता है । अहम् = मैं । वस्न्यस्य = बहुमूल्य बेचे जाने वाले । जरतः = वृद्ध । अश्वस्य इव = घोड़े के समान । कितवस्य = जुआड़ी के । भोगम् = उपभोग । न विन्दामि = नहीं प्राप्त करता हूँ, नहीं पाता हूँ ।

**अनुवाद**— (जुआड़ी से उसकी) सास द्वेष करती है, उसकी पत्नी उसे दूर भगा देती है । (जुआ खेलने के लिए धन की) याचना करता हुआ जुआड़ी (धन देकर) सुख देने वाले (व्यक्ति) को नहीं प्राप्त करता हैं । मैं बहुमूल्य वृद्ध घोड़े के समान जुआड़ी को कोई उपभोग नहीं पाता हूँ (जुआड़ी जिस प्रकार बहुमूल्य अश्व भी वृद्ध होने के कारण उपयोग के अयोग्य हो जाता है, इसी प्रकार जुआड़ी व्यक्ति समाज के लिए भार बन जाता है) ।

**व्याकरण**—

१. द्वेष्टि – √द्विष् (द्वेष करना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. रुणद्धि – √रुध् (रोकना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. नाथितः – √नाथ् (याचना करना) + क्त, प्रथमा एकवचन ।

४. मर्डितारम् – √मृड् (सुख देना) + तृच्, द्वितीया एकवचन ।

५. विन्दते – √विद् (प्राप्त करना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन वैदिक रूप ।

६. जरतः – √जॄ (वृद्ध होना) + शतृ + षष्ठी एकवचन ।

७. विन्दामि – विद् (प्राप्त करना) + लट् उत्तमपुरुष एकवचन ।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य
यस्यागृधद्वेदने वाज्य१क्षः ।
पिता माता भ्रातर एनमाहु-
र्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥

**पदपाठ—** अन्ये । जायाम् । परि । मृशन्ति । अस्य । यस्य । अगृधत् । वेदने । वाजी । अक्षः ॥ पिता । माता । भ्रातरः । एनम् । आहुः । न । जानीमः । नयत । बद्धम् । एतम् ॥

**सा०भा०—** यस्य कितवस्य वेदने धने वाजी बलवान् अक्षः देवः अगृधत् अभिकाङ्क्षां करोति तस्य अस्य कितवस्य जायां भार्याम् अन्ये प्रतिकितवाः परिमृशन्ति वस्त्रकेशाद्याकर्षणेन संस्पृशन्ति। किंच पिता जननी च भ्रातरः सहोदराश्च एनं कितवम् आहुः वदन्ति न वयमस्मदीयमेनं जानीमः । रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं हे कितवाः यूयं नयत यथेष्टदेशं प्रापयेति ।

**अन्वय—** यस्य वेदने अक्षः अगृधत्, अस्य जायाम् अन्ये परिमृशन्ति, पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः बद्धम् एनम् नयत ।

**पदार्थ—** यस्य = जिस (व्यक्ति) के। वेदने = धन पर। वाजी = बलवान्। अक्षः = जुए का पासा। अगृधत् = लाया गया, लोभ किया। अस्य = इस (जुआड़ी) की। जायाम् = पत्नी को। अन्ये = दूसरे लोग। परि मृशन्ति = छूते हैं, छेड़ते हैं, आलिंगन करते है, वस्त्र केशादि खोलकर अपमानित करते हैं। पिता-माता भ्रातरः = पिता, माता एवं भाई। एनम् आहुः = इसके विषय में कहते हैं। न जानीमः = नहीं जानते हैं। बद्धम् एनम् = बँधे हुए इसको। नयत = ले जाओ।

**अनुवाद—** जिस (व्यक्ति) के धन पर बलवान् जुए का पासा ललचाया (ललचाने लगता है) (अर्थात् जो अपने धन को जुए में लगाने लगता है), उस (जुआड़ी) की पत्नी को दूसरे लोग छूते हैं (आलिङ्गन करते हैं अथवा वस्त्र केश आदि खींचकर अपमानित करते हैं)। (जुआड़ी के) पिता, माता और भाई इस (जुआड़ी) के विषय में (राजकर्मचारी या ऋणदाता से) कहते हैं कि हम इसको नहीं जानते (इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है)। इसे बाँधकर ले जाओ (अथवा बँधे हुए इसको जहाँ चाहो वहाँ ले जाओ)।

व्याकरण—

१. अगृधत् – √गृध् (लालच करना) + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन, वैदिक रूप।

२. मृशन्ति – √मृश् (स्पर्श करना) + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. आहुः – √आह् (कहना) + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. जानीमः – √ज्ञा (जानना) + लट्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

५. नयत – √नी (ले जाना) + लोट्, मध्यमपुरुष बहुवचन। छान्दसदीर्घ है।

६. वाज्य१ क्षः – वाजी + अक्षः, क्षैप्र सन्धि। क्षैप्र स्वरित के बाद उदात्त आने से कम्प।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः
परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

**पदपाठ—** यत्। आऽदीध्ये। न। दविषाणि। एभिः। परायत्ऽभ्यः। अव। हीये। सखिऽभ्यः॥ निऽउप्ताः। च। बभ्रवः। वाचम्। अक्रत। एमि। इत्। एषाम्। निःऽकृतम्। जारिणीऽइव॥

**सा० भा०—** यत् यद्वदा अहम् आदीध्ये ध्यायामि तदानीम् एभिः अक्षैः न दविषाणि न दूषये न परितपामि। यद्वा। न दविषाणि न देविष्यामीत्यर्थः। परायद्भ्यः स्वयमेव परागच्छद्भ्यः सखिभ्यः सखिभूतेभ्यः कितवेभ्यः अव हीये अवहितो भवामि। नाहं प्रथममक्षान् विसृजामीति। किंच बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः न्युप्ताः कितवैरवक्षिप्ताः सन्तः वाचमक्रत शब्दं कुर्वन्ति। तदा सङ्कल्पं परित्यज्य अक्षव्यसनेनाभिभूयमानोऽहम् एषाम् अक्षाणां निष्कृतं स्थानं जारिणीव यथा कामव्यसनेनाभिभूयमाना स्वैरिणी सङ्केतस्थानं याति तद्वत् एमीत् गच्छाम्येव।

**अन्वय—** यत् आदीध्ये एभिः न दविषाणि परायद्भ्यः सखिभ्य अव हीये, बभ्रवः न्युप्ताः वाचम् अक्रत, एषां निष्कृतं जारिणी इव एमि इत्।

**पदार्थ—** यत् = जब। आदीध्ये = विचार करता हूँ, सोचता हूँ, सङ्कल्प (निश्चय) करता हूँ। एभिः = इन (पासों से अथवा इन जुआ खेलने वाले मित्रों) के साथ। न दविषाणि = नहीं खेलूँगा, नहीं जाऊँगा। परायद्भ्यः = (जुए के स्थान

की ओर) जाते हुए। सखिभ्यः = (जुआड़ी) मित्रों से। अव हीये = छुट जाता हूँ, पीछे रहा जाता हूँ, छिप जाता हूँ। बभ्रवः = भूरे रंग वाले। न्युप्ताः = फेके गये (पासे)। वाचम् = शब्द। अक्रत् = किया, करते हैं। एषाम् = इन (पासों) के। निष्कृतम् = खेलने के स्थान पर। जारिणी इव = व्याभिचारिणी स्त्री के समान। एमि इत् = जाता ही हूँ।

**अनुवाद**— जब मैं सोचता हूँ कि इन (पासों) से नहीं खेलूँगा (अथवा-इन जुआड़ियों के साथ नहीं खेलूँगा), तब (जुए के स्थान की ओर) जाते हुए मित्रों से छूट जाता हूँ। किन्तु जब भूरे रंग वाले (पासे) फेंके जाने पर शब्द करते हैं, तब मैं एक व्याभिचारिणी स्त्री के समान इन (पासों) के स्थान पर पहुँच जाता हूँ। (अर्थात् जिस प्रकार व्याभिचारिणी स्त्री जार से मिलने के लिए सङ्केत-स्थल पर पहुँच जाती है, उसी प्रकार मैं जुआघर में पहुँच जाता हूँ)।

**व्याकरण**—

१. आदीध्ये – आ +√धी (विचार करना) लट् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन।

२. दविषाणि – √दिव (जुआ खेलना) या दू (जाना), लेट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

३. हीये – √हा (छोड़ना) कर्मवाच्य, लट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

४. न्युप्ताः – नि + √वप् + क्त प्रथमा बहुवचन।

५. अक्रत – √कृ (करना) + लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन। वैदिक रूप।

६. एमि – √इ (जाना) + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

**स॒भामे॑ति कित॒वः पृ॒च्छमा॑नो**
**जे॒ष्यामीति॑ त॒न्वा॒३ शूशु॑जानः।**
**अ॒क्षासो॑ अस्य॒ वि ति॑रन्ति॒ कामं॑**
**प्रति॒दीव्ने॒ दध॑त॒ आ कृ॒तानि॑ ॥६॥**

**पदपाठ**— स॒भाम्। ए॒ति॒। कि॒त॒वः। पृ॒च्छमा॑नः। जे॒ष्यामि॑। इति॑। त॒न्वा॑। शूशु॑जानः ॥ अ॒क्षासः॑। अ॒स्य॒। वि। ति॒र॒न्ति॒। काम॑म्। प्र॒ति॒ऽदीव्ने॑। दध॑तः। आ। कृ॒तानि॑ ॥

**सा० भा०**— तन्वा शरीरेण शूशुजानः शोशुचानो दीप्यमानः कितवः कोऽत्रास्ति धनिकस्तं जेष्यामीति पृच्छमानः पृच्छन् सभां कितवसम्बन्धिनीम् एति गच्छति।

तत्र प्रतिदीव्ने प्रतिदेवित्रे कितवाय कृतानि देवनोपयुक्तानि कर्माणि आ दधतः जयार्थ-माभिमुख्येन मर्यादया वा दधतः कितवस्य कामम् इच्छाम् अक्षासः अक्षाः वि तिरन्ति वर्धयन्ति।

**अन्वय**— तन्वा शूशुजानः कितवः जेष्यामि इति पृच्छमानः सभाम् एति, अक्षासः प्रतिदीव्ने कृतानि दधतः अस्य कामं वि तिरन्ति।

**पदार्थ**— तन्वा = शरीर से। शूशुजानः = काँपता हुआ या चमकता हुआ (अर्थात् गर्व को व्यक्त करता हुआ)। कितवः = जुआड़ी। जेष्यामि = जीतूँगा। इति = ऐसा, इस प्रकार। पृच्छमानः = पूछता हुआ, सोचता हुआ, विचार करता हुआ। सभाम् = द्यूतसभा में, जुआ खेलने के स्थान में, जुआघर में। एति = जाता है। अक्षासः = जुए के पासे। प्रतिदीव्ने = विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी) जुआड़ी के लिए। कृतानि = कृत नाम की चाल, उत्तम दाँव। दधतः = रखते हुए, लाते हुए, प्रदान करते हुए। अस्य = इस (जुआड़ी) की। कामम् = अभिलाषा को, मनोरथ को। वि तिरन्ति = विफल बना देते हैं, विनष्ट कर देते हैं, मिट्टी में मिला देते हैं या बढ़ा देते हैं, वर्धित कर देते हैं।

**अनुवाद**— शरीर से काँपता हुआ (अथवा गर्व से छाती को फुलाता हुआ) जुआड़ी 'जीतूँगा' ऐसा विचार करता हुआ द्यूतसभा (जुआघर) में जाता है। जुए के पासे विरोधी (प्रतिद्वन्द्वी) जुआड़ी के लिए (अर्थात् विरोधी के पक्ष में) उत्तम दाँवों (कृत नामक उत्तम चाल) को रखते (लाते) हुए इस (जुआड़ी) के मनोरथ को विफल बना देते हैं।

**व्याकरण**—

१. तन्वा३ शूशुजानः – जात्यस्वरित, कम्प।

२. शूशुजानः – √शुज् (चमकना, गर्व करना) + कानच्, प्रथमा एकवचन।

३. पृच्छमानः – √प्रच्छ् (पूछना) + शानच्, प्रथमा एकवचन।

४. अक्षासः – अक्षाः, का वैदिक रूप, प्रथमा बहुवचन। लौकिक संस्कृत में अक्षाः रूप बनता है।

५. दधतः – √धा (रखना, स्थापित करना) + शतृ, प्रथमा बहुवचन। अथवा षष्ठी एकवचन।

६. तिरन्ति – √तृ (बढ़ाना) + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो**
**निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः ।**

कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो
मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥७॥

**पदपाठ—** अक्षासः । इत् । अङ्कुशिनः । निऽतोदिनः । निऽकृत्वानः । तपनाः । तापयिष्णवः ॥ कुमारऽदेष्णाः । जयतः । पुनःऽहनः । मध्वा । सम्ऽपृक्ताः । कितवस्य । बर्हणा ॥

**सा० भा०—** अक्षास इत् अक्षा एव अङ्कुशिनः अङ्कुशवन्तः नितोदिनः नितोदितवन्तश्च निकृत्वानः पराजये निकर्तनशीलाश्छेत्तारो वा तपनाः पराजये कितवस्य सन्तापकाः तापयिष्णवः सर्वस्वहारकत्वेन कुटुम्बस्य सन्तापशीलाश्च भवन्ति। किंच जयतः कुमारदेष्णाः धनदानेन धान्यतां लम्भयन्तः कुमाराणां दातारो भवन्ति । अपि च मध्वा मधुना सम्पृक्ताः प्रतिकितवेन बर्हणा परिवृद्धेन सर्वस्वहरणेन कितवस्य पुरर्हणः पुनर्हन्तारो भवन्ति ।

**अन्वय—** अक्षासः इत् अङ्कुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः कुमारदेष्णाः पुनर्हणः कितवस्य बर्हणा मध्वा सम्पृक्ताः ।

**पदार्थ—** अक्षासः = जुए के पासे । इत् = निश्चय ही । अङ्कुशिनः = अङ्कुश वाले । नितोदिनः = चाबुक (कोड़े) वाले । निकृत्वानः = काटने वाले । तपनाः = तपाने (जलाने) वाले । तापयिष्णवः = सन्ताप (कष्ट) दिलाने वाले । कुमारदेष्णाः = बच्चों के समान (धन) देने वाले । जयतः = विजयी का । पुनर्हणः = पुनः हनन करने वाले । कितवस्य = जुआड़ी की । बर्हणा = वृद्धि के द्वारा । मध्वा = मधु (शहद) से । सम्पृक्ताः = सने हुए ।

**अनुवाद—** जुए के पासे निश्चित ही अङ्कुश वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार अङ्कुश हाथी पर शासन करता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी पर शासन करते हैं– उसे जुआ खेलने के लिए प्रेरित करते हैं), चाबुक (कोड़े) वाले हैं (अर्थात् जिस प्रकार चाबुक घोड़े, बैल आदि को चलाता है, उसी प्रकार पासे जुआड़ी को चलाते हैं– जुआ खेलने के लिए बाध्य करते हैं), काटने वाले (अर्थात् विनाश करने वाले) हैं, ताप देने (जलाने) वाले (अर्थात् सन्ताप देने वाले) हैं, तपवाने (जलवाने) वाले (सन्ताप दिलाने वाले अर्थात् जुआड़ी द्वारा उसके परिवार को कष्ट दिलाने वाले) हैं, बच्चों के समान धन देने वाले (और पुनः ले लेने वाले), विजयी का पुनः हनन करने वाले, (जीतने वाले जुआड़ी को फिर मारने वाले अर्थात् जीतने वाले जुआड़ी से पुनः धन छीन लेने वाले, हराकर पुनः धन का नाश करने वाले) तथा जुआड़ी की वृद्धि

द्वारा (अर्थात् जुआड़ी के धन की वृद्धि करने के कारण) मधु (शहद) से युक्त (मधु से सने हुए, मीठे, आकर्षक) होते हैं।

**व्याकरण—**

१. अक्षासः – अक्ष का प्रथमा बहुवचन, वैदिकरूप। लौकिक संस्कृत में अक्षाः।
२. अङ्कुशिनः – अङ्कुश + इनि + (इन्) प्रथमा बहुवचन।
३. निकृत्वानः – नि + √कृत् (काटना) + क्वनिप् प्रथमा बहुवचन।
४. तपनाः – √तप् (तपाना) + ल्युट् (अन्) प्रथमा बहुवचन।
४. तापयिष्णवः – √तप् + णिच् + इष्णुच् प्रथमा बहुवचन।
५. जयतः – √जि (जीतना) + शतृ + पञ्चमी या षष्ठी एकवचन।
६. मध्वा – तृतीया एकवचन। वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में मधुना।
७. सम्पृक्ताः – सम् + √पृच् + क्त, प्रथमा बहुवचन।

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां
देव इव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते
राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति ॥८॥

**पदपाठ—** त्रिऽपञ्चाशः । क्रीळति । व्रातः । एषाम् । देवःऽइव । सविता । सत्यऽधर्मा । उग्रस्य । चित् । मन्यवे । न । नमन्ते । राजा । चित् । एभ्यः । नमः । इत् । कृणोति ॥

**सा० भा०—** एषाम् अक्षाणां त्रिपञ्चाशः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकः व्रातः संघः क्रीळति आस्फारे विहरति। आक्षिकाः प्रायेण तावद्भिरक्षैर्दीव्यन्ति हि। तत्र दृष्टान्तः। सत्यधर्मा। सविता सर्वस्य जगतः प्रेरकः सूर्यो देव इव। यथा सविता देवो जगति विहरति तद्वदक्षाणां संघ आस्फारे विहरतीर्त्यः। किञ्च उग्रस्य चित् क्रूरस्यापि मन्यवे क्रोधाय एते अक्षाः न नमन्ते न प्रह्वीभवन्ति। न वशे वर्तन्ते। तं नमयन्तीत्यर्थः। राजा चित् जगत ईश्वरोऽपि एभ्यः नम इत् नमस्कारमेव देवनवेलायां कृणोति। नावज्ञां करोतीत्यर्थः ॥

**अन्वय—** सत्यधर्मा सविता देवः इव एषाम् त्रिपञ्चाशः व्रातः क्रीळति, उग्रस्य मन्यवे न नमन्ते। राजा चित् एभ्यः नमः कृणोति।

**पदार्थ**— सत्यधर्मा = सत्य नियमों वाले। सविता देवः = सवितृ देवता। इव = समान। एषाम् = इन (इन पांसों) का। त्रिपञ्चाशः = तिरपन संख्या वाला। व्रातः = समूह। क्रीळति = खेलता है, उछलता है। उग्रस्य = क्रोधी के, प्रचण्ड के, शक्तिशाली के। मन्यवे = क्रोध के समक्ष। न = नहीं। नमन्ते = झुकते हैं। राजा = राजा। चित् = भी। एभ्यः = इनके लिए। नमः = नमस्कार। इत् = ही। कृणोति = करता है।

**अनुवाद**— सत्य नियमों वाले सवितृ देव के समान इन पासों का तिरपन संख्या वाला समूह (उछलता है)। क्रोधी (व्यक्ति) के क्रोध के समक्ष भी (ये पासे) नहीं झुकते हैं। राजा भी इन्हें नमस्कार ही करता है। (जुआड़ी प्रायः तिरपन पासों से जुआ खेलते हैं। स्वयं नियम का पालन करने वाले सविता के समान पासे भी स्वतन्त्र होते हैं और अपने ही नियम पर चलते हैं अथवा यों कहिए– जिस प्रकार सविता देवता के नियम का उल्लंघन नहीं होता है, उसी प्रकार पासों के नियम का भी उल्लंघन नहीं होता है)।

**व्याकरण**—

१. क्रीळति – √क्रीड् (खेलना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन। दो स्वरों के मध्य में स्थित ड् का ळ् हो गया है।
२. नमन्ते – √नम् (झुकना) + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन। वैदिक रूप।
३. कृणोति – √कृ (करना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोति।

**नीचा वर्तन्त उपरि स्फुर-**
**न्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।**
**दिव्या अङ्गाराः इरिणे न्युप्ताः**
**शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥**

**पदपाठ**— नीचाः। वर्तन्ते। उपरि। स्फुरन्ति। अहस्तासः। हस्तऽवन्तम्। सहन्ते ॥ दिव्याः। अङ्गाराः। इरिणे। निःउप्ताः। शीताः। सन्तः। हृदयम्। निः। दहन्ति ॥

**सा० भा०**— अपि चैतेऽक्षाः नीचा नीचीनस्थले वर्तन्ते। तथापि उपरि पराजयात् भीतानां द्यूतकराणां कितवानां हृदयस्योपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तरहिता

अप्यक्षाः हस्तवन्तं द्यूतकरं कितवं सहन्ते पराजयकरणेनाभिभवन्ति। दिव्याः दिवि भवा अपकृताः अङ्गाराः अङ्गारसदृशा अक्षाः इरिणे इन्धनरहिते आस्फारे न्युप्ताः शीताः शीतस्पर्शाः सन्तः हृदयं कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्ति ॥

**अन्वय**— नीचाः वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति। अहस्तासः हस्तवन्तम् सहन्ते। इरिणे न्युप्ताः दिव्याः अङ्गाराः शीताः सन्तः हृदयम् निर्दहन्ति।

**पदार्थ**— नीचाः = नीचे। वर्तन्ते = रहते हैं, पड़ते हैं, लुढ़कते हैं। उपरि = ऊपर। स्फुरन्ति = उछलते हैं, फड़कते हैं। अहस्तासः = हस्तरहित, बिना हाथों के। हस्तवन्तम् = हाथों वाले को। सहन्ते = अभिभूत करते हैं, दबा लेते हैं। इरिणे = अक्ष-पटल पर। न्युप्ताः = फेंके गये। दिव्याः = दिव्य, अलौकिक, अद्भुत। अङ्गारा = अङ्गारे। शीताः सन्तः = शीतल होते हुए भी। हृदयम् = हृदय को। निर्दहन्ति = जलाते हैं।

**अनुवाद**— ये (पासे) नीचे (= अक्षपटल पर) लुढ़कते (पड़ते) हैं किन्तु ऊपर उछलते (फड़कते) हैं (जुआड़ी के हृदय-पटल के ऊपर प्रभाव डालते है-पराजय के भय से जुआड़ी को डराते रहते हैं); हाथों से रहित होते हुए भी हाथों वाले (जुआड़ी) को अभिभूत कर लेते हैं (दबा लेते हैं)। अक्षपटल पर फेंके गये ये दिव्य अङ्गारे (अथवा-दिव्य अङ्गारों के सदृश ये पासे) स्वयं शीतल (ठण्डे) होते भी (जुआड़ी के) हृदय को (पराजय के सन्ताप) से जलाते हैं।

**व्याकरण**—

१. अहस्तासः – प्रथमा बहुवचन; वैदिकरूप अहस्ताः (लौकिक संस्कृत); न विद्येते हस्तौ येषां ते अहस्तासः, नञ्तत्पुरुष।
२. सहन्ते – √सह् (अभिभूत करना) + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।
२. दिव्याः– दिवि भवाः दिव्याः, √दिव् + यत्, प्रथमा बहुवचन।
४. न्युप्ताः – नि + वप् + क्त, प्रथमा बहुवचन।
५. निर्दहन्ति – निर् + √दह् + लट् प्रथम पुरुष बहुवचन।

**जा॒या त॑प्यते कित॒वस्य॑ ही॒ना**
**मा॒ता पु॒त्रस्य॒ चर॑तः॒ क्व॑ स्वित्।**
**ऋ॒णा॒वा बिभ्य॒द्धन॑मि॒च्छमा॑नो-**
**ऽन्येषा॒मस्त॒मुप॒ नक्त॑मेति ॥१०॥**

**पदपाठ—** जा॒या । त॒प्य॒ते॒ । कि॒त॒वस्य॑ । ही॒ना । मा॒ता । पु॒त्रस्य॑ । चर॑तः । क्व॑ । स्वि॒त् ॥ ऋ॒ण॒ऽवा । बिभ्य॑त् । धन॑म् । इ॒च्छमा॑नः । अ॒न्येषा॑म् । अस्त॑म् । उप॑ । नक्त॑म् । ए॒ति॒ ॥

**सा०भा०—** क्व स्वित् क्वापि चरतः निर्वेदाद्गच्छतः कितवस्य जाया भार्या हीना परित्यक्ता सती तप्यते वियोगजसन्तापेन सन्तप्ता भवति। माता जनन्यपि पुत्रस्य क्वापि चरतः कितवस्य सम्बन्धाद्धीना तप्यते। पुत्रशोकेन सन्तप्ता भवति। ऋणावा अक्षपराजयादृणवान् कितवः सर्वतो बिभ्यद्धनं स्तेयजनितम् इच्छमानः कामयमानः अन्येषां ब्राह्मणादीनाम् अस्तं गृहम्। 'अस्तं पस्त्यम्' इति गृहनामसु पाठात्। नक्तं रात्रौ उप एति चौर्यार्थमुपगच्छति।

**अन्वय—** कितवस्य हीना जाया तप्यते, क्व स्वित् चरतः पुत्रस्य माता, ऋणावा बिभ्यत् धनम् इच्छमानः नक्तम् अन्येषाम् अस्तम् उप एति।

**पदार्थ—** कितवस्य = जुआड़ी की। हीना = आश्रयहीना, परित्यक्ता। जाया = पत्नी। तप्यते = सन्तप्त (दुःखी) होती है। क्व स्वित् = कहीं। चरतः = विचरण करते हुए, घूमते, भटकते हुए। पुत्रस्य माता = पुत्र की माता। ऋणावा = ऋणी, ऋण से युक्त। बिभ्यत् = डरता हुआ। धनम् इच्छमानः = धन को चाहता हुआ। नक्तम् = रात्रि में। अन्येषाम् = दूसरों के। अस्तम् = घर। उप एति = जाता है, पहुँचता है।

**अनुवाद—** जुआरी की आश्रयहीना पत्नी सन्तप्त (दुःखी) रहती है; कहीं घूमते हुए (इधर-उधर भटकते हुए) (जुआड़ी) पुत्र की माता भी (दुःखी रहती है)। ऋणी (जुआड़ी) (ऋणदाता से) डरता हुआ तथा धन की इच्छा (कामना, अभिलाषा) करता हुआ (चोरी करने के लिए) रात्रि में दूसरों के घर जाता है।

**व्याकरण—**

१. हीना – √हा (छोड़ना) + क्त + टाप्, प्रथमा एकवचन।
२. तप्यते – √तप् (जलना;सन्तप्त होना) + आत्मनेपद लट् प्रथम पुरुष एकवचन।
३. चरतः – √चर् (विचरण करना) + शतृ, षष्ठी एकवचन।
४. बिभ्यत् – √भी (डरना) शतृ, प्रथमा एकवचन, वैदिक रूप ।
५. इच्छमानः – √इष् (इच्छा) + शानच् प्रथमा एकवचन।

**स्त्रियं॑ दृ॒ष्ट्वाय॑ कित॒वं त॑ताप॒-**
**न्येषां॑ जा॒यां सुकृ॑तं च॒ योनि॑म् ।**

पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रू-
न्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥

**पदपाठ—** स्त्रियम् । दृष्ट्वाय । कितवम् । ततापु । अन्येषाम् । जायाम् । सुऽकृतम् । च । योनिम् ॥ पूर्वाह्णे । अश्वान् । युयुजे । हि । बभ्रून् । सः । अग्नेः । अन्ते । वृषलः । पपाद ॥

**सा० भा०—** कितवं कितवः । विभक्तिव्यत्ययः । अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां पुरुषाणां जायां जायाभूतां स्त्रियं नारीं सुखेन वर्तमानां सुकृतं सुष्ठुकृतं योनिं गृहं च दृष्ट्वाय मज्जाया दुःखिता गृहं चासंस्कृतमिति ज्ञात्वा तताप तप्यते । पुनः पूर्वाह्णे प्रातःकाले बभ्रून् बभ्रुवर्णान् अश्वान् व्यापकानक्षान् युयुजे युनक्ति । पुनश्च वृषलः वृषलकर्मा सः कितवो रात्रौ अग्नेरन्ते समीपे पपाद शीतार्तः सन् शेते ।

**अन्वय—** कितवम् स्त्रियम् अन्येषां जायाम् सुकृतम् योनिम् दृष्टवाय तताप पूर्वाह्णे बभ्रून् युयुजे, वृषलः अग्नेः अन्ते पपाद ।

**पदार्थ—** कितवम् = कितवः (विभक्तिव्यत्यय से कर्ता के स्थान पर कर्म का प्रयोग हुआ) जुआड़ी । स्त्रियम् = (अपनी) पत्नी को । अन्येषाम् = दूसरों की । जायाम् = पत्नी को; जातावेकवचनम् । सुकृतम् = सुनिर्मित, सुसज्जित । योनिम् = घर को । दृष्ट्वाय = देखकर । तताप = संतप्त (दुःखी) होता है । पूर्वाह्णे = दिन के पहले भाग में, प्रातःकाल । बभ्रून् = भूरे । अश्वान् = अश्वों को, पासों को । युयुजे = जोतता है । वृषलः = नीच । अग्नेः अन्ते = अग्नि के समीप । पपाद = गिर पड़ता है, पड़ा रहता है ।

**अनुवाद—** जुआड़ी (अपनी कष्ट भोगती हुई) पत्नी को तथा दूसरे की (सुख भोगती) हुई पत्नी और सुसज्जित (सुनिर्मित) घर को देखकर संतप्त (दुःखी) होता है । वह (जुआड़ी) प्रातःकाल भूरे अश्वों (पासों) को जोतता है (अर्थात् पासों को दाँव पर लगाता है– (जुआ खेलता है और (जुए में हार कर सायंकाल) वह नीच (शीत से पीड़ित होकर) अग्नि के पास गिर पड़ता है (अग्नि के पास पड़ कर रात बिताता है)!

**व्याकरण—**

१. दृष्ट्वाय – √दृश् (देखना) + क्त्वाय (त्वाय) वैदिक रूप, लौकिक संस्कृत में दृष्ट्वा ।

२. तताप – √तप् (संतप्त होना) + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन । लट् अर्थ में प्रयुक्त ।

३. युयुजे – √युज् (जोतना) लिट् प्रथमपुरुष एकवचन लट् अर्थ में।
४. पपाद – √पद् (गति करना) + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन लट् अर्थ में।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य
राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि
दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥

**पदपाठ—** यः । वः । सेनाऽनीः । महतः । गणस्य । राजा । व्रातस्य । प्रथमः । बभूव ॥ तस्मै । कृणोमि । न । धना । रुणध्मि । दश । अहम् । प्राचीः । तत् । ऋतम् । वदामि ॥

**सा० भा०—** हे अक्षाः वः युष्माकं महतो गणस्य संघस्य यः अक्षः सेनानीः नेता बभूव भवति व्रातस्य च। गणव्रातयोरल्पो भेदः। राजा ईश्वरः प्रथमः मुख्यो बभूव तस्मै अक्षाय कृणोमि अहमञ्जलिं करोमि। अतः परं धना धनानि अक्षार्थमहं न रुणध्मि न सम्पादयामीत्यर्थः। एतदेव दर्शयति। अहं दशसंख्याका अङ्गुलीः प्राचीः प्राङ्मुखीः करोमि। तत् एतत् अहम् ऋतं सत्यमेव वदामि। नानृतं ब्रवीमीत्यर्थः।

**अन्वय—** वः महतः गणस्य यः सेनानी बभूव, व्रातस्य प्रथमः राजा, तस्मै अहम् दश प्राचीः कृणोमि, धना न रुणध्मि, तत् ऋतम् वदामि।

**पदार्थ—** वः = तुम्हारे। महतः गणस्य = महान् गण (तिरपन संख्या वाले समुदाय का)। यः = जो (अक्ष, पासा)। सेनानीः = सेनापति, नायक। बभूव = था, है। व्रातस्य = संघ का, समूह का। प्रथमः राजा = प्रमुख राजा। तस्मै = उस (अक्ष) के लिए। अहम् = मैं (जुआड़ी)। दश = दश (अंगुलियाँ)। प्राचीः = पूर्व की ओर, सामने करता हूँ। धना न रुणध्मि = मैं धनों को नहीं रोकता हूँ। तत् = वह, यह। ऋतम् = सत्य। वदामि = कहता हूँ।

**अनुवाद—** (हे अक्षो!) जो (अक्ष) तुम्हारे महान् गण का सेनापति है, जो तुम्हारे संघ का प्रमुख राजा है, उसके सामने (उसके लिए) मैं दसों अंगुलियाँ सामने करता हूँ (अर्थात् हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ)। मैं धनों को रोकता नहीं हूँ। (मैंने धन नहीं छिपाया है– जुआ खेलने के लिए अब मेरे पास धन नहीं रह गया है); यह मै सत्य कहता हूँ।

**व्याकरण—**

१. बभूव – √भू + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. कृणोमि – √कृ + लट्, उत्तमपुरुष एकवचन, वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में करोमि रूप बनता है।

३. रुणध्मि – √रुध् + लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

४. धना – द्वितीया बहुवचन वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में धनानि रूप होता है।

**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**
**वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।**
**तत्र गावः कितव तत्र जाया**
**तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥**

**पदपाठ—** अक्षैः । मा । दीव्यः । कृषिम् । इत् । कृषस्व । वित्ते । रमस्व । बहु । मन्यमानः ॥ तत्र । गावः । कितव । तत्र । जाया । तत् । मे । वि । चष्टे । सविता । अयम् । अर्यः ॥

**सा०भा०—** हे कितव बहु मन्यमानः मद्वचने विश्वासं कुर्वंस्त्वम् अक्षैर्मा दीव्यः द्यूतं मा कुरु। कृषिमित् कृषिमेव कृषस्व कुरु। वित्ते कृष्या सम्पादिते धने रमस्व रतिं कुरु। तत्र कृषौ गावः भवन्ति। तत्र जाया भवन्ति। तत् एव धर्मरहस्यं श्रुतिस्मृतिकर्त्ता सविता सर्वस्य प्रेरकः अयं दृष्टिगोचरः अर्यः ईश्वरः वि चष्टे विविधमाख्यातवान् ॥

**अन्वय—** कितव! अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व। बहु मन्यमानः वित्ते रमस्व, तत्र गावः, तत्र जाया, तत् मे अयम् अर्यः सविता विचष्टे।

**पदार्थ—** कितव = हे जुआड़ी! अक्षैः = पासों से। मा दीव्य = मत खेलो। कृषिम् इत् = खेती ही। कृषस्व = जोतो; करो। वित्ते = धन में। बहुत, पर्याप्त। मन्यमानः = मानते हुए, समझते हुए। रमस्व = रमण करो, आनन्द करो,। तत्र = वहाँ। गावः = गायें। तत्र = वहाँ। जाया = पत्नी। तत् = यह। मे = मुझसे। अयम् = यह। अर्यः = श्रेष्ठ। सविता = सविता (देवता) ने। विचष्टे = समझा कर कहा है।

**अनुवाद—** हे जुआड़ी! पासों से मत खेलो (अर्थात् जुआ मत खेलो), खेती

ही जोतो (अर्थात् खेती करो)। (खेती द्वारा प्राप्त धन को) (पर्याप्त) मानते हुए (उस) धन में रमण करो (आनन्द का अनुभव करो)। वहाँ (खेती के कर्म में) गायें हैं तथा वहाँ (खेती के क़र्म में) तेरी स्त्री है। (खेती करने से जुए में हार गए तुम्हारे पशु मिल जायेंगे और जुआ खेलने के कारण अन्यत्र गयी तुम्हारी पत्नी तुम्हें मिल जायेगी)– यह मुझसे श्रेष्ठ सविता (देवता) ने समझा कर कहा है।

**व्याकरण**—

१. दीव्यः – √दिव् (जुआ खेलना) + लङ् (अट्–रहित), मध्यमपुरुष एकवचन; 'मा' के कारण अट् का अभाव।
२. कृषस्व – √कृष् (खींचना) + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन, वैदिक रूप।
३. रमस्व – √रम् (रमण करना) + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।
४. चष्टे – √चक्ष् (देखना, कहना) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो**
**मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।**
**नि वो नु मन्युर्विशतामराति-**
**रन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥**

**पदपाठ**— मित्रम्। कृणुध्वम्। खलु। मृळत। नः। मा। नः। घोरेण। चरत। अभि। धृष्णु। नि। वः। नु। मन्युः। विशताम्। अरातिः। अन्यः। बभ्रूणाम्। प्रऽसितौ। नु। अस्तु॥

**सा० भा०**— हे अक्षाः यूयं मित्रं कृणुध्वं। अस्मासु मैत्रीं कुरुत। खलु इति पादपूरणः। न अस्मान् मृळत सुखयत च। नः अस्मान् धृष्णु धृष्णुना तृतीयार्थे प्रथमा। घोरेण असह्येन मा अभिचरत मा गच्छत। किञ्च वः युष्माकं मन्युः क्रोधः अरातिः अस्माकं शत्रुः नि विशताम् अस्मच्छत्रुषु तिष्ठतु। अन्यः अस्माकं शत्रुः कश्चित् बभ्रूणां बभ्रुवर्णानां युष्माकं प्रसितौ प्रबन्धने नु क्षिप्रं अस्तु भवतु।

**अन्वय**— मित्रम् कृणुध्वम्, खलु नः मृळत, धृष्णु, घोरेण मा अभिचरत। नु वः मन्युः अरातिः नि विशताम्, नु अन्यः बभ्रूणाम् प्रबन्धने प्रसितौ अस्तु।

**पदार्थ**— मित्रम् = मित्र, मित्रता। कृणुध्वम् = करो, बनाओ। खलु = पादपूर्ति के लिए निपात। नः = हमारे ऊपर। मृळत = दया करो। धृष्णु = दबा लेने वाले,

अभिभूत करने वाले। घोरेण = भयङ्कर प्रभाव से,भयङ्कर जादू से। मा = मत। अभिचरत = अभिचार करो, मोहित करो। नु = अब। वः = तुम्हारा। मन्युः = क्रोध। अरातिः = शत्रुता। निविशताम् = रुक जाय,शान्त हो जाय। नु = अब। अन्यः = दूसरा। बभ्रूणाम् = भूरे (पासों) के। प्रसितौ = बन्धन में, जाल में। अस्तु = होवे, पड़े।

**अनुवाद**— (हे पासो! अब मुझको) मित्र बना लो, हमारे ऊपर दया (कृपा) करो। (अपने) दबा लेने वाले तथा भयङ्कर प्रभाव से हमें मोहित न करो (हमारे ऊपर अभिचार न करो)। तुम्हारा क्रोध और तुम्हारी शत्रुता अब शान्त हो जाय। अब कोई दूसरा व्यक्ति भूरे (पासों) के बन्धन (जाल) में न पड़े।

**व्याकरण**—

१. कृणुध्वम् – √कृ + लोट्, आत्मनेपद मध्यमपुरुष बहुवचन,

२. मृळत– √मृड् (दया करना, सुख देना) + लोट् मध्यमपुरुष, बहुवचन। वेदमें दो स्वरों के मध्य में डकार का लकार हुआ है।

३. विशताम् – √विश् + लोट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

४. प्रसितौ – प्र + √सि (बाधना) + क्तिन् (ति), सप्तमी एकवचन।

५. अरातिः – न रातिः अरातिः (नञ् तत्पुरुष स०) न + √रा (देना) + क्तिन् (ति) प्रथमा एकवचन।

# १९. ज्ञानसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद　　　मण्डल संख्या–१०　　　सूक्त संख्या–७१

ऋषि–बृहस्पति　　　देवता–ज्ञान　　　छन्द–त्रिष्टुप्, ९ जगती

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒
यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः ।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑-
त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः ॥१॥

**पदपाठ—** बृह॑स्पते । प्र॒थ॒मम् । वा॒चः । अग्र॑म् । यत् । प्र । ऐर॑त । ना॒म॒ऽधेय॑म् । दधा॑नाः ॥ यत् । ए॒षा॒म् । श्रेष्ठ॑म् । यत् । अ॒रि॒प्रम् । आसी॑त् । प्रे॒णा । तत् । ए॒षा॒म् । निऽहि॑तम् । गुहा॑ । आ॒विः ॥

**सा० भा०—** बृहस्पतिरनेन सूक्तेन विदितवेदार्थान् बालान् दृष्ट्वा स्मयमानः स्वात्मानं सम्बोध्याह । हे बृहस्पते अन्तरात्मन् प्रथमम् उत्पत्त्यनन्तरमितरवागुच्चारणा-त्प्रागेव नामधेयं नाम दधानां पदार्थेषु निदधाना बालाः यत् प्रैरत प्रेरितवन्तः तत् वाचोऽग्रं भवति । यत्तत तातेत्यादिकं वाक्यं पूर्वमभिधाय पश्चादन्या वाचो वदिष्यन्ति खलु तस्माद्वाचोऽग्रम् । अस्यां दशायामवस्थितान् बालान् पश्य । तथेदानीम् एषां श्रेष्ठं प्रश-स्यतमं यत् यच्च अरिप्रं पापरहितं वेदार्थज्ञानम् आसीत् एषां तज्ज्ञानं गुहा गुहायां निहितं तत् प्रेणा । मकारलोपश्छान्दसः । प्रेम्णाविर्भवति । वेदाभ्यासकाले सरस्वती स्वार्थमेभ्यः प्रकाशयतीत्यर्थः । एवं विस्मये 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्' (ऐ०आ० १.३.६) इत्यादिकमारण्यकमनुसन्धेयम् ।

**अन्वय—** बृहस्पते, वाचः अग्रं नामधेयं दधानाः यत् प्र ऐरत (तत्) प्रथमम्, एषां यत् श्रेष्ठं यत् अरिप्रं गुहा निहितम् आसीत् एषां तत् प्रेणा आविः ।

**पदार्थ—** बृहस्पते = हे बृहस्पति । वाचः = वाणी से । अग्रं = आगे, पूर्व, पहले । नामधेयं = नामकरण को । दधानाः = धारण करते हुए । यत् = जो । प्र ऐरत = प्रेरित किया, कहा । प्रथमम् = प्रथम । एषाम् = इनका, उनका । यत् = जो । श्रेष्ठं = श्रेष्ठ । यत् = जो । अरिप्रम् = पापरहित, पापविहीन । गुहा = रहस्य में ।

निहितं = रक्खा हुआ, छिपा हुआ। आसीत् = था। एषां = उनका। तत् = वह। प्रेणा = प्रेम से। आविः = प्रकट हुआ।

**अनुवाद**— हे बृहस्पति! वाणी से पूर्व (पहले) नामकरण को धारण करते हुए (मनुष्यों) ने जो कहा (वह वाणी का) प्रथम (रूप) था, उनका (ज्ञान) जो श्रेष्ठ (और) जो पापरहित (था), रहस्य में छिपा हुआ था, उनका वह ज्ञान (आपके) प्रेम से प्रकट हुआ।

**व्याकरण**—

१. प्र ऐरत – प्र + √इर्, आत्मनेपद, लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।
२. दधानाः – √धा + शानच्, प्रथमा बहुवचन।
३. आसीत् – √अस् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।
४. प्रेणा – प्रेमन्, तृतीया एकवचन का वैदिक रूप, लौकिक संस्कृम में प्रेम्णा रूप होता है।

**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो**
**यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।**
**अत्रा सखायः सख्यानि जानते**
**भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२॥**

**पदपाठ— सक्तुम्ऽइव। तितउना। पुनन्तः। यत्र। धीराः। मनसा। वाचम्। अक्रत ॥ अत्र। सखायः। सख्यानि। जानते। भद्रा। एषाम्। लक्ष्मीः। निऽहिता। अधि। वाचि ॥**

**सा० भा०**— तितउना। परिपूयतेऽनेनेति। यद्वा। तता विस्तृता भृष्टयवा अत्रेति तितउः। 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' (उ०सू० ५.२२) इति डउप्रत्ययः। सन्वद्भावादित्वम्। उक्तनिर्वचनेन सूर्पेण सक्तुमिव यथा कश्चित्सक्तुं दुर्धावं पुनाति तद्वत् प्रकृतितः प्रत्ययतश्च शब्दानुत्पुनन्तः धीराः धीमन्तो विद्वांसः यत्र यस्मिन् काले विद्वत्सङ्घे वा मनसा प्रज्ञायुक्तेन वाचमक्रत अकृषन्त कुर्वन्ति। करोतेर्लुङि रूपम्। अत्र तत्र काले सखायः समानख्यानाः शास्त्रादिविषयज्ञानास्ते सख्यानि तेषु भवानि ज्ञानानि जानते जानन्ति। यद्वा। सखायो वाचा बद्धसख्यास्ते तस्यास्तस्या वाचः सख्यानि जानन्ति। वाक्ययुक्तानभ्युदयाँल्लभन्त इत्यर्थः। तस्मात् एषां वाचि भद्रा कल्याणी निहिता लक्ष्मीः भवति।

अधि सप्तम्यर्थद्योतकः। अर्थज्ञानं वाचि पश्याम इत्यर्थः। 'तितउ परिपवनं भवसि ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्रतुन्नमिति वा सक्तुमिव तितउना' (निरु० ४.१०) इत्यादि निरुक्तमनुसन्धेयम् ॥

**अन्वय**— यत्र तितउना सक्तुम् इव मनसा पुनन्तः वाचम् अक्रत, अत्र सखायः सख्यानि जानते। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मी अधि निहिता॥

**पदार्थ**— यत्र = जहाँ। धीराः = धीमान् लोग, बुद्धिमान् लोग, विद्वान्। तितउना = चलनी से। सक्तुम् इव = सत्तू के समान। मनसा = मन से, हृदय से। पुनन्तः = पवित्र करते हुए, शुद्ध करते हुए। वाचम् = वाणी को, शब्द को। अक्रत = करते हैं, कहते हैं, बोलते हैं। अत्र = यहाँ। सखायः = समान ज्ञान वाले। सख्यानि = समान ज्ञान को। जानते = जानते हैं, समझते हैं। एषाम् = इनकी। वाचि = वाणी में। भद्रा = कल्याणकारी। लक्ष्मीः = (अर्थरूपी) लक्ष्मी। अधि निहिता = छिपी रहती है, स्थित रहती है, विद्यमान रहती है।

**अनुवाद**— जहाँ धीमान् (विद्वान्) लोग चलनी से सत्तू के समान मन से (प्रकृति प्रत्यय द्वारा) शुद्ध करते हुए वाणी को (शब्द को) कहते (बोलते) हैं, वहाँ समान ज्ञान वाले (एक दूसरे के) समान ज्ञान (शास्त्र) को जानते (समझते हैं)। उनकी वाणी में कल्याणकारी (अर्थरूपी) लक्ष्मी छिपी रहती है (विद्यमान रहती है)।

**व्याकरण**—

१. पुनन्तः – √पू + शानच्, प्रथमा बहुवचन।

२. अक्रत – √कृ + आत्मनेपद लुङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. जानते – √ज्ञा + आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. निहिता – नि + √धा + क्त।

५. वाचि – वाक् का सप्तमी एकवचन।

यज्ञेन वाचः पदवीयमाय-
न्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा
तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥३॥

**पदपाठ**— यज्ञेन। वाचः। पदऽवीयम्। आयन्। ताम्। अनु। अविन्दन्।

ऋषिषु । प्रऽविष्टाम् ॥ ताम् । आऽभृत्य । वि । अदधुः । पुरुऽत्रा । ताम् । सप्त । रेभाः । अभि । सम् । नवन्ते ॥

**सा० भा०**— विदितार्था धीराः पदवीयम् । वेतेः 'अचो यत्' । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद्गुणाभावः । पदेन यातव्यः पन्थाः पदनीयः । तं वाचः मार्गं यज्ञेन आयन् प्राप्तवन्तः । ऋषिषु अतीन्द्रियार्थदर्शिषु प्रविष्टां तां वाचम् अविन्दन् अलभन्त । अनन्तरं तां वाचम् आभृत्य आवृत्य पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुः व्यकार्षुः । सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः । एतादृशीं वाचं रेभाः शब्दायमानाः पक्षिणः पक्षिरूपाणि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि अभि सं नवन्ते अभितः सङ्गच्छते ॥

**अन्वय**— यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन्, ताम् ऋषिषु प्रविष्टाम् अनु अविन्दन् । ताम् आभूत्य पुरुत्रा व्यदधुः । ताम् सप्त रेभाः अभि सं नवन्ते ।

**पदार्थ**— यज्ञेन = यज्ञ के द्वारा । वाचः = वाणी के । पदवीयम् = मार्ग को (का) । आयन् = पीछा किया, अनुसरण (अनुगमन) किया । ताम् = उस (वाणी) को । ऋषिषु = ऋषियों में । प्रविष्टाम् = प्रविष्ट प्रवेश किये हुई । अनु अविन्दन् = जाना, पाया । ताम् = उसको । आभृत्य = लाकर । पुरुत्रा = कई स्थानों पर, अनेक स्थानों पर । व्यदधुः = अभिव्यक्त किया । ताम् = उस (ऐसी वाणी) को । सप्त = सात । रेभाः = शब्द करने वाले पक्षी । अभि सं नवन्ते = चारो ओर से स्तुति करते हैं ।

**अनुवाद**— (विद्वानों ने) यज्ञ के द्वारा वाणी के मार्ग का अनुसरण किया, उस (वाणी) को ऋषियों (के अन्तःकरण) में प्रविष्ट हुई (प्रवेश किये हुई) पाया । उसको लाकर अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त किया । उस (ऐसी वाणी) की सात शब्द करने वाले पक्षी (गायत्र्यादि छन्द) चारों ओर से स्तुति करते हैं ।

**व्याकरण**—

१. आयन् – √इ + लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. प्रविष्टाम् – प्र + √विश् + क्त द्वितीया एकवचन ।

३. आभृत्य – आ + √भृ + ल्यप् ।

४. व्यदधुः – वि + √धा + लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

५. पुरुत्रा – पुरु + त्रा ।

६. नवन्ते – √नु + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥४॥

**पदपाठ—** उत । त्वः । पश्यन् । न । ददर्श । वाचम् । उत । त्वः । शृण्वन् । न । शृणोति । एनाम् ॥ उतो इति । त्वस्मै । तन्वम् । वि । सस्रे । जायाऽइव । पत्ये । उशती । सुऽवासाः ॥४॥

**सा० भा०—** त्वाशब्द एकवाची । एकः । उतशब्दोऽप्यर्थे । पश्यन् अपि मनसा पर्यालोचनन्नपि वाचं न ददर्श दर्शनफलाभावान्न पश्यति । त्वः एकः शृण्वन् अपि एनां वाचं न शृणोति श्रवणफलाभावात् । इत्यनेनार्धेन अविद्वानभिहितः । तृतीयपादेन विदितवेदार्थमाह । त्वस्मै एकस्मै अपि तन्वम् आत्मीयं शरीरं विसस्रे स्वयं वाग्विविधं गमयति । आत्मानं विवृणुते प्रकाशयतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । जायेव यथा उशती सम्भोगं कामयमाना सुवासा शोभनवसाना जाया पत्ये भर्त्रे ऋतुकाले संभोगार्थं स्वयमात्मानं विवृणुते । तद्वदेनां पश्यति शृणोति चेति विदितवेदार्थस्य प्रशंसा । 'अप्येकः पश्यन्न पश्यति वाचम्' (निरु० १.१९) इत्यादि निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम् ॥

**अन्वय—** त्वः पश्यन् उत वाचं न ददर्श, त्वः शृण्वन् उत एनां न शृणोति । पत्ये उशती सुवासा जाया इव त्वस्मै तन्वम् उत वि सस्रे ।

**पदार्थ—** त्वः = एक । पश्यन् = देखता हुआ । उत = भी । वाचं = वाणी को । न = नहीं । ददर्श = देखता है । त्वः = एक । शृण्वन् उत = सुनता हुआ भी । एनां = इस (वाणी) को । न शृणोतिः = नहीं सुनता है । पत्ये = पति के लिए । उशती = इच्छा करती हुई । सुवासा = सुन्दर वस्त्र (धारण करने) वाली । जाया इव = पत्नी के समान । त्वस्मै = एक के लिए । तन्वम् = शरीर को । वि सस्रे = खोल देती है ।

**अनुवाद—** एक (मूर्ख व्यक्ति) देखता हुआ भी वाणी को नहीं देखता है, एक (मूर्ख व्यक्ति) सुनता हुआ भी इस (वाणी) को नहीं सुनता है । पति के लिए इच्छा करती हुई सुन्दर वस्त्र (धारण करने) वाली पत्नी के समान एके (विद्वान् व्यक्ति) के लिए (अपने) (अर्थ रूपी) शरीर को खोल देती है ।

**व्याकरण—**

१. पश्यन् – √दृश् + शतृ, पुलिङ्ग प्रथमा एकवचन।

२. ददर्श – √दृश् + लिट्, पुथमपुरुष, एकवचन।

३. शृण्वन् – √श्रु + शतृ, पुल्लिङ्ग, प्रथमा, एकवचन।

४. शृणोति – √श्रु + लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. उतो – उत + उ, ओकार प्रगृह्य है।

६. त्वस्मै – त्व का चतुर्थी एकवचन।

७. विसस्रे – वि + √सृ + आत्मनेपद लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

८. उशती – √विस् + शतृ + ङीप्, प्रथमा एकवचन।

**उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहु-**
**नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।**
**अधेन्वा चरति माययैष**
**वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥**

**पदपाठ—** उत। त्वम्। सख्ये। स्थिरऽपीतम्। आहुः। न। एनम्। हिन्वन्ति। अपि। वाजिनेषु॥ अधेन्वा। चरति। मायया। एषः। वाचम्। शुश्रुऽवान्। अफलाम्। अपुष्पाम्॥

**सा० भा०—** त्वम् उत एकमपि सख्ये विदुषां संसदि। या सत्कथा सा सखिकर्मत्वात्सख्यमित्युच्यते। सा च वाचा क्रियते। अतो वाक्सम्बन्धाद्वाक्सख्ये स्थिरपीतम्। मधु यस्य हृदये स्थिरं भवति। यद्वा स्थिरपीतं स्थिरप्राप्तिम्। आहुः। यद्वा। तस्मिञ्ज्ञातार्थमाहुः। लोके यथा ज्ञातार्थं पुरुषं पीतार्थमिति वदन्ति। किञ्च एनं विज्ञातार्थं पुरुषं पीतार्थमिति वदन्ति। किञ्च एनं विज्ञातार्थं पुरुषं वाजिनेषु। वाक् इना ईश्वरा येषां ते वाजिना अर्था वाच आयत्ताः खलु। वाग्ज्ञेयेष्वर्थेषु न अपि हिन्वन्ति। अपिशब्दोऽन्वर्थे। केचिदपि नानुगच्छन्ति। अयमेवातिशयेन विद्वानित्यर्थः। यद्वा वाजिनेषु सारभूतेषु निरूपणीयेष्वर्थेष्वेनं न हिन्वन्ति न बहिः कुर्वन्ति। एनं पुरस्कृत्यैव सर्वं वेदार्थं विचारयन्तीत्यर्थः। इत्यर्थज्ञः प्रशस्तः। अनन्तरमुत्तरार्धेन केवलपाठको निन्द्यते। एष अविज्ञातार्थः पुरुषः अधेन्वा धेनुत्वविवर्जितया कामानामदोग्ध्र्या देवमनुष्यस्थानेषु वाक्प्रतिरूपया मायया चरति। किं कुर्वन्। अफलामपुष्पाम्। वाचोऽर्थः पुष्पफलम्।

अर्थवर्जिताम्। यद्वा। वाचोऽर्थौ याज्ञदैवते। यज्ञे भवं ज्ञानं याज्ञं देवतासु भयं ज्ञानं दैवतम्। तद्वर्जितां कर्मादिविषयज्ञानवर्जितां वाचं शुश्रुवान्। केवलं पाठमात्रेणैव श्रुतवान् स चरति। यथा वन्ध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धीति पायामुत्पादयन्ती चरति यथा वन्ध्यो वृक्षोऽकाले पल्लवादियुक्तः सन् पुष्यति फलतीति भ्रान्तिमुत्पादयंस्तिष्ठति तथा पाठं प्रब्रुवाणः चरतीत्यर्थः। 'अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीतम्' (निरु० १.२०) इत्यादि निरुक्तमत्रानुसन्धेयम्॥

**अन्वय**— सख्ये त्वं स्थिरपीतम् उत आहुः, वाजिनेषु अपि एनम् न हिन्वन्ति। एषः अफलाम् अपुष्पां वाचं शुश्रुवान् अधेन्वा मायया चरति।

**पदार्थ**— सख्ये = विद्वानों की सभा में। त्वम् = एक को। स्थितपीतम् = अर्थ का ज्ञाता। उत = भी। आहुः = कहते हैं, कहा जाता है। वाजिनेषु = वाग्युद्ध में, शास्त्रार्थ में। अपि = भी। एनम् = इसको। न हिन्वन्ति = नहीं दबा सकते हैं, नहीं हरा सकते हैं। एषः = यह (दूसरा अर्थ को न जानने वाला)। अफलाम् अपुष्पां = फल और पुष्प से रहित। वाचम् = वाणी को। शुश्रुवान् = सुनता हुआ। अधेन्वा = दुग्ध न देने वाली गाय (के समान)। मायया = भ्रमपूर्वक, भ्रममात्र के साथ। चरति = घूमता है, चलता है।

**अनुवाद**— विद्वानों की सभा में एक को अर्थ का ज्ञाता कहा जाता है। वाग्युद्ध (शास्त्रार्थ) में भी इसको (कोई) नहीं हरा सकते हैं। यह (दूसरा अर्थ को न जानने वाला) फल और पुष्प से रहित वाणी को सुनता हुआ भी दुग्ध न देने वाली गाय (के समान) भ्रमपूर्वक घूमता है।

**व्याकरण**—

१. स्थिरपीतम् – स्थिरं पीतं येन तादृशम् (बहुव्रीहि)।

२. आहुः – √अह, लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन।

३. हिन्वन्ति – √हि लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

४. अधेन्वा – न धेनुः अधेनुः का वैदिक रूप।

५. शुश्रुवान् – √श्रु + क्वसु, प्रथमा एकवचन।

६. चरति – √चर् + लट्, प्रथमपुरुष एकवन।

यस्ति॒त्याज॑ सचि॒विदं॒ सखा॑यं॒

न तस्य॑ वा॒च्यपि॑ भा॒गो अ॑स्ति।

यदीं शृणोत्यलकं शृणोति
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥

**पदपाठ—** यः । तित्याज । सचिऽविदम् । सखायम् । न । तस्य । वाचि । अपि । भागः । अस्ति ॥ यत् । ईम् । शृणोति । अलकम् । शृणोति । नहि । प्रऽवेद । सुऽकृतस्य । पन्थाम् ॥

**सा० भा०—** सचिविदम् । सचिशब्दः सखिवाची । सखिविदम् । योऽध्येता स वेदस्य सखा सम्प्रदायोच्छेदनिवारकत्वेन वेदं प्रत्युपकारित्वात् । तादृशमुपकारिणमध्येतारं वेत्तीति सचिवित् । तमभिज्ञं सखायम् अध्येतृणां पुरुषाणां स्वार्थबोधनेनोपकारित्वात्सखिभूतं वेदं यः पुमान् तित्याज तत्याज परार्थविनियोगेन परित्यजति । त्यजतेर्लिटि 'अपस्पृधेथामानृचुः०' इत्यादिना निपातितः । तस्य पुरुषस्य सर्वस्यां लौकिक्यां शास्त्रीयायां वाच्यपि भागः भजनीयः कश्चिदर्थः न अस्ति । ईम् अयं पुरुषः यत् वेदव्यतिरिक्तं शृणोति तत् अलकम् अलीकं व्यर्थमेव शृणोति । हि यस्मात्कारणात् सुकृतस्य पन्थां पन्थानं न प्रवेद श्रद्धाराहित्यादनुष्ठानमार्गं न जानाति । तस्मात्तदीयश्रवणमपि निष्फलमित्यर्थः । द्वितीयचतुर्थपादयोरभिप्राय आरण्यके दर्शितः 'न तस्यानुक्ते भागोऽस्ति' (ऐ०आ० ३.२.४) इत्यादिना । तथा 'तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता' (तै०आ० २.१५.५) अत्यध्वर्युभिश्च ॥

**अन्वय—** यः सचिविदं सखायं तित्याज, तस्य वाचि अपि भागः न अस्ति । यत् ईम् शृणोति तत् अलकं शृणोति, सुकृतस्य पन्थां नहि प्रवेद ।

**पदार्थ—** यः = जिसने । सचिविदं = घनिष्ठ, सख्यभाव (मित्रता) को जानने वाले । सखायं = सखा (मित्र) को । तित्याज = छोड़ दिया है, त्याग दिया है । तस्य = उसका । वाचि = वाणी में । अपि = भी । भागः = अंश, हिस्सा, भाग । न = नहीं । अस्ति = है । यत् = जो । ईम् = वह । शृणोति = सुनता है । तत् = वह । अलकम् = व्यर्थ । शृणोति = सुनता है । सुकृतस्य = सत्य के । पन्था = मार्ग को । नहि = नहीं ही । प्रवेद = जानता है ।

**अनुवाद—** जिसने सख्यभाव (मित्रता) को जानने वाले (घनिष्ठ) मित्र (वेद) को छोड़ दिया है, उसका वाणी में भी (सत्य का) अंश (कुछ भी) नहीं है । वह जो (कुछ) सुनता है वह व्यर्थ ही सुनता है (क्योंकि) सत्य के मार्ग को नहीं जानता है ।

**व्याकरण—**

१. तित्याज – √त्यज् + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

२. प्रवेद – प्र + √विद् + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. पन्था – पथिन्, प्रथमा एकवचन।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे
ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥७॥

**पदपाठ**— अक्षण्ऽवन्तः। कर्णऽवन्तः। सखायः। मनःऽजवेषु। असमाः। बभूवुः॥ आदघ्नासः। उपऽकक्षासः। ऊँ इति। त्वे। ह्रदाःऽइव। स्नात्वाः। ऊँ इति। त्वे। ददृश्रे॥

**सा० भा०**— अक्षण्वन्तः अक्षिमन्तः। 'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यक्षिशब्दादनङ्। 'अनो नुट्' इति नुट्। अनेन दृश्यते सर्वमित्यक्षि। यद्वा। तैजसत्वात् अन्येभ्योऽङ्गेभ्यो व्यक्ततरम्। तथा च श्रूयते—'तस्मादेते व्यक्ततरे इव' इति। तादृशाक्षियुक्ताः कर्णवन्तः। कर्णौ निकृत्तद्वारः। गर्भावस्थायामेव केनापि निर्मितबिल इत्यर्थः। यद्वा शरीरस्य शिरसो वोर्ध्वं गते उच्चैः स्थिते। कर्णविलक्षणाकाशवन्तः। तथा चाम्नायते 'ऋच्छन्ती इव खे उदगन्ताम्' इति। तादृशाः सखायः। समानं ख्यानं ज्ञानं येषामिति सखायः। तेषु वाक्येषु बाह्येष्विन्द्रियेषु समानज्ञाना इत्यर्थः। ते मनोजवेषु। मनसा ज्ञायन्त इति मनोजवाः प्रज्ञाद्याः। तेषु असमाः अतुल्याः बभूवुः भवन्ति। तेषु मध्ये केचित् आदघ्नासः। आस्यशब्दस्य पृषोदरादित्वादाकारादेशः। आस्यदघ्नाः आस्यप्रमाणोदका ह्रदा इवेति मध्यमप्रज्ञानाह। अथ त्वे एके। सर्वनामत्वाज्जसः शीभावः। उपकक्षासः। कक्षसमीपप्रमाणोदका ह्रदा इव। अल्पोदका इत्यर्थः। अनेनाल्पप्रज्ञानाह। तथा त्वे एके स्नात्वाः। स्नातेः कृत्यार्थे त्वन्प्रत्ययः (पा०सू० ३.४.१४)। स च 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा०सू० ३.३.१६९) इत्यर्हार्थे च भवति। स्नानार्हा अक्षोभ्योदकाः ह्रदा इव ददृश्रे दृश्यन्ते। अनेन महाप्रज्ञानाह। उः पूरणः। 'अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायोऽक्षि चष्टेः' (निरु० १.९) इत्यादिकं निरुक्तमत्र द्रष्टव्यम्॥

**अन्वय**— सखायः अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः मनोजवेषु असमाः बभूवुः। त्वे उ आदघ्नासः उपकक्षासः त्वे स्नात्वाः ह्रदाः ददृशे।

**पदार्थ**— सखायः = समान नाम वाले। अक्षण्वन्तः = आँख वाले। कर्णवन्तः = कान वाले। मनोजवेषु = प्रज्ञा में, अन्तःज्ञान में। असमाः = असमान। बभूवुः = होते

हैं। त्वे = कुछ। आदघ्नासः = मुख तक जल वाले। उपकक्षासः = काँख तक जल वाले। स्नात्वाः = स्नान करने योग्य जल वाले। ह्रदाः इव = सरोवरों के समान। ददृशे = दिखलायी पड़ते हैं।

**अनुवाद**— समान नाम वाले, (समान) आँख (तथा समान) कान वाले (हैं, परन्तु) अन्तःज्ञान में असमान होते हैं। कुछ मुख तक जल वाले, काँख तक जल वाले (और) कुछ स्नान करने योग्य जल वाले सरोवरों के समान दिखलायी पड़ते हैं।

**व्याकरण**—

१. अक्षण्वन्तः – √अक्षन् + शतृ, प्रथमा बहुवचन। वैदिक अक्षन् शब्द लौकिक संस्कृत में अक्षि के अर्थ में प्रयुक्त है।

२. कर्णवन्तः – कर्ण + शतृ, प्रथमा बहुवचन।

३. बभूवुः = √भू + लिट्, प्रथमा बहुवचन।

४. आदघ्नासः – आदघ्न के प्रथमा बहुवचन में आदघ्नाः का वैदिकरूप।

५. उपकक्षासः – उपकक्ष के प्रथमा बहुवचन में उपकक्षाः का वैदिकरूप।

६. ददृशे – दृश् + आत्मनेपद, लिट्, प्रथमपुरुष, बहुवचन।

**हृदा तुष्टेषु मनसो जवेषु**
**यद् ब्राह्मणाःसंयजन्ते सखायः।**
**अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि-**
**रोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥८॥**

**पदपाठ**— हृदा। तुष्टेषु। मनसः। जवेषु। यत्। ब्राह्मणाः। सम्ऽयजन्ते। सखायः॥ अत्र। अह। त्वम्। वि। जहुः। वेद्याभिः। ओहऽब्रह्माणः। वि। चरन्ति। ऊँ इति। त्वे॥

**सा॰भा॰**— सखायः समानख्यानाः ब्राह्मणाः हृदा बुद्धिमतां हृदयेन तष्टेषु निश्चितेषु परिकल्पितेषु मनसो जवेषु गन्तव्येषु वेदार्थेषु गुणदोषनिरूपणाः यत् यदा संयजन्ते सङ्गच्छन्ते। यजिरत्र सङ्गतिकरणवाची। अत्र अस्मिन् ब्राह्मणसङ्घे त्वम् अविज्ञातार्थमेकं पुरुषं वेद्याभिः वेदितव्याभिः विद्याभिः प्रवृत्तिभिर्वा वि जहुः विशेषेण परित्यजन्ति। अह इति विनिश्चये। ओहब्रह्माणः। ऊह्यमानं ब्रह्म विद्याश्रुतिमतिबुद्धि-लक्षणं येषां ते तथोक्तः। तादृशास्त एके विद्वांसः वि चरन्ति यथाकामं वेदार्थेषु विनि-

श्चयार्थं प्रवर्तन्ते । उः प्रसिद्धौ । 'हृदा तष्टेषु मनसां प्रजवेषु' (निरु० १३.१३) इत्यादिकं निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

**अन्वय**— हृदा तष्टेषु मनसः जवेषु सखायः ब्राह्मणाः यत् सम् यजन्ते अत्र त्वम् वेद्याभिः अहः वि जहुः । ओहब्राह्मणः त्वे उ वि चरन्ति ।

**पदार्थ**— हृदा = हृदय से, अन्तःकरण से । तष्टेषु = निश्चित किये हुए, उत्पन्न हुए, उद्भूत हुए । मनसः जवेषु = बौद्धिक चिन्तन में, मन की गति में, वेदार्थ-चिन्तन में । सखायः = समान ज्ञान वाले । ब्राह्मणाः = ब्राह्मण लोग । यत् = जो । सम् यजन्ते = एक साथ यजन करते हैं, एक साथ (सम्यक् रूप) से चलते हैं । अत्र = इसमें । त्वम् = एक (अर्थात् अज्ञानी) को । वेद्याभिः = वेदितव्य के द्वारा, विद्या के द्वारा । अहः = निश्चित रूप से । वि जहुः = विशेष रूप से (पीछे) छोड़ देते हैं । ओहब्रह्माणः = उह्यमान (शास्त्रीय ज्ञान) के लक्षण से ब्राह्मण समझे जाने वाले । त्वे = एक (कुछ) । उ = निश्चितरूप से । वि चरन्ति = विचरण करते हैं ।

**अनुवाद**— अन्तःकरण से निश्चय किये हुए (उत्पन्न) मन की गति (वेदार्थचिन्तन) में समान ज्ञान वाले ब्राह्मण लोग जो एक साथ यजन करते हैं (चलते हैं) इन (विद्वानों के समूह) में (वे) एक (अज्ञानी) को (अपनी) विद्या के द्वारा निश्चितरूप से पीछे छोड़ देते हैं । उह्यमान (शास्त्रीय ज्ञान) के लक्षणों से ब्राह्मण समझे जाने वाले कुछ निश्चितरूप से विचरण करते हैं ।

**व्याकरण**—

१. तष्टेषु – √तक्ष् + क्त, सप्तमी बहुवचन ।

२. सं यजन्ते – सम् + √यज्, आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

३. जहुः – √हा + लिट् प्रथमपुरुष, बहुवचन ।

४. विचरन्ति – वि + √चर्, लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

> इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति
> न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
> त एते वाचमभिपद्य पापया
> सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥९॥

**पदपाठ**— इमे । ये । न । अर्वाक् । न । पुरः । चरन्ति । न । ब्राह्मणासः । न ।

सु॒तेऽकरासः ॥ ते । ए॒ते । वाच॑म् । अ॒भि॒ऽपद्य॑ । पा॒पया॑ । सि॒रीः । तन्त्र॑म् । त॒न्व॒ते॒ । अप्र॑ऽजज्ञयः ॥

**सा० भा०**— अनया वेदार्थानभिज्ञा निन्द्यन्ते। इमे ये अविद्वांसः अर्वाक् अर्वाचीनमधोभाविन्यस्मिल्लोके ब्राह्मणैः सह न चरन्ति ये परः परस्तात् देवैः सह न चरन्ति ते ब्राह्मणासः ब्राह्मणाः वेदार्थतत्पराः न भवन्ति। तथा सुतेकरासः। सोमं सुतमभिषुतं कुर्वन्तीति सुतेकरा ऋत्विजः। तेऽपि न भवन्ति। अप्रजज्ञयः। जानातेः 'आदृगमहनः०' इति किप्रत्ययः। अविद्वांसः त एते मनुष्याः वाचं लौकिकीम् अभिपद्य प्राप्य तया पापया पापकारिण्या वाचा युक्तास्ते सिरीः 'छन्दसीवनिपौ' इतीप्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्०' इति जसः सुः। सीरिणो भूत्वा तन्त्रं कृषिलक्षणं तन्वते विस्तारयन्ति। कुर्वन्तीत्यर्थः। सर्वथा वेदार्थो ज्ञेय इत्यभिप्रायः ॥

**अन्वय**— इमे ये न अर्वाक् न परः विचरन्ति, न ब्राह्मणासः न सुतेकरासः, ते एते अप्रजा ज्ञयः वाचम् अभिपद्य पापया सिरीः तन्त्रम् (इव) तन्वते।

**पदार्थ**— इमे = ये (अज्ञानी)। ये = जो। न अर्वाक् = न इस लोक में। न परः = न परलोक में। विचरन्ति = विचरण करते हैं। न ब्राह्मणासः = न ब्राह्मण। न सुतेकरासः = न तो सवन करने वाले (सोम पीसने वाले) ऋत्विक। ते = वे। एते = ये। अप्रजज्ञयः = अज्ञानी। वाचम् = वाणी को। अभिपद्य = समीप पहुँचकर, प्राप्त करके। पापया = पापपूर्वक, पाप के साथ, पापपूर्ण ढंग से। सिरीः = बुनकर स्त्रियाँ। तन्त्रम् = तागे (धागे) को। तन्वते = फैलाते हैं।

**अनुवाद**— ये (अज्ञानी हैं), जो न इस लोक में (ब्राह्मणों के साथ) न तो उस लोक में (देवताओं के साथ) विचरण करते (चलते) हैं, (जो) न तो ब्राह्मण हैं, न सवन करने वाले (सोम पीसने वाले) ऋत्विक् हैं,वे ये अज्ञानी वाणी को प्राप्त करके पापपूर्वक (पापपूर्ण ढंग से) फैलाते हैं (जिस प्रकार) बुनकर स्त्रियाँ धागे को फैलाती हैं।

**व्याकरण**—

१. चरन्ति – √चर् + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. अभिपद्य – अभि + √पा + ल्यप्।

३. ब्राह्मणासः – प्रथमा बहुवचन में ब्राह्मणाः का वैदिकरूप।

४. सुतेकरासः – प्रथमा बहुवचन में सुतेकराः का वैदिकरूप।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन
सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषा-
मरं हितो भवति वाजिनाय ॥१०॥

**पदपाठ—** सर्वे । नन्दन्ति । यशसा । आऽगतेन । सभाऽसहेन । सख्या । सखायः ॥ किल्बिषऽस्पृत् । पितुऽसनिः । हि । एषाम् । अरम् । हितः । भवति । वाजिनाय ॥

**सा०भा०—** सखायः समानख्यानाः समानज्ञानाः सर्वे सभ्या मनुष्याः सभाहेन सभां सोढुं शक्नुवता सख्या ऋत्विजां सखिभूतेन यज्ञं प्रति आगतेन यशसा यशस्विना सोमेन हेतुना हृष्टा भवन्ति। स हि स एव सोमः एषां जनानां किल्बिषस्पृत्। यः स्वस्मादन्यः पुरुषः श्रेष्ठतामश्नुते स किल्बिषं बाध्यत्वेन। यथा पापं सदाचारैः बाधितव्यं भवति तद्वत्। पापरूपस्य शत्रोर्बाधकः। यद्वा। यज्ञे साध्वनुप्रवचनाकरणेन यत्किल्बिषमेषां जायते तद्यो बाधते स किल्बिषस्पृत्। तथा त्वं पितुषणिः। पितुरित्यन्ननाम दक्षिणा वा। तमनेन सोमेन सनोति यजमानः सम्भजत इति तादृशः। तेषामन्नदक्षिणादातेत्यर्थः। किञ्च हितः पात्रेषु निहितः सोमः वाजिनाय। इन्द्रियं वीर्यं वाजिनम्। तेषां वीर्याय तत्कर्तुम् अरम् अलं पर्याप्तः समर्थो भवति। 'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेनेत्यन्वाह यशो वै सोमो राजा' इत्यादिकम् 'इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनमाजरसं हास्मै वाजिनं नापच्छिद्यते' इत्यन्तं ब्राह्मणमत्रानुसन्धेयम् (ऐ०ब्रा० १.१३)॥

**अन्वय—** सर्वे सखायः सभाहसेन आगतेन यशसा नन्दन्ति। एषां किल्विषस्पृत् पितुसनिः हितः वाजनाय अरं भवति।

**पदार्थ—** सर्वे =सभी। सखायः = समान ज्ञानवान्, समान ज्ञान वाले। सख्या = सख्यभाव से, मित्रता के रूप वाले। सभाहसेन = सभा को जीतने (पाराजित करने) की शक्ति वाले। यशसा = यशस्वी, विख्यात। आगतेन = आने के साथ। नन्दन्ति = प्रसन्न (आनन्दित) हो जाते हैं। एषाम् = इनके। किल्विषस्पृत् = पापों को दूर (विनष्ट) करने वाला। पितुसनिः = भोजन प्रदान करने वाला। हितः = (पीसकर पात्र में) रखा गया। वाजनाय = पराक्रम युक्त कार्य के लिए। अरम् = पर्याप्त, समर्थ। भवति = होता है।

**अनुवाद—** सभी समान ज्ञान वाले, सख्यभाव (मित्रता) के रूप वाले और सभा

को जीतने की शक्ति वाले विख्यात (सोम के) आने के साथ प्रसन्न (आनन्दित) हो जाते हैं। इन (ज्ञानवानों) के पापों को दूर (विनष्ट) करने वाला, (तथा) भोजन प्रदान करने वाला (पीस कर पात्र में) रखा गया (सोम) पराक्रमयुक्त कार्य के लिए पर्याप्त (समर्थ) है।

**व्याकरण—**

१. नन्दन्ति – √नन्द् + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. भवति – √भू + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वा-**
**न्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।**
**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां**
**यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥११॥**

**पदपाठ—** ऋचाम्। त्वः। पोषम्। आस्ते। पुपुष्वान्। गायत्रम्। त्वः। गायति। शक्वरीषु॥ ब्रह्मा। त्वः। वदति। जातऽविद्याम्। यज्ञस्य। मात्राम्। वि। मिमीते। ऊँ इति। त्वः॥

**सा० भा०—** अनया होत्राद्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। त्वः एको होता ऋचां पोषं यथाविधि कर्मणि प्रयोगं पुपुष्वान्। एको धातुरनुवादार्थः। बह्वीर्ऋचः पुष्यन् शंसन् आस्ते। त्वः एक उद्गाता शक्वरीषु। शक्वर्यः ऋचः। आभिर्ऋग्भिर्वृत्रं हन्तुमिन्द्रः समर्थोऽभूदिति शक्वर्यः। तासु गायत्रं साम गायति। त्वः एकः ब्रह्मा च जातविद्यां जाते जाते कर्तव्ये प्रायश्चित्तादौ वेदयित्रीं वाचं वदति। ब्रह्मा हि सर्वं वेदितुं योग्यो भवति खलु। 'चादिलोपे विभाषा' इति न निघातः। त्वः एकोऽध्वर्युश्च यज्ञस्य मात्रां यज्ञो यथा मीयतेऽभिषवग्रहणादिकया क्रियया तां मात्रां यज्ञशरीरं वि मिमीते अत्यर्थं निर्मिमीते। 'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतार्गर्चनी' (निरु० १.८) इत्यादिनिरुक्तानुसारेणार्थोऽभ्यधायि। एवं बृहस्पतिर्विदितवेदार्थं तुष्टाव॥

**अन्वय—** त्वः पुपुष्वान् ऋचां पोषम् आस्ते, त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति। त्वः ब्रह्मा जातविद्यां वदति, त्वः यज्ञस्य मात्रां वि मिमीते।

**पदार्थ—** त्वः = एक। पुपुष्वान् = ऋचाओं का सङ्ग्रह तथा उसे दोहराने वाला (अर्थात् ऋग्वेद का ऋत्विक्) होता। ऋचाम् = ऋचाओं की। पोषम् = पुष्टि को। आस्ते = करता है। त्वः = एक (सामवेद का ऋत्विक् = उद्गाता)। शक्वरीषु =

शक्वरी छन्दों में। गायत्रम् = गाने योग्य (ऋचाओं) को (साम को)। गायति = गाता है। त्वः = एक। ब्रह्मा: = अथर्ववेद का ऋत्विक्। जातविद्याम् = (प्रत्येक अवसर पर अपनी) आज्ञा (निर्णय) को। वदति = कहता है, बोलता है। त्वः = एक (यजुर्वेद का ऋत्विक् = अध्वर्यु)। यज्ञस्य = यज्ञ के। मात्रां = परिमाण को, स्वरूप को। विमिमीते = विशेष रूप से निष्पादित करता है।

**अनुवाद**— एक होता (नामक ऋग्वेद का ऋत्विक्) ऋचाओं की पुष्टि करता है, एक (सामवेद का उद्गाता नामक ऋत्विक्) शक्वरी छन्दों में गाने योग्य (ऋचाओं) को गाता है, एक ब्रह्मा (नामक अथर्ववेद का ऋत्विक्) (प्रत्येक अवसर पर अपनी) आज्ञा (= निर्णय) को कहता है, एक (यजुर्वेद का अध्वर्यु नामक ऋत्विक्) यज्ञ के परिमाण (स्वरूप) को निष्पादित (निश्चित) करता है।

**व्याकरण**—

१. आस्ते – √अस् + आत्मनेपद लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. पुपुष्वान् – √पुष् + क्वसु, प्रथमा एकवचन।

३. गायति – √गा + लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. वदति – √वद् + लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

५. विमिमीते – वि + √मा +आत्मनेपद लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

# २०. पुरुषसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद    मण्डल संख्या–१०    सूक्त संख्या–९०

ऋषि–नारायण    देवता–विराट् पुरुष    छन्द–अनुष्टुप्, १६ त्रिष्टुप्

**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।**

**स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥**

**पदपाठ—** सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ॥ सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥

**सा०भा०—** सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥

**अन्वय—** पुरुषः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्, सः भूमिं विश्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत् ।

**पदार्थ—** पुरुषः = परमेश्वर, परमात्मा, आदि पुरुष, विराट् पुरुष । सहस्रशीर्षा = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) सिरों वाला । सहस्राक्षः = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) आँखों (नेत्रों) वाला । सहस्रपात् = हजार (अनन्त, असङ्ख्य) पैरों वाला । सः = वह । भूमिम् = भूमि को, समग्र ब्रह्माण्ड को । विश्वतः वृत्वा = सभी ओर से (या पूर्णरूप से) व्याप्त करके अथवा घेरकर अथवा आच्छादित करके । दशाङ्गुलम् = दश अङ्गुल । अत्यतिष्ठत् = अधिक होकर स्थित है ।

**अनुवाद—**परम (विराट्) पुरुष हजार सिरों वाला, हजार आँखों (नेत्रों) वाला और हजार पैरों वाला है । वह पृथिवी (अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड) को सभी ओर से (या पूर्ण रूप से) व्याप्त करके (घेर कर) दस अङ्गुल (परिणाम में) अधिक होकर स्थित है (ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित है– ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है) ।

**व्याकरण—**

१. सहस्रशीर्षा – सहस्रं शीर्षाणि यस्य सः (बहुव्रीहि)।

२. सहस्राक्षः– सहस्रम् अक्षीणि यस्य सः (बहुव्रीहि)।

३. सहस्रपात् – सहस्रम् पादाः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

४. वृत्वा – √वृ + क्त्वा (त्वा)।

५. दशाङ्गुलम् – दशानाम् अङ्गुलीनां समाहारः (द्विगुसमास)।

६. अतिष्ठत् – √स्था + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म्।**

**उ॒ताम॑तृ॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥२॥**

**पदपाठ—** पुरु॑षः। ए॒व। इ॒दम्। सर्व॑म्। यत्। भू॒तम्। यत्। च॒। भव्य॑म्॥ उ॒त। अ॒मृ॒त॒ऽत्वस्य॑। ईशा॑नः। यत्। अन्ने॑न। अ॒ति॒ऽरोह॑ति॥

**सा०भा०—** यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् पुरुष एव। यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव। यथास्मिन् कल्पे वर्तमानः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः। उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशानः स्वामी। यत् यस्मात्कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः।

**अन्वय—** इदं सर्वम् पुरुष एव, यत् भूतम्, यत् च भव्यम्, उत अमृत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिरोहति।

**पदार्थ—** इदम् सर्वम् = यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्)। पुरुषः एव = पुरुष ही है। यत् = जो कुछ। भूतम् = (भूतकाल में) हो चुका है। यत् च = और जो कुछ। भव्यम् = (भविष्य में) होने वाला है। उत = और, इसके अतिरिक्त। अमृतत्वस्य = अविनश्वरता का, अमरता का। ईशानः = अधिपति, अधिष्ठाता। यत् = जो। अन्नेन = अन्न से, भोग्य वस्तु से। अतिरोहति = वृद्धि को प्राप्त करता है, बढ़ता है।

**अनुवाद—** यह सब कुछ (दृश्यमान जगत्) पुरुष ही है (अर्थात् पुरुष का ही रूप है)। जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होने वाला है (वह भी सब पुरुष ही है)। इसके अतिरिक्त (पुरुष) अविनश्वरता (अमरता) का अधिपति है, जो अन्न

से (भोग्य वस्तु से) वृद्धि को प्राप्त करता है (बढ़ता है) (उसका भी अधिष्ठाता पुरुष ही है)।

**व्याकरण—**

१. भव्यम् – √भू + यत् (य)। ईशानः = √ईश + शानच् प्रथमा एकवचन।

२. अतिरोहति – अति √रुह् + लट्, प्रथम पुरुष एकवचन।

**एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।**
**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥**

**पदपाठ—** एतावान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः॥ पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि॥

**सा० भा०—** अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोऽशः। अस्य पुरुषस्य अविशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाश-स्वरूपे व्यवतिष्ठात इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै०आ० ८.१; तै०उ० २.१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः॥

**अन्वय—**एतवान् अस्य महिमा पुरुषः च अतः ज्यायान्, विश्वा भूतानि अस्य पादः, अस्य त्रिपात् अमृतं दिवि।

**पदार्थ—** एतावान् = इतना, इतनी। अस्य = इस (पुरुष) की। महिमा = महिमा, ऐश्वर्य। पुरुषः च = और पुरुष। अतः ज्यायान् = इस (महिमा, ऐश्वर्य) से भी बड़ा। विश्वाभूतानि = समग्र प्राणी, समस्त सृष्टि। अस्य पादः = उसका चतुर्थ अंश। अस्य त्रिपात् = इसका तीन-चतुर्थांश, तीन चौथाई भाग। अमृतं दिवि = अमृत रूप से द्युलोक में (है)।

**अनुवाद—** इतनी इस (पुरुष) की महिमा है और पुरुष इस महिमा, ऐश्वर्य से भी बड़ा है। समग्र प्राणी (समस्त सृष्टि) इसका चतुर्थ अंश मात्र है। उसका तीन-चतुर्थांश अमृत (अविनश्वर) रूप से द्युलोक में अवस्थित है।

**व्याकरण—**

१. एतावान् – एतत् + वतुप् (वत्)।

२. ज्यायान् – ज्या (प्रशस्य या बृद्ध) + ईयसुन्।

३. विश्वा – विश्व शब्द, नपुंसकलिंग प्रथमा बहुवचन का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप बनता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

**पदपाठ—** त्रिऽपात्। ऊर्ध्वः। उत्। ऐत्। पुरुषः। पादः। अस्य। इह। अभवत्। पुनरिति॥ ततः। विष्वङ्। वि। अक्रामत्। साशनानशने इति। अभि॥

**सा॰ भा॰—** योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितौ ब्रह्मस्वरूपः सोऽयम् ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात्संसाराद्बहितोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। तस्य अस्य सोऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं— 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ॰गी॰ १०. ४२) इति। ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादि-रूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान्। किं कृत्वा। साशनानशने अभिलक्ष्य। साशनं भोजनादिव्यवहारेपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः॥

**अन्वय—** त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्वः उदैत्, पुनः अस्य पादः इह अभवत्, ततः साशनानशने अभि विष्वङ् व्याक्रामत्।

**पदार्थ—** त्रिपात् = तीन पादो से युक्त, तीन चौथाई भाग के साथ। पुरुषः = पुरुष। ऊर्ध्वः = उर्ध्ववर्ती या द्युलोकवर्ती। उदैत् = ऊपर को उठ गया। पुनः = फिर भी। अस्य पादः = इस (पुरुष) का एक-चतुर्थ अंश। इह = यहाँ अभवत् = हो गया, रह गया है। ततः = उससे। साशनानशने = भोजन करने वाला (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाला (अर्थात् अचेतन या जड़ वर्ग)। अभि = पर्यन्त। विष्वङ् = विविध रूपों वाला, सर्वत्र। व्यक्रामत् = व्याप्त हुआ, व्याप्त होकर स्थित है।

**अनुवाद—** तीन पदों से युक्त (तीन चौथाई भाग के साथ) पुरुष ऊर्ध्ववर्ती

होकर ऊपर को उठा (ऊपर द्युलोक मे चला गया)। फिर भी इसका एक चतुर्थांश यही रह गया। वह (पुरुष) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन वर्ग) और भोजन न करने वाले (अर्थात् अचेतन वर्ग) पर्यन्त विविध रूपो में सर्वत्र व्याप्त हो गया।

**व्याकरण—**

१. उदैत् – उत् + √इ, लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. व्यक्रामत् – वि + √क्रम्, लङ्, मध्यमपुरुष एकवचन।

३. साशनाशने – अश् + ल्युट्;, अशनेन सहितम् साशनम्, अशनेन रहितम् अनशनम्, साशनम् च अनशनम्, चेति (द्वन्द्व समास)।

**तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।**

**स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥**

**पदपाठ—** तस्मात्। विऽराट्। अजायत। विऽराजः। अधि। पुरुषः॥
सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः॥

**सा०भा०—** विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः। विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मजीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति— 'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ०ता० २.१.९) इति। स जातः विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि।

**अन्वय—**तस्मात् विराट् अजायत, विराजः अधिपुरुषः। सः जातः भूमिम् अथो पुरः अत्यरिच्यत।

**पदार्थ—** तस्मात् = उस (पुरुष) से। विराट् = (परम पुरुष से उत्पन्न) प्रथम तत्त्व व्यक्त जगत्। अजायत = उत्पन्न हुआ, आविर्भूत हुआ, उद्भूत हुआ। विराजः = विराट नामक प्रथम तत्त्व के। अधिपुरुषः = अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीवात्मा)।

सः = वह। जातः = उत्पन्न होकर। भूमिम् = पृथिवी, जगत् के। पश्चात् = पीछे। अथो = और। पुरः = आगे। अत्यरिच्यत् = अतिक्रमण कर गया, सबसे आगे बढ़ गया।

**अनुवाद**— उस (आदि पुरुष) से विराट् (परम पुरुष से उत्पन्न प्रथम) तत्त्व व्यक्त जगत् उत्पन्न हुआ। विराट् (नामक प्रथम तत्त्व, व्यक्त जगत्) के अधिष्ठाता के रूप में पुरुष (जीवात्मा) (उत्पन्न हुआ)। वह उत्पन्न होकर जगत् के पीछे और आगे अतिक्रमण कर गया (अर्थात् सबसे आगे बढ़ गया)।

**व्याकरण**—

१. विराट् – वि + √राज् + क्विप्; दो स्वरों के मध्य मे स्थित ड् को ळ् हो गया है।

२. अजायत – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. अत्यरिच्यत – अति + √रिच् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत।**
**व॒स॒न्तो अ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥६॥**

**पदपाठ**— यत्। पुरु॑षेण। ह॒विषा॑। दे॒वाः। य॒ज्ञम्। अत॑न्वत॥ व॒स॒न्तः। अ॒स्य॒। आ॒सी॒त्। आज्य॑म्। ग्री॒ष्मः। इ॒ध्मः। श॒रत्। ह॒विः॥

**सा० भा०**— यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवाः उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हंविषा मानसं यज्ञं अतन्वत अन्वतिष्ठन् तदानीम्। अस्य यज्ञस्य वसन्तः वसन्ततुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पिवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्मः आसीत्। तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्वपुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वं न सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम्॥

**अन्वय**— यत् देवाः पुरुषेण यज्ञम् अतन्वत। अस्य वसन्तः आज्यम् आसीत्, ग्रीष्मः इध्मः, शरत् हविः (चासीत्)।

**पदार्थ**— यत् = जब। देवाः = देवताओं, दिव्य शक्तियों ने। पुरुषेण हविषा = पुरुषरूप हवि के द्वारा। यज्ञम् = यज्ञ को, सृष्टिरूप यज्ञ को। अतन्वत = विस्तार किया, सम्पन्न किया। अस्य = इस (इस यज्ञ का)। वसन्तः = वसन्त ऋतु। आज्यम् =

घृत। आसीत् = था। ग्रीष्मः = ग्रीष्म ऋतु। इध्मः = ईंधन। शरद् = शरद् ऋतु। हविः = हविष्य।

**अनुवाद**— जब देवताओं ने पुरुष (रूपी) हविष्य से यज्ञ (सृष्टियज्ञ) को सम्पन्न किया (उस समय) वसन्त ऋतु इस (यज्ञ) का घृत था, ग्रीष्म ऋतु ईंधन (था) (और) शरदृऋतु हविष्य थी।

**व्याकरण**—

१. अतन्वत् – √तन् (विस्तार करना) + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

**तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।**

**तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥**

**पदपाठ**— तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रतः॥ तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। ऋषयः। च। ये॥

**सा०भा०**— यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तम् 'तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः' इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजंन्त। मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूलाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः च ये सन्ति। ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः।

**अन्वय**— अग्रतः जातम् तम् यज्ञम् पुरुषम् बर्हिषि प्रौक्षन् तेन देवाः ये साध्याः ऋषयः च अयजन्त।

**पदार्थ**—अग्रतः = सर्वप्रथम। जातम् = उत्पन्न, उद्भूत। तम् यज्ञम् = उस यज्ञ अर्थात् यज्ञसाधनभूत। पुरुषं = पुरुष को। बर्हिषि = कुशाओं पर। प्रौक्षन् = प्रौक्षण किया, जल से अभिषेक किया। तेन = उस (प्रोक्षित पुरुष) से। देवाः = देवताओं (दिव्य-शक्तियों) ने। ये साध्याः = जो (प्रजापति आदि) सृष्टिकर्त्ता (थे, उन्होनें)। च = और। ऋषयः = ऋषियों ने, यज्ञकर्त्ताओं ने। अयजन्त = यज्ञ (यजन) किया।

**अनुवाद**— सर्वप्रथम उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत (यज्ञीय) पुरुष का (देवताओं ने) कुश पर प्रोक्षण किया (अर्थात् पुरुष को कुश पर रखकर जल छिड़ककर उसे पवित्र किया)। उस (प्रोक्षित पुरुष) से देवताओं (दिव्य-शक्तियों) ने, जो प्रजापति आदि सृष्टिकर्त्ता (थे उन्होंने) और (यज्ञकर्त्ता) ऋषियों ने यज्ञ (यजन) किया।

**व्याकरण—**

१. प्रौक्षन् – प्र + √उक्ष् (छिड़कना) + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. अयजन्त – √यज् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**तस्मा॑द्य॒ज्ञात् स॑र्व॒हु॒तः संभृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।**

**प॒शून् ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॑नार॒ण्यान् ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥८॥**

**पदपाठ—** तस्मा॑त्। य॒ज्ञात्। स॒र्व॒ऽहुतः॑। सम्ऽभृ॑तम्। पृ॒ष॒त्ऽआ॒ज्यम् ॥ प॒शून्। तान्। च॒क्रे॒। वा॒य॒व्या॑न्। आ॒र॒ण्यान्। ग्रा॒म्याः। च॒। ये ॥

**सा० भा०—** सर्वहुतः। सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहूत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रिज्यं सम्भृतं सम्पादितम्। दधि चाज्यम् चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं संपादितमित्यर्थः। तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः। तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते 'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैनान्परिददाति' (तै०ब्रा० ३.२.१.३) इति।

**अन्वय—** सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् पृषदाज्यम् सम्भृतम्, वायव्यानि आरण्यानि ये च ग्राम्याः तान् चक्रे।

**पदार्थ—** सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया ऐसे; जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया ऐसे। तस्मात् = उस। यज्ञात् = यज्ञ से। पृषदाज्यम् = दधिमिश्रित घी (घृत)। सम्भृतम् = इकट्ठा किया गया, उत्पन्न किया गया। वायव्यान् = वायु में विचरण करने वाले, अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले। आरण्यान् = वन्य पशुओं को, जङ्गलों में रहने वाले पशुओं को। ये च = और जो। ग्राम्याः = ग्राम्य पशु, गावों में रहने वाले पशु। तान् = उन्हें। चक्रे = उत्पन्न किया।

**अनुवाद—** जिसमें सभी कुछ होम (हवन) कर दिया गया (जिसमें सर्वात्मक पुरुष को होम किया गया) उस यज्ञ से दधिमिश्रित घृत इकट्ठा किया गया (उत्पन्न किया गया), (उस दधिमिश्रित घृत से उस पुरुष ने) वायु में विचरण करने वाले (पक्षियों), वन्य पशुओं और जो ग्राम्य पशु हैं, उन्हें उत्पन्न किया।

**व्याकरण—**

१. सर्वहुतः – सर्वं हूयते यस्मिन्; तस्मात्, सर्व + √हू + क्विप्, पञ्चमी एकवचन।

२. पृषदाज्यम् – √पृष् + शतृ = पृषत च तद् आज्यम् च (कर्मधारय)।

३. सम्भृतम् – सम् + भृ +क्त।

४. वायव्यान् – वायु + यत्, द्वितीया बहुवचन।

५. आरण्यान् – अरण्य + अण्, द्वितीया बहुवचन।

६. ग्राम्याः – ग्राम + यत्, प्रथमा बहुवचन।

७. चक्रे – √कृ + लिट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन।

**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
**छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥**

**पदपाठ**— तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः। ऋचः। सामानि। जज्ञिरे॥ छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्। यजुः। तस्मात्। अजायत॥

**सा० भा०**— सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजः अपि अजायत॥

**अन्वय**— सर्वहुतः तस्मात् यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे, तस्मात् छन्दांसि तस्मात् यजुः अजायत।

**पदार्थ**— सर्वहुतः = जिसमें सभी कुछ हवन कर दिया गया है ऐसे। तस्मात् = उस। यज्ञात् = यज्ञ से। ऋचः = ऋचाएँ। सामानि = साम। जज्ञिरे = उत्पन्न हुए। तस्मात् = उससे। छन्दांसि = (गायत्र्यादि) छन्द। तस्मात् = उससे। यजुः = यजुष्, यजुर्वेद के मन्त्र। अजायत = उत्पन्न हुआ।

**अनुवाद**—जिसमें सभी कुछ होम कर दिया गया (अथवा जिसमें सर्वात्मा पुरुष को होम किया गया) ऐसे यज्ञ से ऋचायें (ऋग्वेद के मन्त्र) तथा साम (सामवेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए; उससे (गायत्र्यादि) छन्द उत्पन्न हुए और उससे यजुष् (यजुर्वेद के मन्त्र) उत्पन्न हुए।

**व्याकरण**—

१. जज्ञिरे – जन् (उत्पन्न होना) + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. अजायत – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥१०॥

**पदपाठ—** तस्मा॑त् । अश्वाः॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ । ये । के । च॒ । उ॒भ॒याद॑तः ॥ गावः॑ । ह॒ । ज॒ज्ञि॒रे॒ । तस्मा॑त् । तस्मा॑त् । जा॒ताः । अ॒जा॒वयः॑ ॥

**सा०भा०—** तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः । तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त । तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे । किञ्च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ।

**अन्वय—** तस्मात् अश्वाः अजायन्त, ये के च उभयादतः, तस्मात् ह गावः जज्ञिरे, तस्मात् अजावयः जाताः ।

**पदार्थ—** तस्मात् = उससे । अश्वाः = घोड़े । अजायन्त = उत्पन्न हुए । ये के च = जो कोई और । उभयादतः = दोनों ओर दाँत वाले । तस्मात् = उससे । ह = निश्चित अर्थ का वाचक निपात । गावः = गायें । जज्ञिरे = उत्पन्न हुईं । तस्मात् = उससे । अजावयः = बकरियाँ तथा भेड़ें । जाताः = उत्पन्न हुईं ।

**अनुवाद—** उस (यज्ञ) से घोड़े उत्पन्न हुए और जो कोई ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतों वाले (गधे आदि पशु हैं, वे भी उत्पन्न हुए) । उससे गायें उत्पन्न हुईं । उससे बकरियाँ तथा भेड़ें उत्पन्न हुईं ।

**व्याकरण—**

१. अजायन्त – √जन् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।
२. उभयादतः – उभयोः दन्ताः येषां ते (बहुव्रीहिसमास) ।
३. जज्ञिरे – √जन् + लिट्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।
४. अजावयः – अजाश्च अवयश्च (द्वन्द्वसमास) ।

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।
मुखं॒ किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्येते ॥११॥

**पदपाठ—** यत् । पुरु॑षम् । वि । अद॑धुः । क॒ति॒धा । वि । अ॒क॒ल्प॒य॒न् ॥ मुख॑म् । किम् । अ॒स्य॒ । कौ । बा॒हू इति॑ । कौ । ऊ॒रू इति॑ । पादौ॑ । उ॒च्ये॒ते॒ इति॑ ॥

**सा० भा०**— प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः।

**अन्वय**— यत् पुरुषम् व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्, अस्य मुखम् किम्, अस्य बाहू कौ, ऊरू कौ पादौ उच्येते।

**पदार्थ**— यत् = जब, जिस समय। पुरुषम् = (देवताओं ने उस विराट्) पुरुष को। व्यदधुः = विभक्त किया, अलग-अलग हिस्सों में बाँटा। कतिधा = कितने भागों में, कितने रूपों में। व्यकल्पयन् = विविधरूप से कल्पित किया, विभाजित किया। अस्य = इसका, उसका। मुखम् = मुख। किम् = क्या (था)। अस्य = इसकी, उसकी। बाहू = भुजाएँ। कौ = कौन (थीं)। ऊरू = जङ्घाएँ। कौ = कौन। पादौ = पैर। उच्येते = कहे जाते हैं।

**अनुवाद**— जिस समय (देवताओं ने) (उस विराट्) पुरुष को विभक्त किया (उस समय) (उसको) कितने भागों में (रूपों में) विविध रूप से कल्पित किया विभाजित किया। इस (पुरुष) का मुख क्या (था); इसकी भुजाएँ कौन थीं? जङ्घाएँ (और) पैर क्या कहे जाते हैं?

**व्याकरण**—

१. व्यदधुः – वि + √धा + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. व्यकल्पयन् – वि + √क्लृप् + णिच् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

३. उच्यते – √ब्रू (वच्), कर्मवाच्य, लट्, प्रथमपुरुष द्विवचन।

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥**

**पदपाठ**— ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू इति। राजन्यः। कृतः। ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत ॥

**सा० भा०**— इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्रह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहु कृतः बाहुत्येन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत्

तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् वैश्यः संपन्नः। ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुष अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै०सं० ७.१.१.४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये॥

**अन्वय—** ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्, राजन्यः बाहू कृतः, यत् वैश्यः तत् अस्य ऊरू, पद्भ्याम् शूद्रः अजायत।

**पदार्थ—** ब्राह्मणः = ब्राह्मण। अस्य = इस (पुरुष) का। मुखम् = मुख। आसीत् = था। राजन्यः = क्षत्रिय। बाहू = दोनों भुजाएँ। कृतः = बनाया गया, उत्पन्न हुआ। तत् = वह। अस्य = इसकी। उरू = जङ्घाएँ। यत् = जो। वैश्यः = वैश्य। पद्भ्याम् = पैरों से। शूद्रः = शूद्र। अजायत = उत्पन्न हुआ।

**अनुवादा—** ब्राह्मण इस (पुरुष) का मुख था (अर्थात् मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ)। क्षत्रिय दोनों भुजाओं को बनाया गया (दोनों भुजाओं से क्षत्रिय को बनाया गया), जो वैश्य है वह इसकी जङ्घाओं के रूप में था (जङ्घाओं से वैश्य उत्पन्न हुआ), दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

**व्याकरण—**

१. आसीत् – √अस् + लिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

## चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
## मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

**पदपाठ—** चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत॥ मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः। अजायत॥

**सा० भा०—** यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादिवेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः। चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणाद्वायुरजायत॥

**अन्वय—** मनसः चन्द्रमाः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत, मुखात् इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत।

**पदार्थ—** मनसः = मन से। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। जातः = उत्पन्न हुआ। चक्षोः = नेत्र से। सूर्यः = सूर्य। अजायत = उत्पन्न हुआ। मुखात् = मुख से।

इन्द्रः = इन्द्र। च = और। अग्निः = अग्नि। च = तथा। प्राणात् = प्राणों से। वायुः = वायु। अजायत = उत्पन्न हुआ।

**अनुवाद**— (पुरुष के) मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ। मुख से इन्द्र और अग्नि (उत्पन्न हुआ) तथा प्राणों से वायु उत्पन्न हुआ।

**नाभ्या आसीदुन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।**

**पुद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥**

**पदपाठ**— नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम्। शीर्ष्णः। द्यौः। सम्। अवर्तत ॥ पत्ऽभ्याम्। भूमिः। दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान्। अकल्पयन् ॥

**सा० भा०**— यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति। नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना। अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना। अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥

**अन्वय**— नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत्, शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत, पद्भ्याम् भूमिः, श्रोत्रात् दिशः, तथा लोकान् अकल्पयन्।

**पदार्थ**— नाभ्याः = नाभि से। अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष। आसीत् = था, उत्पन्न हुआ। शीर्ष्णः = शीर्ष से, सिर से। द्यौः = द्युलोक। समवर्तत = उत्पन्न हुआ, उद्भूत हुआ। पद्भ्याम् = पैरों से। भूमिः = भूमि। श्रोत्रात् = कान से, कान से। दिशः = दिशाएँ। तथा = उस प्रकार। लोकान् = लोकों की (को)। अकल्पयन् = कल्पित किया, कल्पना की, सृष्टि की, रचना की।

**अनुवाद**— (पुरुष की) नाभि से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, सिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ। पैरों से भूमि और कानों से दिशाएँ (उत्पन्न हुई)। इस प्रकार (उन्होंने) लोकों की रचना की।

**व्याकरण**—

१. समवर्तत – सम् + √वृत् + लङ्, प्रथम पुरुष एकवचन।

२. अकल्पयन् – √क्लृप् (बनाना, निर्माण करना) + लङ्, प्रथम पुरुष बहुवचन।

**सुप्तास्यासन् परिधयुस्त्रिः सुप्त सुमिधः कृताः।**

**देवा यद्युज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पुशुम् ॥१५॥**

**पदपाठ**— स॒प्त । अ॒स्य॒ । आ॒स॒न् । प॒रि॒ऽधयः॑ । त्रिः । स॒प्त । स॒म्ऽइधः॑ । कृ॒ताः ॥ दे॒वाः । यत् । य॒ज्ञम् । त॒न्वा॒नाः । अब॑ध्नन् । पुरु॑षम् । प॒शुम् ॥

**सा०भा०**— अस्य साङ्कल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधयः आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः अत एवाम्नायते— 'न पुरस्तात्परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै०स० २.६.६.३) इति। तत एव आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः। तथा समिधः त्रिः सप्तत्रिगुणीकृतसप्तसङ्ख्याकाः एकविंशतिः कृताः। 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' (तै०स० ५.१.१०.३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। यत् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पुशुम् अबध्नम् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम्॥

**अन्वय**— यत् देवाः यज्ञम् तन्वानाः पुरुषं पशुम् अबध्नन्, अस्य सप्त परिधयः आसन्, त्रिः सप्त समिधः कृताः।

**पदार्थ**— यत् = जब, जिस समय। देवाः = देवाताओं ने। यज्ञम् = यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) को। तन्वानाः = विस्तार करते हुए। पुरुषं पशुम् = पुरुषरूपी पशु को। अबध्नन् = बाँधा (ग्रहण किया)। अस्य = उस (यज्ञ पुरुष) की। सप्त = सात। परिधयः = परिधियाँ। आसन् = थीं। त्रिःसप्त = इक्कीस। समिधः = समिधाएँ। कृताः = की गयीं, बनायी गयीं।

**अनुवाद**— जिस समय देवताओं ने यज्ञ (सृष्टि-उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ) का विस्तार करते हुए पुरुषरूपी पशु को बाँधा (अर्थात् ग्रहण किया), (उस समय) उस (यज्ञ-पुरुष) की सात परिधियाँ थीं (और) इक्कीस समिधाएँ बनायी गयीं।

**व्याकरण**—

१. तन्वानाः – √तन् + शानच्, प्रथमा, बहुवचन।

२. अबध्नन् – √बन्ध् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वा-**
**स्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।**

ते हु नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

**पदपाठ—** यज्ञेन । यज्ञम् । अयजन्त । देवाः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् । ते । ह । नाकम् । महिमानः । सचन्त । यत्र । पूर्वे । साध्याः । सन्ति । देवाः ॥

**सा० भा०—** पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति देवाः प्रजापतिप्राण-रूपाः यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपा-सनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

**अन्वय—** देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त, तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते महिमानः ह नाकं सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति।

**पदार्थ—** देवाः = देवताओं ने। यज्ञेन = (मानस) यज्ञ के द्वारा। यज्ञम् = यज्ञस्वरूप प्रजापति का। अजयन्त = यजन किया, पूजा की। तानि = वे। धर्माणि = धर्म, नियम, सृष्टि-उत्पत्ति के विधान। प्रथमानि = सबसे मुख्य। आसन् = थे, हुए। ते = वे। महिमानः = महिमाशाली (उपासक)। ह = निश्चित रूप से। नाकं = स्वर्ग को। सचन्त = प्राप्त करते हैं। यत्र = जहाँ पर। पूर्वे = पूर्वकालीन, प्राचीन। साध्याः देवाः = साध्य देव, सिद्धि को प्राप्त करने वाले देवता। सन्ति = रहते हैं, स्थित हैं।

**अनुवाद—** देवताओं ने (उस मानस) यज्ञ के द्वारा (अथवा यज्ञ-पुरुष के द्वारा) यज्ञ-स्वरूप (प्रजापति) का यजन (पूजन) किया। वे धर्म (नियम या सृष्टि-उत्पत्ति के विधान) सबसे मुख्य हुए। वे महिमाशाली (उपासक) दिव्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं।

**व्याकरण—**

१. अजयन्त – √यज् + लङ्, आत्मनेपद, प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. सचन्त – √सच् + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन, वैदिक रूप; धातु के पूर्ववर्ती 'अ' का लोप हो गया है।

# २१. हिरण्यगर्भसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद मण्डल संख्या–१० सूक्त संख्या–१२१

ऋषि-हिरण्यगर्भ देवता-प्रजापति छन्द-त्रिष्टुप्

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

पदपाठ— हिरण्यऽगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। असीत्॥ सः। दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

सा० भा०— हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। तथा च तैत्तिरीयकं— 'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै०सं० ५.५.१.२) इति। यद्वा हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत। मायाध्यक्षात् परमात्मनः समजायत। यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भः तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते। स च जातः जातमात्र एव एकः अद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः ईश्वरः आसीत्। न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि सः हिरण्यगर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि च इमाम् अस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम्। यद्वा पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम। अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धारयति॥ 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति सार्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घः। कस्मै। अत्र किंशब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतो वर्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्डप्रत्ययः। यद्वा। कं सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्याते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ०ब्रा० ३.२१)

इत्यादिकं ब्राह्मणमन्त्रानुसन्धेयम्। यदासौ किंशब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्सावर्वर्ण०' इति प्रतिषेधः। 'क्रिया ग्रहणं कर्तव्यम्' इतिं कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तम् हविषा वयमृत्विजः परिचयेम। विधतिः परिचरणकर्मा॥

**अन्वय**— हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत, जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्। सः इमाम् पृथिवीं उत् द्याम् दाधार, कस्मै देवाय हविषा विधेम्।

**पदार्थ**— हिरण्यगर्भः = प्रतापति, हिरण्यगर्भ। अग्रे = सर्वप्रथम। समवर्तत = उत्पन्न हुआ, पैदा हुआ। जातः = उत्पन्न होकर, उत्पन्न होते ही। भूतस्य = सभी प्राणियों का, समग्र जगत् का। एकः पतिः = एकमात्र (अद्वितीय) स्वामी। आसीत् = हो गया। सः = उसने। इमाम् = इसको। पृथिवीं = पृथिवी को। उत् = और। द्याम् = द्युलोक को। दाधार = धारण किया। कस्मै देवाय = किस देव के लिए अथवा प्रजापति के लिए। हविषा = हविष् के द्वारा। विधेम = विधान करें, यजन करें, यज्ञ करें।

**अनुवाद**— प्रजापति सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही (वह) (सम्पूर्ण) जगत् का (अथवा सभी प्राणियों का) एकमात्र स्वामी हो गया। उसने द्युलोक को और इस विस्तृत पृथिवी को धारण किया। (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि के द्वारा विधान (पूजन, अर्चन, यज्ञ) करें (अथवा हम प्रजापति देवता के लिए हवि से विधान करें)।

**व्याकरण**—

१. समवर्तत – √सम् + वृत् + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. दाधार – √धा + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. विधेम – √विध् (पूजा करना) + विधिलिङ्, उत्तमपुरुष बहुवचन।

**य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वे॒**
**उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।**
**यस्य॑ छा॒यामृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः**
**कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥२॥**

**पदपाठ**— यः। आ॒त्म॒ऽदाः। ब॒ल॒ऽदाः। यस्य॑। विश्वे॑। उ॒प॒ऽआस॑ते।

प्रऽशिषम् । यस्य । देवाः ॥ यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

**सा० भा०**— यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता । आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते । यथाग्नेः सकाशाद्विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत् । यद्वा आत्मनां शोधयिता । 'दैप् शोधने' । 'आतो मनिन्०' इति विच् । बलदाः बलस्य च दाता शोधयिता वा । यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे सर्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा । 'शासु अनुशिष्टौ' । 'शास इत्०' (पा०सू० ६.४.३४) इत्युपधाया इत्वम् । 'शासि वसिधसीनां च' इति षत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । आसेरनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । 'तिङि चोदात्तवति' इति गतिरनुदात्ता तथा देवाः अपि यस्य प्रशासनमुपासते । अपि च अमृतम् अमृतत्वम् । भावप्रधानो निर्देशः । यद्वा । अमृतम् । मरणं नास्त्यस्मिन्नित्यमृत सुधा । बहुव्रीहौ 'नञोजरमरमित्रमृताः' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । तदपि यस्य प्रजापतेः छाया छायेन वर्ति भवति । मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति । तस्मै कस्मै देवाय इत्यादि समानं पूर्वेण हविषा-पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः ॥

**अन्वय**— यः आत्मदाः बलदाः प्रशिषम् विश्वे देवाः उपासते । यस्य छाया अमृतं, यस्य छाया मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

**पदार्थ**— यः = जो । आत्मदाः = प्राणदाता, जीवनदाता । बलदाः = बलदाता, शक्तिप्रदाता । यस्य = जिसके । प्रशिषम् = शासन को, आदेश को । विश्वे = सब, समस्त । देवाः = देवता । उपासते = उपासना करते हैं, पालन करते हैं, मानते हैं । यस्य = जिसकी । अमृतं = अमृतत्व, अमरत्व । यस्य = जिसकी । छाया = छाया । मृत्युः = कस्मै....।

**अनुवाद**— जो (हिरण्यगर्भ) प्राणदाता (जीवनदाता) (और) बलदाता (शक्तिप्रदाता) है; जिसके आदेश का सब देवता पालन करते (मानते) है; जिसकी छाया अमृत है, जिसकी (छाया) मृत्यु है (अर्थात् अमरता और मृत्यु जिसके साथ छाया के समान रहते हैं– अमरता और मृत्यु दोनों जिसके अधीन हैं) (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें ।

**व्याकरण**—

१. आत्मदा – आत्मन् + √दा + विच्, प्रथमा बहुवचन ।

२. बलदाः – बल + √दा + विच्, प्रथमा एकवचन ।

३. उपासते – उप + √आस् + लट्, आत्मनेपद प्रथमपुरुष बहुवचन ।

यः प्राणतो निमिषतो महि-
त्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

**पदपाठ—** यः । प्राणतः । निऽमिषतः । महिऽत्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूव ॥ यः । ईशे । अस्य । द्विऽपदः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥

**सा० भा०—** यः हिरण्यगर्भः प्राणतः प्रश्वसतः । 'अन प्राणने' । आदादिकः । 'शतुरनुमः०' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । निमिषतः अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः । अत्रापि पूर्ववद्विभक्तिरुदात्ता । जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन । 'सुपां सुलुक्०' इति तृतीयाया आकारः । माहात्म्येन एक इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति । भवतेर्णलि 'लिति' (पा०सू० ३.१.१९३) इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम् । अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यपादेः चतुष्पदःगवाश्वादेश्च यः प्रजापतिः ईशे ईष्टे । 'ईश ऐश्वर्ये' । आदादिकोऽनुदात्तेत् । 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' अनुदात्तेत्त्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । अस्य । 'ऊडिदम्०' इतीदमो विभक्तिरुदात्ता । द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् । 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा०सू० ५.४.१४०) इति पादस्यान्त्यलोपः समासान्तः । भसंज्ञायां 'पाद पत्' (पा०सू० ६.४.१३०) इति पद्भावः 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्' (पा०सू० ६.२.१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया । 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या०' इति पूर्वपद प्रकृतिस्वरः । पूर्वपदस्य 'नः सङ्ख्यायाः' (फि०सू० २.५) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मै इत्यादि सुबोधं हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः ।

**अन्वय—** यः महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः एकः इत् राजा बभूव, यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

**पदार्थ—** यः = जो (हिरण्यगर्भ) । महित्वा = महिमा के कारण । प्राणतः = श्वास- प्रश्वास लेने वाले का, साँस लेने वाले का । निमिषतः = पलकों का सञ्चालन करने वाले का, पलक गिराने वाले का । जगतः = गतिशील प्राणि-जगत् का । एकः इत् = अकेला ही, एकमात्र । राजा = राजा, स्वामी । बभूव = हो गया । यः = जो ।

अस्य = इस। द्विपदः = दो पैरों वाले (मनुष्यादि) का। चतुष्पदः = चार पैरों वाले का। ईशे = ईश्वर है, स्वामित्व करता है।

**अनुवाद**— जो (हिरण्यगर्भ) (अपनी) महत्ता (महिमा) के कारण श्वास-प्रश्वास लेने वाले, पलक गिराने वाले (पलकों का सञ्चालन करने वाले) और गतिशील प्राणि-जगत् का अकेला ही राजा हो गया और जो इस (गतिशील जगत्) के दो पैरों वाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरों वाले (पशु-वर्ग) का ईश्वर है (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

**व्याकरण**—

१. प्राणतः – प्र + √अन् + शतृ, षष्ठी, एक वचन।
२. निमषतः – √मिष् + शतृ, षष्ठी, एकवचन।
३. ईशे – √ईश् (शासन करना) + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन। वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में इष्टे रूप होता है।

**यस्येमे हिमवन्तो महित्वा**
**यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।**
**यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू**
**कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥**

**पदपाठ**— यस्य। इमे। हिमऽवन्तः। महिऽत्वा। यस्य। समुद्रम्। रसया। सह। आहुः॥ यस्य। इमाः। प्रऽदिशः। यस्य। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

**सा०भा०**— हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान्। तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते। यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। हिमवन्तः हिमवदुपलक्षिताः इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वताः यस्य प्रजापतेः महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमिति आहुः। तेन सृष्टत्वात्त-द्रूपेणावस्थानाद्वा। तथा रसया। रसो जलम्। तद्वती रसा नदी। अर्शआदित्वादाच्। जातावेकवचनम् रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम्। पूर्ववदेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमिति आहुः कथयन्ति सृष्ट्यभिज्ञाः। यस्य च इमाः प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्याः कोणदिश ईशितव्याः। तथा बाहुः। वचनव्यत्ययः। बाह्वो भुजाः। भुजवत्प्राधान्य-युक्तः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। तस्मै कस्मै इत्यादि समानं पूर्वेण॥

**अन्वय**— यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः रसया सह समुद्रम् यस्य आहुः यस्य इमाः प्रदिशः यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।

**पदार्थ**— यस्य = जिसकी। महित्वा = महत्ता से। इमे = ये। हिमवन्तः = बर्फीले पर्वत। रसया सह = नदियों के साथ। समुद्रम् = समुद्र को। यस्य = जिसका। आहुः = कहते हैं। इमाः = ये। प्रदिशः = प्रधान दिशाएँ। यस्य = जिसकी। बाहू = बाहु भुजाएँ। यस्य = जिसकी.....।

**अनुवाद**— जिस (हिरण्यगर्भ) की महिमा से ये बर्फीलें पर्वत (स्थित) हैं, नदियों के साथ समुद्र को जिसका कहते हैं। जिसकी ये कोण-दिशाएँ (आग्नेयी आदि चार दिशाएँ) हैं और जिसकी भुजाएँ (रक्षा करने वाली) हैं। (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हविष् के द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

**व्याकरण**—

१. हिमवन्तः – हिम + मतुप् (मत = वत्), प्रथमा बहुवचन।

२. आहुः – ब्रू (आह) + लट्, प्रथमपुरुष बहुवचन।

**येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा**

**येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑।**

**यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒**

**कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥५॥**

**पदपाठ**— येन॑। द्यौः। उ॒ग्रा। पृ॒थि॒वी। च॒। दृ॒ळ्हा। येन॑। स्व१ रिति॑ स्वः। स्त॒भि॒तम्। येन॑। नाकः॑॥ यः। अ॒न्तरि॑क्षे। रज॑सः। वि॒ऽमान॑ः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒॥

**सा०भा०**— येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उद्‌गूर्णं विशेषागहनरूपं वा। पृथिवी भूमिः च दृळ्हा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम्। यथाधो न पतति तथोपरि अवस्थापितमित्यर्थः। 'ग्रसितस्कभितस्तभित०' इति निपात्यते। तथा नाकः आदित्यश्च येन अन्तरिक्षे स्तभितः। यः च अन्तरिक्षे रजसः उदकस्य विमानः निर्माता। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम्।

**अन्वय**— येन उग्रा द्यौः पृथिवीः च दृळ्हा, येन स्वः स्तभितम् येन नाकः, यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

**पदार्थ**— येन = जिसके द्वारा। उग्रा द्यौः = उन्नत द्युलोक। पृथिवी च = और पृथिवी। दृळ्हा = स्थिर कर दिया गया है, रोका गया है। येन = जिसके द्वारा। स्वः = स्वर्गलोक। स्तभितम् = स्तब्ध बना दिया गया, स्थिर किया गया है। येन = जिसके द्वारा। नाकः = नाकलोक। यः = जो। अन्तरिक्षे = अन्तरिक्ष में। रजसः = लोकों का, जल का। विमानः = नापने वाला है, बनाने वाला है....।

**अनुवाद**— जिसके द्वारा उन्नत द्युलोक और पृथिवी को दृढ़ (स्थिर) किया गया; जिसके द्वारा स्वर्ग-लोक और नाकलोक (आदित्य-मण्डल) को स्थिर किया गया; जो अन्तरिक्ष में लोकों को नापने वाला है (अथवा जो अन्तरिक्ष में जल का निर्माण करने वाला है) (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हविष् द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

**व्याकरण**—

१. दृळ्हा – √दृह् + क्त + टाप्, वेद में दो स्वरों के मध्य में ढकार का ळ्हकार हो जाता है।

२. स्तभितम् – √स्तम्भ् – + क्त।

३. विमानः – वि + √मा + ल्युट्।

**यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने**
**अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।**
**यत्राधि सूर उदितो विभाति**
**कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥**

**पदपाठ**— यम्। क्रन्दसी इति। अवसा। तस्तभाने इति। अभि। ऐक्षेताम्। मनसा। रेजमाने इति॥ यत्र। अधि। सूरः। उत्ऽइतः। विऽभाति। कस्मै। देवाय। विधेम॥

**सा० भा०**— क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि— यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै०ब्रा० २.२.९.४) इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजाततिं मनसा बुद्ध्या अभ्येक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्यभ्यपश्येताम्। 'ईक्ष दर्शने'। लङि अडादित्वादाद्युदात्तः। कीदृश्यौ द्यावापृथिव्यौ। रेजमाने राजमाने दीप्यमाने। आकारस्य व्यत्यये-

नैत्वम्। अनुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। यद्वा। लिटः कानच्। 'फणां च सप्तानाम्' (पा०सू० ६.४.१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। 'छन्दस्युभयथा' इति सार्वधातुकत्वाच्छप्। अत एव 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। यत्राधि यस्मिन्नाधार-भूते प्रजापतौ सूरः सूर्यः उदितः उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते। उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् तस्मै कस्मै इत्यादि सुज्ञानम्।

**अन्वय**— अवसा तस्तभाने मनसा रेजमाने क्रन्दसी यम् मनसा अभ्यैक्षेताम्; यत्र अधि सूरः उदितः विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

**पदार्थ**— अवसा = रक्षा द्वारा, रक्षा के लिए। तस्तभाने = स्थिर किये गये। मनसा रेजमाने = मन से काँपते हुए। क्रन्दसी = द्युलोक और पृथिवी लोक। यम् = जिस (प्रजापति) की (ओर)। मनसा = मन से। अभ्यैक्षेताम् = देखते हैं। यत्र अधि = जिसे आधार बनाकर, जिसके ऊपर आश्रित होकर। सूरः = सूर्य। उदितः = उदित होकर। विभाति = प्रकाशित होता है....।

**अनुवाद**— (प्राणियों की) रक्षा के लिए (रक्षा के द्वारा) स्थिर बनाये गये तथा मन से काँपते (डरते) हुए द्युलोक और पृथिवी लोक जिस (प्रजापति की ओर) देखते हैं, जिसे आधार बनाकर सूर्य उदित होकर चमकता है (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हवि द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

**व्याकरण**—

१. क्रन्दसी – √क्रन्द् + असुन् = क्रन्दस्। स्त्रीलिंग प्रथमा द्विवचन।
२. अवसा – √अव् + असुन् तृतीया एकवचन।
३. तस्तभाने – √स्तम्भ् + कानच् + टाप्, प्रथमा द्विवचन।
४. रेजमाने – √रेज् (काँपना) + कानच् + टाप्, प्रथमा द्विवचन।
५. अभ्यैक्षेताम् – अभि + √ईक्ष् लङ्, प्रथमपुरुष द्विवचन।

**आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमाय-**
**न्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।**
**ततो देवानां समवर्ततासुरेकः**
**कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥**

**पदपाठ**— आपः। ह। यत्। बृहतीः। विश्वम्। आयन्। गर्भम्।

दधा॑नाः । ज॒नय॑न्तीः । अ॒ग्निम् ॥ ततः॑ । दे॒वाना॑म् । सम् । अ॒व॒र्त॒त॒ । असुः॑ । एकः॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥

**सा० भा०—** बृहतीः बृहत्यो महत्यः । जसि 'वा छन्दसि' इति पूर्वसवर्णदीर्घः । 'बृहन्महतोरुपसङ्ख्यानम्' इति ङीप उदात्तत्वम् । अग्निम् । उपलक्षणमेतत् । अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादिभूतजातं जनयन्तीः जनयन्त्यः तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्यः आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्वे जगत् व्याप्नुवन् यत् यस्मात् ततः तस्माद्धेतोः देवानां देवादीनां सर्वेषां प्राणिनाम् असुः प्राणभूतः एकः प्रजापतिः समवर्तत समजायत । यद्वा । यत् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थिताः ततोगर्भभूतात्प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत । अथवा । यत् लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः । उक्तलक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम । तस्मै कस्मै इत्यादि गतम् ॥

**अन्वय—** यत् ह गर्भं दधाना अग्निं जनयन्तीः बृहती आपः विश्वं आयन् ततः देवानाम् एकः असुः समवर्तत, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

**पदार्थ—** यत् = जब । ह = निश्चयार्थक निपात । गर्भं दधानाः = गर्भ धारण करती हुई । अग्निम् = अग्नि को । जनयन्तीः = उत्पन्न करती हुई । बृहतीः = विपुल, महती । आपः = जल-राशि ने । विश्वम् = विश्व को । आयन् = व्याप्त कर लिया । ततः = तब । देवानाम् = देवताओं का । एकः असुः = एकमात्र प्राणभूत (प्रजापति ) । समवर्तत = उत्पन्न हुआ ।

**अनुवाद—** जब गर्भ धारण करती हुई और अग्नि को उत्पन्न करती हुई महती (विशाल) जल-राशि ने विश्व (सब कुछ) को व्याप्त कर लिया, तब देवताओं का एकमात्र प्राणभूत (प्रजापति) उत्पन्न हुआ। (तात्पर्य यह है कि पहले विशाल जलराशि थी, उससे हिरण्यगर्भ प्रजापति उत्पन्न हुआ), (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए हविष् द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन करें) ।

**व्याकरण—**

१. बृहतीः – 'बृहत्यः' का वैदिक रूप ।
२. दधानाः – √धा + शानच् +टाप्, प्रथमा बहुवचन ।
३. जनयन्तीः – √जन् + णिच् + शतृ +ङीप्, प्रथमा बहुवचन । जनयन्त्यः' का वैदिक रूप ।
४. आयन् – √इ + लङ्, प्रथमपुरुष बहुवचन ।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्-
दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्-
त्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

**पदपाठ—** यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्॥ यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

**सा०भा०—** यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधानाः धारयित्रीः। दधातेर्हेतोशानच्। 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। ईदृशीः आपः। व्यत्ययेन प्रथमा। अपः प्रलयकालीनाः महिना महिम्ना। छान्दसो मलोपः स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यश्यत् परितो दृष्टवान् यः च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकः अद्वितीयः आसीत् भवति। अस्तेश्छान्दसो लङ्। 'अस्तिसिवोऽपृक्ते' (पा०सू० ७.३.९६) इतीडागमः। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम्॥

**अन्वय—** दक्षम् दधानाः यज्ञं जनयन्तीः आपः यः चित् महिना पर्यपश्यत्, यः देवेषु अधि एकः देवः आसीत्, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

**पदार्थ—** दक्षम् = दक्ष (प्रजापति) को। दधानाः = (गर्भ रूप में) धारण करती हुई। यज्ञम् = (सृष्टि-उत्पत्ति रूप) यज्ञ को। जनयन्तीः = उत्पन्न करती हुई। आपः = जलराशि को। यः = जिसने। चित् = पादपूरणार्थक निपात। महिना = महिमा से। पर्यपश्यत् = चारों ओर देखा। यः = जो देवेषु अधि = देवताओं के मध्य (उनके ऊपर)। एकः = अद्विवतीय, एकमात्र। देवः = स्वामी। आसीत् = था ....।

**अनुवाद—** जिसने (दक्ष प्रजापति) को (गर्भ रूप में) धारण करती हुई और (सृष्टि-उत्पत्ति रूप) यज्ञ को उत्पन्न करती हुई जलराशि को (अपनी) महिमा से चारों ओर देखा, जो देवताओं के मध्य उनके ऊपर एकमात्र (द्वितीय) स्वामी था, (उसे छोड़कर) हम किस देवता के लिए यज्ञ से विधान (यजन, पूजन) करें।

**व्याकरण—**

१. महिम्ना – महिना का वैदिकरूप। मकार का लोप।
२. आपः – अपः, द्वितीया बहुवचन का वैदिक रूप।

३. पर्यपश्यत् – परि + √दृश् + लङ्। प्रथमपुरुष एकवचन।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥

**पदपाठ—** मा। नः। हिंसीत्। जनिता। यः। पृथिव्याः। यः। वा। दिवम्। सत्यऽधर्मा। जजान॥ यः। च। अपः। चन्द्राः। बृहतीः। जजान। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

**सा० भा०—** स प्रजापतिः नः अस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। यः पृथिव्याः भूमेः जनिता जनयिता स्रष्टा। 'जनिता मन्त्रे' इति णिलोपो निपात्यते। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति पृथिवीशब्दाद्विभक्तेरुदात्तत्वम्। यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथं धर्म जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिः दिवम् अन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वान् लोकान् जजान जनयामास। 'जनी प्रादुर्भावे'। णिचि वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः०' इति मित्त्वात् 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्। ततो लिंटि 'अमन्त्रे' (पा०सू० ३.१.३५) इति निषेधादाम्प्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धौ 'लिति' इति प्रत्ययात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। यश्च बृहतीः महतीः चन्द्रा आह्लादिनीः अपः उदकानि जजान जनयामास। 'ऊडिदम्०' इत्यादिना अप्शब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम्। तस्मै कस्मै इत्यादि गतम्।

**अन्वय—** नः मा हिंसीत, यः पृथिव्याः जनिता वा यः सत्यधर्मा दिवं जजान, यः च चन्द्राः बृहती अपः जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

**पदार्थ—** नः = हमें, हम लोगों को। मा हिंसीत् = न मारे, पीड़ित न करे। यः = जो। पृथिव्याः = पृथिवी का। जनिता = उत्पन्नकर्ता, उत्पादक। वा = और। यः = जिसने। सत्यधर्मा = सत्य नियम वाले ने। दिवम् = द्युलोक को। जजान = उत्पन्न किया है। यः च = और जिसने। चन्द्राः = आनन्ददायक, आह्लादकारिणी। बृहतीः = विशाल। अपः = जलराशि को। जजान = उत्पन्न किया...।

**अनुवाद—** वह (प्रजापति) हमें पीड़ित न करें, जो पृथिवी का उत्पादक है, सत्य नियम वाले जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया है जिसने आनन्ददायक विशाल जल-राशि को उत्पन्न किया है। (उसे छोड़कर हम) किस देवता के लिए हविष् के द्वारा विधान (यज्ञ, पूजन) करें।

व्याकरण—

१. हिंसीत् – √हिंस् + लिङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. जनिता – √जन् + णिच् (इ.) + तृच्, पुल्लिंग, प्रथमा एकवचन।

२. जजान – जन् + लिट्, प्रथम पुरुष एकवचन का वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में जनयामास रूप बनता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो

विश्वा जातानि परि ता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

**पदपाठ—** प्रजापते। न। त्वत्। एतानि। अन्यः। विश्वा। जातानि। परि। ता। बभूव॥ यत्ऽकामाः। ते। जुहुमः। तत्। नः। अस्तु। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्॥

**सा० भा०—** इळादधाख्य इष्ट्ययने प्राजापत्यस्य हविषः 'प्रजापते इत्येषानुवाक्या। सूत्रितं च– प्राजापत्य इळादधः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (आश्व० श्रौ० २.१४) इति। केशनखकीकीटादिभिः दुष्टानि हर्षीष्यनयैवाप्सु प्रक्षिपेत्। सूत्रितं च— 'अपोऽभ्यवहरेयुः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (आश्व०श्रौ० ३.१०) इति। चौलादिकर्मस्वप्येषा होमार्था। सूत्रितं च— तेषां पुरस्ताच्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयादग्र आयूंषि पवस इति तिसृभिः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति च' (आश्व०गृ० १.४.४) इति।

**अन्वय—** प्रजापते! त्वत् अन्यः एतानि ता विश्वा जातानि न परि बभूव, यत् कामाः ते जुहुमः, तत् नः अस्तु, वयं रयीणाम् पतयः स्याम।

**पदार्थ—** प्रजापते = हे प्रजापति! त्वत् अन्यः = तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई। एतानि = इन (= वर्तमानकालिक)। ता = उन (= भूतकालिक)। विश्वा = सम्पूर्ण। जातानि = उत्पन्न पदार्थों को। न परि बभवू = व्याप्त नहीं कर पाया। यत् कामाः = जिस (फल) की कामना करते हुए। ते = तुम्हें। जुहुमः = हवि प्रदान करते हैं। तत् = वह। नः = हमारा। अस्तु = हो जाय। वयम् = हम। रयीणाम् = समृद्धियों के, धनों के। पतयः = स्वामी। स्याम = हो जायँ।

**अनुवाद—** हे प्रजापति! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई इन (= वर्तमान-

कालिक और) उन (= भूतकालिक) सम्पूर्ण उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं कर पाया (अर्थात् तुम्हीं इस चराचर जगत् की सृष्टि तथा संहार कर सकते हो दूसरा कोई नहीं)। जिस (फल) की कामना करते हुए हम तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, वह (फल) हमारा हो जाय। हम समृद्धियों (धनों) के स्वामी हो जायँ।

**व्याकरण—**

१. जुहुमः – √हु + लट्, उत्तमपुरुष बहुवचन।
२. स्याम – √अस् + विधिलिङ्, उत्तमपुरुष बहुवचन।
३. विश्वा – नपुंसकलिङ्ग द्वितीया बहुवचन, वैदिक रूप लौकिक संस्कृत में विश्वानि रूप होता है।
४. बभूव – √भू = लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

## २२. नासदीयसूक्तम्

वेद–ऋग्वेद | मण्डल संख्या–१० | सूक्त संख्या–१२९

ऋषि–परमेष्ठी प्रजापति | देवता–परमात्मा | छन्द–त्रिष्टुप्

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

**पदपाठ**— न । असत् । आसीत् । नो इति । सत् । आसीत् । तदानीम् । न । आसीत् । रजः । नो इति । विऽओम । परः । यत् ॥ किम् । आ । अवरीवरिति । कुह । कस्य । शर्मन् । अम्भः । किम् । आसीत् । गहनम् । गभीरम् ॥

**सा०भा०**— 'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' इत्यादिनाग्रे सृष्टिः प्रतिपादयिष्यते । अधुना ततः प्रागवस्था निरस्तसमस्तप्रपञ्चा या प्रलयावस्था सा निरूप्यते। तदानीं प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तत् असत् शशविषाणवन्निरूपाख्यं न आसीत् । न हिं तादृशात् कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति । तथा नो सत् नैव सदात्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यम् आसीत् । यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि सम्भवति । कुतस्तयोः तादात्म्यमिति उभयविलक्षण-मनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः । ननु नो सदिति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधः । तर्ह्यात्मनोऽप्य-निर्वाच्यत्वप्रसङ्गः अथोच्येत । न आनीदवातमिति तस्य सत्त्वमग्रे वक्ष्यते परिशेषान्मायाया एवात्र सत्त्वं निषिध्यत इति । एवमपि तदानीमिति विशेषणानर्थक्यं व्यवहारदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात् । अथ व्यवहारिकसतां पृथिव्यादीनां भावानां विद्यमानत्वात् कथं नो सदिति निषेधः । तत्राह । नासीद्रज इत्यादि । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४.१९) इति यास्कः । अत्र च सामान्यापेक्षमेकवचनम् । व्योम्नो वक्ष्यमाणत्वात्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्ता नासन्नित्यर्थः । तथा व्योम अन्तरिक्षं तदपि नो नैवासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते । परशब्दाच्छान्दसोऽस्तातेरर्थेऽसिप्रत्ययः । परः व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यत् अस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन

चतुर्दशभुवनगर्भं ब्रह्माण्डं स्वरूपेण निषिद्धं भवति। अथ तदावरकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धानि यानि वियदादिभूतानि तेषामवस्थानप्रदेशं तदावरणनिमित्तं क्रमेण निषेधयति किमावरीवरिति। किम् आवरणीयं तत्त्वमावरकभूतजातम् आवरीवः। अत्यन्तमावृणुयात्। आवार्याभावात् तदावरकमपि नासीदित्यर्थः। वृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छान्दसे लङि तिपि रूपमेतत्। यद्वा। किमिति प्रथमैव। किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्। अव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। आवृण्वत् तत्तत्त्वं कुह कुत्र देशेऽवस्थायावृणोति। आधारभूतस्तादृशो देशोऽपि नासीदित्यर्थः। किंशब्दात् सप्तम्यर्थे हप्रत्ययः। 'कु तिहोः' (पा०सू० ७.२.१०४) इति प्रकृतः क्वादेशः। कस्य शर्मन् कस्य वा भोक्तुर्जीवस्य शर्मणि सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणे भोगे निमित्तभूते सति तदावरकं तत्त्वमावृणुयात्। जीवानामुपभोगार्था हि सृष्टिः। तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं प्रलयदशायां च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात् प्रलीना इति कस्य कश्चिदपि भोक्ता न सम्भवतीत्यावरणस्य निमित्ताभावादपि तन्न घटत इत्यर्थः। एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदानीं नासीदित्युक्तं भवति। किंशब्दादुत्तरस्य ङशः 'सावेकाचः०' इति प्राप्तस्योदात्तत्वस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' इति प्रतिषेधः। 'सुपां सुलुक्०' इति शर्मणः सप्तम्या लुक्। यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतमप्सत्त्वमपि निराकृतं तथापि 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्' (तै०सं० ७.१.५.१) इति श्रुत्वा कश्चिदपां सद्भावमाशङ्केत। तं प्रत्याचष्टे अम्भः किमासीत् इति। गहनं दुष्प्रवेशं गभीरं दुरवस्थानमत्यगाधम् ईदृशम् अम्भः किमासीत्। तदपि नैवासीदित्यर्थः। श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया॥

**अन्वय**— तादानीं न असत् आसीत् नो सत् आसीत्। न रजः, नो व्योम यत् परः (अस्ति)। कुह कस्य शर्मन् किम् आ अवरीवः, किं गहनं गभीरम् अम्भः आसीत्।

**पदार्थ**— तदानीम् = उस समय। न = नहीं। असत् = असत् (नामरूपादि रहित अवस्था)। आसीत् = था। नो = नहीं। सत् = सत् (नामरूपात्मक अवस्था)। आसीत् = था। न = नहीं। रजः = लोक। नो = नहीं। व्योम = आकाश। यत् = जो। परः = ऊपर है। कुह = कहाँ। कस्य = किसकी। शर्मन् = सुरक्षा में। किम् = कौन, कितने। आ अवरीवः = चारों ओर से आवृत्त किया था। किम् = क्या। गहनम् = अपार। गभीरम् = गहरा। अम्भः = जल था।

**अनुवाद**— उस समय (प्रलयकाल में) (मूलकारण) असत् (नामरूपादिरहित अवस्था) नहीं था (और) न ही सत् (नामरूपात्मक अवस्था) था, न (कोई) लोक (था) (और) न ही आकाश (था) जो ऊपर (द्युलोक इत्यादि है वह भी नहीं था) कहाँ (और) किसकी सुरक्षा में किसने चारो ओर से आवृत्त किया था। क्या (उस समय) अपार गहरा जल था?

**व्याकरण—**

१. नो – न + उ, ओकर प्रगृह्य है।

२. अवरीवः – √वृ + लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. कुह – किम् + ह

४. शर्मन् – शर्मन् का सप्तमी एकवचन, वैदिकरूप; लौकिक संस्कृत में शर्मणि रूप बनता है।

**न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि**
**न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।**
**आनीदवातं स्वधया तदेकं**
**तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥**

**पदपाठ—** न। मृत्युः। आसीत्। अमृतम्। न। तर्हि। न। रात्र्याः। अह्नः। आसीत्। प्रऽकेतः ॥ आनीत्। अवातम्। स्वधया। तत्। एकम्। तस्मात्। ह। अन्यत्। न। परः। किम्। चन। आस ॥

**सा० भा०—** ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य संहर्त्रपेक्षत्वात् स एव संहर्ता मृत्युर्विद्यत इत्यत आह न मृत्युरासीत् इति। ननु यदि स नासीत् तर्हि तदभावकृतम् अमृतम् अमरणं प्राणिनावस्थानं तदानीमपि स्यात् तत्राह। अमृतं न तर्हि इति। तर्हि तस्मिन् प्रतिहारसमये। अयं भावः। सर्वेषां प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदीपभुक्तमासीत् तदा भोगाभावान्निष्प्रयोजनमिदं जगदिति परमेश्वरस्य मनसि सञ्जिहीर्षा जायते। तथैव स मृत्युः सर्वं जगत् संहरत इति किमनेन मृत्युना संहर्त्रा तदभावकृतं वा कथममरणं स्यादिति। एतदेवाभिप्रेत्य कठैराम्नायते— 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेनं क इत्था वेद यत्र सः' (क०उ० २.२५) इति। नन्वेतस्य सर्वस्याधिकरणभूतः कालौ विद्यत इत्यत आह न रात्र्या इति। रात्र्याः अह्नः च प्रकेतः प्रज्ञानं न आसीत्। तद्धेतुभूतयोः सूर्याचन्द्रमसोरभावात्। एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः क़ालः प्रत्याख्यातः। कथं तर्हि नो सदासीत्तदानीमिति कालवाची प्रत्ययः। उपचारादिति ब्रूमः। यथेदानीं तननिषेधस्य कालोऽवच्छेदकस्तथा मायापि तदवच्छेदहेतुरित्यवच्छेदकत्वसाम्येनाकालेऽपि कालवाची प्रत्ययः। यदवादिष्म ब्रह्मणः परमार्थसत्त्वसावक्ष्यत इति तदिदानीं दर्शयत्यानीदिति। तत् सकलवेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्मतत्त्वम् आनीत् प्राणितवत्। नन्वेवं प्राणनकर्तुर्जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणः सत्त्वं स्यात् न विव-

क्षितस्य निरुपाधिकस्यं ब्रह्मणः। 'अप्राणो ह्यमनाः शुद्धः' इति तस्य प्राणसम्बन्धाभावात् तत्राह आनीदवातमिति। अयमाशयः। आनीदित्य त्रधात्वर्थक्रिया तत्कर्ता तस्य च भूतकालसम्बन्ध इति त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते। तत्र समुदायो न विधीयते यथाग्नयोऽष्टाकपाल इति येन ब्रह्मणः सत्त्वं न स्यात्। किं तर्ह्यनेन कर्तृत्वमनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते दध्ना जुहोतीति वाक्यान्तरविहिताग्निहोत्रानुवादेनं तत्र गुणविधानम्। तत्राप्यनेन कर्तृत्वविशिष्टस्य न पूर्वकालसत्ता विधीयते तन्निषेधानुपपत्तिप्रसङ्गात् अतोऽनेन कर्तृत्वेन इदानींतनेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयत इति न कश्चिद्दोष इति। नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायया सह सम्बन्धासम्भवात् साङ्ख्याभिमता स्वतन्त्रा सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिरेवाभिमतेति कथं नो सदिति निषेधः। तत्राह स्वधया इति। स्वस्मिन् धीयते ध्रियत आश्रित्य वर्तत इति स्वधा माया। तद्ब्रह्मैकमविभागापन्नमासीत्। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा०सू० २.३.१९) इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे भवति 'वृद्धो यूना' (पा०सू० १.२.६५) इति निपातनाल्लिङ्गात्। अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते। यद्यपि असङ्गस्य ब्रह्मणस्तया सह सम्बन्धो न सम्भवति तथापि तस्मिन्नविद्यया तत्स्वरूपमिव सम्बन्धोऽप्यध्यस्यते यथा शुक्तिकायां रजतस्य। एतेन सद्रूपत्वमपि तस्याः प्रत्याख्यातम्। ननु यदि माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना तर्हि तस्य अनिर्वाच्यत्वात् ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति कथं तस्य सत्त्वमुक्तम् आनीदवातमिति। ब्रह्मणो वा सत्त्वात्तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कथं नो सदासीदिति सत्त्वप्रतिषेधः। मैवम् अयुक्तिदृष्टैवैक्यावभासेऽपि युक्त्या विविच्य मायांशस्यानिर्वाच्यत्वं ब्रह्मणः यत्त्वं च प्रतिपादितम्। ननु दृग्दृश्याविति द्वावेव पदार्थौ आनीदवातं स्वधयेति तौ चेदङ्गीक्रियेते तत्किमपरमवशिष्यते यत् नासीद्रजः इत्यादिना प्रतिषिध्येत तत्राह तस्मादिति। तस्माद्ध तस्मात् खलु पूर्वोक्तान्मायासहितात् ब्रह्मणः अन्यत् किं चन किमपि वस्तु भूतभौतिकात्मकं जगत् न आस न बभूव। 'छन्दस्युभयथा' इति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावाभावः। ननु तदानीमन्यस्य सत्त्वनिषेधो न शक्यः। असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोग इत्यत आह पर इति। परः परस्तात् सृष्टेरूर्ध्वं वर्तमानमिदं जगत् तदानीं न बभूवेत्यर्थः अन्यथा उक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः ॥

**अन्वय**— मृत्युः न आसीत्, न अमृतं, रात्र्याः अह्नः प्रकेतः न आसीत्, तत् एकः अवातम् स्वधया आनीत्। तस्मात् परः अन्यत् किञ्चन न आस।

**पदार्थ**— मृत्युः = मृत्यु। न = नहीं। आसीत् = थी। न अमृतम् = न अमृतत्व (था)। रात्र्याः = रात्रि का। अह्न = दिन का। प्रकेतः = चिह्न, भेदात्मक ज्ञान। न = नहीं। आसीत् = था। तत् = वह। एकः = एक, अकेला, अद्वितीय। अवातम् =

वायुरहित, वायु के विना। स्वधया = अपनी इच्छाशक्ति से। आनीत् = श्वास ले रहा था। तस्मात् = उससे। परः = बढ़कर। अन्यत् = दूसरा। किञ्चन = कुछ भी। न = नहीं। आस = था।

**अनुवाद**— (उस समय) मृत्यु नहीं थी, न अमृतत्व (था), रात्रि (और) दिन का चिह्न (भेदात्मक ज्ञान भी) नहीं था। वह एक (अकेला) वायु के विना अपनी इच्छाशक्ति से श्वाँस ले रहा था, उससे बढ़कर दूसरा कुछ भी नहीं था।

**व्याकरण**—

१. आनीत् – √अन् + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. स्वधया – स्वधा + तृतीया एकवचन।

३. आस – √अस् + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑-**
**ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्।**
**तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒-**
**त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥३॥**

**पदपाठ**— तम॑ः। आ॒सी॒त्। तम॑सा। गू॒ळ्हम्। अग्रे॑। अ॒प्र॒ऽके॒तम्। स॒लि॒लम्। सर्व॑म्। आः। इ॒दम्॥ तु॒च्छ्येन॑। आ॒भु। अपि॑ऽहितम्। यत्। आसी॑त्। तप॑सः। तत्। म॒हि॒ना। अ॒जा॒य॒त॒। एक॑म्॥

**सा० भा०**— ननूक्तप्रकारेण यदि पूर्वमिदं जगन्नासीत् कथं तर्हि तस्य जन्म। जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात् कारकं च कारणावान्तरविशेष इति कारकस्य सतो नियतपूर्वक्षणवर्तित्वस्य अवश्यंभावात्। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियाया प्रागपि तद्विद्यत इत्युच्यते। कथं तस्य जन्म। अत आह तमसा गूळ्हमग्रे इति। अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमसा गूळ्हम्। यथा नैशं तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत्। आत्मतत्त्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्यते। तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेनाच्छादितं भवति। आच्छादकात् तस्मात्तमसो कामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यते इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः। ननु कारणे तमपि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते चेत् कथं 'नासीद्रज इत्यादिनिषेधः।

तत्राह तम आसीत् इति। तमो भावरूपज्ञानं मूलकारणम्। तद्रूपता तदात्मनाम्। यतः सर्वं जगत् प्राक् तम आसीदतो निषिध्यत इत्यर्थः। नन्वावरकत्वादावरकं तमः कर्तृआवार्यत्वाज्जगत्कर्म। कथं तयोः कर्मकर्त्रोस्तादात्म्यम्। तत्राह अप्रकेतमिति। अप्रकेतम् अप्रज्ञायमानम्। अयमर्थः। यद्यपि जगतस्तमसश्च कर्मकर्तृभावो यौक्तिको विद्यते तथापि व्यवहारदशायामिव तस्यां दशायां नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायत इति तादात्म्यवर्णनम्। अत एव मनुना स्मर्यते 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्य-मनिनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः' (मनु० १.५) इति। कुतो वा न प्रज्ञायते। तत्राह। सलिलम्। 'षल गतौ'। औणादिक इलच्। इदं दृश्यमानं सर्वं जगत् सलिलं कारणेन सङ्गतम-विभागापन्नम् आः आसीत्। अस्तेलङि तिपि 'बहुलं छन्दसि' इतीडभावे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपे 'तिप्यनस्तेः' (पा०सू० ८.२.७३) इति पर्युदासाद्दकाराभावः। यद्वा सलिल-मिति लुप्तोपमम्। सलिलमिव। यथा क्षीरेणाविभागापन्नं नीरं दुर्विज्ञानं तथा तमसावि-भागापन्नं जगन्न शक्यविज्ञानमित्यर्थः। ननु विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपञ्चस्य कथम-तितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः। तथा तमोऽपि क्षीरवद्बलवदित्येवोच्यते। तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गसमयेऽपि नोद्भवसम्भव इत्यत आह तुच्छ्येन इति। आ समन्ता-द्भवतीति आभु तुच्छ्येन। छान्दसो यकारोपजनः। तुच्छेन तुच्छकल्पनेन सदसद्वि-लक्षणेन भावरूपाज्ञानेन अपिहितं छादितम् आसीत्। दधातेः कर्मणि निष्ठा। दधातेर्हि। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। एवम् एकीभूतं कारणेन तमसाविभागतां प्राप्तमपि तत्कार्यजातं तपसः पर्यालोचनरूपस्य महिना माहात्म्येन अजायत उत्पन्नम्। तपसः स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपत्वं चान्यत्राम्नायते 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः (मु०उ० १.१.९) इति॥

**अन्वय**— अग्रे तमसा गूळ्हं तमः आसीत्, इदं सर्वम् अप्रकेतं सलिलम् आः। यत् तुच्छ्येन अपिहितम् आभु आसीत् तत् एकम् तपसः महिना अजायत्।

**पदार्थ**— अग्रे = (सृष्टि से) पहले। तमसा = अन्धकार से। गूळ्हं = ढका हुआ, आच्छादित। तमः = अन्धकार। आसीत् = था। इदं = यह। सर्वम् = सम्पूर्ण। अप्रकेतम् = चिह्नरहित, भेदात्मकज्ञानरहित। सलिलम् = जल। आः = था। यत् = जो। तुच्छ्येन = (भावरूप) अज्ञान से। अपिहितम् = आवृत, आच्छादित। आभु = सर्वव्यापी। आसीत् = था। तत् = वह। एकम् = एक, अद्वितीय। तपसः= तपस्या की। महिना = महिमा से। अजायत् = उत्पन्न हुआ।

**अनुवाद**— (सृष्टि से) पहले अन्धकार से आच्छादित (ढका हुआ) अन्धकार था। यह सम्पूर्ण (विश्व का कारण भूत) चिह्नरहित (भेदात्मकज्ञान-रहित) जल था (इससे भिन्न कोई चिह्न नहीं था) जो (भावरूप) अज्ञान से आवृत सर्वव्यापी था, वह

एक (अद्वितीय) (अपनी) तपस्या की महिमा से उत्पन्न हुआ।

**व्याकरण—**

१. गूळ्हम् – √गुह् + क्त। दो स्वरों के मध्य में ढकार का ळ्हकार।

२. आः – √अस् + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. अपिहितम् – अपि + धा + क्त।

४. अजायत् – √जन् लङ् + प्रथमपुरुष एकवचन।

**कामस्तदग्रे समवर्तताधि**
**मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।**
**सतो बन्धुमसति निरविन्दन्**
**हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥**

**पदपाठ—** कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । अधि । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ॥ सतः । बन्धुम् । असति । निः । अविन्दन् । हृदि । प्रतिऽइष्य । कवयः । मनीषा ॥

**सा० भा०—** ननूक्तरीत्या यदीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव किंनिबन्धनमित्यत कामस्तदग्र इति। अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यगजायत। सिसृक्षा जातेत्यर्थः। ईश्वरस्य सिसृक्षा वा किं हेतुकेत्यत आह मनस इति। मनसः अन्तःकरणस्य सम्बन्धि वासनाशेषेण्य मायायां विलीनेऽन्तःकरणे समवेतम्। सामान्यापेक्षमेकवचनम्। सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतमित्यर्थः। एतेनात्मनो गुणाधारत्वं प्रत्याख्यातम्। तादृशं रेतः भावितः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथमम् अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यात्मकं कर्म यत् यतः कारणात् सृष्टिसमये आसीत् अभवत्। भूष्णु वर्धिष्णवजायत परिपक्वं सत् फलोन्मुखमासी-दित्यर्थः। तत्ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षा अजायतेत्यर्थः। तस्यां च जातायां स्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा चाम्नायते 'सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तै०आ० ८.६) इति श्रुतिः। आत्मनेत्थमवगमितेऽर्थे विद्वदनुदावम-प्यनुग्राहकत्वेन प्रमाणयति सत इति। सतः सत्त्वेन इदानीमनभूयमानस्य सर्वस्य जगतः बन्धुं बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं कवयः क्रान्तदर्शना अतीता-

नागतवर्तमानाभिज्ञः योगिनः हृदये निरुद्धया मनीषा मनीषया बुद्ध्या। 'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया लुक्। प्रतीष्य विचार्य। 'अन्येषामपि' इति सांहितिकी दीर्घः। असति सद्विलक्षणेऽव्याकृते कारणे निरवन्दिन् निष्कृष्यालभन्त। विविच्याजानन्नित्यर्थः ॥

**अन्वय—** अग्रे कामः यत् अधिमनसः प्रथमं रेतः आसीत्, तत् सम् अवर्तत। कवयः हृदि मनीषा प्रतीष्य असति सतः बन्धुं निरविन्दन्।

**पदार्थ—** अग्रे = सर्व प्रथम। कामः = काम। यत् = जो। अधिमनसः = मन का। प्रथमं = प्रथम, पहला। रेतः = विकार। आसीत् = था। तत् = वह। समवर्तत = उत्पन्न हुआ। कवयः = प्रज्ञावान् (क्रान्तद्रष्टा) लोगों ने। हृदि = हृदय में, अन्तकरण में। मनीषा = प्रज्ञा के द्वारा। प्रतीष्य = विचार करके। असति = असत् में, नामरहिततत्त्व में। सतः = सत् के, नामरूपात्मक जगत् के। बन्धुम् = बन्धन को, सम्बन्ध को। निरविन्दन् = प्राप्त किया, जाना।

**अनुवाद—** सर्वप्रथम काम, जो मन का प्रथम विकार था, वह उत्पन्न हुआ। प्रज्ञावान् (क्रान्तद्रष्टा) लोगों ने हृदय (अन्तःकरण) में प्रज्ञा द्वारा विचार करके असत् (नामरहित तत्त्व) में सत् (नामरूपात्मकजगत्) के (मूलकारणरूप) सम्बन्ध को जाना।

**व्याकरण—**

१. समवर्तत – सम् + √वृत् + आत्मनेपद लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. असति – असत् का सप्तमी एकवचन।

३. आसीत् – √अस् + लङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन।

४. अन्वविन्दन् – अनु √विद् लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन।

५. प्रतीष्य – प्रति + √इष् + ल्यप्।

> **तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा**
> **मधःस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।**
> **रेतोधा आसन्महिमान आस-**
> **न्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥**

**पदपाठ—** तिरश्चीनः। विऽततः। रश्मिः। एषाम्। अधः। स्वित्। आसी३त्। उपरि। स्वित्। आसी३त् ॥ रेतःऽधाः। आसन्। महिमानः। आसन्। स्वधा। अवस्तात्। प्रऽयतिः। परस्तात् ॥

**सा० भा०**— एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि। अधुना तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यं प्रतिपाद्यते। येयं नासदासीदित्यविद्या प्रतिपादिता यश्च कामस्तदग्रे इति कामो मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति यत्कर्म एषाम् अविधा कामकर्मणां वियदादिभूतजातानि सृजतां रश्मिः रश्मिसदृशो यथा सूर्यरश्मिः उदयानन्तरं निमेषमात्रेण युगपत् सर्वं जगत् व्याप्नोति तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवर्गः विततः विस्तृतः आसीत्। स्विदासीत् इति वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते। 'विचार्यमाणानाम्' (पा०सू० ८.२.९७) इति प्लुतः। तत्रोदात्त इत्यनुवृत्तेः स चोदात्तः स्वित् इति वितर्के। स कार्यवर्गः प्रथमतः किं तिरश्चीनः तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थित आसीत् किंवा अधः अधस्तात् आसीत्। आहोस्वित् उपरि उपरिष्टात् किमासीत्। 'उपरि स्विदासीदिति च' (पा०सू० ८.२.१०२) इत्यनुदात्तःप्लुतः। 'आत्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वा योरग्निः' (तै०आ० ८.१) इत्यादिकया पञ्चमीश्रुत्या तत उद्गातारं ततो होतारमितिवत् क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत् सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमस्य दुर्लक्षणत्वादेतेषु त्रिषु स्थानेषु प्राथम्यं कुत्रेति विचार्यते। एवं नाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सर्गो निष्पन्न इत्यर्थः। एतदेव विभजते। सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावाः रेतोधाः बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवाः आसन् अन्ये भावाः महिमानः। स्वार्थिक अमनिच्। महान्तो वियदादयो भोग्याः आसन्। एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। अयमेवार्थस्तैत्तिरीयके 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै०आ० ८.६) इत्यारभ्य प्रतिपाद्यते। तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधा। अन्ननामेतत्। भोग्यप्रपञ्चः अवस्तात् अवरो निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीत्। भोग्यप्रपञ्चं भोक्तृप्रपञ्चस्य शेषभूतं कृतवानित्यर्थः। 'विभाषा परावराभ्याम्' (पा०सू० ५.३.२९) इति प्रथमार्थे अस्तातिः। 'अस्ताति च' (पा०सू० ५.३.४०) इत्यवरशब्दस्यावादेश। अवस्तादिति संहितायाम् ईषाअक्षादित्वात् प्रकृतिभावः॥

**अन्वय**— एषां विततः रश्मिः तिरश्चीनः अधः स्वित् आसीत्, उपरि स्वित् आसीत्। रेतोधाः महिमानः आसन्, स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् आसन्।

**पदार्थ**— एषाम् = इनकी, उनकी। विततः = फैली हुई। रश्मिः = किरण। तिरश्चीनः = तिरछा जाने वाला अर्थात् मध्य में। अधःस्वित् = अथवा नीचे। आसीत् = थी। उपरि स्वित् = अथवा ऊपर। आसीत् = था। रेतोधाः = (सृष्टि का) बीज धारण करने वाले। महिमानः = (आकाशादि) महाभूत। आसन् = थे। स्वधा = अन्न, भोग्यप्रपञ्च। अवस्तात् नीचे। प्रयतिः = भोक्ता। परस्तात् = ऊपर। आसन् = था।

**अनुवाद**— उनकी फैली हुई (कार्यजालरूपी) किरण मध्य में अथवा नीचे थी अथवा ऊपर थी (यह कौन जानता है)। सृष्टि का बीज धारण करने वाले (आकाशादि) महाभूत थे। स्वधा (अन्न अथवा भोग्य प्रपञ्च) नीचे और भोक्ता ऊपर था।

**व्याकरण**—

१. तिरश्चीनः – तिरस् + √अञ्च्।

२. विततः – वि + √तिन् + क्त।

३. स्वित् – संशयवाचक निपात।

४. आसीत् – √अस् + लङ् प्रथमपुरुष, एकवचन।

५. आसन् – √अस् + लङ् प्रथम पुरुष, बहुवचन।

**को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्-**
**त्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।**
**अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना-**
**था को वेद यत आबभूव ॥६॥**

**पदपाठ**— कः। अद्धा। वेद। कः। इह। प्र। वोचत्। कुतः। आऽजाता। कुतः। इयम्। विऽसृष्टिः॥ अर्वाक्। देवाः। अस्य। विऽसर्जनेन। अथ। कः। वेद। यतः। आऽबभूव॥

**सा०भा०**— एवं भोक्तृभोग्यरूपेण सृष्टिः सङ्ग्रहेण प्रतिपादिता। 'एतावद्वा इदमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नाद' (श०ब्रा० १.४.२.१३) इतिवत्। अथेदानीं सा सृष्टिर्विज्ञानेति न विस्तरेणाभिहितेत्याह को अद्धेति। कः पुरुषः अद्धा पारमार्थ्येन वेद जानाति। कः वा इह अस्मिँल्लोके प्र वोचत प्रब्रूयात्। इयं दृश्यमाना विसृष्टिः विविधा भूतभौतिकभोक्तृ-भोग्यादिरूपेण बहुप्रकारा सृष्टिः कुतः कस्मादुपादानकारणात्। कुतः कस्माच्च निमित्तकारणात् आजाता समन्ताज्जाता प्रादुर्भूता। एतदुभयं सम्यक् को वेद को वा विस्तरेण वक्तुं शक्नुयादित्यर्थः। ननु देवाः अजायन्तः। सर्वज्ञास्ते ज्ञास्यति-वक्तुं च शक्नुवन्तीत्यत आह अर्वागिति। देवाः च अस्य जगतो विसर्जनेन वियदा-दिभूतोत्पत्त्यनन्तरं विविधं यद्भौतिकं सर्जनं सृष्टिस्तेन अर्वाक् अर्वाचीनाः कृतः। भूत-सृष्टेः पश्चाज्जाता इत्यर्थः। तथाविधास्ते कथं स्वोत्पत्ते पूर्वकालीनां सृष्टिं जानीयुः। अजानन्तो वा कथं प्रब्रूयुः। उक्तं दुर्विज्ञानत्वं निगमयति। अथ एवं सति देवा अपि न

जानन्ति किल। तद्व्यतिरिक्तः कः नाम मनुष्यादिः वेद तज्जगत्कारणं जानाति यतः कारणात् कृत्स्नं जगत् आबभूव अजायत ॥

**अन्वय**— कः अद्धा वेद, कः इह प्रवोचत्, कुतः इयं विसृष्टिः कुतः आजाता। देवा अस्य विसर्जनेन अर्वाक् अथ यतः आ बभूव कः वेद।

**पदार्थ**— कः = कौन। अद्धा = यथार्थ रूप से। वेद = जानता है। कः = कौन। इह = यहाँ, इस (सृष्टि) के विषय में। प्र वोचत् = कहेगा। कुतः =कहाँ से। इयं = यह। विसृष्टिः = विविधरूपा सृष्टि। कुतः = कहाँ से। आ जाता = उत्पन्न हुई। देवाः = देवता। अस्य = इसकी (सृष्टि की)। विसर्जनेन = रचना से। अर्वाक् = अर्वाचीन, परवर्ती। अथ = तब, फिर। यतः = जहाँ से। आबभूव = उत्पन्न हुई है। कः = कौन। वेद = जानता है।

**अनुवाद**— कौन (सृष्टि के विषय में) यथार्थरूप से जानता है (कोई नहीं जानता), कौन इस (सृष्टि) के विषय में कहेगा कि कहाँ से, यह विविधरूपा सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई। देवता इस (सृष्टि) की रचना से अर्वाचीन (परवर्ती) हैं, फिर जहाँ से (यह) उत्पन्न हुई है, (इसे) कौन जानता है (अर्थात् कोई नहीं जानता)।

**व्याकरण**—

१. वेद – √विद् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

२. वोचत् – √वच् + लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. आ बभूव – आ + √भू + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

४. आ जाता – आ + √जन् + क्त।

**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**
**यदि वा दधे यदि वा न।**
**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योम-**
**न्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥**

**पदपाठ**— इयम्। विऽसृष्टिः। यतः। आऽबभूव। यदि। वा। दधे। यदि। वा। न॥ यः। अस्य। अधिऽअक्षः। परमे। विऽओमन्। सः। अङ्ग। वेद। यदि। वा। न। वेद॥

**सा॰भा॰**— उक्तप्रकारेण यथेदं जगत्सर्जनं दुर्विज्ञानं एवं सृष्टं तज्जगत् दुर्ध-

रमपीत्याह इयमिति। यतः उपादानभूतात् परमात्मनः इयं विसृष्टिः विविधा गिरिनदी-समुद्रादिरूपेण विचित्रा सृष्टिः आबभूव आजाता सोऽपि किल यदि वा दधे धारयति यदि वा न धारयति। एवं च को नाम अन्यो धर्तुं शक्नुयात्। यदि धारयेदीश्वर एव धारये-न्नान्य इत्यर्थः। एतेन कार्यस्य धारयितृत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमुक्तं भवति। तथा च पारमार्षं सूत्रं– 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (वे०सू० १.४.२३) इति।
यद्वा। अनेनार्धर्चेन पूर्वोक्तं सृष्टेर्दुर्ज्ञानत्वमेव द्रढयति। को वेदेत्यनुवर्तते। इयं विविधा सृष्टिः यत आबभूव आसमन्तादजायतेति को वेद। न कोऽपि। नास्त्येव जगतो जन्म न कदाचिदनीदृशं जगदिति बहवो भ्रान्ता भवन्त्यपि। यतः। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा०सू० १.४.३०) इत्यपादानसंज्ञाया पञ्चम्यास्तसिल्। यस्मात् परमात्मन उपादानभूतादाबभूव तं परमात्मानं को वेद। न कोऽपि। प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति हि बहवो भ्रान्ताः। तथा स एवोपादानभूतः परमात्मा स्वयमेव निमित्तभूतोऽपि सन् यदि वा दधे विदधे इदं जगत् ससर्ज यदि वा न ससर्ज। असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतच्छास्त्राणि चेत्प्रमाणं स्युरिति यथा। स एव विदधे। तं को वेद। अजानन्तोऽपि बहवो जडात् प्रधानादकर्तृकमेवेदं जगत् स्वयमजायतेति विपरीतं प्रतिपन्ना विदधतो विधानमजान-न्तोऽपिं। स एव उपादानभूत इत्यपि को वेद। न कोऽपि। उपादानादन्यः तटस्थ एवेश्वरो विदधे इति हि बहवः प्रतिपन्नाः। देवा अपि यन्न जानन्ति तदर्वाचीनानामेषां तत्परिज्ञानं केव कथेत्यर्थः। यद्येवं जगत्सृष्टिरत्यन्तदुरवबोधा न तर्हि सा प्रमाणपद्धतिम-ध्यास्त इत्याशङ्क्य तत्सद्भाव ईश्वरमेव प्रमाणयति यो अस्येति। अस्य भूत भौतिका-त्मकस्य जगतः यः अध्यक्षः ईश्वरः परमे उत्कृष्टे सत्यभूते व्योमन् व्योमन्याकाशे आकाशवन्निर्मले स्वप्रकाशे। यद्वा। अवतेस्तर्पणार्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति मनिन्। 'नेड्वशि कृति' इतीट्प्रतिषेधः। 'ज्वरत्वर०' इत्यादिना वकारोपधयोः ऊट्। सप्तम्या लुक्। 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति नलोपप्रतिषेधः। व्योमनि विशेषण तृप्ते। निरतिशया-नन्दस्वरूपे इत्यर्थः। अवतिर्गत्यर्थः। व्योमनि विशेषेण गते व्याप्ते। देशकालवस्तु-भिरपरिच्छन्न इत्यर्थः। अवतिर्ज्ञानार्थः। व्योमनि विशेषेण ज्ञातरि विशिष्टज्ञानात्मनि। ईदृशे स्वात्मनि प्रतिष्ठितः। श्रूयते हि सनत्कुमारनारदयोः संवादे— 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा०उ० ७.२४.१) इति। ईदृशो यः परमेश्वरः सो अङ्गः। अङ्गेति प्रसिद्धौ। सोऽपि नाम वेद जानाति। यदि वा न वेद न जानाति। को नाम अन्यो जानीयात्। सर्वज्ञ ईश्वर एव तां सृष्टिं जानीयात् नान्य इत्यर्थः॥

**अन्वय—** इयं विसृष्टिः यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न, यः अस्य अध्यक्षः सः परमे व्योमन्, अङ्ग वेद, यदि वा न वेद।

**पदार्थ—** इयं = यह। विसृष्टिः = विविधरूपा सृष्टि। यतः = जहाँ से।

आबभूव = उत्पन्न हुई है। यदि = यदि। वा = या। दधे = धारण किया था। यदि वा = अथवा यदि। न = नहीं (धारण किया था)। यः = जो। अस्य = इसका। अध्यक्ष, ईश्वर, स्वामी। सः = वह। परमे = ऊँचे। व्योमन् = आकाश में, स्वर्गलोक में। अङ्ग = निश्चित रूप से। वेद = जानता है। यदि वा = अथवा यदि। न = नहीं। वेद = जानता है।

**अनुवाद**— यह विविधरूपा सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई (आयी) है, (उसको उसने) या तो धारण किया था अथवा यदि नहीं (धारण किया था) (तो किसने धारण किया था)। जो इसका स्वामी है, वह ऊँचे स्वर्गलोक में (है); निश्चित रूप से (वह इसको) जानता है अथवा यदि (वह) नहीं जानता है (तो कौन जानता है)।

**व्याकरण—**

१. आ बभूव – आ + √भू लिट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. दधे – √धा, आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

३. व्योमन् – वि + √अव् + मनिन् = व्योमन् सप्तमी एकवचन व्योम्नि का वैदिकरूप।

४. वेद – √विद्, लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

## २३. प्रजापतिः

वेद-शुक्लयजुर्वेद | अध्याय-३२ | मन्त्र-१-५

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्य-
स्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑॥
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒
ता आप॒ः स प्र॒जाप॑तिः॥१॥

**पदपाठ—** तत्। ए॒व। अ॒ग्निः। तत्। आ॒दि॒त्यः। तत्। वा॒युः। तत्। ऊँ॒ऽइत्यूँ। च॒न्द्रमाः॥ तत्। ए॒व। शु॒क्रम्। तत्। ब्रह्म॑। ताः। आप॑ः। सः। प्र॒जाप॑ति॒रिति॑ प्र॒जाप॑तिः॥

**महीधरभाष्य—** अग्निः तदेव कारणं ब्रह्मैव आदित्यस्तद् एव वायुस्ता एव चन्द्रमाः तत् तदेव। उ एवार्थे। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धम्। ब्रह्म त्रयीलक्षणं तत् ब्रह्मेव। ताः प्रसिद्धाः आपः जलानि स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म॥

**अन्वय—** तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः, तत् वायुः, तत् उ चन्द्रमाः, तत् एव शुक्रम्, तत् ब्रह्म, ताः आपः, सः प्रजापतिः (वर्तते)।

**पदार्थ—** तत् एव = वह (प्रजापति) ही। अग्निः = अग्नि। तत् = वही। आदित्यः = आदित्य। तत् = वही। वायुः = वायु। तत् = वही। उ = निश्चित रूप से। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। तत् एव = वही। शुक्रम् = तेज। तत् = वही। ब्रह्म = स्तुति, प्रार्थना। ताः = ये। आपः = जल। सः = वह। प्रजापतिः = प्रजापति (ही है)।

**अनुवाद—** वह (प्रजापति) ही अग्नि (है), वही आदित्य (है), वही वायु (है), वही निश्चित रूप से चन्द्रमा (है), वही तेज (है), वही ब्रह्म (है) (और) ये (जो) जल हैं वह (भी) प्रजापति (ही) है।

सर्वे॑ निमे॒षा ज॑ज्ञिरे
वि॒द्युत॒ः पुरु॑षा॒दधि।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒
न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥२॥

**पदपाठ**— सर्वे । निमेषाऽइति । नि । मेषाः । जज्ञिरे । विद्युतऽइति विद्युतः । पुरुषात् । अधि ॥ न । एनम् । ऊर्ध्वम् । न । तिर्यञ्चम् । न । मध्ये । परि । जग्रभत् ॥

**म०भा०**— सर्वे निमेषाः त्रुटिकाष्ठघट्यादयः कालविशेषः पुरुषात् अधि पुरुषसकाशात् जज्ञिरे । कीदृशात्पुरुषात् । विद्युतः विशेषेण द्योतते विद्युत् तस्मात् । किंच कश्चिदपि एनं पुरुषम् ऊर्ध्वम् उपरिभागे न परिजग्रभत् परिगृह्णाति । एवं तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परिजग्रभत् मध्ये मध्यदेशेऽपि न गृह्णाति । न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषय इत्यर्थः । स एष 'नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते' इति श्रुतेः । जग्रभत् । ग्रहेः शतरि जुहोत्यादित्वेन रूपम् ॥

**अन्वय**— सर्वे निमेषाः विद्युतः पुरुषात् अधि जज्ञिरे । एनम् न ऊर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि अजग्रत् ।

**पदार्थ**— सर्वे = सम्पूर्ण । निमेषाः = कालपरिणाम । विद्युतः = प्रकाशमान् । पुरुषात् अधि = पुरुष के पास से, परमात्मा के पास से । जज्ञिरे = उत्पन्न हुए हैं । एनम् = इस (परमात्मा) को । न ऊर्ध्वम् = न ऊपर से । न तिर्यञ्चम् = न तिरछे । न मध्ये = न मध्य से । परि अजग्रमत् = समझ सका है ।

**अनुवाद**— सम्पूर्ण काल-परिणाम (समय का परिणाम) प्रकाशमान पुरुष (परमात्मा) के पास से उत्पन्न हुए हैं । इस (परमात्मा) को (कोई भी) न ऊपर से, न तिरछे (और) न मध्य में समझ सका है ।

**व्याकरण**—

१. जज्ञिरे- √जन् (प्रादुर्भावे) आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन ।

२. परिजग्रभत्- परि + ग्रभ् + लिट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

**न तस्य प्रतिमा अस्ति**
**यस्य नाम महद्यशः ।**
**हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहिंसी-**
**दित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥३॥**

**पदपाठ**— न । तस्य । प्रतिमेति प्रतिमा । अस्ति । यस्य । नाम । महम् । यशः ॥ हिरण्यगर्भ इति हिरण्य गर्भः । एषः । मामेति मामा । हिंसीत् । इति ।

यस्मा॑त् । न । जा॒तः । इति॑ । ए॒षः ॥

**म०भा०**— द्विपदा गायत्री। तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किञ्चिद्वस्तु नास्ति। अत एव नाम प्रसिद्धं महत् यशः यस्यास्ति। सर्वातिरिक्तयशा इत्यर्थः। हिरण्यगर्भ इत्येषोऽनुवाकंश्चतुर्ऋचः हिरण्यगर्भः यः प्राणतः यस्येये य आत्मदा इति (२५.१०.१३)। मा मा हिंसीज्जनितेत्येका एषा (१२.१०२)। यस्मान्न जातः इन्द्रश्च सम्राडिति (८.३६-३७) द्व्यर्चोऽनुवाकः। एताः प्रतीकचोदिताः पूर्वपठितत्वादादिमात्रेणोक्त ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वा अध्येयाः। एवं सर्वत्र।

**अन्वय**— तस्य प्रतिमा न अस्ति यस्य महत् यशः हिरण्यगर्भः इति एषः, मा मा हिंसीत् इति, एषा यस्मान्न जातः इति एषः नाम।

**पदार्थ**— तस्य = उस (परमात्मा) की। प्रतिमा = उपमान (बराबरी) करने वाला। न अस्ति = नहीं है। यस्य = जिसका। यशः = यश, कीर्ति। हिरण्यगर्भः इति = (सर्व प्रथम) हिरण्यगर्भ (उत्पन्न हुआ) (यजुर्वेद के २५सवें अध्याय के दसवें मन्त्र से तेरहवें मन्त्र तक जिसमें परमात्मा की शक्ति का वर्णन है)। एषः = यह अनुवाक्। मा मा हिंसीत् इति = (वे) मुझको कष्ट न दें यह (यजुर्वेद के १२ अध्याय के १०२वें मन्त्र में वर्णित)। एषा = यह (ऋचा)। यस्मान्न जातः इति = जिसके अतिरिक्त (कोई दूसरा) उत्पन्न नहीं हुआ यह (यजुर्वेद के आठवें अध्याय के ३६-३७ इस मन्त्रों में वर्णित)। एषः = यह (अनुवाक्)। नाम = विख्यात है।

**अनुवाद**— उस परमात्मा (प्रजापति) का उपमान (बराबरी) करने वाला (कोई) नहीं है जिसके यश वाला हिरण्यगर्भः यह (अनुवाक्) मा मा हिंसीत् यह (ऋचा और 'यस्मान्न जातः' यह अनुवाक्) विख्यात है।

ए॒षो ह॑ दे॒वः प्र॒दिशोऽनु॒ सर्वाः॒
पूर्वो॑ ह जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः।
स ए॒व जा॒तः स ज॑नि॒ष्यमा॑णः
प्र॒त्यङ् जना॑स्तिष्ठति स॒र्वतो॑ मुखः॥४॥

**पदपाठ**— ए॒षः । ह॒ । दे॒वः । प्र॒दिश॒इति॑ प्र॒दिशः॑ । अनु॑ । सर्वाः॑ । पूर्वः॑ । ह॒ । जा॒तः । सः । उँ॒ऽइत्यूँ॑ । गर्भे॑ । अ॒न्तरित्य॒न्तः ॥ सः । ए॒व । जा॒तः । सः । ज॒नि॒ष्यमा॑णः । जना॑ः । ति॒ष्ठ॒ति॒ । स॒र्वतो॑मुख॒इति॑ स॒र्वतः॑ मुखः ॥

**म० भा०—** चतस्त्रस्त्रिष्टुभः। ह प्रसिद्धम्। एषो ह देव सर्वाः प्रदिश अनुतिष्ठति व्याप्य स्थितः। हे जनाः ह प्रसिद्धमेष पूर्वः प्रथमो जात उत्पन्नः। गर्भे अन्तः गर्भमध्ये स उ स एव तिष्ठति। जातोऽपि स एव जनिष्यमाणः उत्पत्स्यमानोऽपि स एव। प्रत्यङ्। प्रतिपदार्थमञ्चति प्रत्यङ्। सर्वतोमुखः सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य। अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः॥

**अन्वय—** एषः देवः सर्वा प्रदिशः, सः पूर्वः ह गर्भः अन्तः जातः, सः एव जातः, सः जनिष्माणः। जनाः, सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति।

**पदार्थ—** एषः देवः = यही देव। सर्वा प्रदिशः = सभी दिशाओं को। ह = निश्चित रूप से (व्याप्त करने वाला है)। सः = वहीं। पूर्वः ह = निश्चित रूप से पहले। गर्भः अन्तः = गर्भ के भीतर। जातः = उत्पन्न हुआ। सः एव = वही। जातः = उत्पन्न हुआ सः एव = वही। जातः = उत्पन्न हुआ है। सः = वही। जनिष्यमाणः = उत्पन्न होने वाला है। तनाः = हे मनुष्यो। सर्वतोमुखः = सभी ओर मुख वाला (अर्थात् अचिन्त्य शक्ति वाला)। प्रत्यङ् तिष्ठति = प्रत्येक पदार्थ में स्थित रहने वाला है।

**अनुवाद—** यही देव (प्रजापति) सभी दिशाओं को निश्चित रूप से (व्याप्त करने वाला है)। वही निश्चित रूप से पहले गर्भ के भीतर उत्पन्न हुआ। वही (वर्तमान में) उत्पन्न हुआ है (और) (भाविष्य में) उत्पन्न होने वाला है। हे मनुष्यो, सभी ओर मुख वाला अर्थात अचिन्त्य शक्ति वाला परमात्मा प्रत्येक पदार्थ में स्थित रहने वाला है।

**यस्माज्जातं न पुरा किञ्च नैव**
**य आबभूव भुवनानि विश्वा।**
**प्रजापतिः प्रजया सꣳरराण-**
**स्त्रीणिज्योतींꣳषि सचते स षोडशी॥५॥**

**पदपाठ—** यस्मात्। जातम्। न। पुरा। किम्। चन। एवं। यः। आऽबभूवेत्या–बभूव। भुवनानि। विश्वा॥ प्रजापतिरिति प्रजापतिः। प्रजयेति प्रजया। संरराणऽइति सम्–रराणः। त्रीणि। ज्योतींषि। सचते। सः। षोडशी॥

**म० भा०—** यस्मात् पुरा किंचन किमपि न जातमेव। यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आबभूव समन्ताद्भावयामास। अन्तर्भूतो ण्यर्थः। स षोडशी षोडशावयवलिङ्गशरीरी प्रजापतिः प्रजया संरराणः रममाणः त्रीणि ज्योतींषि रवीन्द्वग्निरूपाणि सचते सेवते॥

**अन्वय**— यस्मात् पुरा किञ्चन न जातम्, यः एव विश्वा भुवनानि आबमूव, षोडशी प्रजापतिः प्रजया संरराणः = त्रीणि ज्योतींषि सचते ।

**पदार्थ**— यस्मात् = जिस (प्रजापति) से । पुरा = पहले । किञ्चन = कुछ भी । न जातम् = उत्पन्न नहीं हुआ । यः एव = जिस (प्रजापति) ने ही, विश्वा = सम्पूर्ण । भुवनानि = लोकों को । आबभूव = चारो ओर से कल्पित किया । षोडशी = सोलह (अवयवों) वाला । प्रजापतिः = प्रजापति । प्रजया = प्रजा के साथ । संरराणः = सम्यक् रूप से रमण करता हुआ । त्रीणि = (सूर्य चन्द्रमा और अग्नि रूप) तीन । ज्योतींषि = प्रकाशों को । सचते = धारण करता है ।

**अनुवाद**— जिस (प्रजापति) से पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, जिस प्रजापति ने ही सम्पूर्ण लोकों को चारो ओर से कल्पित किया, सोलह (अवयवों) वाला (वह) प्रजापति प्रजा के साथ रमण करता हुआ (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि रूप) तीन प्रकाशो को धारण करता है)

**व्याकरण**—

१. आबभूव- आ + √भू + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन ।

## २४. शिव-सङ्कल्प

वेद–शुक्ल-यजुर्वेद　　अध्याय संख्या–३४　　मन्त्र संख्या–१-६

ऋषि–आदित्य याज्ञवल्क्य　　देवता–मनस्　　छन्द–त्रिष्टुप्

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥१॥

**पदपाठ—** यत् । जाग्रतः । दूरम् । उदैतीत्युत् - ऐति । दैवम् । तत् । ऊँऽइत्यूँ । सुप्तस्य । तथा । एव । एति ॥ दूरङ्गममिति दूरम् - गमम् । ज्योतिषाम् । ज्योतिः । एकम् । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव-सङ्कल्पम् । अस्तु ॥

**महीधरभाष्य—** ऋषिर्वदति । तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु शिवः कल्याणकारी धर्मविषयः सङ्कल्पो यस्य तत् तादृशं भवतु । मन्मनसि सदा धर्म एव भवतु न कदाचित्पापमित्यर्थः । तत्किम् । यत् मनो जाग्रतः पुरुषस्य दूरमुदैति उद्गच्छति चक्षुराद्यपेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थः । यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा तत्र भवं दैवमात्मग्राहकमित्यर्थः । मनसैव द्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्' इति श्रुतेः । तत् उ । यदः स्थाने तच्छब्दः उकारश्चार्थः । यच्च मनः सुप्तस्य पुंसः तथैव इति यथा गतं तथैव पुनरागच्छति स्वापकाले सुषुवस्थायां पुनरागच्छति । यच्च दूरङ्गमं दूरात् । गच्छतीति दूरङ्गमम् खशप्रत्ययः । अतीतानागतवर्तमानविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकमित्यर्थः । यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणामेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकमित्यर्थः । प्रवर्तितान्येव श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते । आत्मा मनसा संयुज्यते मनः इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति न्यायोक्तेर्मनः सम्बन्धमन्तरा तेषामप्रवृत्तेः । तादृशं मे मनः शान्तसङ्कल्पमस्तु ।

**अन्वय—** जाग्रतः यत् दैवं (मनः) दूरम् उत् एति, सुप्तस्य तत् उ तथा एव एति । दूरङ्गमं ज्योतिषाम् एकः ज्योतिः मे तत् मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

**पदार्थ—** जाग्रतः = जागते हुए का । यत् = जो । देवम् = दिव्य, प्रकाशवान्, आत्मदर्शन करने वाला । मनः = मन । दूरम् = दूर । सुप्तस्य = सोते हुए का । तत् =

वह (मन)। उ = ही। तथा एव = उसी प्रकार से। एति = (वापस) आता है। दूरङ्गमम् = दूरगामी, दूर जाने वाला। ज्योतिषाम् = ज्योतियों में, ज्ञानेन्द्रियों में। एकम् = अद्वितीय। ज्योतिः = प्रकाश रूप। मे = मेरा। तत् मनः = वह मन। शिवसङ्कल्पम् = शुभ सङ्कल्पों वाला। अस्तु = हो जाय।

**अनुवाद**— जागते हुए (पुरुष) का जो दिव्य (अर्थात् दैवी शक्ति से युक्त) (मन) दूर चला जाता है; सोते हुए (पुरुष) का वही (मन) उसी प्रकार से आ जाता है; दूरगामी (तथा) ज्योतियों में अद्वितीय ज्योति-स्वरूप वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय।

**व्याकरण**—

१. जाग्रतः – √जागृ (जागने अर्थमें) + षष्ठी एकवचन।

२. उदैति – उत् + √इण् (जाना अर्थ में) + लट्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. दैवम् – देव + अण् प्रथमा एकवचन।

४. दूरङ्गमम् – दूरं गच्छतीति। दूर + गम् + खश् प्रत्यय 'मुम् आगम।

**येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑**

**य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑ ।**

**यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒**

**तन्मे॒ मनः॑ शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥२॥**

**पदपाठ**— येन॑ । कर्मा॑णि । अ॒पसः॑ । म॒नी॒षिणः॑ । य॒ज्ञे । कृ॒ण्वन्ति॑ । वि॒दथे॑षु । धीराः॑ ॥ यत् । अ॒पूर्वम् । य॒क्षम् । अ॒न्तरित्य॒न्तः । प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ - जाना॑म् । तत् । मे॒ । मनः॑ । शि॒वसं॑ङ्कल्प॒मिति॑ शि॒व - सं॑ङ्कल्पम् । अ॒स्तु ॥

**म० भा०**— मनीषिणः मेधाविनः यज्ञे येन मनसा सता कर्माणि कृण्वन्ति कुर्वन्ति 'कृ करणे' स्वादिः। मनः स्वास्थ्यंविना कर्माप्रवृत्तेः। केषु सत्सु। विदथेषु सत्सु विद्यन्ते ज्ञायन्ते तानि विदथानि तेषु। वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम् 'प्रत्ययः परश्च आद्युदात्तश्च' (पा०सू० ३.१.१-३) इति पाणिन्युक्तेः यज्ञसंबन्धिनां हविरादिपदार्थानां ज्ञानेषु सत्स्वित्यर्थः। कीदृशा मनीषिणः। अपसः अप इति कर्मनाम (निघ० २.१.१)। अपो विद्यते येषां ते अपस्विनः कर्मवन्तः 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (पा०सू० ५.२.१२१) इति विन्प्रत्ययः 'विन्मतोर्लुक्' इतीष्ठाभावेऽपि छन्दसो विनो लुक् (पा०सू० ५.३.६५)। सदा कर्मनिष्ठा इत्यर्थः।

तथा धीराः धीमन्तः धीर्विद्यते येषां से धीराः कर्मण्यण् (पा०सू० ३.२.१)। यच्च मनः अपूर्वम् न विद्यते पूर्वमिन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम् इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः। यद्वा अपूर्वमनपरमबाह्यमित्युक्तेरपूर्वमात्मरूपमित्यर्थः। यच्च यक्षं यष्टुं शक्तं यज्ञम्। यजतेरौणादिकः सन्प्रत्ययः 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा०सू० ६.१.१७) इत्याद्युदात्तं पदम्। यच्च प्रजायन्ते इति प्रजास्तासां प्राणिमात्राणामन्तः शरीरमध्ये आस्ते इतरेन्द्रियाणि बहिःष्ठानि मनस्त्वन्तरिन्द्रियमित्यर्थः। तत् तादृशं मे मनः शिवसङ्कल्पमस्त्विति व्याख्यातम्।

**अन्वय**— येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति यत् प्रजानाम् अन्तः अपूर्वं यक्षं, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

**पदार्थ**— येन = जिसके द्वारा। अपसः = कर्मनिष्ठ। मनीषिणः = मनीषी लोग, मेधावी लोग। धीराः = धीर लोग। यज्ञे = यज्ञ में। विदथेषु = यज्ञ के विधिविधानों में, यज्ञ सम्बन्धी ज्ञानों में। कर्माणि कृण्वन्ति = कर्म करते हैं। यत् = जो। प्रजानाम् = प्रजाओं के, प्राणियों के। अन्तः = अन्तर्भाग में। अपूर्वम् = अपूर्व, सर्वप्रथम, सर्वप्रधान। यक्षम् = पूज्य .......।

**अनुवाद**— जिसके द्वारा कर्मनिष्ठ, मेधावी (तथा) धीर लोग यज्ञ में (एवं) यज्ञ के विधि-विधानों में कर्म करते हैं, जो प्रजाओं के अन्तर्भाग में सर्वप्रथम पूज्य है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय।

**व्याकरण**—

१. कर्माणि – कर्म द्वितीया बहुवचन।
२. कृण्वन्ति – √कृ + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन, कुर्वन्ति का वैदिक रूप।
३. अपसः – अपस् + विन्।
४. यज्ञम् – √यज् + घञ्। महीधर के अनुसार – √यज् + औणादिक् सन् प्रत्यय।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥

**पदपाठ**— यत्। प्रज्ञानमिति प्र - ज्ञानम्। उत। चेतः। धृतिः। च। यत्। ज्योतिः। अन्तः। अमृतम्। प्रजास्विति प्र - जासु॥ यस्मात्। न। ऋते।

कि॒म् । च॒न । कर्म॑ । क्रि॒यते॑ । तत् । मे॒ । मनः॑ । शि॒वस॑ङ्क॒ल्प॒मिति॑ शि॒व - सं॑ङ्क॒ल्पम् । अ॒स्तु ॥

**म० भा०**— यत् मनः प्रज्ञानं विशेषेण ज्ञानजनकम् प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम् । 'करणाधिकरणयोश्च' (पा०सू० ३.३.११७) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः । उत अपि यत् मनः चेतः चेतयति सम्यक् ज्ञापयति तच्चेतः । 'चिती संज्ञाने' अस्मात् ण्यन्तादसुन्प्रत्ययः । सामान्यविशेषज्ञानजनकमित्यर्थः । यच्च मनो धृतिर्धैर्यरूपम् । मनस्येव धैर्योत्पत्तेर्मनसि धैर्यमुपर्यते कार्यकारणयोरभेदात् । यच्च मनः प्रजासु जनेषु अन्तर्वर्तमानं सत् ज्योतिः प्रकाशकं सर्वेन्द्रियाणाम् । उक्तमपि पुनरुच्यते आदरार्थम् । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०.२८) इति यास्कोक्तेः । यच्चामृतममरणधर्मि आत्मरूपत्वात् । यस्मान्मनसः ऋते यन्मनो विना किञ्चन किमपि कर्म न क्रियते जनैः । तर्वकर्मसु प्राणिनां मनः पूर्वं प्रवृत्तेर्मनःस्वास्थ्यंविना कर्माभावादित्यर्थः । 'अन्यारादितरर्ते' (पा०सू० २.२.२९) इत्यादिना यस्यदिति ऋतेयोगे पञ्चमी । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ।

**अन्वय**— यत् प्रज्ञानम् उत चेतः धृतिः च यत् प्रजासु अन्तः अमृतं ज्योतिः । यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते, तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

**पदार्थ**— यत् = जो । प्रज्ञानम् = उत्कृष्ट ज्ञान का जनक, विशेषज्ञान का जनक । उत = और । चेतः = अपकृष्ट ज्ञान का जनक, सामान्य ज्ञान का जनक । धृतिः = धैर्य का आधार-स्वरूप, धैर्य । प्रजासु = प्राणियों में । अन्तः = वर्तमान, स्थित, (अन्तःकरण में) । अमृतम् = अमर, अमृतस्वरूप । ज्योतिः = प्रकाश । यस्मात् ऋते = जिसके बिना । किञ्चन कर्म न क्रियते = कोई कर्म नहीं किया जाता ...।

**अनुवाद**— जो उत्कृष्ट ज्ञान का जनक है तथा (जो) अपकृष्ट (सामान्य) ज्ञान का जनक है; (जो) धैर्य का आधार-स्वरूप, प्राणियों के अन्तः (करण) में (विद्यमान) अमृत ज्योति (स्वरूप) है; जिसके बिना कोई (भी) कर्म नही किया जाता; वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय ।

**व्याकरण**—

१. प्रज्ञानम् – प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत् प्रज्ञानम् । प्र + √ज्ञा + ल्युट् (अन्) ।

२. चेतः – √चिती (संज्ञाने) + णिच् + असुन् प्रत्यय ।

३. धृतिः – √धृ + क्तिन् ।

४. क्रियते – √कृ + यक् + कर्मवाच्य लट्, प्रथमपुरुष एकवचन ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्य-
त्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥

**पदपाठ—** येन । इदम् । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । परिगृहीतमिति परि-गृहीतम् । अमृतेन । सर्वम् ॥ येन । यज्ञः । तायते । सप्तहोतेति सप्त-होता । तत् । मे । मनः । शिवसङ्कल्पमिति शिव-सङ्कल्पम् । अस्तु ॥

**म० भा०—** येन मनसा इदं सर्वं परिगृहीतम् परितः सर्वतो ज्ञातम् । इदं किंभूतम् । भूतकालसंबन्धि वस्तु । भुवनं भवतीति भुवनम् । भवतेः क्युप्रत्ययः वर्तमानकालसंबन्धि । भविष्यत् 'लटः सद्वा' (पा०सू० ३.३.१४) इति शतृप्रत्ययः 'तौ सत्' (पा०सू० ३.२.१२७) इत्युक्तेः त्रिकालसंबद्धवस्तुषु मनः प्रवर्तत इत्यर्थः । श्रोत्रादीनि तु प्रत्यक्षमेव गृह्णन्ति । कीदृशेन येन । अमृतेन शाश्वतेन । मुक्तिपर्यन्तं श्रोत्रादीनि नश्यन्ति मनस्त्वनश्वरमित्यर्थः । येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादिः तायते विस्तार्यते । 'तनोतेर्यकि' (पा०सू० ६.४.४४) इत्याकारः । कीदृशो यज्ञः । सप्तहोता सप्तहोतारो देवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता । अग्निष्टोमे सप्तहोतारो भवन्ति । तन्मे मन इति व्याख्यातम् ।

**अन्वय—** येन अमृतेन (मनसा) इदं भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वं परिगृहीतम् । येन सप्तहोता यज्ञः तायते तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु ।

**पदार्थ—** येन अमृतेन = जिस शाश्वत् के द्वारा, जिस अविनाशी के द्वारा । भूतम् = भूतकालीन । भुवनम् = वर्तमानकालीन । भविष्यत् = भविष्यत्कालीन । सर्वम् = सब कुछ । परिगृहीतम् = भली-भाँति ग्रहण किया गया है, ज्ञात किया जाता है । येन = जिसके द्वारा । सप्तहोता = सात होताओं वाला । यज्ञः = यज्ञ । तायते = सम्पादित किया जाता है .....।

**अनुवाद—** जिस शाश्वत् (मन) के द्वारा भूतकालीन, वर्तमानकालीन एवं भविष्यत्कालीन सब कुछ भली-भाँति ज्ञात किया जाता है, जिसके द्वारा सात होताओं (होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्रावस्तुत, ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक्, अग्नीद) से युक्त यज्ञ सम्पादित किया जाता है, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्पों वाला हो जाय ।

**व्याकरण—**

१. भुवनम् – √भू + क्यु: (अन्)।

२. तायते – √तन् + यक् + लट्, प्रथमपुरुष।

३. भविष्यत् – √भू + लृट: शतृ।

४. सप्तहोता – सप्त होतारो यस्मिन् स: सप्तहोता। सात होता ये हैं – होतृ, पोतृ, मैत्रावरुण, ग्राववरुण, ब्राह्मणाच्छंदसी, अच्छावाक् एवं अग्नीद।

**यस्मि॒न्नृच॒: साम॒यजूँ॑षि॒ यस्मि॒-**
**न्प्रति॑ष्ठिता रथना॒भावि॑वा॒रा: ।**
**यस्मिँ॑श्चि॒त्तँ सर्व॒मोतं॑ प्र॒जाना॒ं**
**तन्मे॒ मन॑: शि॒वसं॑कल्पमस्तु ॥५॥**

**पदपाठ—** यस्मि॑न् । ऋच॑: । साम॑ । यजूँ॑षि । यस्मि॑न् । प्रति॑ष्ठिता । प्रति॑स्थि॒तेति॒ प्रति॑ - स्थिता । र॒थ॒ना॒भावि॒वेति॑ - रथना॒भौ । इ॑व । अ॒रा: ॥ यस्मि॑न् । चि॒तम् । सर्व॑म् । ओत॒मित्या - उ॑तम् । प्र॒जाना॒मिति॑ प्र॒ - जाना॑म् । तत् । मे॒ । मन॑: । शि॒वस॑ङ्कल्प॒मिति॑ शि॒व - सङ्कल्पम् । अ॒स्तु ॥

**म० भा०—** यस्मिन् मनसि ऋच: प्रतिष्ठिता:। यस्मिन् साम सामानि प्रतिष्ठितानि। यस्मिन् यजूंषि प्रतिष्ठितानि। मनस: स्वास्थ्ये एव वेदत्रयीस्फूर्तेर्मनसि शब्दमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वम् 'अनामयं हि सोम्य मन:' इति छान्दोग्ये मनस एव स्वास्थ्ये वेदोच्चारणशक्ति: प्रतिपादिता। तत्र दृष्टान्त:। रथनाभौ अरा: इव। यथा अरा: रथचक्रनाभौ मध्ये प्रतिष्ठितास्तद्वच्छब्दजालं मनसि। किञ्च प्रजानां सर्वं चित्तं ज्ञानम् सर्वपदार्थविषयिज्ञानं यस्मिन् मनसि ओतं निक्षिप्तं तन्तुसन्तति: पटे इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्। मन: स्वास्थ्य एव ज्ञानोत्पत्तिर्मनोवैयग्र्ये च ज्ञानाभाव:। तन्मे मम मन: शिवसङ्कल्पं शान्तव्यापारमस्तु॥

**अन्वय—** यस्मिन् ऋच: यस्मिन् साम यजूंषि रथनाभौ अरा: इव प्रतिष्ठिता: यस्मिन् प्रजानां सर्व चित्तम् ओतं तत् मे मन: शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

**पदार्थ—** यस्मिन् = जिस (मन) के अन्तर्गत। ऋच: = ऋचाएँ, ऋग्वेद के मन्त्र। साम = सामवेद के मन्त्र। यजूंषि = यजुर्वेद के मन्त्र। रथनाभौ = रथ की नाभि में। अरा: इव = अरे की भाँति। प्रतिष्ठिता: = प्रतिष्ठित हैं। प्रजानाम् = प्राणियों का।

सर्वम् = सम्पूर्ण। चित्तम् = चित्त, ज्ञान। ओतम् = अनुस्यूत है, बिधां हुआ है।

**अनुवाद**— जिस (मन) के अन्तर्गत ऋग्वेद के मन्त्र, जिसके अन्तर्गत सामवेद के मन्त्र एवं यजुर्वेद के मन्त्र प्रतिष्ठित हैं, जिसमे प्राणियों का सम्पूर्ण (अर्थात् सर्व-पदार्थ-विषयक) ज्ञान अनुस्यूत है, वह मेरा मन शुभसङ्कल्पों वाला हो जाय।

**व्याकरण**—

१. प्रतिष्ठिताः – प्रति + √स्था + क्त, प्रथमा बहुवचन।

२. ओतम् – आ + √वेञ् (तन्तुसन्ताने) + क्त प्रत्यय।

**सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-**
**न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।**
**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं**
**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥६॥**

**पदपाठ**— सुषारथिः। सुसारथिरिति सु - सारथिः। अश्वानिवेत्यश्वान् - इव। यत्। मनुष्यान्। नेनीयते। अभीशुभिरित्यभीशु - भिः। वाजिनऽइवेति-वाजिनः - इव॥ हृत्प्रतिस्थमिति हृत् - प्रतिस्थम्। यत्। अजिरम्। जविष्ठम्। तत्। मे। मनः। शिवसङ्कल्पमिति शिव - सङ्कल्पम्। अस्तु॥

**म०भा०**— यत् मनो मनुष्यान्नरान्नेनीयते अत्यर्थमितस्ततो नयति। नयतेः क्रिया-समभिहारे यङ्। मनः प्रेरिता एव प्राणिनः प्रवर्तन्ते। मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षकम्। तत्र दृष्टान्तः। सुसारथिः अश्वानिव शोभनः सारथिर्यन्ता यथा कशया अश्वान् नेनीयते। द्वितीयो दृष्टान्तः। अभीशुभिर्वाजिन इव यथा सुसारथिरभीशुभिःप्रग्रहैःवाजिनोऽश्वान्ने-नीयत इत्यनुषङ्गः। रश्मिभिर्नियच्छतीत्यर्थः। उपमाद्वयम्। प्रथमायां नयनं द्वितीयायां नियमनम्। तथा मनः प्रवर्तयति नियच्छति च नरानित्यर्थः। यच्च मनः हृत्प्रतिष्ठं हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत् हृद्येव मन उपलभ्यते। यच्च मनः अजिरं जरारहितम् बाल्य-यौवनस्थविरेषु मनसस्तदवस्थत्वात्। यच्च जविष्ठम् अतिजववद्वेगवत् जविष्ठम् 'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुतेः। तन्म इत्युक्तम्।

**अन्वय**— यत् (मनः) मनुष्यान् सुषारथिः अश्वान् इव नेनीयते अभीषुभिः वाजिन इव (मनुष्यान् कर्मषु प्रेरयति) यत् हृत्प्रतिष्ठं अजिरं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु।

**पदार्थ**— यत् = जो । मनुष्यान् = मनुष्यों को । सुषारथिः = अच्छा (सुयोग्य) सारथी । अश्वान् इव = घोड़ों के समान । नेनीयते = ले जाता है । अभीषुभिः = लगामों के से । वाजिनः इव = घोड़ों के समान । यत् = जो । हृत्प्रतिष्ठं = हृदयस्थ, हृदय में स्थित । अजिरं = जरारहित, वृद्धावस्था से रहित । जविष्ठम् = अत्यधिक वेगशाली ..... ।

**अनुवाद**— जो (मन) मनुष्यों को उसी प्रकार (ले जाता है) जैसे अच्छा (योग्य) सारथि अश्वों को ले जाता है; लगामों से घोड़ो को जिस प्रकार ले जाया जाता है उसी प्रकार (जो मन मनुष्यों को कर्मों में प्रेरित करता है), जो हृदयस्थ, जरारहित एवं अतिशय वेगशाली है वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो जाय ।

**व्याकरण**—

१. सुषारथिः – ऋ ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ तथा औ; ये दश स्वर 'नामिन्' कहलाते हैं – 'ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः' (ऋ. प्रा. १/६५) । इनके बाद आने वाला सकार षकार में परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार सु + सारथिः = सुषारथिः बन गया है ।

२. नेनीयते – √नी + यङ् क्रियासमभिहारे + लट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

३. अभीषुभिः – अभि + ईष् गतौ + उः + तृतीया, बहुवचन ।

४. वाजिनः – अवश्यं वजन्ति इति वाजिनः, √वज् + णिनि, द्वितीया बहुवचन ।

५. जविष्ठम् – √जु + इष्ठन् प्रत्यय ।

६. प्रतिष्ठम् – प्रति + √स्था (गतिनिवृत्तौ) + कः ।

# २५. राष्ट्राभिवर्धनम्

वेद–अथर्ववेद　　　　काण्ड संख्या–१　　　　मन्त्र संख्या–२९

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥१॥

**पदपाठ**— अभिऽवर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभिऽववृधे ॥ तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥१॥

**सा०भा०**— येन समृद्धिसाधनत्वेन प्रसिद्धेन अभीवर्तेन । अभितो वर्तते चक्रम् अनेनेति अभिवर्तो नेमिः । वृतु वर्तने । अस्मात् 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा०सू० ३.३.१९) इति करणे घञ् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा०सू० ६.३.१२२) इति दीर्घः । 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (पा०सू० ६.२.१४४) इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अत्र कार्ये कारणशब्दः । चक्रनेमिनिर्मितो मणिः । यद्वा अभितः सर्वतः प्रवृद्धोऽभूत् । परमैश्वर्योपेतस्त्रिलोकीपतिर्बभूवेत्यर्थः । वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा०सू० ६.१७) इत्यभ्यासस्य दीर्घः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा०सू० ८.१.६६) इति निघातप्रतिषेधः । हे ब्रह्मणस्पते वेदराशेरधिपते । षष्ठ्या पतिपुत्र' (पा०सू० ८.५३) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' (पा०सू० २.१.२) इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य 'आमन्त्रितस्य च' (पा०सू० ८.१.१९) इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । एतत्संज्ञक देव तेन प्रागुदीरितमहिमोपेतेन मणिना अस्मान् शत्रुभिः पीडितान् राष्ट्राय । तादर्थ्ये चतुर्थी । स्वराष्ट्राभिवृद्ध्यर्थम् अभिवर्धय करितुरगधनादिभिः समृद्धान् कुरु । त्वत्प्रसादात् समृद्धैरस्माभी रक्षितं राष्ट्रं शत्रुभयरहितं यथा अभिवृद्धं भवति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

**अन्वय**— ब्रह्मणस्पते येन अभीवर्तेन मणिना इन्द्रः वावृधे, तेन अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय ।

**पदार्थ**— ब्रह्मणस्पते = हे ब्रह्मणस्पति । येन = जिस । अभीवर्तेन = चारो ओर (अप्रतिहत रूप से) घूमने वाली । मणिना = मणि के द्वारा । इन्द्रः = इन्द्र ने । अभिवावृधे = सभी ओर से बढ़ा, वृद्धि को प्राप्त किया । तेन = उस (मणि) से । अस्मान् = हम लोगों को । राष्ट्रायः = राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए । अभि वर्धय = बढ़ाओ ।

**अनुवाद**— हे ब्रह्मणस्पति, जिस चारो ओर (अप्रतिहत रूप से) घूमने वाली मणि के द्वारा इन्द्र ने सभी ओर से वृद्धि को प्राप्त किया, उस (मणि) से हम लोगों को राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए बढ़ाओ।

**व्याकरण**—

१. अभीवर्तेन ' अभि + √वृ (वर्तने) + घञ्, तृतीया एकवचन 'घञ्यमनुष्ये बहुलम्' पा० ६.३.१२२) से उपसर्ग का दीर्घ।

२. अभिवावृधे - अभि + √वृध् (वर्धने) + लिङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (पा० ६.१.७) से अभ्यास का दीर्घ।

३. वर्धय - √वृध् लोट् मध्यमपुरुष एकवचन।

**अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः।**
**अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥२॥**

**पदपाठ**— अभिऽवृत्य। सऽपत्नान्। अभि। याः। नः। अरातयः॥ अभि। पृतन्यन्तम्। तिष्ठ। अभि। यः। नः। दुरस्यति ॥२॥

**सा०भा०**— हे अभिवर्त मणे त्वं सपत्नान्। सपत्नीव सपत्ना सहजशत्रवः। अस्मदीयांस्तान् शत्रून् अभिवृत्य अभिमुखं पर्यावृत्य। तिष्ठेति वक्ष्यमाणक्रिया अत्रापि सम्बध्यते त्वमेव प्रतिपक्षी भूत्वा तान् पराकुरु इत्यर्थः। तथा याः नः अस्माकम् अरातयः अदातारः अस्मदीयं राष्ट्रधनादिकम् अपहृत्य शात्रवं कुर्वाणा बाह्याः शत्रवः तानपि। अभि इत्युपसर्गश्रवणात् तिष्ठेति सम्बन्धः। अभिमुखं तिष्ठ। तथा पृतन्यन्तम् युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तम्। पृतनाशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा०सू० ३.१.८) इति क्यच्। 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा०सू० ७.४.३९) इत्याकारलोपः। युद्धोन्मुखमपि शत्रून् अभितिष्ठ। तथा यः शत्रुः नः अस्माकं दुरस्यति दुष्टम् अभिचारादिरूपं क्षुद्रं कर्म कर्तुम् इच्छति। 'दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति' (पा०सू० ७.४.३६) इति क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावो निपात्यते। तथाविधमपि शत्रुम् अभितिष्ठ। शप्तिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे क्यच्स्वरेण मध्योदात्तत्वम्। 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा०सू० ८.१.६६) इति निघातप्रतिषेधः॥

**अन्वय**— सपत्नान् अभिवृत्य याः नः अरातयः अभि पृतन्यतम् अभितिष्ठ। यः नः दुरस्यति अभि (तिष्ठ)।

**पदार्थ**— सपत्नान् = शत्रुओं को, विपक्षियों को। अभिवृत्य = चारो ओर से

घेरकर। याः = जो। नः = हमको। अरातयः = नहीं देने वाले। अभि = (उनको) चारो ओर से (घेरकर)। पृतन्यतम् = युद्ध की इच्छा करने वाले को। अभि तिष्ठ = चारो ओर से (घेरकर) बैठ जाओ (अर्थात् पराजित करो)। यः = जो। नः = हमको। दुरस्यति = दुर्व्यवहार करता है। अभि = चारो ओर से (पराजित करो)।

**अनुवाद**— (हे ब्रह्मणस्पति), (हमारे) शत्रुओं (विपक्षियों) को चारो ओर से घेरकर, जो हमको नहीं देने वाले (हैं, उनको) चारों ओर से (घेरकर) (और हमसे) युद्ध की इच्छा करने वाले को चारों ओर से (घेरकर) बैठ जाओ (अर्थात् उन्हें पराजित करो)। जो हमसे दुर्व्यवहार करता है (उसको) चारो ओर से (पराजित करो)।

**व्याकरण—**

१. अभिवृत्य - अभि + √वृ + ल्यप्।

२. पृतन्यतम् - पृतना + क्यच् (य)।

३. अभितिष्ठ - अभि + √स्था + लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन।

४. दुरस्यति - नामधातु √दुरस्य, लट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।**

**अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥**

**पदपाठ— अभि। त्वा। देवः। सविता। अभि। सोमः। अवीवृधत् ॥ अभि। त्वा। विश्वा। भूतानि। अभिऽवर्तः। यथा। अससि ॥३॥**

**सा॰भा॰**— हे मणे त्वा त्वां देवः द्योतनात्मकः सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरकः एतत्संज्ञको देवः। अभि इत्युपसर्गश्रवणाद् अवीवृधत् इति क्रिया अत्रापि सम्बध्यते। अभ्यवीवृधत् अभितःसमृद्धम् अकार्षीत्। वृधु वृद्धौ। अस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि गुणे प्राप्ते 'नित्यं छन्दसि' (पा॰सू॰ ७.४.८) इति उपधऋवर्णस्य ऋकारादेशः। तथा सोमो देवः अभ्यवीवृधत्। 'व्यवहिताश्च' (पा॰सू॰ १.४.८२) इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः। तथा हे मणे त्वा त्वां विश्वा विश्वानि निखिलानि। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा॰सू॰ ६.१.७०) इति शेर्लोपः। भूतानि भवन्ति सत्ता लभन्त इति भूतानि चराचरात्मकानि। 'क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगति प्रत्यवसानार्थेभ्यः' (पा॰सू॰ ३.४.७४) इति भवतेः कर्तरि क्त प्रत्ययः। उपसर्गश्रवणाद् अत्रापि प्रकृतक्रियासम्बन्ध। अभ्यवीवृधत्। अभिवर्धना विधिम् आह यथा येन प्रकारेण हे मणे त्वम् अभिवर्तः त्वद्धारयितुः पुरुषस्य अभितः स्वराष्ट्रपरराष्ट्रादौ वर्तनसाधनभूतः अससि भवसि तथा त्वाम् अवीवृधत् इति पूर्वेण सम्बन्धः। असभुवि। 'बहुलं छन्दसि' (पा॰सू॰ २.४.७३) इति शपो लुगभावः।

'यावद्यथाभ्याम्' (पा०सू० ८.१.३६) इति निघातप्रतिषेधः ॥

**अन्वय**— त्वा सविता देवः अभि अवीवृधत्, सोमः अभि (अवीवृधत्); विश्वा भूतानि त्वा अभि (अवीवृधत्) यथा अभिवर्तः असति।

**पदार्थ**— त्वा = तुमको। सविता देवः = सविता देवता ने। अभि = चारों ओर से)। अवीवृधत् = समृद्ध किया है। सोमः = सोम ने। अभि = चारों ओर से (समृद्ध किया है)। विश्वा = सम्पूर्ण। भूतानि = प्राणियों ने। त्वा = तुमको। अभि = चारों ओर से (समृद्ध किया है)। यथा = जिससे। अभिवर्तः = चारो ओर घूमने वाले। असति = तुम होओ।

**अनुवाद**— तुमको सविता देवता ने चारों ओर से समृद्ध किया है, सोम ने चारों ओर से (समृद्ध किया) है (और) सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारो ओर से (समृद्ध किया है) जिससे तुम चारों ओर घूमने वाले होवो।

**व्याकरण**—

१. अवीवृधत् - √वृध् (वर्धने) लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. असति - √अस् लट्मूलक लेट्, मध्यमपुरुष एकवचन।

## अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः।
## राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥४॥

**पदपाठ**— अभिऽवर्तः। अभिऽभवः। सपत्नऽक्षयणः। मणिः॥ राष्ट्राय। मह्यम्। बध्यताम्। सऽपत्नेभ्यः। पराऽभुवे॥४॥

**सा०भा०**— अभीवर्तः अभिवर्तनसाधनभूतः। तत्र हेतुम् आह— अभिभवः शत्रूणाम् अभिभविता। अभिभवनं विशिनष्टि— सपत्नक्षयणः सपत्नानां भ्रातृव्याणां क्षयकरः। यत एवम् अतः अभीवर्त इत्यर्थः तादृशो मणिः मह्यम्। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। 'ङयि च' (पा०सू० ६.१.२१२) इत्याद्युदात्तत्वम्। मम बध्यताम्। बन्ध बन्धने। कर्मणि लोट्। मणिबन्धनप्रयोजनम् आह— राष्ट्राय राष्ट्राभिवृद्धये। तथा सम्पनेभ्यः। पूर्ववत्। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। भ्रातृव्याणां पराभुवे पराभवनाय। परापूर्वाद् भवतेः संपादादिलक्षणो भावे क्विप्। बध्यमानोऽयं मणिः पूर्वं शत्रुभिः पीडितस्य स्वराष्ट्रस्य अभिवृद्धिं बाधकानां शत्रूणां नाशनं च करोतु इत्यर्थः॥

**अन्वय**— अभीवर्तः अभिभवः सपत्नक्षयणः मणिः राष्ट्राय सपत्नेभ्यः पराभुवे मह्यं बध्यताम्।

**पदार्थ**— अभीवर्तः = चारों ओर घूमने वाली। अभिभवः = पराजित करने वाली। सपत्नक्षयणः = शत्रुओं का संहार करने वाली। मणिः = मणि। राष्ट्राय = राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए। सपत्नेभ्यः = शत्रुओं को। पराभुवे = पराजित करने के लिए। मह्यम् = मेरे लिए, मेरे साथ। बध्यताम् = बँध जाय।

**अनुवाद**— चारों ओर घूमने वाली, पराजित करने वाली (तथा) शत्रुओं का संहार करने वाली मणि राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए और शत्रुओं को पराजित करने के लिए मेरे लिए (मेरे साथ) बँध जाय।

**व्याकरण**—

१. बध्यताम् - √बन्ध् + लोट् प्रथमपुरुष, एकवचन।

२. पराभुवे - परा + √भू + तुमर्थक वैदिक ए प्रत्यय।

## उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः।
## यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

**पदपाठ**— उत्। असौ। सूर्यः। अगात्। उत्। इदम्। मामकम्। वचः॥ यथा। अहम्। शत्रुऽहः। असानि। असपत्नः। सपत्नऽहा ॥५॥

**सा० भा०**— असौ नभो मण्डले परिदृश्यमानः सूर्यः सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः। 'राजसूयसूर्य' (पा०सू० ३.१.११४) इत्यादिना क्यपि निपात्यते। उदागात् उदितवान्। 'इणो गा लुङि' (पा०सू० २.४.४५) इति गादेशः। 'गातिस्था०' (पा०सू० २.४.७७) इति सिचो लुक्। किञ्च मामकम् मदीयम् इदम् अधुनोच्चार्यमाणं वचः आत्मनो जयाशंसात्मकं शत्रूणाम् अभिभवप्रतिपादकं च वाक्यम्। यद्वा जयोद्देशेन प्रयुज्यमानं मन्त्रात्मकं वाक्यम्। उत् इति उपसर्गश्रवणात् प्रकृतिक्रियासम्बन्धः। उदगात्। मामकम् इति। अस्मच्छब्दात् 'तस्येदम्' (पा०सू० ४.३.१२०) इत्यण्। 'तवकममकावेकवचने' (पा०सू० ४.३.३) इत्यस्मदो ममकादेशः। सूर्योदयस्य वाग्व्यवहारस्य च प्रतिदिनं सत्त्वेऽपि विशेषतस्तत्कथनस्य प्रयोजनम् आह— अहम् अभीवर्तमणिधारकः यथा येन प्रकारेण शत्रुहः शत्रूणां हन्ता असानि भवानि। हन हिंसागत्योः। 'आशिषि हनः' (पा०सू० ३.२.४९) इति डप्रत्ययः। अस्तेर्लोटि 'आडुत्तमस्य पिच्च' (पा०सू० ३.४.९२) इति आडागमः। 'यावद्यथाभ्याम्' (पा०सू० ८.१.३६) इति निघातप्रतिषेधः। मिपि पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे 'आगमा अनुदात्ताः' (पा०म० ३.१.३) इति आटोऽपि अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। यथाहम् एवं भवानि तथा उदगाद् इति पूर्वेण सम्बन्धः। मणिप्रभावात् अद्यतनसूर्योदयः अधुनाप्रयुज्यमानवचश्च

शत्रुहननानुकूलम् अभूद् इत्यर्थः। यत एवम् अतः अहम् असपत्नः शत्रुरहित एव। यदि च सपत्ना भवेयुस्तर्हि सपत्नहा सपत्नानां शत्रूणां हन्ता अस्मि। हन्तेः 'क्विप् च' (पा०सू० ३.२.७६) इति क्विप्॥

**अन्वय**— असौ सूर्यः उत् अगात् मामकं इदं वचः उत् (अगात्) यथा अहं शत्रुहः असपत्नः सपत्नहा असानि।

**पदार्थ**— असौ = यह। सूर्यः = सूर्य। उत् अगात् = ऊपर चला गया। मामकम् = मेरा। इदम् = यह। वचः = वाणी, स्तोत्र। उत् = ऊपर (चला गया)। यथा = जिससे। अहम् = मैं। शत्रुहः = शत्रुघ्न, शत्रु को मारने वाला। असपत्नः = शत्रुरहित। सपत्नहा = प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला। असानि = होऊँ।

**अनुवाद**— यह सूर्य ऊपर चला गया मेरा यह स्तोत्र ऊपर (चला गया), जिससे मैं शत्रु को मारने वाला, शत्रुरहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ।

**व्याकरण**—

१. अगात् - √गा (गमने), लङ् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. असानि - √अस् लडर्थक लेट्, उत्तमपुरुष एकवचन।

**स॒प॒त्न॒क्षय॑णो वृषा॒भिरा॑ष्ट्रो विषास॒हिः।**

**यथा॒हमे॒षां वी॒राणां॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥६॥**

**पदपाठ**— **स॒प॒त्न॒ऽक्षय॑णः। वृषा॑। अ॒भिऽरा॑ष्ट्रः। वि॒ऽस॒स॒हिः॥ यथा॑। अ॒हम्। ए॒षाम्। वी॒राणा॑म्। वि॒ऽराजा॑नि। जन॑स्य। च ॥६॥**

**सा०भा०**— उत्तरवाक्ये यथेति श्रवणात् पूर्ववाक्येऽपि अर्थात् तथेत्यध्याह्रियते। सपत्नक्षयणः सपत्नानां शत्रूणां नाशकः। 'क्षि क्षये'। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः' (पा०सू० ३.१.१३४) इति कर्तरि ल्युप्रत्ययः। अतः वृषा प्रजानाम् इष्टफलस्य वर्षकः। वृष सेचने 'कनिन्युवृषि' (पा०उ० १.१५४) इत्यादिना कनिन्प्रत्ययः। अत एव अभिराष्ट्रः स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं च अभिगतः अधिपतित्वेन प्राप्तः। 'अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (पा० १.४.७२.२) इति प्रादिसमासः। अतो विषासहिः विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा अभिभविता। वह अभिभवे। अस्माद् यङन्तात् 'सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ' (पाव० ३.२.१७१.२) इति किप्रत्ययः। अतोलोपयलोपौ। मणिप्रभावाद् एवंगुणविशिष्टः तथा भूयासम्। कथम् इत्यत आह— अहम् मणिधारकः यथा येन प्रकारेण एषाम् शत्रुसम्बन्धिनां पूर्वम् आत्मनो बाधकानां वीराणाम् शत्रुभटानां जनस्य स्वकीयस्य परकीयस्य प्राणिजातस्य च विराजानि। राजतिरैश्वर्यकर्मा। नियन्ता

भवानि। तथेति पूर्वेण सम्बन्धः उदीरितगुणोपेतः सन् मणिप्रभावात् शत्रुप्रभृतीनां सर्वेषां शासिता भवामीति भावः। यद्वा उक्तगुणोपेतः सन् अहं वीराणां जनस्य च यथा विराजानि हे मणे त्वत्प्रभावात् तथा भूयासम् इति शेषः ॥

**अन्वय—** सपत्नक्षयणः वृषा अभिराष्ट्रः विषसहिः (असानि) यथा अहम् एषां वीराणां जनस्य च विराजानि।

**पदार्थ—** सपत्नक्षयणः = प्रतिद्वन्द्वी को विनष्ट करने वाला, वृषा = कामनाओं को पूर्ण करने वाला। अभिराष्ट्रः = (सामर्थ्य से) राष्ट्र को प्राप्त करने वाला। विषसहि = पराजित करने वाला। यथा = जिससे। अहम् = मैं। एषां = इन। वीराणाम् = वीरों को। जनस्य च = और लोगों का प्रजाओं का। विराजानि = शासक बनूँ।

**अनुवाद—** मैं प्रतिद्वन्द्वी को विनष्ट करने वाला, (प्रजा की) कामनाओं को पूर्ण करने वाला, (अपने सामर्थ्य से) राष्ट्र को प्राप्त करने वाला (तथा) शत्रुओं को पराजित करने वाला (होऊँ); जिससे मैं (शत्रुपक्ष वाले) इन वीरों का और प्रजाओं का शासक बनूँ।

**व्याकरण—**

१. विराजानि - वि + √राज्, लेट् उत्तमपुरुष एकवचन।

२. विषासहि – वि + √ससह + इ।

# २६. सांमनस्यम्

वेद–अथर्ववेद　　　　काण्ड संख्या–३　　　　सूक्त संख्या–३०

**सहृदयं सांमनुस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।**
**अन्यो अन्यमुभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥**

**पदपाठ—** सऽहृदयम् । साम्ऽमनुस्यम् । अविऽद्वेषम् । कृणोमि । वः ॥ अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत । वत्सम् । जातम्ऽइव । अघ्न्या ॥१॥

**सा० भा०—** हे विवदमाना जनाः वः युष्माकम् अविद्वेषम् । विद्वेषाभावोपलक्षितं सांमनस्यकर्म कृणोमि करोमि । कीदृशं तत् सांमनस्यम् । सहृदयम् समानैर्हृदयैरुपेतम् । समानचित्तवृत्तियुक्तम् इत्यर्थः । सांमनुष्यम् । मिथः सम्प्रीतियुक्ता मनुष्याः सम्मनुष्याः तैर्निवर्तितं सांमनुष्यम् । ईदृशं समानज्ञानहेतुभूतं सख्यं करोमीत्यर्थः । ततो यूयमपि जातं वत्सं अघ्न्या गोनामैतत् । अहन्तव्या गाव इव अन्योऽन्यं परस्परम् अभि हर्यत आभिमुख्येन कामयध्वम् । 'हर्य गतिकान्त्योः' ॥

**अन्वय—** (हे विवदमाना जनाः) वः सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि । अन्यः अन्यम् वत्सं जातम् अघ्न्या इव अभिहर्यत ।

**पदार्थ—** वः = तुमलोगों को । सहृदयम् = समान हृदय वाला । सांमनस्यम् = समान मन वाला । अविद्वेषम् = द्वेषरहित । कृणोमि = बनाता हूँ । अन्यः = एक । अन्यम् = दूसरे को । वत्सम् = बछड़े वाली । जातम् = उत्पन्न । अघ्न्या = अवध्य गाय के समान । अभिहर्यत = प्रेम करो ।

**अनुवाद—** (हे विवाद करने वाले मनुष्यो !) तुम लोगों को समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेष से रहित बनाता हूँ । एक दूसरे से उसी प्रकार प्रेम करो, जिस प्रकार गाय उत्पन्न बछड़े को (प्यार करती है) ।

**व्याकरण—**

१. सांमनस्यम् – सायण इस पद का उच्चारण सांमनुष्यम् करते हैं तथा समानचित्तवृत्ति से युक्त मनुष्य अर्थ बतलाते हैं ।

२. हर्यत – √हर्य (प्रसन्न करना), लोट्, मध्यमपुरुष, बहुवचन ।

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः ।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥**

**पदपाठ—** अनुऽव्रतः । पितुः । पुत्रः । माता । भवतु । सम्ऽमनाः ॥ जाया । पत्यें । मधुऽमतीम् । वाचम् । वदतु । शन्तिऽवाम् ॥२॥

**सा०भा०—** पुनः तनयः पितुनुव्रतः । व्रतम् इति कर्मनाम । अनुकूलकर्मा भवतु । यत् पिता कामयते तत्कर्मकारी भवतु । माता च सम्मनाः पुत्रादिभिः समानमनस्का भवतु । पत्ये भर्त्रे जाया भार्या मधुमतीम् माधुर्यवतीं शन्तिवाम् सुखयुक्तां वाचं वदतु ब्रवीतु । समानमनस्का भवतु इत्यर्थः । पत्ये । 'पतिः समास एव' (पा०सू० १.४.८) इति घिसंज्ञाया नियमात् केवलस्य अभावात् तत्कार्याभावे यण् । शन्तिवाम् इति । 'कंशंभ्याम्' (पा०सू० ५.२.१३८) इति शम्-शब्दात् तित्प्रत्ययः । ततो मत्वर्थीयो वः ॥

**अन्वय—** पुत्रः पितुः अनुव्रतः, माता सम्मनाः भवतु । जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु ।

**पदार्थ—** पुत्रः = पुत्र । पितुः = पिता का । अनुव्रतः =आज्ञापालक । माता = माता । सम्मनाः = एक मन (समान) वाली । भवतु = होवे । जाया = पत्नी । पत्ये = पति के लिए । मधुमतीम् = माधुर्ययुक्त, मीठी । शान्तिवाम् = कल्याणकारी, सुख से युक्त । वाचाम् = वाणी । वदतु = बोले ।

**अनुवाद—** पुत्र पिता का आज्ञापालक हो; माता (पुत्रादिकों के साथ) एक मन वाली हो । पत्नी पति के लिए मीठी तथा कल्याणकारी वाणी बोले ।

**व्याकरण—**

१. वदतु – √वद् लोट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।**
**सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥**

**पदपाठ—** मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा ॥ सम्यञ्चः । सऽव्रताः । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥३॥

**सा०भा०—** भ्राता सोदरः भ्रातरं मा द्विष्यात् दायभागादिनिमित्तेन भातृविषयम् अप्रियं मा कुर्यात् । उत अपि च स्वसारम् भगिनीं स्वसा मा द्विष्यात् । 'ऋन्नेभ्यः०' पा०सू० ४.१.५) इति प्राप्तस्य ङीपः 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (पा०सू० ४.१.१०) इति

प्रतिषेधः। ते सर्वे भ्रात्रादयः सम्यञ्चः समञ्चनाः समानगतयः सव्रताः समानकर्माणो भूत्वा भद्रया कल्याण्या वाचा वागिन्द्रियेण वाचं वदतु वदन्तु। व्यत्ययेन एकवनम्। सम्यञ्च इति। सम्पूर्वाद् अञ्चतेः 'ऋत्विग्' (पा०सू० ३.२.५९) इत्यादिना क्विन्। 'समः समि' (पा०सू० ६.३.९३) इति सम्यादेशः॥

**अन्वय—** भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्, स्वसा स्वसारं (मा द्विक्षत्)। सम्यञ्चः उत सव्रताः भूत्वा भद्रया वाचं वदत।

**पदार्थ—** भ्राता = भाई। भ्रातरम् = भाई से। मा = मत। द्विक्षत् = द्वेष करें। स्वसा = बहन। स्वसारम् = बहन से। सम्यञ्चः = समान गति वाले। उत = और। सव्रताः = समान कार्य वाले। भूत्वा = होकर। भद्रया = शिष्टता से। वाचम् = वाणी। वदत = बोलो।

**अनुवाद—** भाई भाई से द्वेष न करे; बहन बहन से न (द्वेष करे); समान गति वाले (तथा) समान कार्य वाले होकर तुम लोग शिष्टता से वचन बोलो।

**व्याकरण—**

१. द्विक्षत् – √द्विष् लुङ्मूलक लेट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. सम्यञ्च – सम् + √अञ्च् (एक साथ चलना) + क्विन्।

३. अवदत् – √वद् (बोलना), लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

**येन॑ दे॒वा न वि॒यन्ति॒ नो च॑ वि॒द्विष॑ते मि॒थः।**

**तत्कृ॑ण्मो॒ ब्रह्म॑ वो गृ॒हे सं॒ज्ञानं॒ पुरु॑षेभ्यः॥४॥**

**पदपाठ— येन॑। दे॒वाः। न। वि॒ऽयन्ति॑। नो इति॑। च॒। वि॒ऽद्विष॑ते। मि॒थः॥ तत्। कृ॒ण्म॒ः। ब्रह्म॑। व॒ः। गृ॒हे। स॒म्ऽज्ञान॑म्। पुरु॑षेभ्यः॥**

**सा०भा०—** येन ब्रह्मणा देवा इन्द्रादयः न वियन्ति विमतिं न प्राप्नुवन्ति। नो च नैव च मिथः परस्परं विद्विषते विद्वेषं कुर्वते। 'द्विष अप्रीतौ'। अदादित्वात् शपो लुक्। तत् सञ्ज्ञानम् समानज्ञाननिमित्तम् ऐकमत्यापादकं ब्रह्म मन्त्रात्मकं साम्मनस्यं वः युष्माकं गृहे पुरुषेभ्यः। तादर्थ्ये चतुर्थी। तदर्थं कृण्मः कुर्मः। 'कृवि हिंसाकरणयोश्च'। 'धिन्विकृण्व्योर च' (पा०सू० ३.१.८०) इति उप्रत्ययः। 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' (पा०सू० ६.४.१०७) इति उकारलोपः।

**अन्वय—** येन देवाः न वियन्ति च नो मिथः विद्विषते। वः गृहे पुरुषेभ्यः तत् संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः।

**पदार्थ**— येन = जिससे। देवाः = देवता। न = नहीं। वियन्ति = अलग होते हैं। च = और। नो = न तो। मिथः = परस्पर। विद्विषते = द्वेष करते हैं। वः = तुम्हारे। गृहे = घर में। पुरुषेभ्यः = मनुष्यों के लिए। तत् = उस। संज्ञानम् = समान ज्ञान अर्थात् सामञ्जस्य के निमित्त। ब्रह्म = प्रार्थना। कृण्मः = करते हैं।

**अनुवाद**— जिससे देवता अलग नहीं होते और न तो परस्पर द्वेष ही करते हैं; तुम्हारे घर में (तुम्हारे) मनुष्यों के लिए उस सामञ्जस्य के निमित्त (हम) प्रार्थना करते हैं।

**व्याकरण**—

१. वियन्ति – वि + √इ (अलग जाना) लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. विद्विषते – वि + √द्विष् (द्वेष करना) आत्मनेपद, लट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

**ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट**
**संराधयन्तः　　सधुराश्चरन्तः।**
**अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत**
**सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥५॥**

**पदपाठ**— ज्यायस्वन्तः। चित्तिनः। मा। वि। यौष्ट। सम्ऽराधयन्तः। सऽधुराः। चरन्तः॥ अन्यः। अन्यस्मै। वल्गु। वदन्तः। आ। इत। सध्रीचीनान्। वः। सम्ऽमनसः। कृणोमि॥

**सा० भा०**— ज्यायस्वन्तः ज्यायस्त्वगुणोपेता। ज्येष्ठकनिष्ठभावेन परस्परम् अनुसरन्त इत्यर्थः। चित्तिनः समानचित्तयुक्ताः संराधयन्तः समानसंसिद्धिकाः। समानकार्या इत्यर्थः। सधुराः समानकार्योद्वहनाः। 'ऋक्पूरब्धूःपथाम०' (पा०सू० ५.४.७४) इति अकारः समासान्तः। इत्थं चरन्तः वर्तमाना यूयं मा वि यौष्ट मा पृथग् भूत। वियुक्ता मा भवतेत्यर्थः। यु मिश्रणामिश्रणयोरित्यस्मात् माङि लुङि मध्यमबहुवचने रूपम्। इडभावश्छान्दसः। अन्योन्यस्मै परस्परं वल्गु शोभनं प्रियवाक्यं वदन्तः भाषमाणा यूयम् ऐत आगच्छत। अहमपि हे जनाः वः युष्मान् सध्रीचीनान् सहाञ्चतः कार्येषु सह प्रवृत्तान् सम्मनसः समानमनस्कान् कृणोमि करोमि। सध्रीचीनात् इति। सह अञ्चन्तीति विगृह्य अञ्चते 'ऋत्विग्०' (पा०सू० ३.२.५९) इत्यादिना क्विन्। 'सहस्य सध्रिः' (पा०सू० ६.३.९५) इति सध्र्यादेशः। 'विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' (पा०सू० ५.४.८) इति स्वार्थिकः खः। ततो भसञ्ज्ञायाम् 'अचः' (पा०सू० ६.४.१३८) इति अकारलोपे

'चौ' (पा०सू० ६.३.१३८) इति दीर्घत्वम् ॥

**अन्वय**— ज्यायास्वन्तः चित्तिनः संराधयन्तः सधुराः चरन्तः मा वि यौष्ट । अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः आ इत । (अहं) वः सध्रीचीनान् (च) सम्मनसः कृणोमि ॥

**पदार्थ**— ज्यायास्वन्तः = श्रेष्ठ गुणों से युक्त । चित्तिनः = समान अन्तःकरण वाले । संराधयन्तः = एक साथ साधना करते हुए । सधुराः = कन्धा मिलाकर । चरन्तः = चलते हुए । मा = मत । वि यौष्ट = अलग होवो । अन्यः = एक । अन्यस्मै = दूसरे के लिए । वल्गु = शोभन (प्रिय) वाक्य, प्रिय वचन । वदन्तः = बोलते हुए । आ इत = यहाँ आवो । वः = तुम लोगों को । सध्रीचीनान् = एक साथ चलने वाला, अर्थात् एक साथ कार्य में प्रवृत्त होने वाला । सम्मनस = समान मन वाला । कृणोमि = बनाता हूँ ।

**अनुवाद**— श्रेष्ठ गुणों से युक्त, समान चित्तवाले, एक साथ साधना करते हुए, कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हुए, (तुम लोग) अलग मत होवो । परस्पर एक दूसरे के लिए प्रियवचन बोलते हुए यहाँ आवो । (मैं) तुम लोगों को एक साथ कार्य में प्रवृत्त होने वाला तथा समान मन वाला बनाता हूँ ।

**व्याकरण**—

१. वि यौष्ट – वि + √यु (अलग करना) लुङ्मूलक लेट् मध्यमपुरुष बहुवचन ।

२. संराधयन्तः – सम् + √राध् (एक साथ चलना) + णिच् + शतृ प्रथमा बहुवचन ।

३. वदन्तः – √वद् (बोलना) + शतृ प्रथमा बहुवचन ।

४. आ इत – आ + √इ (आना) लोट् लकार, मध्यमपुरुष बहुवचन ।

**समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः**
**समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।**
**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा**
**नाभिमिवाभितः ॥६॥**

**पदपाठ**— समानी । प्रऽपा । सह । वः । अन्नऽभागः । समाने । योक्त्रे । सह । वः । युनज्मि ॥ सम्यञ्चः । अग्निम् । सपर्यत । अराः । नाभिम्ऽइव । अभितः ॥

**सा०भा०**— हे सांमनस्यकामाः वः युष्माकं समानी एका प्रपा पानीयशाला

भवतु। अन्नभागश्च सह एव भवतु। परस्परानुरागवशेन एकत्रावस्थितम् अन्नपानादिकं युष्माभिरुपभुज्यताम् इत्यर्थः। तदर्थम् अहं वः युष्मान् समाने योक्त्रे एकस्मिन् बन्धने स्नेहपाशे सह युनज्मि सह बध्नामि। अपि च सम्यञ्चः सङ्गताः एकफलार्थिनो भूत्वा समानज्ञानाः सन्तः अग्निं सपर्यत पूजयत। सपर पूजायाम्। कण्ड्वादित्वाद् यक्। कथमिव स्थिता इति तत्राह— अरा नाभिमिव अभितः। रथचक्रस्य मध्यच्छिद्रं नाभिः। तस्यः अभितो वर्तमानाः अराः चक्रावयवा:कीलाका नियतस्थानाः परिवेष्ट्य वर्तन्ते। एवम् एकम् इति स्मरणात् तद्योगाद् नाभिम् इति द्वितीया।

**अन्वय**— वः प्रपा समानी अन्नभागः सह (भवतु), वः समाने योक्त्रे सह युनज्मि। सम्यञ्च अग्निं सपर्यत, अराः नाभिमिव अभितः (वर्तन्ते)।

**पदार्थ**— वः = तुम लोगों का। प्रपा = पानीशाला। समानी = एक। अन्नभागः = भोजन। सह = एक साथ। वः = तुम लोगों को। समाने = समान। योक्त्रे = बन्धन में। सहं = एक साथ। युनज्मि = बाँधता हूँ। सम्यञ्चः = एक साथ होकर। अग्निम् = अग्नि की। सपर्यत = उपासना करो, पूजा करो। अराः = पहिये की तिल्लियाँ। नाभिमिव = जिस प्रकार धूरे को। अभितः = चारों तरफ से घेरकर स्थित रहती हैं।

**अनुवाद**— तुम लोगों का पानीशाला एक हो, भोजन एक साथ हो; अग्नि की (एक साथ उसी प्रकार) उपासना करो, जिस प्रकार चक्र की तिल्लियाँ धूरे के चारों तरफ (स्थित रहती हैं)।

**व्याकरण**—

१. युनज्मि – √युज् = (जोड़ना), लट्मूलक लेट् उत्तमपुरुष एकवचन।

२. सपर्यत – √सपर्य (पूजा करना), लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन।

**स॒ध्री॒चीना॑न् व॒: संम॑नसस्कृणो॒-**
**म्येक॑श्नुष्टीन्त्सं॒वन॑नेन॒ सर्वा॑न्।**
**दे॒वा इ॑वा॒मृतं॒ रक्ष॑माणाः**
**सा॒यंप्रा॑तः सौमन॒सो वो॑ अस्तु ॥७॥**

**पदपाठ**— स॒ध्री॒चीना॑न्। व॒ः। स॒म्ऽम॑नसः। कृ॒णो॒मि॒। एक॑ऽश्नुष्टीन्। स॒म्ऽवन॑नेन। सर्वा॑न् ॥ दे॒वाःऽइ॑व। अ॒मृत॑म्। रक्ष॑माणाः। सा॒यम्ऽप्रा॑तः। सौ॒म॒न॒सः। व॒ः। अ॒स्तु॒ ॥

**सा० भा०**— सध्रीचीनात् सह प्रवर्तमानात् एककार्यकरणे सहोद्युक्तान् सम्मनसः समानमनस्कान् वः युष्मान् कृणोमि करोमि। तथा युष्माकम् एकश्नुष्टिम् एकविधं व्यापनम् एकविधस्यान्नस्य भुक्तिं वा करोमि। संवननेन वशीकरणेन अनेन सान्मनस्यकर्मणा युष्मान् सर्वान्। वशीकरोमीत्यर्थः। अमृतम् द्युलोकस्य अजरामरत्वप्रापकं पीयूषं रक्षमाणाः ऐकमत्येन पालयन्तः देवा इव इन्द्रादयो यथा सौमनस्ययुक्ता भवन्ति एवं वः युष्माकं सायंप्रातः एतदुपलक्षिते सर्वस्मिन् काले सौमनसः सौमनस्यं शोभनमनस्कत्वम् अस्तु भवतु।

**अन्वय**— वः सध्रीचीनान् सम्मनसः सर्वान् संवननेन एकश्नुष्टीन् कृणोमि। देव इव अमृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः वः सौमनसः अस्तु।

**पदार्थ**— वः = तुम लोगों को। सध्रीचीनान् = एक साथ जाने वाला। संमनसः = एक मन वाला। सर्वान् = सबको। संवसननेन = वशीकरणमन्त्र से। एकश्नुष्टीन् = एक साथ भोजन करने वाला। कृणोमि = बनाता हूँ। देवा इव =देवों की तरह। अमृतम् = अमृत की। रक्षामाणाः = रक्षा करते हुए। सायंप्रातः = शाम तथा सुबह अर्थात् प्रत्येक क्षण। वः = तुम लोगों का। सौमनसः = एक समान मन। अस्तु = होवे।

**अनुवाद**— तुम लोगों को एक साथ जाने वाला, एक मन वाला तथा सबको वशीकरण मन्त्र से एक साथ भोजन करने वाला बनाता हूँ। देवताओं की तरह अमृत की रक्षा करते हुए शाम तथा सुबह (अर्थात् प्रत्येक क्षण) तुम लोगों का मन एक समान रहे।

**व्याकरण**—

१. रक्षमाणाः – √रक्ष् (रक्षा करना) + शानच् प्रथमा बहुवचन।

२. सायंप्रातः – सायं च प्रातः च (द्वन्द्व समास)।

## वाक्‌मनस्संवाद

शतपथब्राह्मण, काण्ड-१, प्रपाठक-४, ब्राह्मण-५, कण्डिका ८-१३

**अथातो मनसश्चैव वा वाचश्च । अहं भद्रऽउदितं मनश्च ह वै वाक्चाहं भद्रऽऊदाते ॥८॥**

**पदार्थ—** अथ = अनन्तर । अतः = यहाँ से । मनसः = मन की । च = और । वाचः = वाणी की । अहंभद्रे = अपने-अपने बड़कपन के विषय में । उदितम् = उक्ति, संवाद । मनः च = मन । ह वै = सचमुच । वाक् च = वाणी । अहंभद्रे = अपने-अपने बड़कपन के विषय में । ऊदाते = विवाद करने लगे ।

**अनुवाद—** अब यहाँ से अपने-अपने बड़कपन के विषय में मन और वाणी का संवाद (आरम्भ होता है)। एक बार मन और वाणी अपने-अपने बड़कपन के विष ाय में विवाद करने लगे ।

**व्याकरण—**

१. ऊदाते- √वद् (वचने) आत्मनेपद, लिट् प्रथमपुरुष द्विवचन ।

**तद्धह मनऽउवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किञ्च नानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयो-ऽस्मीति ॥९॥**

**पदार्थ—** तत् ह = उस विषय में । मनः = मन ने । उवाच = कहा । अहम् = मैं । एव = ही । त्वत् = तुमसे । श्रेयः = बड़ा । अस्मि = हूँ । न = नहीं । वै = सचमुच । मया = मेरे द्वारा । त्वम् = तुम । किञ्च = कुछ भी । न = नहीं, अनभिगतम् = न जाना गया । वदसि = बोलती हो । सा = वह । यत् = क्योंकि । मम = मेरी । त्वम् = तुम । कृतानुकरा = अनुकरण करने वाली । अनुवर्त्मा = अनुगमन करने वाली । असि = हो । अहम् = मैं । एव = ही । त्वत् = तुमसे । श्रेयः = बड़ा, अस्मि = हूँ । इति = निपात ।

**अनुवाद—** इस विषय में मन ने कहा कि मैं तुमसे बड़ा हूँ क्योंकि तुम मेरे द्वारा न जाना हुआ कुछ भी नहीं बोलती । तुम मेरा अनुकरण करनेवाली और मेरी

अनुगामिनी हो। अतः मैं ही तुमसे बड़ा हूँ।

**व्याकरण—**

१. उवाच- √वच् (कथने) लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

**अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि। यद्वै त्वं वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहꣳ सञ्ज्ञपयामीति ॥१०॥**

**पदार्थ—** अथ ह = इसके अनन्तर। वाक् = वाणी। उवाच = बोली। अहम् = मैं। एव = ही। त्वत् = तुमसे। श्रेयसी = बड़ी। अस्मि = हूँ। यत् वै = जो कुछ भी। त्वम् = तुम। वेत्थ = जानते हो। अहम् = मैं। तत् = वह। विज्ञापयामि = जनाती हूँ। संज्ञापयामि = बताती हूँ। इति = निपात।

**अनुवाद—** इस पर वाणी ने कहा कि मैं तुमसे बड़ी हूँ। तुम जो कुछ भी जानते हो, वह मैं ही जनाती और बताती हूँ।

**व्याकरण—**

१. विज्ञापयामि- वि + √ज्ञा (ज्ञाने) लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

२. संज्ञापयामि- सम् + √ज्ञा लट् उत्तमपुरुष एकवचन।

**ते प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनसऽएवानूवाच मनऽएव त्वच्छ्रेयो मनसो वैत्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति ॥११॥**

**पदार्थ—** ते = वे दोनों। प्रजापतिम् = प्रजापति के पास। प्रश्नं प्रति = प्रश्न पूछने के लिए। झगड़े के निपटारे के लिए। एयतुः = गये। स = वह। प्रजापतिः = प्रजापति। मनसः = मन के। एव = ही। अनु = अनुकूल। उवाच = बोले, निर्णय दिये। मनः = मन। एव = ही। त्वत् = तुमसे। श्रेयः = बड़ा है। मनसः = मन की। वै = निश्चित रूप से। त्वम् = तुम। कृतानुकरा = अनुकरण करने वाली। अनुवर्त्मा = अनुगामिनी। असि = हो। श्रेयसः = बड़े का। वै = निश्चय ही। पापीयान् = नीचा। कृतानुकरः = अनुकरण करने वाला। अनुवर्त्मा = अनुगमन करने वाला। भवति = होता है।

**अनुवाद—** वे दोनों झगड़े का निपटारा कराने के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने मन के ही अनुकूल निर्णय दिया। उन्होंने वाणी से कहा कि मन

तुमसे बड़ा है। तुम मन का अनुकरण करने वाली और अनुगमन करने वाली हो। बड़े का अनुकरण और अनुगमन करने वाला निश्चित हो उससे नीचा होता है।

व्याकरण—

१. एयतुः- आ + √इ (गमने) लिट् प्रथमपुरुष द्विवचन।

**सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये । तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवाचाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परावोचऽइति । तस्माद्यत्किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियतऽउपाꣳश्वेव तत्क्रियतेहव्यवाड्ढिवाक्प्रजापतयऽआसीत् ॥१२॥**

**पदार्थ—** सा ह = वह तो। वाक् = वाणी। परोक्ता = विरुद्ध बोली जाकर, प्रतिकूल निर्णय पाकर। विसिष्मिये = हतोत्साह हो गयी, उद्विग्न हो गयी। गलितगर्व हो गयी। तस्यै = उसका। गर्भः = गर्भ। पपात = गिर गया। स ह वाक् = वह वाणी! प्रजापतिम् = प्रजापति से। उवाच = बोली। अहव्यवाट् = हविर्द्रव्य को न ले जाने वाली। एव = ही। अहम् = मैं। तुभ्यम् = तुम्हारे लिए। भूयासम् = होऊं। याम् = जिस। मा = मुझको। परोवाच = विरुद्ध बोले हो। तस्मात् = इसलिए। यत्किञ्च = जो कुछ भी। प्राजापत्यम् = प्रजापति के लिए। यज्ञे = यज्ञ में। क्रियते = किया जाता है, अहव्यवाट् = हविर्द्रव्य को न ले जाने वाली। हि = निश्चित ही। वाक् = वाणी। प्रजापतये = प्रजापति के लिए। आसीत् = रही।

**अनुवाद—** इस प्रकार विरुद्ध बोली जाने के कारण वाणी हतोत्साह हो गयी। उसका गर्भ गिर गया (अहङ्कार चूर्ण हो गया)। उसने प्रजापति से कहा कि अच्छा हो यदि मैं तुम्हारे लिए हविः को जाने वाली न होऊँ। क्योंकि तुमने मेरे विरुद्ध निर्णय दिया है। अतः यज्ञ में जो कुछ भी प्रजापति के लिए किया (दिया) जाता है वह नीचे स्वर से किया जाता है। वाणी प्रजापति के लिए हविर्द्रव्य नहीं ले जाती।

व्याकरण—

१. विसिष्मिये- वि+ √स्मि लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

२. भूयासम्- √भू लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन।

३. पपात- √पत् लिट् प्रथमपुरुष एकवचन

**तद्धैतद्देवाः रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रुस्तद्ध स्म पृच्छन्त्यत्तैवत्याऽइदिति**

**ततो॒ऽत्रिः स॒म्बभूव त॒स्मादु॒प्यात्रेय्या॒ः योषि॒तैन॒स्व्येत॒स्यै हि योषायै वाचो॒ देव॒तायाऽएते स॒म्भूताः ॥१३॥**

**पदार्थ**— तत् ह = उस। एतत् = (वाणी से गिरे हुए इस। देवाः = देवगण। रेतः = रेत को, गर्भ को। चर्मन् = चर्म में। वा = अथवा। यस्मिन् = अन्य किसी पात्र में। वा = अथवा। बभ्रुः = भर लिया। तत् ह = उसके विषय में। पृच्छन्ति स्म = नित्य पूछते थे। अत्रैव त्यात् = क्या वह यहीं है?' ततः = उससे। अत्रिः = अत्रि ऋषि। सम्बभूव = उत्पन्न हुए। तस्मात् अपि = इसलिए। आत्रेय्या योषिता = सृतगर्भा रजस्वला स्त्री से। एनस्वी = पापी। एतस्यै हि = इसी। योषायै = स्त्रीरूपधारिणी। वाचो देवतायाः = वाग्देवता से। एते = ये सब (गर्भ)। सम्भूताः = उत्पन्न हुए हैं।

**अनुवाद**— देवों ने उस गर्भ को एक चमड़े में या अन्य किसी पात्र में भर लिया। वे पूछते थे कि क्या वह इसी में हैं? तब उसी से अत्रि उत्पन्न हुए। इसीलिए गलितगर्भ रजस्वला स्त्री को आत्रेयी कहते हैं। इससे व्यवहार करने वाला पापी होता है। इसी स्त्रीरूपधारिणी वाग्देवता से ये सब गर्भ उत्पन्न हुए हैं।

**व्याकरण**—

१. बभ्रुः- √भृ लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन।

२. सम्बभूव- सम् + √भू लिट् प्रथमपुरुष एकवचन।

## २८. पुरुषविभूतिः

ऐतरेयारण्यक प्रपाठक- २ अध्याय- १ खण्ड- ७

**अथातो विभूतयोऽस्य पुरुषस्य ॥**

**पदार्थ**— अथ = अनन्तर। अतः = यहाँ से। विभूतयः = ऐश्वर्य। अस्य = इस। पुरुषस्य = (प्रजापतिरूप) पुरुष का।

**अनुवाद**— अनन्तर यहाँ से (प्रजापतिरूप) पुरुष के ऐश्वर्य का (वर्णन आरम्भ होता है)।

**तस्य वाचा सृष्टौ पृथिवी चाग्निश्चास्यामोषधयो जायन्तेऽग्निरेनाः स्वदयतीदमाहरतेदमाहरतेत्येवमेतौ वाचं पितरं परिचरतः पृथिवी चाग्निश्च ॥**

**पदार्थ**— तस्य = उसके, प्रजापति के। वाचा = वाणी के द्वारा। सृष्टौ = उत्पन्न किये गये। पृथिवी = पृथिवी। च = और। अग्निः = अग्नि। च = और। अस्याम् = इस (पृथिवी) पर। ओषधयः = वनस्पतियाँ। जायन्ते = उत्पन्न होती हैं। अग्निः = अग्नि। एनाः = इनको। स्वदयति = स्वादिष्ट बनाता है। इदम् = यह। आहरत = लाइये। इदम् = यह। आहरत = लाइये। इति = निपात। एवम् = इस प्रकार से। एतौ = ये दोनों। पृथिवी और अग्नि। वाचं पितरम् = (वाक्रूपी) पिता को। परिचरतः = परिचर्या करते हैं, प्रत्युपकार करते हैं। पृथिवी = पृथिवी। च = और। अग्निः = अग्नि।

**अनुवाद**— पृथिवी और अग्नि को इस (प्रजापतिरूप पुरुष) की वाणी ने उत्पन्न किया है। इस (पृथिवी) पर (अनेक प्रकार के) अन्न उत्पन्न होते हैं। अग्नि इनको स्वादिष्ट बनाता है। (अग्नि के पाक से वे इतने स्वादिष्ट हो जाते हैं कि) लोग कहते हैं, 'यह ले आइये, यह ले आइये'। इस प्रकार से यह दोनों पृथिवी और अग्नि वाक् रूपी पिता की सेवा करते हैं।

**यावदनु पृथिवी यावदन्वग्निस्तावानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते यावदेतयोर्न जीर्यते पृथिव्याश्चाग्नेश्च य एवमेतां वाचो विभूतिं वेद ॥**

**पदार्थ**— यावत् = जहाँ तक। अनु = अनुगत है, व्याप्त है। पृथिवी = पृथिवी।

यावत् = जहाँ तक । अनु = अनुगत है, व्याप्त है । अग्निः = अग्नि । तावान् = उतना, वहाँ तक । अस्य = इस (उपासक) का । लोकः = भोगभूमि । भवति = होती है । न = नहीं । अस्य = इस (उपासक) का । तावत् = तब तक । लोकः = भोग-भूमि । जीर्यते = जीर्ण होती है, नष्ट होती है । यावत् = जब तक । एतयोः = इन दोनों की । न = नहीं । जीर्यते = जीर्ण होती है । पृथिव्याः = पृथ्वी की । च = और । अग्नेः = अग्नि की । यः = जो । एवम् = इस प्रकार । एताम् = इस । वाचः = वाणी की । विभूतिम् = एश्वर्य को । वेद = जानता है ।

**अनुवाद**— जहाँ तक पृथिवी व्याप्त है, जहाँ तक अग्नि व्याप्त है, वहाँ तक उस (उपासक) का लोक होता है । जो इस प्रकार वाणी के ऐश्वर्य को जानता है, उसका लोक तब तक जीर्ण नहीं होता जब तक इन दोनों पृथिवी और अग्नि का (लोक) जीर्ण नहीं होता ।

**प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्चान्तरिक्षं वा अनुचरन्त्यन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहत्येवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च यावदन्वन्तरिक्षं यावदनु वायुस्तावानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते यावदेतयोर्न जीर्यन्ते ( ते )- ऽन्तरिक्षस्य च वायोश्च य एवमेतां प्राणस्य विभूतिं वेद ॥**

**पदार्थ**— प्राणेन = प्राण के द्वारा । सृष्टौ = उत्पन्न किये गये हैं । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष, पृथिवी और स्वर्ग के बीच का लोक । च = और । वायुः = पवन । अन्त- रिक्षम् अनु = अन्तरिक्ष में से । वै = निश्चयसूचक निपात । चरन्ति = चलते-फिरते हैं । अन्तरिक्षम् अनु = अन्तरिक्ष में से । शृण्वन्ति = सुनते हैं । वायुः = पवन । अस्मै = उपासक के लिए । पुण्यम् = पवित्र । गन्धम् = गन्ध । आवहति = लाता है । एवम् = इस प्रकार । एतौ = ये दोनों । प्राणं पितरम् = प्राणरूप पिता की । परि-चरतः = परिचर्या करते हैं । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष । च = और । वायुः = पवन । यावत् = जहाँ तक । अनु = व्याप्त है । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्ष । यावत् = जहाँ तक । अनु = व्याप्त है । वायुः = पवन । तावान् = वहाँ तक । अस्य = इस (उपासक) की । लोकः = भोगभूमि । भवति = होती है । न = नहीं । अस्य = इस (उपासक) का । तावत् = तब तक । लोकः = भोगभूमि । जीर्यते = शीर्ण होती है । यावत् = जब तक । एतयोः = इन दोनों का । न = नहीं । जीर्यते = शीर्ण होता है । अन्त-रिक्षम् = अन्तरिक्ष का । च = और । वायोः = वायु का । यः = जो । एवम् = इस प्रकार । एताम् = इस । प्राणस्य = प्राण की । विभूतिम् = विभूति को, ऐश्वर्य को । वेद = जानता है ।

**अनुवाद**— अन्तरिक्ष और पवन प्राण के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। अन्तरिक्ष में से लोग चलते हैं और अन्तरिक्ष में से ही सुनते हैं। पवन (उपासक) के लिए पवित्र (उत्तम) गन्ध लाता है। इस प्रकार ये दोनों (अन्तरिक्ष और पवन) प्राणरूप पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक अन्तरिक्ष व्याप्त है और जहाँ तक वायु व्याप्त है वहाँ तक (उपासक) की भोगभूमि होती है। जो उपासक यहाँ वर्णित प्रकार से प्राण की यह विभूति जानता है उसकी भोगभूमि तब तक शीर्ण नहीं होती जब तक अन्तरिक्ष और पवन के व्याप्ति की भूमि शीर्ण न हो जाय।

**चक्षुषा सृष्टौ द्यौश्चाऽऽदित्यश्च द्यौर्हास्मै वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छ-त्यादित्योऽस्य ज्योतिः प्रकाशं करोत्येवमेतौ चक्षुः पितरं परिचरतो द्यौश्चाऽऽदित्यश्च यावदनु द्यौर्यावदन्वादित्यस्तावानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते यावदेतयोर्न जीर्यते दिवश्चाऽऽदित्यस्य च य एवमेतां चक्षुषो विभूतिं वेद ॥**

**पदार्थ**— चक्षुषा = नेत्र के द्वारा। सृष्टौ = उत्पन्न किये गये हैं। द्यौः = स्वर्ग, आकाश। च = और। आदित्यः = सूर्य। द्यौः = स्वर्ग, आकाश। ह = निश्चयसूचक निपात। अस्मै = साधक के लिए। वृष्टिम् = वृष्टि। अन्नाद्यम् = अन्न। सम्प्रयच्छति = देता है। आदित्यः = सूर्य। अस्य = इस (साधक) को। ज्योतिः = तेज, उष्णता। प्रकाशम् = प्रकाश। करोति = करता है, देता है। एवम् = इस प्रकार से। एतौ = ये दोनों। चक्षुः पितरम् = नेत्ररूप पिता को। परिचरतः = सेवा करते हैं। द्यौः = आकाश। च = और। आदित्यः = सूर्य। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त है। द्यौः = स्वर्ग। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त है। आदित्यः = सूर्य। तावान् = वहाँ तक। अस्य = साधक की। लोकः = भोगभूमि। भवति = होती है। न = नहीं। अस्य = साधक की। तावत् = तब तक। लोकः = भोगभूमि। जीर्यते = शीर्ण होती है। यावत् = जब तक। एतयोः = इन दोनों की। न = नहीं। जीर्यते = शीर्ण होती है। दिवः = आकाश की। च = और। आदित्यस्य = सूर्य की। यः = जो। एवम् = इस प्रकार। एताम् = इस। चक्षुषः = नेत्र की। विभूतिम् = विभूति को, ऐश्वर्य को। वेद = जानता है।

**अनुवाद**— आकाश और सूर्य (प्रजापति के) नेत्र द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। आकाश इस (उपासक) की वृष्टि और अन्न देता है। सूर्य उसको उष्णता और प्रकाश देता है। इस प्रकार ये दोनों (आकाश और सूर्य) अपने नेत्र रूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक आकाश और सूर्य की अभिव्याप्ति है वहाँ तक उपासक की भोग-

भूमि है। जब तक आकाश और सूर्य को अभिव्याप्ति का क्षेत्र शीर्ण नहीं होता तब तक इस (उपासक) की, (जो जहाँ वर्णित) नेत्रों की विभूति को जानता है, उसकी भोगीभूमि शीर्ण नहीं होती।

**श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्च चन्द्रमाश्च दिग्भ्यो हैनमायतीँ३दिग्भ्यो विशृणोति चन्द्रमा अस्मै पूर्वपक्षापरपक्षान्विचिनोति पुण्याय कर्मण एवमेते श्रोत्रं पितरं परिचरन्ति दिशश्च चन्द्रमाश्च यावदनु दिशो यावदनु चन्द्रमास्तावानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते यावदेतेषां न जीर्यते दिशां च चन्द्रमसश्च य एवमेतां श्रोत्रस्य विभूतिं वेद ॥**

**पदार्थ**— श्रोत्रेण = कान द्वारा। सृष्टाः = उत्पन्न किये गये हैं। दिशः = दिशाएँ। च = और। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। च = और। दिग्भ्यः = दिशाओं से। ह = निश्चयसूचक निपात। एनम् = इस (उपासक) के पास। आयति = (सेवक और भोग्य वस्तु) आते हैं। ईम् = निश्चयसूचक वैदिक निपात। दिग्भ्यः = दिशाओं से। विशृणोति = सुनता है। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। अस्मै = उपासक को। पूर्वपक्षापरपक्षान् = शुक्ल और कृष्ण पक्षों को। विचिनोति = सम्पन्न करता है। पुण्याय कर्मणे = पवित्र कर्म के लिए। एवम् = इस प्रकार। एते = ये। श्रोत्रं पितरम् = कानरूपी पिता की। परिचरन्ति = सेवा करते हैं। दिशः = दिशाएँ। च = और। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त होती है। दिशः = दिशाएँ। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त होता है। चन्द्रमाः = चन्द्रमा। तावान् = वहाँ तक। अस्य = इस (उपासक) का। लोकः = भोगभूमि। भवति = होती है। न = नहीं। अस्य = उपासक की। तावत् = तब तक। लोकः = भोगभूमि। जीर्यते = शीर्ण होती है। यावत् = जब तक। एतेषाम् = इनका। न = नहीं। जीर्यते = शीर्ण होती है। दिशाम् = दिशाओं का। च = और। चन्द्रमसः = चन्द्रमा का। यः = जो। एवम् = इस प्रकार। एताम् = इस। श्रोत्रस्य = कान की। विभूतिम् = विभूति। ऐश्वर्य को। वेद = जानता है।

**अनुवाद**— दिशाओं और चन्द्रमा को प्रजापति के कानों ने उत्पन्न किया है। दिशाओं से (सेवक और भोग्य वस्तु) इस (उपासक) के पास आते हैं। दिशाओं से ही उपासक (शब्द) सुनता है। चन्द्रमा पवित्र कर्म करने के लिए उपासक के लिए शुक्ल और कृष्ण पक्ष सम्पन्न करता है। इस प्रकार ये (दिशाएँ और चन्द्रमा) अपने श्रोत्ररूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक दिशाएँ और चन्द्रमा व्याप्त हैं वहाँ तक इस

(उपासक) की भोगभूमि है। जो उपासक यहाँ वर्णित कानों की इस विभूति को जानता है उसकी भोगभूमि तब तक शीण नहीं होती जब तक दिशाओं और चन्द्रमा की अभिव्याप्ति का देश नष्ट नहीं हो जाता।

**मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्चाऽऽपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे वरुणोऽस्य प्रजां धर्मेण दाधारैवमेते मनः पितरं परिचरन्त्यापश्च वरुणश्च यावदन्वायो यावदनु वरुणस्तावानस्य लोको भवति नास्य तावल्लोको जीर्यते यावदेतेषां न जीर्यतेऽपां च वरुणस्य च य एवमेतां मनसो विभूतिं वेद ।**

**पदार्थ**— मनसा = मन के द्वारा। सृष्टाः = उत्पन्न किये गये हैं। आपः = जल। च = और। वरुणः = वरुण। आपः = जल। ह = निश्चयसूचक निपात। अस्मै = इस (उपासक) के लिए। श्रद्धाम् = आस्तिक्य को। संनमन्ते = उत्पन्न करते हैं। पुण्याय कर्मणे = पवित्र कर्म के लिए। वरुणः = वरुण। अस्य = इस (उपासक) की। प्रजाम् = प्रजा को। धर्मेण = धर्म से, धर्म में। दाधार = धारण करता है, प्रवृत्त करता है। एवम् = इस प्रकार। एते = ये। मनः पितरम् = मनरूपी पिता की। परिचरन्ति = सेवा करते हैं। आपः = जल। च = और। वरुणः = वरुण। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त हैं। आपः = जल। यावत् = जहाँ तक। अनु = व्याप्त है। वरुणः = वरुण। तावान् = वहाँ तक। अस्य = इस (उपासक) की। लोकः = भोगभूमि। भवति = होती है। न = नहीं। अस्य = इस (उपासक) की। लोकः = भोग- भूमि। तावत् = तब तक। लोकः = भोगभूमि। जीर्यते = शीर्ण होती है। यावत् = जब तक। एतेषाम् = इनकी। न = नहीं। जीर्यते = शीर्ण होती है। अपाम् = जलों की। च = और। वरुणस्य = वरुण की। च = और। यः = जो। एवम् = इस प्रकार। एताम् = इस। मनसः = मन की। विभूतिम् = विभूति को, एश्वर्य को। वेद = जानता है।

**अनुवाद**— जल और वरुण (प्रजापति के) मन के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। जल उपासक के मन में पवित्र कर्म के लिए श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। वरुण उपासक की प्रजा को धर्म में प्रवृत्त करता है। इस प्रकार ये (जल और वरुण) मनरूपी पिता की सेवा करते हैं। जहाँ तक जल और वरुण की व्याप्ति है वहाँ तक उपासक की भोगभूमि होती है। जो उपासक यहाँ वर्णित प्रकार से मन की विभूति को जानता है, उसकी तब तक शीर्ण नहीं होती जब तक जलों और वरुण की अभिव्यक्ति की भूमि नष्ट न हो जाय।

# आत्मतत्त्वविवेचनम्



**मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थाना-दस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥१॥**

**पदार्थ**— मैत्रेयि = हे मैत्रेयि। इति ह = यह। उवाच = कहा। याज्ञवल्क्यः = याज्ञवल्क्य ने। उत् = ऊपर। (गृहस्थाश्रम छोड़कर, परिव्रज्या नाम के दूसरे ऊपर के आश्रम में)। यास्यन् = जाने की इच्छा वाले। वै = अवधारणार्थक निपात। अरे = हे। अहम् = मैं। अस्मात् = इस। स्थानात् = स्थान से। गृहस्थाश्रम से। अस्मि = हूँ। हन्त = हर्षसूचक अव्यय। ते = तुम्हें। अनया = इस। कात्यायन्या = कात्यायनी से। अन्तम् = अलग। करवाणि = करना चाहता हूँ।

**अनुवाद**— याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयि, मैं इस स्थान (गृहस्थाश्रम) को छोड़ कर संन्यास लेना चाहता हूँ। (इसके लिए मैं तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ और (ऐसा करने से पहिले) मैं अपने धन का बटवारा करके तुम्हें कात्यायनी से अलग कर देना चाहता हूँ।

**सा होवाच मैत्रेयी यन्तु म इयम्भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोप-करणवतां जीवितं तथैव ते जीवित ँ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥२॥**

**पदार्थ**— सा = (याज्ञवल्क्य के द्वारा उपर्युक्त प्रकार से कही गई मैत्रेयी) ने। ह = निपात। उवाच = कहा। मैत्रेयी = मैत्रेयी ने। यत् = यदि। नु = वितर्कसूचक निपात। मे = मेरे। इयम् = यह। भगोः = भगवन्। सर्वा = सब। पृथिवी = भूमि। वित्तेन = धन से। पूर्णा स्यात् = भर जाय। कथम् = क्या। तेन = उस (धन) से। (अथवा उस धन से साध्य अग्निहोत्रादि कर्म द्वारा)। अमृता = अमर (अथवा सब दुःखों से मुक्त)। स्याम् = हो जाऊँगी। इति = निपात। न = नहीं। इति = निपात। ह = निपात। उवाच =

कहा। याज्ञवल्क्यः = याज्ञवल्क्य ने। यथा = जैसे। एव = ही। उपकरणवताम् = सब प्रकार के साधन वाले (अथवा धन-सम्पन्न पुरुषों) का। जीवितम् = जीवन। तथा एव = वैसा ही। ते = तुम्हारा। जीवितम् = जीवन। स्यात् = होगा। अमृतत्वस्य = अमृतत्व की (अथवा दुःख से मुक्ति की)। न = नहीं। आशा अस्ति = आशा है। वित्तेन = धन से। इति = निपात।

**अनुवाद**— (याज्ञवल्क्य के द्वारा उपर्युक्त प्रकार से कही गयी) उस (मैत्रेयी) ने कहा कि हे भगवन् क्या समस्त पृथिवी के मेरे धन से भर जाने पर उससे मैं सब दुःखों से मुक्त (अमर) हो जाऊँगी? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ऐसा नहीं होगा। तुम्हारा ज़ीवन वैसा ही होगा जैसा धनिकों का होता है। धन से अमर पद की आशा नहीं है।

**सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्यां यदेव भगवान्वेद तदेव ब्रूहीति ॥३॥**

**पदार्थ**— सा = उस। ह = निपात। उवाच = कहा। मैत्रेयी = मैत्रेयी ने। येन = जिससे। जिस (सांसारिक वैभव से)। अहम् = मैं। न = नहीं। अमृता = अमर। (सब दुःखों से मुक्त)। स्याम् = हो जाऊँ। किम् = क्या। अहम् = मैं। तेन = उससे। कुर्याम् = करूँगी। यद् एव = जो कुछ भी। भगवान् = आप। वेद = जानते हैं। तद् एव = वहीं। मे = मुझे। ब्रूहि = बताइये। इति = निपात।

**अनुवाद**— मैत्रेयी ने कहा कि जिस (धन से) मैं दुःख-मुक्त (अमर) नहीं हो सकती उससे मुझे क्या करना हैं? हे भगवान् आप मुझे वही बतावें जिसे आप (मुक्ति का साधन) समझते हैं।

**स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥४॥**

**पदार्थ**— सः = उसने, ह = निपात। उवाच = कहा। याज्ञवल्क्यः = याज्ञवल्क्य ने। प्रिया = प्यारी। बत् = हर्षसूचक निपात। अरे = हे। नः = हमारी। सती = सती स्त्री। प्रियम् = मीठी बात। भाषसे = बोलती हो। एहि = आवो। आस्व = बैठो। व्याख्यास्यामि = व्याख्या करूँगा। ते = तुमको। व्याचक्षाणस्य = व्याख्याकरने वाले। तू = तो। मे = मेरी (बातों पर)। निदिध्यासस्व = ध्यान दो। इति = निपात।

**अनुवाद**— याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे प्रिये, तुम मीठी बात बोलती हो। आवो। बैठो। मैं व्याख्या करके तुम्हें मुक्ति का साधन समझाऊँगा। व्याख्या करने वाले मेरी बातों पर ध्यान दो।

**स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति; न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति; न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥५॥**

**पदार्थ**— सः = उस (याज्ञवल्क्य) ने । ह = निपात । उवाच = कहा । न = नहीं । वै = प्रसिद्धार्थस्मारक निपात । अरे = हे । पत्युः = पति के । कामाय = प्रयोजन के लिए । पतिः = पति । प्रियः = प्यारा । भवति = होता है । आत्मनः = आत्मा के, अपने । तु = तो, प्रत्युत । कामाय = प्रयोजन के लिए । पतिः = पति । प्रियः = प्रिय । भवति = होता है । न = नहीं । वै = निपात । अरे = हे । जायायै = भार्या के । कामाय = प्रयोजन के लिये । जाया = भार्या । प्रिया = प्यारी । भवति = होती है । आत्मनः = आत्मा के । अपने । तु = निपात । कामाय = प्रयोजन के लिये । जाया = भार्या । प्रिया = प्यारी । भवति = होती है । न = नहीं । व = निपात । अरे = हे । सर्वस्य = सब पदार्थों के । कामाय = प्रयोजन के लिये । सर्वम् = सब कुछ । प्रियम् = प्रिय । भवति = होता है । आत्मनः = आत्मा के, अपने । कामाय = प्रयोजन के लिए । सर्वम् = सब कुछ । प्रियम् = प्रिय । भवति = होता है । आत्मा = आत्मचैतन्य । वै = निपात । अरे = हे । द्रष्टव्यः = प्रत्यक्ष जानने योग्य पदार्थ । श्रोतव्यः = गुरुमुख से सुनना चाहिये । मन्तव्यः = विचार करना चाहिए । निदिध्यासितव्यः = निरन्तर चिन्तन करना चाहिए । मैत्रेयि = हे मैत्रेयि । आत्मनः = आत्मा के, आत्मचैतन्य के । वे = निपात । अरे = हे । दर्शनेन = प्रत्यक्ष दर्शन से । श्रवणेन = गुरुमुख से श्रवण से । मत्या = विचार करने से । विज्ञानेन = नित्य चिन्तन द्वारा जानने से । इदम् = यह । सर्वम् = सब । विदितम् = जाना जाता है ।

**अनुवाद**— याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयि, (पत्नी को) पति उसके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होता प्रत्युत आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होता है । हे मैत्रेयि, (पति को) भार्या उसके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होती, प्रत्युत आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होती है । हे मैत्रेयि, (मनुष्य को) सब पदार्थ उसके प्रयोजन के लिए प्रिय नहीं होते, प्रत्युत आत्मा के प्रयोजन के लिए प्रिय होते है । (संसार में आत्मा ही सर्वोपरि प्रिय पदार्थ है ।) अतः हे मैत्रेयि, आत्मा ही जानने योग्य

पदार्थ है। उसी को सुनना चाहिए, उसी पर विचार करना चाहिए और उसी का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। हे मैत्रेयि, आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और विचार से सब कुछ जाना जाता है।

**भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद; सर्वं तं परादाद्यो-ऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥६॥**

**पदार्थ—** भूतानि = पञ्च महाभूत। तम् = उसको। परा अदुः = दूर रखते हैं। यः = जो। अन्यत्र आत्मनः = आत्मा से अन्यत्र। भूतानि = पञ्च महाभूतों को। वेद = जानता है। सर्वम् = सब कुछ। तम् = उसको। परादात् = दूर रखता है। यः = जो। अन्यत्र आत्मनः = आत्मा से अन्यत्र। सर्वम् = सब कुछ। वेद = जानता है। इदं ब्रह्म = यह ब्रह्मण जाति। इदं क्षत्रम् = यह क्षत्रिय जाति। इमे लोकाः = ये वैश्य और शूद्र। इमे देवाः = ये देव। इमानि भूतानि = ये पञ्च महाभूत। सर्वम् इदम् = यह सब संसार। यत् अयम् आत्मा = जो यह आत्मा है तत्स्वरूप ही है।

**अनुवाद—** जो पञ्च महाभूतों को आत्मा से भिन्न समझता है उसे पञ्च महाभूत दूर रखते हैं; जो (संसार के) सब पदार्थों को आत्मा से भिन्न समझता है उसे सब पदार्थ दूर रखते हैं। ये ब्राह्मण, ये क्षत्रिय, ये वैश्य और शूद्र, ये देव, ये पञ्च महाभूत और यह सब आत्मा ही है।

**स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याँश्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दु-भेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥७॥**

**पदार्थ—** सः = वह। यथा = जैसे। दुन्दुभेः = नगाड़े के। हन्यमानस्य = पीटे जाने वाले। न = नहीं। बाह्यान् = बहिर्भूत, भिन्न कारणों से उत्पन्न होने के कारण परस्पर भिन्न। शब्दान् = शब्दों को। शक्नुयात् = सकता है। ग्रहणाय = ग्रहण करने के लिए। समझने के लिए। दुन्दुभेः = नगाड़े के। ग्रहणेन = जानने से, देखने से। दुन्दुभ्याघातस्य = नगाड़े के पीटने के। वा = अथवा। शब्दः = शब्द। गृहीतः = ग्रहण किया (जाना) जाता है।

**अनुवाद—** जैसे कोई पुरुष नगाड़े के पीटे जाने पर उससे निकलने वाले शब्दों को भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले भिन्न शब्द नहीं समझ सकता। प्रत्युत नगाड़े

को अथवा उसके पीटे जाने को देखकर वह सब शब्दों को नगाड़े के शब्द ही मानता है।

**स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥१०॥**

**पदार्थ—** सः = वह। यथा = जैसे। आर्द्रैधाग्नेः = गीले इन्धन की आग से। अभ्याहितात् = अच्छी तरह प्रज्वलित (जलायी हुई)। पृथक् = नाना प्रकार के। धूमाः = धूम। यह उपलक्षण मात्र है, धूआँ चिनगारियाँ आदि। विनिश्चरन्ति = निकलते हैं। एवम् = इसी प्रकार। वै = निश्चयसूचक निपात। अरे = हे (मैत्रेयि)। अस्य = इस। महतः = बड़े। भूतस्य = परमात्मा के। निश्वसितम् = निश्वसित हैं (अर्थात् उसी से निकलते हैं)। एतत् = यह। ऋग्वेदः = ऋग्वेद। यजुर्वेदः = यजुर्वेद। सामवेदः = सामवेद। अथर्वाङ्गिरसः = अथर्वाङ्गिरस। इतिहासः = इतिहास। पुराणम् = पुराण। विद्या = देवयजन विद्या, शिल्पशास्त्र आदि। उपनिषदः = उपनिषद्। श्लोकाः = (ब्राह्मण ग्रन्थों में आने वाले स्तुतिपरक) श्लोक। सूत्राणि = सूत्र। अनुव्याख्यानानि = इतिहासादि का विस्तृत व्याख्यान। व्याख्यानानि = मन्त्रों का विवरण। अस्य एव = इसी आत्मा के। एतानि = ये सब। निश्वसितानि = निश्वसित हैं।

**अनुवाद—** जैसे अच्छी तरह जलायी हुई गीली लकड़ी की आग से अनेक प्रकार का धूम और चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि, यह सब उसी परमात्मा का निश्वसित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराणं, विद्याएँ, उपनिषद्, स्तुति श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान सब उसी परमात्मा से निकले हैं।

**स यथा सर्वासामपाᳬ समुद्र एकायनमेवᳬसङ्कल्पानां मन एकायनमेवᳬसर्वासां विद्यानाᳬ हृदयमेकायनमेवᳬ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥११॥**

**पदार्थ—** सः = वह। यथा = जैसे। सर्वासाम् = सब। अपाम् = जलों का। समुद्रः = समुद्र। एकायनम् = एकमात्र गन्तव्यस्थान। एवम् = इसी प्रकार। सर्वेषाम् = सब। संकल्पानाम् = संकल्प-विकल्पों का। मनः = मन। एकायनम् = एकमात्र गन्तव्यस्थान। एवम् = इसी प्रकार। सर्वाषाम् = सब। विद्यानाम् = विद्याओं का। हृदयम् = हृदय। एकायनम् = एकमात्र गन्तव्यस्थान। एवम् = इसी प्रकार। सर्वेषाम् =

सब। वेदानाम् = वेदों का। वाक् = वाणी। एकायनम् = एकमात्र गन्तव्यस्थान

**अनुवाद—** वह (जगत् का ब्रह्मस्वरूप) वैसा ही है जैसे समुद्र सब जलों का एकमात्र गन्तव्यस्थान है; इसी प्रकार मन संकल्प-विकल्पों का एकमात्र स्थान है; इसी प्रकार हृदय सब विद्याओं का एकमात्र स्थान है; और इसी प्रकार वाणी सब वेदों का एकमात्र स्थान है।

**स यथां सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नाहास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥१२॥**

**पदार्थ—** सः = वह। यथा = जैसे। सैन्धवखिल्यः = सेंधा नमक का ढोंका। उदके = पानी में। प्रास्तः = डाला गया। उदकम् अनु = पानी में। विलीयेत = घुल जाय। न = नहीं। ह = उक्ति पर जोर देने वाला निपात। अस्य = इसका। उद्-ग्रहणाय = निकालने के लिए, अलग करने लिए। एव = ही। स्यात् = संभव होता है। यतो यतः = जहाँ जहाँ से। तु = तो। आददीत = कोई ले। लवणम् = नमकीन पानी। एव = ही। एवम् = इसी तरह। वै = निश्चयबोधक निपात। अरे = हे (मैत्रेयि)। इदम् = यह। महद्भूतम् = परमात्मा। अनन्तम् = अनंन्त। अपारम् = अपार। विज्ञान-घनः = विशुद्ध विज्ञान। एव = ही। एतेभ्य; = इन। भूतेभ्यः = पञ्च महाभूतों से, पञ्च महाभूतों का बना शरीर धारण करके। समुत्थाय = एक भिन्न पुरुष के रूप में प्रकट होकर। तानि एव अनु = उन्हीं के अनुसार, उन्हीं पञ्च महाभूतों के विनष्ट होने पर, विनश्यति = अपना पृथक् स्वरूप छोड़कर अपनी पूर्वावस्था में चला जाता है। न = नहीं। प्रेत्य = शरीर छोड़ने पर। संज्ञा = पृथक् नाम, पृथक् सत्ता। अस्ति = है। अरे = हे (मैत्रेयि), ब्रवीमि = कहता हूँ। इति = निपात। ह = निपात। उवाच = कहा। याज्ञ-वल्क्यः = याज्ञवल्क्य ने।

**अनुवाद—** याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि जैसे नमक का ढोंका पानी में डालने पर उस में घुल जाता है; उसे कोई पानी से अलग नहीं कर सकता; जहाँ-तहाँ से लिया गया, नमक का पानी ही हाथ में आता है; ढोंके का पता नहीं चलता। इसी प्रकार हे (मैत्रेयि), यह अनन्त अपार परमात्मा, जो शुद्ध विज्ञान स्वरूप है, पञ्च

महाभूतों का बना शरीर धारण करके पृथक् पुरुष के रूप में प्रकट होता है, और उनके नष्ट होने पर पुनः अपने पूर्वरूप में आ जाता है। शरीर छोड़ने से बाद इसकी पृथक् रूप में सत्ता नहीं रह जाती।

**सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥१३॥**

**पदार्थ**— सा = उसने। ह = निपात। उवाच = कहा। मैत्रेयी = मैत्रेयी ने। अत्र एव = यहाँ ही। मा = मुझे। भगवान् = आपने। अमूमुहत् = व्यामोह में ढाल दिया है। भ्रम में डाल दिया है। न = नहीं। प्रेत्य = शरीर छोड़ने पर, जीवभाव के तत्त्वों के नष्ट होने पर। संज्ञा = नाम या ज्ञान। अस्ति = है, रहती है। इति = निपात। सः = उसने। ह = निपात। उवाच = कहा। याज्ञवल्क्यः = याज्ञवल्क्य ने। न = नहीं। वै = निश्चयबोधक निपात। अरे = हे मैत्रेयि। अहम् = मैं। मोहम् = व्यामोह में डालने वाली बात, भ्रम में डालने वाली बात। ब्रवीमि = कहता हूँ। अलम् = पर्याप्त है। वै = निश्चयबोधक निपात। अरे = हे। इदम् = यह (मेरा कहा हुआ)। विज्ञानाय = तत्त्व समझने के लिए।

**अनुवाद**— मैत्रेयी ने कहा कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कह कर आपने मुझे भ्रम में डाल दिया है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि हे मैत्रेयि! मैं तुम्हें भ्रम में डालने वाली बात नहीं कह रहा हूँ। अरे ! जो मैं कह रहा हूँ यह तत्त्वज्ञान के लिए पर्याप्त है।

**विशेष**— मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य के 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' वाक्य में संज्ञा शब्द का अर्थ गलत समझ लिया था। इसी से उसे भ्रम हो गया। उसने 'संज्ञा' शब्द का अर्थ 'नाम' समझा। अतः उसे याज्ञवल्क्य के वाक्य परस्पर विरोधी प्रतीत हुए। एक ओर तो परमात्मा को नित्य, अनन्त, अपार, विज्ञानघन कहना और दूसरी तरफ उसी को शरीर छूट जाने पर संज्ञाभाव वाला (जिसका नाम भी नहीं रह जाता या जिसे ज्ञान नहीं रह जाता) कहना, ये बातें परस्पर विरोधी हैं। याज्ञवल्क्य ने 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग 'पृथक् सत्ता' अर्थ में किया है। अतः उनका कहना ठीक है। जीवभाव के कारणभूत तत्त्वों के नष्ट हो जाने पर जीव की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। वह अपनी पूर्व की अनादि, अनन्त, विज्ञानघन परमात्मा की स्थिति में आ जाता है।

**यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येद्येनेद-**

**ऽसर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥१४॥**

**पदार्थ—** यत्र = जहां या जब। हि = निपात। द्वैतमिव = द्वैत के समान, अनेकता का सा भाव। भवति = होता है। तत् = वहां या तब। इतरः = दूसरा। इतरम् = दूसरे को। पश्यति = देखता हैं। यत्र = जहां, जब। वै = निपात। अस्य = किसी मनुष्य के लिए। सर्वम् = सब कुछ। आत्मा एव = आत्मा ही। अभूत् = हो गया, हो जाता है। तत् = वहां, तब। केन = किससे। कम् = किसको। जिघ्रेत् = सूंघे। तत् = वहां, तब। केन = किससे। कम् = किसको। पश्येत् = देखे। येन = जिससे। इदम् = यह। सर्वम् = सब। विज्ञानाति = जानता है। तम् = उसको। केन = किससे। विजानीयात् = जाने। विज्ञातारम् = जानने वाले को। अरे = हे मैत्रेयि। केन = किससे। विजानीयात् = जाने। इति = समाप्तिसूचक निपात।

**अनुवाद—** जहां द्वैत का सा भाव होता है वहां दूसरा दूसरे को सूंघता है; वहां दूसरा दूसरे को देखता है; जहां किसी मनुष्य के लिए सब आत्मस्वरूप हो जाता है, वहां किससे किसको सूंघा जाय? वहां किससे किसको देखा जाय? जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाना जाय? हे मैत्रेयि, जानने वाले को किससे जाना जाय?

## पुरुष-स्वरूप

(श्वेताश्वरोपनिषद् ३.७.२१)

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥७॥

**पदार्थ**— ततः = हिरण्यगर्भ से । परम् = उत्कृष्ट । ब्रह्म = परमेश्वर । परम् = परम। बृहन्तम् = व्यापक । यथानिकायम् = शरीर के अनुसार । सर्वभूतेषु = सभी पदार्थों में । गूढम् = छिपा है । विश्वस्य = संसार का । एकम् = एक । परिवेष्टितारम् = सबको व्याप्त करके रहने वाले । ईशम् = परमेश्वर को । तुम = उसको । ज्ञात्वा = जानकर । अमृताः = अमर, मुक्त । भवन्ति = होते हैं ।

**अनुवाद**— उस (पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ) से उत्कृष्ट परमेश्वर है। वह सर्वव्यापक है। वह सब पदार्थों में उनके शरीर के अनुसार छिपा है। वही अकेला संसार को व्याप्त करके रहता है। उसी (परमेश्वर) के यथार्थ स्वरूप को जानकर प्राणी मुक्त होते हैं।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

**पदार्थ**— वेद = जानता हूँ । अहम् = मैं । एनम् = इस । पुरुषम् = पूर्ण पुरुष को । महान्तम् = बड़े । आदित्यवर्णम् = सूर्य के समान प्रकाशमान । तमसः = अज्ञान से, अविद्या से । परस्तात् = परे, अलग । तम् = उसको । एव = ही । विदित्वा = जानकर । अति एति = पार करता है । मृत्युम् = जन्म-मरण के दुःख को, सांसारिक बन्धन को । न = नहीं । अन्यः = दूसरा । पन्थाः = मार्ग । विद्यते = है । अयनाय = परम पद प्राप्ति के लिए ।

**अनुवाद**— मैं इस महान् और आदित्य के समान प्रकाशमान पूर्ण पुरुष को माया से भिन्न जानता हूँ। उसी को जानकर प्राणी मृत्यु को पार करता है। मोक्ष के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

**यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्**
**यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।**
**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-**
**स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥९॥**

**पदार्थ**— यस्मात् = जिससे। परम् = भिन्न। न = नहीं। अपरम् = दूसरा। किंचित् = कुछ भी। यस्मात् = जिससे। न = नहीं। अणीयः = छोटा (सूक्ष्म)। न = नहीं। ज्यायः = बड़ा। अस्ति = है। कश्चित् = कोई। वृक्षः = पेड़। इव = समान। स्तब्धः = निश्चल। दिवि = अपने प्रकाश में। तिष्ठति = रहता है। एकः = अकेला। तेन = उसी से। इदम् = यह सब। पूर्णम् = व्याप्त है। पुरुषेण = पूर्ण पुरुष के द्वारा। सर्वम् = सब।

**अनुवाद**— जिससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है; जिससे न कोई सूक्ष्म है और न कोई बड़ा है; वह वृक्ष के समान निश्चल अकेला अपने प्रकाश में स्थित है, उसी पूर्ण पुरुष के द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है।

**ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।**
**य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवा पियन्ति ॥१०॥**

**पदार्थ**— ततः = उससे भी, परमेश्वर से भी। यत् = जो। उत्तरतरम् = अधिक उत्कृष्ट। तत् = वह, शुद्ध, ब्रह्म। अरूपम् = रूपरहित। अनामयम् = आध्यात्मिकादि तापत्रय-रहित। ये = जो। एतत् = यह। विदुः = जानते हैं। अमृता; = अमर, मुक्त। ते = वे। भवन्ति = होते हैं। अर्थ = पक्षान्तर सूचक निपात, और। इतरे = दूसरे (जो ब्रह्म को यथार्थरूप में नहीं जानते)। दुःखम् = दुःख। एव = ही। अपि यन्ति = प्राप्त करते हैं।

**अनुवाद**— उस (परमेश्वर) से भी जो अधिक उत्कृष्ट है वह (शुद्ध ब्रह्म रूप-रहित और तापत्रय-रहित है)। जो यह जानते हैं वे मुक्त होते हैं और जो यह नहीं जानते वे दुःख प्राप्त करते हैं।

**सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।**
**सर्वव्यापी स भगवान्स्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥११॥**

**पदार्थ—** सर्वाननशिरोग्रीवः = सब मुख, सिर और गर्दनों वाला। सर्वभूत गुहाशयः = सब स्थावर और जङ्गम पदार्थों की बुद्धि (अथवा हृदय) में निवास करने वाला। सर्वव्यापी = सर्वव्यापक। सः = वह (ब्रह्म)। भगवान् = सब धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य यश और श्री वाला। तस्मात् = इसलिए। सर्वगतः = सर्वत्र विद्यमान। शिवः = मङ्गलमय।

**अनुवाद—** (वह) संसार में दृश्यमान सब मुख, सिर और गर्दनों वाला है। (वह) सब स्थावर और जङ्गम पदार्थों की बुद्धि (अथवा हृदय) में निवास करता है। वह सर्वव्यापी और सब धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश और श्री का समष्टि स्वरूप है। इसलिऐ वह सर्वत्र विद्यमान और मङ्गलमय है।

**महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः ।**
**सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥**

**पदार्थ—** महान् = बड़ा। प्रभुः = समर्थ। वै = निश्चयसूचक अव्यय। पुरुषः = पूर्ण पुरुष। सत्त्वस्य = अन्तःकरण का। एषः = यह। प्रवर्तकः = प्रेरित करने वाला। सुनिर्मलाम् = सुनिर्मल। इमाम् = इस। प्राप्तिम् = परमपद प्राप्ति। ईशानः = सब का नियन्ता। ज्योतिः = स्वयंप्रकाशमय ज्योति-स्वरूप। अव्ययः = व्ययरहित, अविनाशी।

**अनुवाद—** पूर्ण पुरुष (ब्रह्म) सबसे बड़ा और समर्थ है। वह सुनिर्मल परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण को प्रेरित करता है। वह सब का नियन्ता और अविनाशी है।

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।**
**हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥**

**पदार्थ—** अङ्गुष्ठमात्रः = अङ्गुष्ठ परिमाण वाला। पुरुषः = पूर्ण पुरुष। अन्तरात्मा = सब का अन्तरात्मभूत। सदा = सर्वदा। जनानाम् = प्राणियों के। हृदये = हृदय में। संनिविष्टः = रहता है। हृदा = हृदय के द्वारा। मनीषा = बुद्धि के द्वारा। मनसा = मन के द्वारा। अभिक्लृप्तः = अभिरक्षित है। य = जो। एतत् = यह। विदुः = जानते हैं। अमृताः = अमर। ते = वे। भवन्ति = होते हैं।

**अनुवाद**— अङ्गुष्ठ परिमाण वाला अन्तरात्मा पूर्णपुरुष (ब्रह्म) सब प्राणियों के हृदय में रहता है। वह हृदय, बुद्धि और मन के द्वारा रक्षित है। जो यह जानते हैं वे अमर (मुक्त) होते हैं।

**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् ।**

**स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥**

**पदार्थ**— सहस्त्रशीर्षा = हजारों सिर वाला। पुरुषः = पूर्णपुरुष। सहस्त्राक्षः = हजारों नेत्रवाला। सहस्त्रपात् = हजारों पैरवाला। सः = वह (ब्रह्म)। भूमिम् = पृथिवी को। विश्वतः = सर्वत्र। वृत्वा = व्यांप्त करके। अत्यतिष्ठत् = बचा रहता है। दशा-ङ्गुलम् = दस अङ्गुल।

**अनुवाद**— पूर्ण पुरुष (ब्रह्म) हजारों सिर वाला, हजारों नेत्र वाला और हजारों पैर वाला है। वह पृथिवी को सर्वत्र व्याप्त करके दस अङ्गुल बचा रहता है (अर्थात् वह अनन्त और अपार है)।

**पुरुष एवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।**

**उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥**

**पदार्थ**— पुरुषः = पूर्ण पुरुष (ब्रह्म)। एव = ही। इदम् = यह। सर्वम् = सब। यत् = जो। भूतम् = हुआ है। यत् = जो। च = और। भव्यम् = भविष्य में होने वाला है। उत् = और। अमृतत्वस्य = अमृतत्व का, मोक्ष का। ईशानः = ईश्वर। यत् = जो। अन्नेन = अन्न से। अतिरोहति = बढ़ता है।

**अनुवाद**— इस संसार का भूत, भविष्य, वर्तमान वस्तुजात सब ब्रह्म ही है। अमरत्व (मोक्ष) और अन्न से बढ़ने वाले सब पदार्थों (अर्थात् संसार) का वह ही ईश्वर है।

**सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।**

**सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥**

**पदार्थ**— सर्वतः पाणिपादम् = सर्वत्र, हाथ और पैर वाला। सर्वतोऽक्षिशिरो-मुखम् = सर्वत्र नेत्र, सिर और मुह वाला। सर्वतःश्रुतिमत् = सर्वत्र कान वाला। लोके = संसार में। सर्वम् = सब। आवृत्य = व्याप्त करके। तिष्ठति = रहता है।

**अनुवाद**— ब्रह्म सर्वत्र हाथ और पैर वाला है। वह सर्वत्र नेत्र, सिर और मुह वाला है। उसके कान सर्वत्र हैं। वह संसार में सब कुछ व्याप्त करके रहता है।

**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।**

**सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥**

**पदार्थ—** सर्वेन्द्रियगुणाभासम् = जिसमें सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान रहता है। सर्वेन्द्रिविवर्जितम् = जो सब इन्द्रियों से रहित है । सर्वस्य = सबका । प्रभुम् = स्वामी । ईशानम् = नियन्ता । सर्वस्य = सबका । शरणम् = रक्षक । बृहत् = बड़ा, अनन्त ।

**अनुवाद—** सब इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयज्ञान जिसमें रहता है, जो सब इन्द्रियों से रहित है, जो सबका स्वामी और नियन्ता है, वह अनन्त ब्रह्म सबका शरण है ।

**नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः ।**

**वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥**

**पदार्थ—** नवद्वारे = नौ द्वारों वाले । पुरे = शरीर में । देही = जीवात्मा । हंसः = परमात्मा । लेलायते = चलता है । बहि; = बाहर । वशी = नियन्ता । सर्वस्य = सबका । लोकस्य = संसार का । स्थावरस्य = स्थावर का । चरस्य च = और जङ्गम का ।

**अनुवाद—** नौ द्वारों वाले शरीर में जीवात्मा के रूप में रहने वाला परमात्मा विषय-ग्रहण के लिए बाहर चलता है (प्रवृत्त होता है) । वस्तुतः, वह स्थावर और जङ्गम जगत् का नियन्ता है ।

**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।**

**स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥**

**पदार्थ—** अपाणिपादः = जिसे हाथ और पैर नहीं है, हाथ और पैर से रहित । जवनः = दूर जाने वाला अथवा वेगवान् । ग्रहीता = पकड़ने वाला । पश्यति = देखता है । अचक्षु; = बिना आंख वाला । स; = वह । शृणोति = सुनता है । अकर्णः = बिना कान वाला । सः = वह । वेत्ति = जानता है । वेद्यम् = जानने योग्य वस्तु । न = नहीं । च = और । तस्य = उसका । अस्ति = है । वेत्ता = जानने वाला । तम् = उसको । आहुः = कहते हैं । अग्र्यम् = श्रेष्ठ । पुरुषम् = पूर्ण पुरुष । महान्तम् = महान् ।

**अनुवाद—** हाथ और पैर न होने पर भी वह पकड़ता है और वेग से दूर जाता है । आँखें न रहने पर भी वह देखता है । कान न रहने पर भी वह सुनता है । वह जानने योग्य सब पदार्थों को जानता है, परन्तु उसे जानने वाला कोई नहीं है । उसे

(ज्ञानी लोग) श्रेष्ठ, महान्, पूर्ण पुरुष कहते हैं।

**अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।**
**तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥**

**पदार्थ**— अणो; = छोटे (सूक्ष्म) से। अणीयान् = (सूक्ष्म) छोटा। महत; = बड़े से। महीयान् = बड़ा। आत्मा = परमात्मा। गुहायाम् = अन्त:करण में, सूक्ष्म शरीर में। निहित: = (जीवात्मा के रूप में) पड़ा है। अस्य = इसके। जन्तो: = प्राणी के। तम् = उसके। अक्रतुम् = विषय-भोग के संकल्प से रहित। पश्यति = देखता है। वीतशोक: = माया के बन्धन से मुक्त पुरुष। धातु: = परमेश्वर की। प्रसादात् = प्रसन्नता से, कृपा से। महिमानम् = बड़े, सर्वव्यापी। ईशम् = नियन्ता को।

**अनुवाद**— परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और बड़े से भी बड़ा है। वह प्राणियों के हृदय में (अथवा अन्त:करण अथवा सूक्ष्म शरीर में) रहता है। परमात्मा की कृपा से माया के बन्धन से मुक्त पुरुष उस विषयभोग के संकल्प से रहित, महान् जगन्नियन्ता का दर्शन करता है।

**वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।**
**जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥**

**पदार्थ**— वेद = जानता हूँ। अहम् = मैं। एतम् = इस। अजरम् = जरारहित। पुराणम् = पुरातन। सर्वात्मानम् = सबके आत्मभूत। सर्वगतम् = सब में रहने वाले। विभुत्वात् = व्यापक होने के कारण। जन्मनिरोध = उत्पत्ति का अभाव। प्रवदन्ति = कहते हैं। यस्य = जिसके। ब्रह्मवादिन: = ब्रह्मवादी। ब्रह्मज्ञानी। हि = निश्चयसूचक निपात। प्रवदन्ति = कहते हैं। नित्यम् = नित्य।

**अनुवाद**— मैं इस अजर, पुरातन, सर्वात्मा और विभु होने के कारण सर्वान्तर्यामी परमात्मा को जानता हूँ। ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि इसका जन्म नहीं होता; यह नित्य है।

# परिशिष्ट

# परिशिष्ट-१

## वैदिक-ध्वनियाँ

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में कुल अधोलिखित वर्णों की सत्ता प्राप्त होती है।

**स्वर**— अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ऋ३, ऌ, ॡ, ॡ३; ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

**व्यञ्जन**— क्, ख्, ग्, घ्, ङ् (कवर्ण)
च्, छ्, ज्, झ्, ञ् (चवर्ग)
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् (टवर्ग)
त्, थ्, द्, ध्, न् (तवर्ग)
प्, फ्, ब्, भ्, म् (पवर्ग)

य् र् ल् व् (अन्तस्थ) श् ष् स् ह् (ऊष्म)ᳵकᳵख (जिह्वामूलीय)ᳶप, ᳶफ (उपध्मानीय) अं (अनुस्वार) अँ (अनुनासिक) कँ, खँ, गँ, घँ, (यम)। स्वरभक्ति; ळ्, ळ्ह (उत्क्षिप्त मूर्धन्य) अः (विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य)।

उपर्युक्त ध्वनियों का परिगणन प्रातिशाख्यों के आधार पर किया गया है। इनमें उन सभी ध्वनियों की गणना की गयी है जो किसी भी वैदिक ग्रन्थ में ध्वनि के रूप में उच्चारित होती हैं। 'अ' से औ३ तक २३ स्वर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। व्यञ्जनों में क् से म् तक २५ वर्ण 'स्पर्श', य् से व् तक चार वर्ण 'अन्तस्था', श् से ह् तक चार वर्ण 'ऊष्म', तथा इसी क्रम में दो 'जिह्वामूलीय', एक 'अनुनासिक', चार 'यम' एक 'स्वरभक्ति' (जिसका कोई लेखन-चिह्न नहीं होता) है।

'ळ्' तथा 'ळ्ह्' ये दोनों वर्ण लौकिक संस्कृत भाषा में नहीं पाये जाते; परन्तु वैदिक भाषा में इनकी सत्ता है। आचार्य वेदमित्र के अनुसार जब दो स्वर-वर्णों के मध्य मे 'ड्' का उच्चारण किया जाता है तब वही 'ड्' 'ळ्' का रूप ग्रहण कर लेता है तथा जब 'ढ्' वर्ण दो स्वरों के मध्य उच्चारित होता है तब 'ळ्ह्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

**यम ध्वनियाँ**— जब अपञ्चमस्पर्श के बाद पञ्चमस्पर्श आता है, तब दोनों ध्वनियों के मध्य अपञ्चमस्पर्श से प्रभावित एक अतिरिक्त अनुनासिक ध्वनि का आगम हो जाता है, इसे 'यम' कहते हैं। अनुनासिक स्पर्श-वर्णों की संख्या २० है अतः

यमध्वनियाँ भी बीस होती हैं जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है– कँ् खँ् गँ् और घँ्। कँ् अघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (कँ् चँ् टँ् तँ् पँ्) का, खँ् अघोषमहाप्राण यमध्वनियों (खँ् छँ् ठँ् पँ् फँ्) का, गँ् सघोष अल्पप्राण यमध्वनियों (गँ् जँ् ढँ् दँ् बँ्) का तथा घँ् सघोष महाप्राण यमध्वनियों (घँ् झँ् ढँ् धँ् मँ्) का प्रतिनिधित्व करता है। जैसे पलिक्नी = पलिक्कँ्नीं, जघ्नतुः = 'जघ्घँ्नतुः'। यहाँ पर 'कँ्' तथा 'घँ्' ध्वनियाँ अतिरिक्त आगम स्वरूप उच्चरित होती हैं, यही ध्वनियाँ 'यम' कहलाती हैं।

**अघोष एवं सघोष ध्वनियाँ**— ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अनुसार स्पर्श व्यञ्जनों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय व्यञ्जन हकार व्यतिरिक्त ऊष्म अघोष हैं तथा शेष व्यञ्जन और सभी स्वर ध्वनियाँ सघोष हैं।

**अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियाँ**— प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण तथा य्, व्, र्, ल् अल्पप्राण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यञ्जन महाप्राण कहलाते हैं।

**जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय**— 'क' तथा 'ख' वर्णों के पूर्व यदि विसर्ग (:) का उच्चारण होता है, तब विसर्ग जिह्वामूलीय कहलाता है। तथा 'प' एवं 'फ' ध्वनियों से पूर्व यदि विसर्ग का उच्चारण होता है तब विसर्ग उपध्मानीय कहलाता है। इन ध्वनियों को इस प्रकार लिखने की परम्परा प्राचीनकाल में थी, जो अब प्रायः लुप्त हो गयी है— 'रामः करोति', 'रामः खादति में, क, ख जिह्वामूलीय तथा सः पठति, वृक्षः फलति में, प, फ उपध्मानीय हैं। ध्यातव्य है कि जिह्वामूलीय तथा उपध्यानीय संज्ञाएँ विसर्ग ध्वनि की ही होती हैं जिन्हें प्राचीन ग्रंथों में ᳵ के रूप में प्रदर्शित करने की प्रथा थी।

**स्वरभक्ति**— स्वर से बाद 'र्' या 'ल्' वर्ण होने पर तथा उन रेफ और लकार से बाद में ऊष्म-वर्ण होने पर 'र्' या 'ल्' तथा ऊष्म वर्ण के मध्य एक अतिरिक्त स्वर-ध्वनि का आगम होता है। यह आगम-ध्वनि 'र्' के बाद 'ऋ' के सदृश तथा 'ल्' के बाद 'ऌ' के सदृश श्रुतिगोचर होती है। प्रायः ऊष्म वर्णों में हकार एवं शकार बाद में होने पर ही स्वरभक्ति के उदाहरण वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे कर्हि = (कर्ऋहि) शतवल्शः = (शतवल्ऌशः)। यहाँ पर 'ऋ' तथा 'ऌ' ध्वनियाँ स्वरभक्ति के रूप में आयी हुई हैं।

**स्वर ध्वनियों के भेद**— स्वर वर्ण दो प्रकार के होते हैं—

**१. समानाक्षर**— अ, इ, उ, ऋ एवं ऌ स्वर अपने सभी भेदों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) सहित समानाक्षर कहलाते हैं।

**२. सन्ध्यक्षर**— ए, ओ, ऐ, और औ स्वर अपने सभी (दीर्घ एवं प्लुत) भेदों

सहित सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने के कारण ये सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं।   अ + इ = ए, अ + उ = ओ, अ + ए = ऐ तथा अ + ओ = औ।

**काल के आधार पर स्वरों के भेद**— मात्रा (उच्चारण में लगने वाले काल) की दृष्टि से स्वर तीन प्रकार के होते हैं—

१. ह्रस्व – जिनके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है, जैसे– अ, इ, उ, ऋ,ऌ।

२. दीर्घ – जिनके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता हैं, जैसे– आ, ई, ऊ, ॡ, ए, ओ, ऐ, औ।

३. प्लुत – जिनके उच्चारण में कम से कम ३ मात्रा का समय लगता है, जैसे– आ३, ई३, ऊ३, ऋ३, ऌ३, ए३, औ३। प्लुत स्वर को दीर्घ स्वर से बाद '३' संख्या लिखकर प्रदर्शित किया जाता हैं।

**स्थान के आधार पर ध्वनियों का विभाजन**—

१. कण्ठ्य— सभी प्रकार के अ, हकार तथा विसर्जनीय कण्ठ से उच्चारित होने के कारण कण्ठ्य क़हलाते हैं। कतिपय आचार्य हकार तथा विसर्जनीय को औरस्य (उरस् से उच्चारित) मानते हैं।

२. जिह्वामूलीय— ऋ०प्रा० के अनुसार सभी प्रकार के ऋ ऌ ᳵक ᳵख तथा कवर्ग के स्पर्श जिह्वा मूल से उच्चरित होने से जिह्वामूलीय हैं।

३. तालव्य— सभी प्रकार के इ, ए, ऐ यकार, शकार तथा चवर्ग वाले स्पर्श तालुस्थान से उच्चरित होने के कारण तालव्य कहे जाते हैं।

४. मूर्धन्य— टवर्गीय स्पर्श, षकार, ळ, ह्ळ मूर्धा से उच्चरित होने के कारण मूर्धन्य कहलाते हैं।

५. दन्तमूलीय— तवर्ग वाले स्पर्श, स्, र्, ल ये दन्तमूल से उच्चरित होने के कारण दन्त्य या दन्तमूलीय है।

६. ओष्ठ्य— सभी प्रकार वाले उकार, ओकार, औकार, पवर्गीय स्पर्श, वकार तथा ᳵप् ᳵफ् ओष्ठस्थान से उच्चारित होने के कारण ओष्ठ्य कहलाते हैं।

७. नासिका— नासिक्य तथा यम ध्वनियाँ नासिका से उच्चरित होने से नासिक्य कहलाती हैं।

८. अनुनासिक— मुख और नासिका दोनों से उच्चरित होने वाली ङ् ञ् ण्, न् म् अनुनासिक कहलाते हैं।

# परिशिष्ट- २

## वैदिक सन्धियाँ

वैदिकभाषा में सन्धियाँ प्रायः लौकिकसंस्कृत की सन्धियों के सदृश ही हैं, किन्तु वेदों में यत्र-तत्र कतिपय विभिन्नताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में सन्धियों के नाम लौकिकभाषा की सन्धियों से भिन्न हैं। यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है—

**प्रश्लिष्ट सन्धि**— लौकिकभाषा की स्वर-सन्धियों में दीर्घ, 'गुण' तथा 'वृद्धि' के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'प्रश्लिष्ट' नाम दिया गया है। इसमें दो स्वर मिलकर एक ही में शिलष्ट हो जाते हैं। अर्थात् दोनों में से किसी एक स्वर के दूसरा साथ चिपक जाता हैं। 'अकः सवर्णे दीर्घः'; 'आद् गुणः' तथा 'वृद्धिरेचि' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ— अश्व + अजनिः = अश्वाजनिः, हि + ईमिद्धः = हीमिद्धः, मधु + उदकम् = मधूदकम्, आ + इन्द्रः = एन्द्रः, एतायाम + उप = एतायामोप, आ + एनम् = ऐनम्, पर + ऐत = परैत, यत्र + ओषधीः = यत्रौषधीः, प्र + औक्षन् = प्रौक्षन् इत्यादि।

**क्षैप्रसन्धि**— लौकिकभाषा की 'यण्' सन्धि के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'क्षैप्र' नाम दिया गया है। इसमें इ, उ, ऋ, ऌ के बाद असवर्ण (इ, उ, ऋ,ऌ के अतिरिक्त अन्य स्वर आने पर इ को य्, उ को व्, ऋ को र् तथा ऌ को ल् हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त स्वरवर्णों के दीर्घ रूपों को भी उक्त आदेश समझना चाहिए। इस सन्धि में सन्धि होने पर पहले की अपेक्षा उच्चारण में कुछ 'क्षिप्रता' आ जाती है, अतः इसे 'क्षैप्र' कहा जाता है। 'इको यणचि' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ- अभि + 'आर्षेयम् = अभ्यार्षेयम्, अनु + अत्र = अन्वत्र। उपर्युक्त उदाहरणों में 'अभि' की इकार के बाद 'आ' स्वर आने पर 'इ' को 'य्' आदेश हो गया है, जो 'इ' की अपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है। इसी प्रकार 'अनु' के उकार के बाद 'अत्र' का अकार आने से 'उ' को 'व्' आदेश हुआ है, जो 'उ' की उपेक्षा क्षिप्र = शीघ्र उच्चरित हो जाता है।

**अभिनिहित सन्धि**— लौकिकसंस्कृत की 'पूर्वरूप' सन्धि के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'अभिनिहित' नाम दिया गया है। इसमें किसी पद या पाद के अन्त में

'ए' अथवा 'ओ' हो तथा परवर्ती पद अथवा पाद के आदि में 'अ' हो, तब वह 'अ' पूर्ववर्ती 'ए' या 'ओ' के साथ मिलकर एकाकार हो जाता है। लौकिकसंस्कृत के 'एङ्ः पदान्तादति' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग मे आती है। उदाहरणार्थ– सूनवे + अग्ने = सूनवेऽग्ने, रथेभ्यो + अग्ने = रथेभ्योऽग्ने, गावो + अभितः = गावोऽभितः इत्यादि।

**भुग्न सन्धि**— लौकिकसंस्कृत की 'अयादिचतुष्टय' या 'अयादि' सन्धि को ऋग्वेद प्रातिशाख्य में 'भुग्न' नाम दिया गया है। इसमें 'ओ' अथवा 'औ' के बाद अनोष्ठ्य स्वर होने पर 'ओ' के स्थान पर 'अव्' तथा 'औ' के स्थान पर 'आव्' हो जाता है। भुग्न का अर्थ 'बँट जाना' होता है। इस सन्धि में एक वर्ण 'ओ' बँटकर दो वर्णों 'अव्' में तथा 'औ' बँटकर दो वर्णों 'आव्' में परिवर्तित हो जाते हैं। लौकिक-भाषा के 'एचोऽयवायावः' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ इसी वर्ग में आती हैं। उदाहरणार्थ– वायो + आ याहि = वायवा याहि, तौ + इन्द्राग्नी = ताविन्द्राग्नी। इन उदाहरणों में ओकार तथा औकार क्रमशः 'अव्' तथा 'आव्' में परिवर्तित हो गए हैं।

**उद्ग्राह सन्धि**— लौकिकसंस्कृत के 'एचोऽयवायावः' तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियाँ ऋक्प्रातिशाख्य में 'उद्ग्राह' सन्धि के नाम से कही गयी हैं। इसमें एकार या ओकार के बाद स्वर होने पर सर्वप्रथम एकार को 'अय्' तथा ओकार को 'अव्' आदेश होते हैं, तत्पश्चात् 'य्' तथा 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अग्ने + इन्द्रः = अग्न् अय् इन्द्रः = अग्न इन्द्रः, वायो + उक्थेभिः = वाय् अव् उक्थेभिः = वाय उक्थेभिः।

**पदवृत्ति सन्धि**— यह सन्धि भी 'एचोऽयवायावः' तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सूत्र से होने वाली सन्धियों के अन्तर्गत आती है। इसमें 'ऐ' तथा 'औ' के बाद ओष्ठ्य स्वर आने पर 'ऐ' तथा 'औ' के स्थान पर 'आ' हो जाता है। वस्तुतः इसमें भी सर्व-प्रथम 'ऐ' को 'आय्' होकर 'य्' का लोप हो जाता है तथा औ को आव् होकर 'व्' का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ– अन्वेतवै + उ = 'अन्वेतवा उ', तथा उभौ + उ = 'उभा उ'।

### व्यञ्जन-सन्धियाँ

वेदों में अनेक प्रकार की व्यञ्जन-सन्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु यहाँ पर कतिपय प्रमुख सन्धियों का विवेचन किया जा रहा हैं।

**अवशंगम सन्धि**— इस सन्धि में दो व्यञ्जन वर्ण बिना किसी विकार के परस्पर मिल जाते हैं। पाणिनि-व्याकरण में इसे सन्धि नाम से अभिहित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ— आरैक् + पन्थाम् = आरैक्पन्थाम्, वषट् + ते = वषट्ते, यत् +

पतये = यत्पतये। ऋक्प्रातिशाख्य 'स्पर्शवर्ण + कोई भी प्रथमस्पर्श' के योग में ही इस सन्धि को स्वीकार करता है।

**वशंगम सन्धि**— ऋक्प्रातिशाख्य में उन सभी व्यञ्जन सन्धियों को इसके अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, जिनमें पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती वर्णों में से किसी का परिवर्तन अन्य व्यञ्जन के रूप में हो जाता है। लौकिकसंस्कृत के 'झला जश् झशि', 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा', 'शश्छोऽटि', 'झयो होऽन्यतरस्याम्', 'स्तोश्चुना श्चुः', तोर्लि, 'वा पदान्तस्य', इत्यादि सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– वाक् + वदन्ति = वाग्वदन्ति, यत् + वाक् = यद्वाक्, अर्वाक् + नराः = अवाङ् नराः, वट् + महान् = वण्महान्, अर्वाक् + शफाविव = अर्वाक्छफाविव, विपाट् + शुतुद्री = विपाट्छुतुद्री, अवाट् + हव्यानि = अवाड्ढव्यानि, तच् + शयोरा = तच्छयोरो, यत् + जिगासि = यज्जिगासि, अङ्गात् + लोम्नः = अङ्गाल्लोम्नः, जिगीवान् + लक्षमादत् = जिगीवाँल्लक्षमादत्, भद्रम् + करिष्यति = भद्रङ्करिष्यति।

**परिपन्न सन्धि**— 'म्' के बाद जब ऊष्मवर्ण (श् ष् स् ह्) अथवा 'र्' हो तो 'म्' अनुस्वार हो जाता है। उदाहरणार्थ– होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम्, त्वाम् = ह = त्वांह।

**विशेष**— पाणिनि-व्याकरण में 'मोऽनुस्वारः' सूत्र से पदन्त 'म्' के बाद कोई भी व्यञ्जन रहने पर 'म्' को अनुस्वार में परिवर्तित होने का विधान है, परन्तु वैदिक संस्कृत में 'म्' से बाद र् या श्, ष्, स्, ह् वर्णो के रहने पर ही अनुस्वार होने का विधान है। इसी अनुस्वार को 'यजुर्वेदी लोग' 'ग्वङ्' के रूप में उच्चरित करते हैं। यजुर्वेदसंहिता एवं यजुर्वेद से सम्बन्धित अन्यान्य ग्रन्थों– ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में उपर्युक्त स्थलों पर ँ (ग्वङ्) की सत्ता प्राप्त होती है। जैसे– गणानां त्वा गणपतिम् + हवामहे = गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे।

**आन्-पद पदवृत्ति सन्धि**— पदान्त 'आन्' के बाद स्वर होने पर 'न्' का लोप होकर 'आ' अनुनासिक हो जाता है। उदाहरणार्थ– सर्गान् + इव = सर्गाँ इव, महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

## विसर्ग-सन्धि

**प्रश्रित-सन्धि**— ह्रस्व अकार के बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग के बाद ह्रस्व अकार अथवा सघोष व्यञ्जन हो तब विसर्ग 'उ' में बदल जाता है तथा अ + उ = 'ओ' हो जाते हैं। लौकिकसंस्कृत 'अतो रोरप्लुतादप्लुते', 'हशि च' सूत्र से होने वाली

सन्धियाँ इसी नाम से कही गयी हैं। उदाहरणार्थ– यः + अस्कभायत् = यो अस्कभायत्। इस उदाहरण में विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार है तथा बाद में भी ह्रस्व अकार है, अतः उपर्युक्त सन्धि हुई है।

**उद्ग्राह पदवृत्ति सन्धि**— जब विसर्ग से पूर्व ह्रस्व अकार हो तथा बाद मे अ या आ के अतिरिक्त कोई भी स्वर हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे यः + इन्द्र = य इन्द्रः कः ईषते = क ईषते।

**नियत सन्धि**— ह्रस्व स्वर के बाद विसर्ग होने पर तथा विसर्ग के बाद 'र्' होने पर विसर्ग का लोप होता है तथा पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। पाणिनि-व्याकरण के 'रोरि', 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्रों से होने वाली सन्धियाँ इसी नाम से कही जाती हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार विसर्ग के 'र्' का लोप होकर पूर्ववर्ती ह्रस्वस्वर दीर्घस्वर में बदल जाता है। उदाहरणार्थ– प्रातः + रत्नम् = प्राता रत्नम्, अग्निः + रक्षांसि = अग्नी रक्षांसि।

**अकाम सन्धि**— (१) जब आ, ई अथवा ऊ के बाद विसर्ग हो, तथा विसर्ग के बाद 'र्' हो तब विसर्ग का लोप हो जाता है। यह सन्धि भी 'रोरि' सूत्र से होने वाली सन्धि के समान कही जा सकती है। उदाहरणार्थ– अश्वाः + रथः = अश्वा रथः।

(२) 'आ' से बाद विसर्ग हो तथा विसर्ग से बाद कोई सघोष वर्ण हो तब भी विसर्ग का लोप जाता है। जैसे– याः + ओषधीः = या ओषधीः, पुनानाः + यन्ति = पुनाना यन्ति।

**उपाचरित सन्धि**— स्वर से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद 'क्' अथवा 'प्' हो तब विसर्ग को 'स्' आदेश हो जाता है। जैसे– शश्वतः + कः = शश्वतस्कः, यः + पतिः = यस्पतिः, निः + कृतिः = निष्कृतिः। यह सन्धि 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से होने वाली सन्धि के सदृश है।

**रेफ सन्धि**— जब स्पर्श वर्ण से बाद विसर्ग तथा विसर्ग से बाद सघोष वर्ण हो तब विसर्ग 'र्' में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ– प्रातः + अग्निम् = प्रातरग्निम्, प्रातः + मित्रावरुणा = प्रातर्मित्रावरुणा, अग्निः + अस्मि = अग्निरस्मि।

# परिशिष्ट- ३

## वैदिक शब्द-रूप

वैदिकभाषा में भी शब्दों के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग, एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में पाये जाते हैं। इस भाषा में भी लौकिकसंस्कृत के समान प्रथमा से सम्बोधन पर्यन्त सभी विभक्तियाँ पायी जाती है किन्तु वैदिकसंस्कृत में कतिपय शब्दों के अनेक विभक्तियों में वैकल्पिक रूप भी प्राप्त होते हैं। पाणिनि-सूत्रों के आधार पर शब्द-रूपों से सम्बन्धित कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

**आज्जसेरसुक्** (७/१/५०)— अकारान्त प्रातिपदिक से 'जस्' (प्रथमा एवं सम्बोधन बहुचन) प्रत्यय लगने पर जस् प्रत्यय को 'असुक्' का आगम होता है। असुक् प्रत्यय में 'क्' वर्ण की इत्संज्ञा होने से यह 'कित्' है, अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र से यह अन्त (बाद) में होता है। उदाहरणार्थ– देव + जस् = देव + जस् + असुक् (अस्) = देवासः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जनासः, रथासः, ब्राह्मणासः रूप भी वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

वैदिक भाषा में सुप् प्रत्ययों को शब्दों के साथ जुड़ने से निम्नलिखित ११ प्रकार की वैकल्पिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

**सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः (७.१.३९)**

**(१) सु**— किसी भी 'सुप्' विभक्ति के स्थान में 'सु' (प्रथमा, एकवचन) लगती है। उदाहरणार्थ– ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०.८५.२३) मन्त्रांश में 'सन्तु' क्रिया-पद बहुवचन में होने के कारण 'पन्थानः' (प्रथमा बहुवचन में) होना चाहिए परन्तु उपर्युक्त सूत्र (सुपां सुलुक्०) से पन्थाः ('स' विभक्ति) होकर बना है।

**(२) लुक्**— वैदिकभाषा में यत्र-तत्र किसी भी सुप् (विभक्ति) प्रत्यय का लोप हो जाता है। जैसे– 'परमे व्योमन्' (ऋ० १.२९.७) मन्त्रांश में 'परमे' पद सप्तमी एकवचन में होने के कारण 'व्योमन्' पद को भी सप्तमी ए०व० अर्थात् 'व्योमनि' होना चाहिए, परन्तु ऐसा न होकर सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति का लोप होकर 'व्योमन्' रूप भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार विश्वा, विश्वानि इत्यादि अनेक वैकल्पिक रूप प्राप्त होते हैं।

**(३) पूर्वसवर्ण**— जहाँ पर स्वरादि 'सुप्' (विभक्ति) प्रत्यय लगने पर 'यण्' का

विधान हो, वहाँ पूर्वसवर्ण अर्थात् प्रातिपदिक और प्रत्यय को प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर का सवर्णी स्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे– धीति + टा (आ), मति + टा (आ) तथा सुस्तुति + टा (आ) प्रत्यय होने पर पूर्वसवर्ण होकर क्रमशः धीती, मती एवं सुष्टुती पद बन जाते हैं। लौकिक संस्कृत में यण् होकर धीत्या, मत्या तथा सुष्टुत्या रूप बनते हैं।

**(४) आ**— प्रथमा एवं द्वितीया के द्विवचन (औ, औट्) प्रत्ययों से बने पदों के औकार के स्थान पर 'आ' आदेश होता है। जैसे– यत् शब्द के पुल्लिङ्ग द्विवचन के 'यौ' को 'या' हो जाता है। सुरथ, देव, दिविस्पृश्, अश्विन् नासत्य आदि शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया द्विवचन में क्रमशः सुरथा, देवा, द्विवस्पृशा, आश्विना नासत्या आदि रूप भी बनते हैं।

**(५) आत्**— द्वितीया एकवचन (अम्) विभक्ति के स्थान पर 'आत्' आदेश होता है। जैसे 'नत' शब्द के द्वितीया एकवचन में नत् + अम् = नत + आत् होकर 'नतात्' रूप भी बनता हैं।

**(६) शे**— सप्तमी बहुवचन 'सुप्' विभक्ति तथा चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति के स्थान पर 'शे' = 'ए' आदेश होता है– जैसे युष्मद् + सुप् = युष्मद् + शे (ए) = दकार का लोप होकर 'युष्मे' रूप बनता है। इसी प्रकार अस्मद् + सुप् = अस्मद् + शे (ए) = 'अस्मे' रूप बनता है। चतुर्थी बहुवचन 'भ्यस्' विभक्ति लगने पर भी इसी प्रकार के रूप अर्थात् युष्मे, अस्मे ही बनते हैं।

**(७) या**— तृतीया एकवचन 'टा' विभक्ति के स्थान पर 'या' आदेश होता है परन्तु यह आदेश वहीं होता है जहाँ 'टा' को पहले 'ना' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'उरु' शब्द के तृतीया एकवचन में 'उरुणा' के स्थान पर उरुया, 'घृष्णु' शब्द के घृष्णुना के स्थान पर घृष्णुया रूप भी प्राप्त होते हैं।

**(८) डा**— सप्तमी एकवचन 'ङि' विभक्ति के औकारान्त रूपों में 'औ' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है। 'डा' आदेश डित् है, अतः प्रातिपदिक 'टि' (अन्तिम स्वरवर्ण या अन्तिम स्वरवर्ण जिस वर्णसमूह के आदि में स्थित हो) का लोप होता है। उदाहरणार्थ– नाभि + ङि = नाभि + डा (आ) = नाभ् + आ = नाभा (नाभि शब्द के अन्तिम 'इ' स्वर का लोप होकर) रूप बनता है।

**(९) ड्या**— तृतीया एकवचन के रूप में कहीं-कहीं आङ् होता है। इसी 'आङ्' के स्थान पर 'ड्या' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– अनुष्ठा शब्द का 'अनुष्ठया' होना चाहिए परन्तु वैदिक भाषा में 'अनुष्ठ्या' रूप भी प्राप्त होता है।

**(१०) याच्**— सम्बोधन एकवचन में 'याच्' आदेश होता है। उदाहरणार्थ– 'साधु' शब्द के सम्बोधन एकवचन में साधु + सु = साधु + याच् = 'साधुया' रूप भी होता है। लौकिक संस्कृत में 'साधो' रूप ही होता है।

**(११) आल्**— सप्तमी एकवचन के रूपों में आने वाले अन्तिम वर्ण 'ए' के स्थान पर 'आल्' आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ– 'वसन्त' के 'वसन्ते' के स्थान पर वसन्त + आल् (आ) = 'वसन्ता' रूप भी होता है।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विशेषताएँ वैदिकभाषा में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अकारान्त पुल्लिंग शब्दों से तृतीया बहुवचन में 'भिस्' प्रत्यय के स्थान पर 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है। जैसे– देवैः, देवेभिः, प्रियैः, प्रियेभिः, रामैः रामेभिः इत्यादि।

(२) अकारान्त शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' अथवा 'एण' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियेण आदि।

(३) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के प्रथमा एवं सम्बोधन बहुवचन के अन्त में 'आः' तथा 'आसः' दोनों प्रत्यय होते हैं। जैसे– प्रियाः, प्रियासः। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है। जैसे– प्रिया, प्रियया आदि।

(४) इकारान्त पुल्लिंग शब्द के तृतीया एकवचन के अन्त में 'ना' अथवा 'या' होता है। जैसे शुचिना, शुच्या।

(५) इकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के तृतीया एवचन के अन्त में 'आ' होता है अथवा कोई भी विभक्ति-चिह्न नहीं होता है तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी विभक्तियों के एकवचन में पुल्लिंग के समान रूप बनते हैं।

(६) उकारान्त पुल्लिंग शब्दों के रूप इकारान्त शब्दों के रूपों के समान ही होते हैं। षष्ठी एकवचन में कुछ भिन्नता होती है। जैसे– 'मधु' शब्द का षष्ठी एकवचन में 'मध्वः' तथा 'मध्वोः' दोनों रूप बनते हैं।

(७) संख्यावाची 'एक' शब्द के पञ्चमी एकवचन में 'एकस्मात्' तथा 'एकात्' दोनों रूप होते हैं। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन में 'एकस्मित्' तथा 'एके' दोनों रूप बनते हैं।

(८) 'तिसृ' एवं 'चतसृ' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में 'तिसृणाम्' चतसृणाम् रूप भी विकल्प से होते हैं।

(९) 'अस्मद्' और 'युष्मद्' शब्द के रूपों की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

| अस्मद् | युष्मद् |
|---|---|
| प्रथमा द्विवचन में वाम् तथा आवाम्। | प्रथमा द्विवचन में युवाम् तथा युवम्। |
| चतुर्थी एकवचन में मह्यम्, मह्य। | तृतीया एकवन में त्वा, त्वया। |
| सप्तमी बहुवचन में अस्मासु, अस्मे। | तृतीया द्विवचन में युवभ्याम्, युवाभ्याम्। |
| | पञ्चमी एकवचन 'त्वत्' द्विवचन में 'युवत्', 'युवाभ्याम्'। |
| | सप्तमी एकवचन में 'त्वे', 'त्वयि', बहुवचन में 'युष्मे', 'युष्मासु'। |

(१०) 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियों में प्राप्त होता है (तृतीया च होश्छन्दसि)। जैसे– 'यवाग्वाऽग्निोत्रं जुहोति'। यहाँ पर यवागू (हव्य वस्तुविशेष) अग्निहोत्र का विशेषण है, उसमें कर्मकारक होने पर भी तृतीया विभक्ति है।

(११) कहीं-कहीं चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति एवं षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि। (पा०२.३.६२) एवं षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्। (वार्तिक)। उदाहरणार्थ– 'गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्' तथा 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः'! इन उदाहरणों में 'वनस्पतीनाम्' का अर्थ है– वनस्पतियों के लिए। परन्तु इसमें चतुर्थी न होकर षष्ठी है।

(१२) 'यज्' धातु का 'करण' तृतीया तथा षष्ठी दोनों विभक्तियों में हो सकता है। 'यजेश्च करणे' (पा० २.३.६३)। उदाहरणार्थ– घृतस्य घृतेन व यजते = घृत से हवन किया जाता है।

# परिशिष्ट-४

## वैदिक धातुरूप

वैदिक भाषा में धातु-रूपों की विविधता प्राप्त होती है। उस समय तक धातु-रूपों के प्रयोगों एवं स्वरूपों के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं थे। महर्षि पाणिनि ने वैदिक धातुओं के लकारों के कालविभाजन के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख विधान किया हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

**छन्दसि लुङ् लङ् लिटः (पा०सू० ३.४.६)।**

वैदिकभाषा में लुङ्, लङ् तथा लिट् लकारों का प्रयोग सभी कालों के अर्थों का बोध कराने के लिए हुआ है। ये लकार अपने निश्चित अर्थों का बोध भी कराते हैं। जैसे– 'देवो देवेभिरागमत्' (ऋ० १.१.५) 'देव (अग्नि) देवताओं के साथ आवें'। यहाँ पर 'अगमत्' गम् धातु के लुङ् लकार का रूप है, परन्तु इसका अर्थ लोट् लकार के लिए है। 'अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यमानः' 'आज यह यजमान अग्नि को ही होता के रूप में वरण करता है', यहाँ पर अवृणीत पर 'वृ' धातु के लङ् लकार का रूप है परन्तु इसका प्रयोग वर्तमानकाल के अर्थ में हुआ है। 'इदं तेभ्योऽकरं नमः' (ऋ०१०.८५.१६) 'मैं यह नमस्कार उनके लिए करूँ'। यहाँ पर 'अकरम्' पद 'कृ' धातु के लुङ् लकार का रूप है जिसका प्रयोग वर्तमान काल के अर्थ के लिए हुआ है। मैकडानल आदि पाश्चात्य वैदिक अध्येताओं ने वेदों में प्राप्त होने वाले धातु-रूपों को इस प्रकार से वर्णीकृत किया है—

Present (वर्तमान काल)।

Imperfect (लङ् लकार, सामान्य भूतकाल)।

Perfect (पूर्ण भूतकाल, लिट् लकार के समान)।

Aorist (लुङ् लकार के समान)।

Future (लट् लकार भविष्यत् काल)।

इनके अतिरिक्त कुछ चित्तवृतियों (Moods) में भी रूप प्राप्त होते है, जो इस प्रकार हैं—

द्योतकभाव (Indicative)।

विधिलिङ् (Optative)।

आज्ञार्थक भाव (Imperative)।

विधानात्मक भाव (Injunctive)।

लेट् लकार (आत्ममूलक भाव या वस्तुपरक भाव) (Subjunctive)।

लेट् लकार केवल वेदों में प्राप्त होता है, इसके रूपों का प्रयोग विभिन्न अर्थों के प्रकाशन में हुआ है। पाणिनि ने 'लिङर्थे लेट्' (३.४.७) सूत्र द्वारा इसे स्पष्ट कर दिया है। विधि का अर्थ आज्ञा तथा अनुमति, निमन्त्रण का अर्थ जोरदार रूप से निमन्त्रित करना, आमन्त्रण का अर्थ इच्छानुसार आचरण की अनुमति अधीष्ट का अर्थ सत्कार-पूर्वक काम में लगाना, सम्प्रश्न का अर्थ पूछकर आज्ञा या अनुमति, लेना, प्रार्थना का अर्थ किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से की जाने वाली अभ्यर्थना है। इन सभी अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग प्राप्त होता है।

**उपसंवादाशङ्कयोश्च (पा० ३.४.८)।**

'उपसंवाद' तथा 'आशंका' इन दोनों अर्थों में वेदों में लेट् लकार का प्रयोग हुआ है। उपसंवाद का अर्थ है– कर्तव्य में बाँधना (Conditional contract) अर्थात् यदि आप ऐसा करें तो मैं आपको दूँ। कारण से कार्य की सम्भावना आशंका कहलाती है। उदाहरण– 'अहमेव पशूनामीशै' (मैं यह कर सकता हूँ, यदि मैं ही सभी पशुओं पर शासन करूँ), यहाँ उपसंवाद है। 'नेञ्जिह्मायन्तो नरकं पताम' ऐसा न हो जाय कि हम पाप करते-करते नरक में गिर जाँय, यहाँ आशंका है। अतः 'ईशै' तथा 'पताम' क्रियापद लेट् लकार के रूप हैं।

लेट् लकार अत्यन्त जटिल लकार है। इसीलिए लौकिकसंस्कृत में इसके रूप प्रायः लुप्त हो गये। 'भू' धातु के लेट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में ये अनेक प्रकार के रूप बनते हैं– भवति, भवाति, भाविषति, भविषति, भविषाति, भाविषत्, भवत्, भवात्, भविंषत् तथा भविषात्।

वैदिक भाषा में भी कर्तृवाच्य (Active voice) तथा कर्मवाच्य (Middle voice) धातुओं के रूप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने 'आत्मनेपद' के लिए (Middle voice) तथा 'परस्मैपद' के लिए (Active voice) शब्दों का ही प्रयोग किया है। कतिपय अपवादों को छोड़कर वैदिकभाषा के धातु-रूप का लौकिक संस्कृत के धातुरूपों के समान ही है। लेट् लकार में कुछ धातुओं के विशिष्ट रूप इस प्रकार हैं—

'भू' (सत्तायाम्)

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | भवाति, भवात् | भवात: | भवान् |
| मध्यम पुरुष | भवासि, भवा: | भवाथ: | भवाथ |
| उत्तम पुरुष | भवानि, भवा | भवाव | भवाम |

'इ' (अय्) (गमने)

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | अयति, अयत् | अयत: | अयन् |
| मध्यम पुरुष | अयसि, अय: | अयथ: | अयथ |
| उत्तम पुरुष | अयानि,अया | अयाव | अयाम |

ब्रू (कथने)

आत्मनेपद

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | ब्रवते | ब्रवैते | ब्रवन्त |
| मध्यम पुरुष | ब्रवसे | ब्रवैथे | ब्रवध्वे |
| उत्तम पुरुष | ब्रवै | ब्रवावहै | ब्रवामहै |

वैदिकसंहिताओं में लुङ् लकार (Aorist) में भी अनेक प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस लकार के रूपों को आगम तथा विकरण के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है, पुन: विकरण या आगम की भिन्नता के अनुसार भी रूपों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा जाता है। इस रेखाचित्र द्वारा यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा—
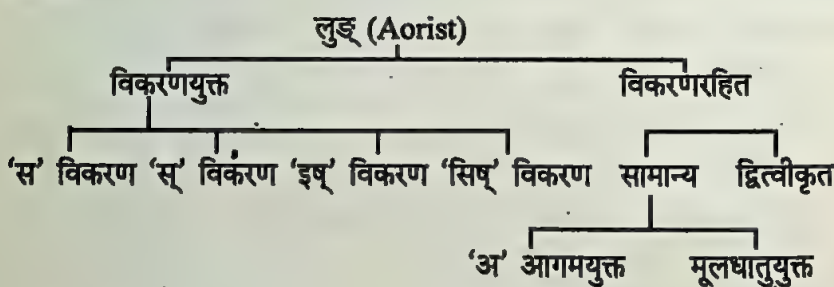
लुङ् लकार के कतिपय रूपों में कहीं 'स' कहीं 'स्' कहीं 'इष्' कहीं 'सिष्' विकरण प्राप्त होते हैं। कुछ रूपों में धातु के आदि-अक्षरों का द्वित्व हो गया है तथा कुछ रूपों धातु अपने मूलरूप में ही दृष्टिगोचर होती है। आदि में 'अ' का आगम तो इस लकार के रूपों का सामान्य वैशिष्ट्य है, इस प्रकार इस लकार के रूप भी

अनेकशः प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इनके लिए 'Sa' aorist, 'S' aorist, 'Is' aorist, 'Sis' aorist, Reduplicated aorist तथा Root aorist नामों का प्रयोग किया है। ध्यातव्य है कि इन सभी प्रकार के रूपों से सम्बन्धित पद सभी पुरुष और सभी वचनों में उपलब्ध नहीं होते। यहाँ कुछ धातुओं के रूप दिए जा रहे हैं।

**'स' विकरणयुक्त 'बुध्' धातु (आत्मनेपद)**

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | अबुद्ध | अभुत्साताम् | अभुत्सत |
| मध्यम पुरुष | अबुद्धाः | अभुत्साथाम् | अभुद्ध्वम् |
| उत्तम पुरुष | उभुत्सि | अभुत्स्वहि | अभुत्स्महि |

**'स्' विकरणयुक्त'भृ' धातु (परस्मैपद)**

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | अभार् | अभार्ष्टाम् | अभार्षुः |
| मध्यम पुरुष | अभार् | अभार्ष्टम् | अभार्ष्ट |
| उत्तम पुरुष | अभार्षम् | अभार्ष्व | अभार्ष्म |

**'इष्' विकरणयुक्त क्रम धातु (परस्मैपद) द्योतकभाव**

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | अक्रमीत् | अक्रमिष्टाम् | अक्रमिषुः |
| मध्यम पुरुष | अक्रमीः | —— | —— |
| उत्तम पुरुष | अक्रमिषम् | —— | अक्रमिष्म |

इस धातु के अवशिष्ट रूप नहीं प्राप्त होते।

**'अ'आगमयुक्त 'विद्' धातु**

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम पुरुष | अवदित् | —— | अविदन् |
| मध्यम पुरुष | अविदः | —— | अविदत |
| उत्तम पुरुष | अविदम् | अविदाव | अविदाम |

वैदिक Aorist (लुङ् लकार) के रूप लङ्लकार, लिट्लकार, विधिलिङ् आदि कई लकारों के रूपों से साम्य रखते हैं। इसका प्रधान कारण है— वैदिकयुग तक भाषा का व्याकरण के कठोर नियम से मुक्ति तथा भौगोलिक विभिन्नता।

ऊपर धातु-रूपों के सम्बन्ध में कतिपय प्रमुख नियमों का विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग के कुछ प्रक्रिया-रूपों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ये रूप हैं-: प्रेरणार्थक या णिजन्त, इच्छार्थक या सन्नन्त, पौनःपुन्यार्थक या यङन्त तथा संज्ञा अथवा विशेषण शब्दों से बने हुए नामधातु।

**णिजन्त रूप**— सम्पूर्ण वैदिकभाषा में लगभग २०० धातुओं के णिजन्त रूप प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया में भी लौकिकसंस्कृत के समान 'अय' का योग पाया जाता है। धातु का प्रथम स्वर इ, उ, ऋ तथा लृ होने पर इन स्वरों का गुण हो जाता है, उदाहरणार्थ– क्रुध् धातु से लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में क्रोधयति, गम् धातु का गमयति, पठ् धातु का पाठयति आदि रूप बनते हैं। इस प्रकार के रूप भी सभी लकारों में नहीं प्राप्त होते हैं।

**सन्नन्त रूप**— वेदों में इस प्रकार रूपों का भी अनेकशः प्रयोग प्राप्त होता है। प्रायः सभी लकारों में इस प्रकार के रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार के रूपों में धातु के साथ 'स' का योग रहता है, तथा धातु के प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है। धातु के अन्तिम 'इ' तथा 'उ' को दीर्घ तथा 'ऋ' को 'ईर्' हो जाता है। जैसे– निनीष, निगीष, चिकीर्ष् आदि। इसी प्रकार विवासति, विवासतः, विवासन्ति, विवाससि, विवासथः, विवासथ, विवासामि, विवासावः, विवासामः, जिगमिषति, जिगमिषतः जिगमिषन्ति, इत्यादि रूप भी उपलब्ध होते हैं।

**यङन्त रूप**— किसी क्रिया के अतिशय अथवा बार-बार होने को बतलाने के लिए इस प्रकार के रूपों का प्रयोग हुआ है। इस प्रक्रिया में धातु में 'य' जुड़ता है तथा प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व होता है। कहीं-कहीं 'य' का लोप हो जाता है। इस प्रकार के रूपों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं– नेनेक्ति, नेनेजीति, नेनिजति, नेनेक्षि, नेनिक्तथः, नेनेक्ते, नेनिजानि, जागृताम्, जागृहि, जागरीहि, अचाकशम्, अजागर, अदर्दर, अवरीवर, अदेदिष्ट, अन्नत, मर्मृजत् इत्यादि।

**नामधातु रूप**— वैदिक भाषा में इस प्रकार के रूपों का प्रयोग भी अधिक हुआ है। संज्ञा शब्दों में 'क्यच्' जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं। क्यच् का केवल 'य' बचा रहता है तथा 'य' के पूर्वस्थित स्वर दीर्घ हो जाता है। ऋकार 'री' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रक्रिया के रूप निम्नलिखित रूपों की भाँति होते हैं—

**लट्लकार**

| | | |
|---|---|---|
| पुत्रकाम्यति | पुत्रकाम्यतः | पुत्रकाम्यन्ति |
| पुत्रकाम्यसि | पुत्रकाम्यथः | पुत्रकाम्यथ |
| पुत्रकाम्यामि | पुत्रकाम्यावः | पुत्रकाम्यामः |

इस प्रक्रिया के रूप प्रायः सभी लकारों में प्राप्त होते हैं।

## वैदिक धातुरूपों की अन्य विशेषताएँ

**(१) इदन्तो मसि** (पा०सू० ७.१.४५)– वेद में उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रत्यय 'मस्' अपने साथ 'इ' को लिए हुए रहता है, परन्तु सर्वत्र ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। उदाहरण–'नमो भरन्त एमसि'। यहाँ 'आगच्छामः' के स्थान पर 'एमसि' का प्रयोग है।

**(२) छन्दसि लिट्** (पा०सू० ३.२.१०५)– वेद में लिट् लकार का प्रयोग सामान्य भूतकाल के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ– 'अह द्यावापृथिवी आततान (वाज० ८.९), मैंने द्युलोक तथा पृथिवी को फैलाया। इस मन्त्रांश में तन् धातु के लिट् लकार के रूप का प्रयोग सामान्य भूतकाल का बोध कराने के लिए हुआ है।

**(३) लिटः कानज्वा** (पा०सू० ३.२.१०६), **क्वसुश्च** (पा०सू० ३.२.१०७)– लिट् लकार के स्थान पर 'कानच्' और 'क्वसु' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। जैसे– 'चक्राणा वृष्णिम्' तथा 'यो नो अग्ने अररिवाँ अधायुः' (ऋ० १.१४७.४)। हे अग्ने ! जिसने मुझे दान नहीं दिया वह पापी है। इन उदाहरणों में 'चक्राण' तथा अररिवान् पद क्रमशः कानच् तथा क्वस् प्रत्यय से बने हुए हैं। कृ धातु + कानच् प्रत्यय = चक्राण, छान्दस् दीर्घता होकर 'चक्राणा' बना है। रा धातु + क्वसु प्रत्यय = अररिवान्, नकार लोप तथा पूर्वस्वर को अनुनासिक होकर 'अररिवाँ' पद बना है। इन दोनों पदों का प्रयोग लिट् लकार के अर्थ में हुआ है।

(४) आत्मनेपद में रहने वाले तकार का वेद में लोप होता है। जैसे– अदुहत् (दुह् धातु लङ्लकार प्र०पु ए०व०) के तकार का लोप होकर अदुह रूप मिलता है।

(५) आत्मनेपद के 'ध्वम्' प्रत्यय को 'ध्वात्' आदेश होता है। जैसे– वारयध्वात्। लोक में 'वारयध्वम्'।

(६) लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'त' प्रत्यय के स्थान पर 'तात्' होता है। जैसे– 'कृणुतात्'। लोक में 'कृणुत'।

(७) लोट् लकार मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान में तम्, तनप्, तन और 'यन' इन चार आदेशों का प्रयोग भी वैदिक भाषा में पाया जाता है। जैसे– शृणोत, सुनोतन, दधातन, जुषुष्टन तथा ष्ठन इत्यादि। इनके लौकिक रूप क्रमशः– शृणुत, सुनोत, धत्त, जुषध्वम् तथा स्थ हैं।

## दीर्घीकरण

वैदिक ग्रन्थों में कतिपय पद इस प्रकार के हैं जो मूलरूप में ह्रस्व स्वरान्त हैं परन्तु छन्द की दृष्टि से वे दीर्घ रूप में पाये जाते हैं। पदपाठ में वे दीर्घ नहीं दिखलाये

जाते, संहिता मंत्रों में ही उनके दीर्घ रूप मिलते हैं। वेदपाठियों में यह परम्परा है कि वेदमन्त्रों को किसी भी परिस्थिति में छन्द के नियमों के विपरीत नहीं पढ़ना चाहिए। नीचे कुछ प्रमुख तथ्यों को पाणिनिसूत्रों के आधार पर दिया जा रहा है—

(क) **द्व्यचोऽतस्तिङ्** (पा०सू० ६.३.१३५)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले धातु रूपों के अन्तिम अकार को दीर्घ होता है, यदि पद अकारान्त हो। जैसे– यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

(ख) **निपातस्य च** (पा०सू० ६.३.१३६)– ऋग्वेद में दो स्वरों वाले निपातों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है। उदाहरणार्थ– एवा हि ते।

(ग) **ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्** (पा०सू० ६.३.१३३)– ऋग्वेद में निम्नलिखित शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। तु (तो), नु (अभी), घ (निश्चयार्थक अव्यय), मक्षु (शीघ्र), तङ् (लोट् म०पु० बहुवचन), कु (बुरा), त्र (स्थान वाचक त्रल् प्रत्यय) तथा उरुष्य (रक्षा करना)। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है– तु– 'आ तू न इन्द्र वृत्रहन्।' नु– 'नु मर्त्यः'। घ– 'उत वा घा स्यालात्'। मक्षु– 'मक्षु गोमन्तमीमहे'। तङ्– 'मा ते भरता नरः'। कु– 'कू मनाः'। त्र– 'यत्रा नश्चका जरसं तनूनाम्'। उरुष्य– 'उरुष्या णः'।

(घ) **इकः सुञि** (पा०सू० ६.३.१३४)– ऋग्वेद में किसी पद के अन्त में आने वाले इ, उ, ऋ, ऌ स्वर दीर्घ हो जाते हैं, यदि बाद में सुञ् (सु अव्यय) हो। उदाहरणार्थ– अभीष्णु णः सखीनाम्।

(च) **ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्** (पा०सू० ६.३.१३२)– 'ओषधि' शब्द के बाद प्रथमा के अतिरिक्त विभक्ति आने पर अन्तिम स्वर इकार को दीर्घ हो जाता है– जैसे 'यदोषधीभ्यः', 'अदधात्योषधीषु'। इन उदाहरणों में क्रमशः 'भ्यस्' तथा 'सुप्' अप्रथमा विभक्ति होने के कारण ओषधि के इकार को दीर्घ हो गया है।

(छ) **मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ** (पा०सू० ६.३.१३१)– मन्त्रों में सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में मतुप् प्रत्यय जुड़ा हो। जैसे– अश्व + मतुप् = अश्वावती। इसी प्रकार सोमावती, इन्द्रियावान् तथा विश्वदेव्यावान्।

(ज) **छन्दसि च** (पा०सू० ६.३.१२६)– वेद में अष्टन् शब्द के बाद कोई भी शब्द रहने पर नकार का लोप होकर पूर्ववर्ती स्वर अकार का दीर्घ होता है। जैसे– अष्टन् + वक्रः = अष्टावक्रः, अष्टन् + पदः = अष्टापदः।

# परिशिष्ट-५

## वैदिक प्रत्यय

वैदिक भाषा के प्रत्ययों में भी लौकिक संस्कृत के प्रत्ययों से कुछ विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार जाती हैं—

**१. पूर्वकालिक क्रिया-रूप**— लौकिक संस्कृत में 'क्त्वा प्रत्यय तथा 'ल्यप्' प्रत्यय जोड़कर बनाये जाने वाले पद वैदिक भाषा में 'त्वी' 'त्वाय' तथा 'त्वा' प्रत्यय जोड़कर भी बनाये जाते हैं। जैसे– 'त्वी'– कृत्वी, गत्वी, भूत्वी, वृक्त्वी, जनित्वी, स्कमित्वी आदि। 'त्वा'– पीत्वा भित्वा, मित्वा, युक्त्वा, तृप्त्वा, श्रुत्वा, हत्वा, हित्वा आदि। 'त्वाय'– जगध्वाय, गत्वाय, दत्त्वाय, दत्त्वाय, दृष्ट्वाय, युक्त्वाय, हत्वाय, हित्वाय आदि।

लौकिक संस्कृत में धातु के पूर्व उपसर्ग रहने पर 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय होता है– जैसे परिगृह्य, आगम्य आदि। परन्तु वैदिक भाषा में कहीं-कहीं उपसर्ग पहले रहने पर भी धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। जैसे– प्रज्ञापयित्वा।

**२. तुमर्थक प्रत्यय**— कतिपय वैदिक विद्वानों के मतानुसार तुमर्थक प्रत्यय वस्तुतः धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्दों के द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्तियों के रूप हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में चतुर्थी विभक्ति के पदों का अधिक प्रयोग प्राप्त होता है। 'तुमुन्' के अर्थ में जो प्रत्यय वेदों में पाये जाते हैं उनको पाणिनि ने एक ही सूत्र में बतला दिया है, जो इस प्रकार हैं—

**'तुमर्थे सेसेन् असे असेन्क्सेकसेनध्यै।**

**अध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै शध्यैन्तवैतवेङतवेनः (पा० ३.४.९)'।**

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिक भाषा में– से, सेन्, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् तथा तवेन् से १५ प्रत्यय होते हैं। उपर्युक्त प्रत्ययों में न्, क्, ङ्, श् वर्णों की इत् संज्ञा होती है। जिस प्रत्ययों में 'न्' वर्ण इत्संज्ञक होता है, उनसे बने शब्दों का आदि अक्षर उदात्त होता है। 'क्' इत्संज्ञक वाले (कित्) प्रत्ययों के लगने पर 'गुण' का निषेध हो जाता है। ङित् प्रत्ययान्त शब्दों में भी गुणनिषेध होता है। शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है, अतः 'अय्' आदेश होता है।

से– √वंच् + से = 'वक्षे' पुकारने के लिए, √वह् + से = 'वक्षे' ढोने के लिए।

सेन्– √इ + सेन् = 'एषे' (जाने के लिए)।

असे– √जीव + असे = 'जीवसे' जीने के लिए।

असेन्– √जीव + असेन् = जीवसे (आदि उदात्त) जीने के लिए।

क्से– √इ + क्से = (स् को ष् होकर) इषे, 'प्र' उपसर्ग लगने से 'प्रेषे' शब्द बना (भली प्रकार जाने के लिए)।

कसेन्– √श्रि + कसेन् (इयङ आदेश होकर) श्रियसे।

अध्यै, अध्यैन्– √पृ + अध्यै = पृणध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्यय लगने पर आदि स्वर उदात्त होता है।

कध्यै, कध्यैन्– आङ् (आ) उपसर्ग + √हु + कध्यै अथवा कध्यैन् प्रत्यय, कित् होने से 'उवङ्' आदेश होकर रूप बना-आहुवध्यै। 'अध्यैन्' प्रत्ययान्त होने से 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त होता है।

शध्यै– √मद् + णिच् + शध्यै = मादयध्यै।

शध्यैन्– √पा (पिब् आदेश) + 'शध्यैन्' = पिबध्यै। 'नित्' होने के कारण आदि अक्षर उदात्त।

तवै– √दा + तवै = दातवै। दातवै + उ = 'दातवा' उ ('एचोऽयवायावः' से आय्, 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार लोप)।

तवेङ्– √सू + तवेङ् प्रत्यय = सूतवे (ङित् प्रत्यय लगने से गुण का निषेध)।

तवेन्– √कृ + तवेन् = कर्तवे (गुण कार्य होकर)।

उपरिकथित प्रत्ययों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं।

"ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (पा० ३.४.१५)" से 'ईश्वर' शब्द उपपद रहने पर 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक भाषा में 'तोसुन्' और 'कुसुम' प्रत्यय होते हैं– जैसे– 'ईश्वरो विचरितोः', वि + √चर् + तोसुन् (तोस्) = विचरितोः (विचरण करने में समर्थ)। 'ईश्वरो लिखितः' √लिख् + कसुन् (अस्) = लिख् (इट् का आगम) + अस् = लिखितः (लिखने में समर्थ)।

"प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै (पा०३.४.१०)" से प्रयै, रोहिष्यै, तथा अव्यथिष्यै शब्द तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रयै = जाने के लिए, रोहिष्यै = चढ़ने के लिए, अव्यथिष्यै = पीड़ित न करने के लिए।

"दृशे विख्ये च (पा० ३.४.११)" से 'दृशे विश्वास सूर्यम्' (ऋ० १.५०.१) तथा 'विख्ये त्वा हरामि' मन्त्रांशों में √दृश् + के = दृशे (देखने के लिए) तथा वि + √ख्या + के = विख्ये (देखने के लिए) शब्द तुमुन् के अर्थ में निपातन से सिद्ध होते हैं। यहाँ पर 'के' प्रत्यय 'तुमुन्' का अर्थ बतलाता है।

"शकि णमुल्कमुलौ (पा० ३.४.१२)" से यदि उपपद में शक् धातु का प्रयोग हो तब तुमुन् के अर्थ में 'णमुल्' ये दो प्रत्यय होते हैं। उदाहरणार्थ– वि + √भज् + णमुल् = विभाजम् (विभाग करने के लिये), अप + √लुक् + कमुल् = 'अपलुकम्' अशकत् (विभाजन या लोप नहीं कर सका)।

## कृदन्त प्रत्यय

वैदिकभाषा के कृदन्त रूपों में लौकिकसंस्कृत से कतिपय विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं—

**वर्तमानकालिक कृदन्त**— 'शतृ' और 'शानच्' वर्तमानकालिक कृदन्त हैं। वैदिक भाषा में इनका रूप लौकिक संस्कृत के समान ही बनता है। जैसे– गच्छत् = √गम् + शतृ, वर्तमान् = √वृत् + शानच्, युञ्जान = √युज् + शानच्, क्रियमाण = कृ + शानच्।

**भूतकालिक कृदन्त**— 'क्त' और 'क्तवतु' भूतकालिक कृदन्त हैं। उदाहरणार्थ– हतः = √हन् + क्त, हतवान् = √हन् + क्तवतु, कुपितः = √कुप् + क्त, स्तुतः = √स्तु + क्त, भिन्नः = √भिद् + क्त।

**पूर्णकालिक कृदन्त**— वेद में परस्मैपद में 'वांस' प्रत्ययान्त शब्द इस प्रकार के अर्थ का द्योतन करते हैं। जैसे– चकृवांस, चक्राण, जघन्वांस, तस्तभ्वांस, तस्थिवांस, पप्तिवांस, ईयिवांस, चिकित्वांस आदि। आत्मनेपद में 'आन्' प्रत्यय जोड़कर इस प्रकार के रूप बनते हैं, जैसे– आनजान, आनशान, आराण, ईजान, ऊचान, चक्राण, शशमान, शशयान इत्यादि।

**भविष्यत्कालिक कृदन्त**— परस्मैपद में 'अन्त' जोड़कर तथा आत्मनेपद में 'अन्त' ज़ोड़कर तथा आत्मनेपद में 'मान' जोड़कर बनता है। उदाहरणार्थ– भविष्यन्त तथा यक्ष्यमाण पद क्रमशः परस्मैपद तथा आत्मनेपद के हैं।

## तद्धित प्रत्यय

प्रातिपदिक शब्दों के साथ जुड़कर उनसे सम्बद्ध अर्थों को बतलाने वाले प्रत्यय 'तद्धित' कहलाते हैं। वैदिकभाषा के कतिपय प्रमुख तद्धित प्रत्यय तथा उनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

अ– देव, मानव, पार्थिव, मारुत।

आ– प्रिया, नवा, गता।

आयन– काण्वायन, दाक्षिणायन।

इ– पौरुकुत्सि, सारथि, सावर्णि।

इन्– अर्किन, अर्चिन्, वर्मिन्, रेतिन।

इय– अभ्रिय, इन्द्रिय, समुद्रिय।

ई– अदती, पृथ्वी, अवित्री, देवी।

ईन– अर्वाचीन, प्राचीन, विश्वजनीन।

ईय– गृहमेधीय, पर्वतीय, आहवनीय।

एय– आदितेय, पौरुषेय।

क– अन्तक, दूरक, ममक, पादक।

तन– सनातन, नूतन।

तम– उत्तम, पुरुतम, शततम, तवस्तम।

तर– तवस्तर, रथीतर, उत्तर।

ता– बन्धुता, वसुता, देवता।

ताति– सर्वताति, ज्येष्ठताति।

त्य– अमात्य, नित्य, अपत्य, निष्ट्य।

त्व– मघवत्व, अमृतत्व।

त्वन्– जनित्वन्, सखित्वन्।

थ– कतिथ, चतुर्थ।

नी– पत्नी, परुष्णी, एणी, अशिक्नी।

भ– ऋषभ, वृषभ, गर्दभ, रासभ।

म– अवम, मध्यम, नवम, दशम।

मन्त– अशनिमन्त, क्रतुमन्त।

मय– मृण्मय, मनस्मय।

म्न– द्युम्न, सुम्न।

य– पशव्य, तुग्र्य।

र– अवर, रथिर।

ल– कपिल, वृषल, बहुल।

वत्– उद्वत्, निवत।

वन्– मघवन्, समद्वन्, श्रुष्टीवन्।

वन्त– अश्वावन्त, अश्ववन्त, सखिवन्त, पयस्वन्त।

विन्– उभयाविन्, अष्ट्राविन्, यशस्विन्।

श– एतश, युवश, रोमश।

## क्रिया-विशेषण तथा अव्यय

क्रिया की विशेषता बतलाने वाले शब्द क्रियाविशेषण कहलाते हैं। अव्यय पद भी कहीं-कहीं क्रिया-विशेषण के समान कार्य करते हुए प्राप्त होते हैं। वैदिकभाषा में अनेक क्रिया-विशेषण एवं अव्यय पदों का प्रयोग हुआ है, जिनसे विभक्ति के अर्थ का द्योतन होता है। कतिपय शब्दों में विभक्ति-चिह्न भी दृष्टिगोचर हैं। कतिपय क्रिया-विशेषण शब्द हैं—

**अछ** = ओर, **अति** = पारकर, **अनु** = पीछे, **अभि** = ओर, **प्रति** = ओर, **तिरः** = पारकर, इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति लगती हैं।

**अव** = नीचे से, इनके योग में पञ्चमी विभक्ति को प्रयोग देखा जाता है।

**परि** = चारों ओर, का प्रयोग चतुर्थी के योग में होता हैं।

**उप** = समीप में, **अपि**, **अधि**, **अन्तर** (बीच में), **आ** = ऊपर, **पुरः** = आगे, का प्रयोग सप्तमी के योग में होता है।

**अव** = नीचे से, यह पंचमी के योग में प्रयुक्त होता है।

वैदिक भाषा में कतिपय 'निपात' शब्द इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जो मूलतः क्रिया-विशेषण हैं परन्तु वे स्वतन्त्र रूप से विभक्तियों के साथ प्रयुक्त हुए हैं। जैसे– **अन्तरा** = बीच में, **अभितः** = चारों ओर, **उपरि** = ऊपर, परे, **परः** = परे, **परितः** = चारों ओर, **सनितुः** = अतिरिक्त– ये सभी शब्द द्वितीया विभक्ति के साथ पाये जाते हैं। सह, साकम्, सुमद्, स्मद, (ये सभी 'साथ' के अर्थ में), **अव** = नीचे, **पर** = बाहर, ये शब्द तृतीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त मिलते हैं।

**अधः** = नीचे से, **आरे** = दूर या भिन्न।

**ऋते** = बिना, **पर** = अलग से, **पुरा** = पहले, **बहिर्धा** = बाहर से।

**सनुतः** = दूर, इनका प्रयोग पञ्चमी के साथ होता है। षष्ठी के साथ **'पुरस्तात्'** = 'सामने' का प्रयोग देखा जाता है।

**सचा** = साथ, निपात का प्रयोग सप्तमी के साथ प्राप्त होता है।

## प्रत्यययुक्त क्रियाविशेषण

**'था'** प्रत्यय से निष्पन्न– अथा, इत्था यथा, तथा, कथा, अन्यथा, विश्वथा, ऊर्ध्वथा, पूर्वथा, प्रत्नथा, ऋतुथा, नामथा, एवथा।

**'धा'** प्रत्यय से निष्पन्न– एकधा, द्विधा, त्रेधा, कतिधा, पुरुधा, बहुधा, शश्वधा, विश्वधा, प्रियधा, मित्रधा, बहिर्धा, अधा, अद्धा, सधा।

**'ह'** प्रत्यय से निष्पन्न– इह, कुह, विश्वह, समह।

**'वत्'** प्रत्यय से निष्पन्न– पूर्ववत्, मनुवत्, पुराणवत्।

**'शः'** प्रत्यय से निष्पन्न– शतशः, सहस्रशः, ऋतुशः, पर्वशः।

**'स्'** प्रत्यय से निष्पन्न– द्विस्, त्रिस्, अवस् (अवः), अन्येद्युस् (अन्येद्युः)।

**'तस्'** प्रत्यय से निष्पन्न– अतः, अमुतः, इतः, मत्त, दक्षिणतः, हृतः, परितः, अभितः।

**'तात्'** प्रत्यय से निष्पन्न– अधस्तात्, आरात्तात्, पश्चात्तात्, पुरस्तात्, प्राक्तात्।

**'अस्'** प्रत्यय से निष्पन्न– तिरः, परः, पुरः, सदिवः, सद्यः, श्वः, ह्यः, मिथः।

**'त्रा'** या **'त्र'** प्रत्यय से निष्पन्न– अत्र, विश्वत्र, अन्यत्र, अस्मत्रा, सत्रा, दक्षिणत्रा। पुरुत्रा, बहुत्रा, देवत्रा, मर्त्यत्रा, शयुत्रा।

**'दा'** प्रत्यय से निष्पन्न– इदा, कदा, तदा, यदा, सदा, सर्वदा।

**'दानीम्'** प्रत्यय से निष्पन्न– इदानीम्, तदानीम्, विश्वदानीम्।

## कतिपय अव्यय पदों के अर्थ

**अङ्ग**– पूर्वकथित शब्द पर जोर देने के लिए।

**अत्र**– कभी-कभी 'जब' अर्थ में भी आता है।

**अथ**– वाक्यों को तथा उपवाक्यों को जोड़ता है।

**अथो**– समुच्चय बोधक।

**अपि**– बाद वाले शब्द पर जोर देता है।

**अह**– पहले आने वाले शब्द पर जोर देता है।

**आद्**– समय के क्रम को बतलाता है।

**इति**– प्रायः किसी कथन के अन्त में तथा क्रिया के पूर्व।

**इत्था**– इस प्रकार, कभी-कभी विशेषण के रूप में।

**इद्**– पहले आने वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

**उतो, उतो**– 'और', प्रायः दो शब्दों को जोड़ते हैं।

**घ**– पहले वाले शब्द पर जोर देने के लिए।

**नकीम्, नकिः**– नकारात्मक अर्थ को पूरा करने के लिए।

**नूनम्**– 'अब' के अर्थ में या 'प्रश्नवाचक' अर्थ में।

**माकिः**– नकारात्मक अर्थ में।

**माकीम्**– नकारात्मक अर्थ को पुष्ट करने के लिए।

**वै**– निश्च ही।

**सीम्**– अवधारणार्थक।

**सु, सू**– अच्छी प्रकार के अर्थ में क्रियाविशेषण है।

**स्विद्**– वाक्य के पहले शब्द पर जोर देता है।

**ह**– प्रसिद्धि का वाचक तथा प्रारम्भिक शब्द के बाद आता है।

इनके अतिरिक्त कतिपय विस्मयबोधक अव्ययों के प्रयोग भी वेदों में प्राप्त होते हैं, जैसे– बत, बट्, हन्त, है, हिरक्, हुरुक्, चिश्चा, फट्, फल्, बाल्, कुक्, शल् आदि।

## वैदिक उपसर्ग

निरुक्तकार यास्क के अनुसार वैदिक भाषा में २० उपसर्ग हैं। उनके अनुसार 'निस्' तथा 'निर्' दोनों एक ही हैं तथा 'दुस्' और 'दुर्' भी एक ही हैं। लौकिकसंस्कृत के शेष सभी उपसर्ग वैदिकभाषा में भी यथावत् हैं। लौकिकसंस्कृत में उपसर्ग सदैव क्रियापद के साथ ही रहते हैं। क्रियापद के पूर्व जुड़कर ही प्रादिगण के शब्द उपसर्ग संज्ञा प्राप्त करते हैं। परन्तु वैदिक भाषा में उपसर्ग क्रियापद से दूर भी प्राप्त होते हैं, जैसे—

'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म'।– ऋ० १.१५४.३

'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण'।– ऋ० १.१५४.१

'तदस्य प्रियमभि पायो अश्याम्'।– ऋ० १.१५४.५

उपर्युक्त उदाहरणों में 'प्र' उपसर्ग 'एतु' तथा 'स्तवते' क्रियापदों से दूर हैं, एवं 'अभि' उपसर्ग 'अश्याम्' क्रियापद से पृथक् है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोग देखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि वैदिक भाषा में उपसर्गों को पृथक् पद मानकर उनकी अर्थवाचकता को स्वीकार किया गया था। यास्क ने भी अपने निरुक्त में उपसर्गों को अर्थवान् माना है।

## समास

वैदिक भाषा के समासों में भी कतिपय विशेषताएँ पाई जाती है। जो इस प्रकार हैं—

'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (पा० २.४.२८)' लौकिक संस्कृत में समस्त पदों की लिङ्ग-व्यवस्था से सम्बन्धित सूत्र 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः (पा० २.४.२६)' है। जिसके अनुसार द्वन्द्व एवं तत्पुरुष समास में परवर्ती शब्द के लिङ्ग के समान समस्तपद का लिङ्ग होता है, परन्तु वैदिक भाषा में 'हेमन्तशिशिरौ' (हेमन्तश्च शिशिरं च), तथा 'अहोरात्रे' (अहश्च रात्रिश्च), इन दो समस्त पदों में हेमन्त (पुं०) के अनुसार पुल्लिंग तथा अहन् (नपुं०) के अनुसार नपुंसकलिंग है। उक्त लौकिक संस्कृत के नियमानुसार इन समस्त पदों को क्रमशः 'हेमन्तशिशिरे' तथा 'अहोरात्रे' बनना चाहिए। वेद में 'अहोरात्राणि' पद भी मिलता है।

समस्त पदों में भी कभी-कभी दोनों पद किसी एक या अनेक शब्द को बीच में आ जाने से पृथक् हो जाते हैं। जैसे– 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' यहाँ पर 'द्यावा' तथा 'पृथिवी' इन दो पदों के मध्य 'चित्' तथा 'अस्मै' पदों का व्यवधान है।

देवताद्वन्द्व समास में पूर्वपद दीर्घ भी प्राप्त होता है, जैसे– मित्रावरुणौ।

वेद में द्वन्द्व समास में 'पितरामातरा' शब्द निपातन से सिद्ध होता है।

# परिशिष्ट-६

## वैदिक स्वर

'स्वर' वैदिक भाषा की सर्वप्रमुख विशेषता है। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं सही अर्थज्ञान के लिए भी स्वर की उपादेयता है। कतिपय आरण्यक एवं ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्वरों से अङ्कित हैं। पाणिनीय शिक्षा में स्वरों की महत्ता के विषय में स्पष्ट कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह॥
स वाग्वज्रः यजमानं हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

अर्थात् स्वर अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या रूप में प्रयुक्त होने के कारण उस (वास्तविक) अर्थ को नहीं बतलाता है; वह तो वाणीरूपी वज्र बनकर यजमान का ही वध कर डालता है; जैसे स्वर के अपराध के कारण 'इन्द्रशत्रुः' शब्द यजमान (वृत्र) का वध कर दिया है।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार 'वेंकटमाधव' ने वेदार्थज्ञान में स्वरों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणातीनां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥

जिस प्रकार अन्धकार में दीपिकाओं के सहारे चलता हुआ व्यक्ति ठोकरें खाकर गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से अर्थ भी पूर्णतः स्पष्ट होते हैं।

**स्वरों की संख्या**– स्वर मूलतः दो प्रकार के हैं– (१) उदात्त (२) अनुदात्त। उदात्त स्वर किसी भी परिस्थिति में अपरिवर्तनीय ही रहता है परन्तु अनुदात्त स्वर उदात्त के बाद आने पर स्वरित में एवं स्वरित के बाद आने पर 'प्रचयं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः आपाततः स्वर को चार प्रकार का भी होता है। कुछ द्वि-उदात्त पदों को छोड़कर पद में उदात्त एवं स्वरित की संख्या एक-एक ही हो सकती है, जबकि, अनुदात्त और प्रचय अनेक भी होते हैं। ये उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जन तो अपने अङ्गीभूत स्वर-वर्ण के स्वर (Accent) से सस्वर होते हैं।

## उदात्तादि स्वरों का परिचय

### उदात्त

वैदिक स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य है। यह किसी अन्य स्वर की सन्धि के प्रभाव से परिवर्तित नहीं होता है। प्रातिशाख्यों के विशेष विधान से अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट-सन्धियों में उदात्त स्वर स्वरित रूप में परिवर्तित हो जाता है।

उद् उच्चैरादीयते उच्चार्यते उदात्तः अर्थात् जो वर्णस्वर कण्ठताल्वादि पर ऊँचे स्थान से उच्चरित हो उसे उदात्त कहते हैं यह उदात्त शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। उदात्त के लक्षण के लिए उच्चैरुदात्तः सूत्र उपलब्ध होता है, जिसका तात्पर्य है उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।

### अनुदात्त

अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर न उठाया हुआ। अनुदात्त के लक्षण में नीचैरनुदात्तः एकं उपलब्ध है जिसका अर्थ है नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले स्वर को अनुदात्त कहा जाता है। भाष्यकार उवट एवं अनन्त के मतानुसार गात्रों (शरीरा-वयवों) के मार्दव अर्थात् अधोगमन से जो स्वर प्रगट होता है, उसे अनुदात्त कहते हैं।

### स्वरित

उदात्त और अनुदात्त इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है। समाहार-स्स्वरितः उदात्त का प्रयत्न गात्रों (शरीरावयवों) का ऊर्ध्वगमन है तथा गात्रों (शरीरावयवों) का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। इन दोनों प्रयत्नों के समाहार (मेल) से जो स्वर उच्चरित होता है उसे स्वरित संज्ञक कहते हैं।

### स्वरित के भेद

स्वरित स्वर के सात भेद बतलाये गये हैं (१) जात्य (२) अभिनिहित (३) क्षैप्र (४) प्रश्लिष्ट (५) तैरोव्यञ्जन (६) तैरोविराम और (७) पादवृत्त। इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है। संधिज स्वरित २. असंधिज स्वरित ३. सामान्य स्वरित। इसको निम्नलिखित रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है।
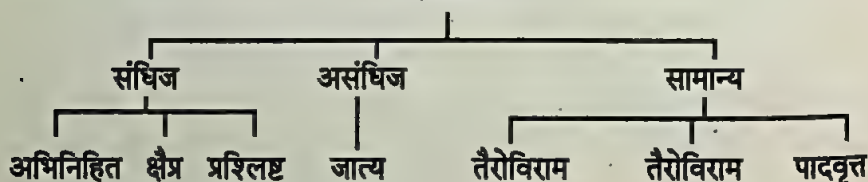
**अभिनिहित स्वरित**— पदान्तीय एकार तथा ओकार से परे पदादि ह्रस्व अकार का अभिनिहित या पूर्व रूप हो जाता है। अभिनिहित सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। पदान्तीय उदात्त एकार, ओकार से परे पदादि अनुदात्त अकार का लोप होने पर सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। जैसे— ते + अवन्तु = तेंऽवन्तु।

**क्षैप्र-स्वरित**— पाणिनीय व्याकरण की यण् सन्धि ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्र सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋ०प्रा० में सन्धि के अन्तर्गत इस संज्ञा का प्रयोग हुआ है; किन्तु भावि स्वर, इ, उ आदि के सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्तस्थ य् व् आदि वर्ण के उच्चारण क्षिप्रता (शीघ्रता) होने के कारण इस सन्धि को क्षैप-सन्धि कहते हैं। इस प्रकार की सन्धि पर जो स्वरित आश्रित होता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। उदात्त इकार तथा उकार का यकार तथा वकार होने पर क्षैप्र स्वरित होता है अर्थात् उदात्त धर्मवान् इ या उ असमान स्वर बाद में होने पर जब क्रमशः यकार एवं वकार हो जाता है तब उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इसे ही क्षैप्र स्वरित कहते हैं। जैसे— नु + इन्द्र = न्विंद्र

**प्रश्लिष्ट स्वरित**— पाणिनीय व्याकरण की दीर्घ-सन्धि, गुण-सन्धि एवं वृद्धि-सन्धि को प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट-सन्धि कहा जाता है। ऋ०प्रा० में प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया गया है पदान्त उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के प्रश्लेष में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। जैसे— स्रुचि + इव = स्रुचींव।

**असन्धिज-स्वरित (जात्य)**— स्वतंत्र स्वरित के अन्तर्गत असंधिज स्वरित एक भिन्न वर्ग है। इस असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत केवल एक स्वरित आता है और वह है जात्य-स्वरित। इसे नित्य स्वरित भी कहा जाता है। एक पद में अनुदात्त पूर्व में होने पर या कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर यकार वकार युक्त स्वर स्वरित जात्य स्वरित होता है। उदाहरण— (१) **अनुदात्तपूर्व-कुन्यां** (२) **अपूर्व-स्वंः** (प०पा०) = **स्वंः** (सं०पा० १८.६४)।

**तैरोव्यञ्जन-स्वरित**— नानापद में अथवा एकपद में जहाँ व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं। उदाहरण– **देवो वंः**।

**तैरोविराम-स्वरित**— अवग्रहगत मात्राकालिक विराम को तिरोहित मानकर स्वरित हो जाने को तैरोविराम स्वरित कहते हैं। संहितापाठ के एक पद को जब पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा दो पद्यों में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यों के

उच्चारणों के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। इस व्यवधान के परिणामस्वरूप पूर्व पद्य के अन्तिम उदात्त स्वर के प्रभाव से उत्तर पद्य के प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जैसे— गोऽपतौ ।

**पादवृत्त स्वरित**— दो स्वर वर्णों के मध्य कालकृत व्यवधान को विवृति कहा जाता है । इस विवृति का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। जिसे पादवृत्त स्वरित कहा जाता है। उदाहरण— ध्रुवा । असदन् (प०पा०) = ध्रुवाऽअसदन् ।

**प्रचय**— यह स्वर मूल रूप से अनुदात्ता हो जाता है किन्तु पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से परवर्ती एक या अनेक अनुदात्त उदात्त के समान उच्चारित होते हैं, जो प्रचय कहे जाते हैं। जैसे— इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति । यहाँ मे के स्वरित के प्रभाव से परवर्ती सभी अनुदात्त प्रचय हैं ।

**कम्प**— जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित से बाद में उदात्त या स्वरित आने पर पूववर्ती स्वरित को परवर्ती अनुदात्त भाग के उच्चारण में कम्पन्न हो जाता है, जिसे कम्प कहा जाता है । जैसे—व्य१र्थिनः।

## स्वराङ्कन पद्धति

ऋग्वेद संहिता में अनुदात्त स्वर को स्वरवर्ण के नीचे पड़ी रेखा (–) द्वारा एवं स्वरित स्वर को स्वरवर्ण के ऊपर खड़ी रेखा (।) द्वारा अङ्कित किया गया है। उदाहरणार्थ– 'वीर्येण' पद में 'वी' का ईकार स्वर अनुदात्त है तथा 'ण' का अकार स्वर स्वरित है; उदात्त एवं प्रचय दोनों ही अनङ्कित होते हैं। पद-पाठ में जब अनङ्कित स्वर के ठीक पूर्व अनुदाताङ्कित स्वर हो अथवा वह अनङ्कित स्वर किसी पद के आदि में अवस्थित हो तो ऐसा स्वर उदात्त होता है। इसी प्रकार एक ही पद में जिस अनङ्कित स्वर के पूर्व निश्चित रूप से स्वरिताङ्कित स्वर हो वह प्रचय कहलाता है। प्रचय स्वर लगातार एक से अधिक भी होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल प्रथम प्रचय स्वर के पूर्व ही स्वरित की स्थिति होती है, शेष के पूर्व प्रचय ही होते हैं।

**जैसे**— 'समवर्तत' पद में 'स' का अकार स्वरित है एवं उसके बाद आने वाले चार अकार स्वर प्रचय हैं।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद संहिता में जब स्वतंत्र स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त स्वर आ जाय तो वह 'कम्प' कहलाता है तथा उसको १ या ३ चिह्न से अङ्कित करते हैं। स्वतंत्र स्वरित परं ह्रस्व स्वर होने पर १ तथा दीर्घ स्वर होने पर ३ चिह्न लगा होता है। जब स्वरित स्वर ह्रस्व होता है तब वह अचिह्नित ही रहता है। जैसे-

व्यर्थिनः = व्य १ र्थिनः। तथा जब स्वरित स्वर दीर्घ होता है, तब वह अनुदात्त स्वर से चिह्नित होता है। ऋ० प्रा० पर उव्वट–भाष्य के अनुसार ह्रस्व स्वरित में आधी मात्रा उदात्त एवं आधी मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् स्वरित स्वर के दो बराबर भागों में एक भाग उदात्त और अवशिष्ट एक भाग अनुदात्त होता है, अतः कम्प को ह्रस्वस्वर पर होने पर १' से चिह्नित करते हैं। इसी प्रकार दीर्घस्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त तथा अवशिष्ट डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। अर्थात् ४ बराबर भागों में १ भाग उदात्त तथा ३ भाग अनुदात्त होता है। अतः कम्प दीर्घ स्वर पर होने पर उसे ३ से चिह्नित किया जाता है।

(१) यजुर्वेद की वाजसनेयि-संहिता में स्वराङ्कन पद्धति निम्नलिखित अपवादों को छोड़कर ऋग्वेद संहिता के समान ही है।

(i) अनुदात्त स्वर के ठीक बाद स्वतन्त्र स्वरित होने पर उसके (स्वरित के) नीचे (—) चिह्न पाया जाता हैं।

(ii) स्वतन्त्र स्वरित के ठीक बाद उदात्त स्वर आने पर उसके (स्वरित के) नीचे (w) चिह्न प्राप्त होता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः– 'यातु- धा न्योऽधराची'; नुस्तत्वा शन्तमवा ॥

(२) शतपथब्राह्मण की स्वराङ्कन पद्धति ऋ०सं० से पूर्णतः भिन्न है। यहाँ पर उदात्त के नीचे पड़ी रेखा मिलती है तथा अनुदात्त और स्वरित अचिह्नित होते हैं।

(३) तैत्तिरीय संहिता, उसके ब्राह्मण और आरण्यक स्वरांकन में ऋग्वेद संहिता से पूर्णतः समानता रखते हैं, परन्तु स्वरित के बाद उदात्त आने पर होने वाला 'कम्प' स्वर यहाँ नहीं प्राप्त होता हैं।

(४) अथर्ववेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति पूर्णतः ऋग्वेद सं० की स्वराङ्कन पद्धति जैसी ही है। केवल स्वतंत्र स्वरित को (√) चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जब इसके पश्चात् कोई अनुदात्त स्वर आता है। जैसे– दिवी √व चक्षुरातंतम्; हिरंण्यपाणिसु क्रतुंः कु पात् √स्व।

(५) सामवेदसंहिता की स्वराङ्कनपद्धति ऋग्वेदसंहिता की स्वरांकन पद्धति से पूर्णतः भिन्न है। इसमें स्वरों के ऊपर अङ्कों को निम्नलिखित रूप में दर्शाया गया है—

(i) उदात्त– इसे १ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य३जा१य२जा (जा१)।

(ii) अनुदात्त– इसे ३ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य३जा१य२जा (य३)।

(iii) स्वरित– इसे २ संख्या द्वारा प्रदर्शित करते हैं, जैसे– य[२]जा[१]य[२]जा (य[२])।

(iv) प्रचय– अचिह्नित, जैसे– (जा)।

ऊपर दिये गये सामान्य नियमों के कतिपय अपवाद नीचे दिये जा रहे हैं—

(i) जब उदात्त के ठीक बाद कोई अनुदात्त स्वर हो तो उदात्त को '२' से अंकित किया जाता है।

(ii) जब एक या अनेक उदात्त स्वर पादान्त में आते हैं, तब प्रथम उदात्त '२' से अंकित होता है, शेष अचिह्नित ही रहते हैं।

(iii) यदि किसी पद में लगातार दो उदात्त स्वर हो तथा उसके ठीक बाद में एक अनुदात्त स्वर हो तो प्रथम उदात्त को '२उ) से अङ्कित करते हैं तथा द्वितीय उदात्त को अचिह्नित ही छोड़ देते हैं, उदाहरणार्थ– त्वमित्सप्रथा में (त्वं)।

(iv) ज़ब एक उदात्त स्वर के बाद दूसरा उदात्त स्वर आता है तब प्रथम उदात्त को '१र) से प्रदर्शित करते हैं तथा द्वितीय को अनङ्कित छोड़ देते हैं तथा इसके बाद आने वाले स्वरित को '२र) से अङ्कित करते हैं। जैसे– मित्रं न शं॰ शिषम्।

(v) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त न हो, उसे '२र' से अङ्कित किया जाता है तथा स्वतन्त्रस्वरित के पूर्वस्थित अनुदात्त '३क' से अङ्कित होता है। जैसे– अभ्येति रैभन्।

(vi) जिस स्वतन्त्र स्वरित के बाद उदात्त स्वर आता है उसे '२' से अङ्कित करते हैं, तथा वह प्लुत रूप में उच्चरित होता है, जैसे– दूत्या [१२]चरन्।

(vii) जब किसी पद में दो उदात्त स्वरों के मध्य स्वतन्त्र स्वरित आता है तब उसे अनङ्कित ही छोड़ देते हैं। जैसे– विद्धी त्वा३स्य (त्वा३)।

(viii) जब दो या दो से अधिक अनुदात्त स्वर लगातार आवें तथा उनके बाद एक उदात्त स्वर आवे तो प्रथम अनुदात्त को '३' से अङ्कित करते हैं एवं शेष अनुदात्तों को अचिह्नित छोड़ देते हैं। ज[३]नि-ताग्ने ([३]जनिता)।

# परिशिष्ट-७

## पदपाठ के नियम

मन्त्रों के स्वाभाविक रूप को संहिता पाठ एवं प्रति-पद को पृथक् करके उनके (पदों के) मूलरूप के पाठ को पदपाठ कहते हैं। संहिता-पाठ में पदों की पारस्परिक सन्निकटता होने से उनमें सन्धिजन्य विकार भी आ जाते हैं। ये विकार वर्णगत एवं स्वरगत दो प्रकार के होते हैं। संहितापाठ से पदपाठ बनाते समय पदों को विकार-विहीन बनाकर उनके मूलरूप को मूलस्वरों से युक्त कर देते हैं तथा दो पदों के मध्य पूर्णविराम लगा देते हैं।

(१) सर्वप्रथम प्रत्येक पद को मूलरूप में रखकर सन्धिजन्य विकारों को समाप्त कर दिया जाता है।

(२) उपसर्ग को अवग्रह (ऽ) बीच में लगाकर पद से पृथक् कर दिया जाता है, परन्तु उपसर्ग और पद के मध्य पूर्णविराम नहीं लगाया जाता जैसे– 'सम्ऽभृतम्'।

(३) समस्तपदों को अवग्रह द्वारा पृथक् कर दिया जाता है। जैसे– सहस्रऽशीर्षा। हिरण्यऽअक्षः। उरुऽगायः।

(४) द्वन्द्वसमास एवं नञ्समास में अवग्रह नहीं लगता।

(५) प्रातिपदिक एवं 'भ्याम्','भिस्', 'भ्यस्', 'नाम्', तथा 'सु' विभक्ति के मध्य अवग्रह लगता है, जब प्रातिपदिक ह्रस्वस्वरान्त हो। जैसे– 'हरिऽभ्याम्', 'ऋषिऽभिः','ऋषिऽभ्यः'।

परन्तु उपर्युक्त नियम '५' के सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि ह्रस्वस्वरान्त प्रातिपदिक भी जब किसी प्रकार के विकार युक्त होकर ह्रस्वस्वरान्त न रह जाय तब अवग्रह नहीं लगता है। जैसे– भद्रेभिः, कर्णेभिः।

(६) किसी प्रातिपदिक से 'सुप्' सप्तमी बहुवचन विभक्ति लगने पर प्रातिपदिक एवं विभक्ति के मध्य अवग्रह लगता है, परन्तु प्रातिपदिक के बाद मूर्धन्य वर्ण रहने पर अवग्रह नहीं लगता।

(७) तरप् एवं तमप् प्रत्ययों से युक्त पदों में इन अव्ययों से पूर्व अवग्रह लगाया जाता है। जैसे– उत्ऽतरः, मातृऽतमाम् आदि।

(८) सर्वानुदात्त (जिस पद के सभी स्वर अनुदात्त हों,) उपसर्ग एवं उदात्तयुक्त क्रिया-रूप के मध्य अवग्रह लगाया जाता है। जैसे– अतिऽरोहति, परिऽपश्यन्।

(९) जब किसी स्थल पर दो उपसर्ग एक साथ ही क्रिया-रूप से युक्त हों तो प्रथम उपसर्ग को ही अवग्रह से पृथक् किया जाता है। जैसे– प्रतिऽआवर्तय, अनुऽआलेभिरे।

(१०) प्रगृह्य स्वरों के बाद 'इति' जोड़ा जाता है। जैसे– प्र प्रर्वतानामुशती (सं०पा०) = प्र। पर्वतानाम्। उशती इति (प०पा०)।

(११) संहिता में आये हुए 'उ' (निपात) को पदपाठ में पृथक् करके तथा उसे दीर्घ करके अनुनासिक कर दिया जाता है, उसके बाद भी इति लगाया जाता है। जैसे– समु श्रि ा (सं०पा०) = सम्ऽऊँ इति। श्रिया (प०पा०)।

(१२) रिफित विसर्जनीय के बाद 'इति' लगाया जाता है। इसका प्रधान कारण रिफित विसर्जनीय के मूलस्वरूप को स्पष्ट करना है किन्तु ऐसा तभी किया जाता है, जब संहिता में 'रिफितविसर्जनीय' विसर्जनीय के रूप में ही रहता है। जैसे– ये ते पन्थाः सवितः (सं०पा०) = ये। ते। पन्थाः। सवितरिति (प०पा०)।

**विशेष**— रिफितविसर्जनीय वह विसर्जनीय है जो, परवर्ती पदस्थ वर्ण के साथ सन्धि होने पर रेफ में परिवर्तित हो जाता है।

(१३) किसी समस्तपद का अन्तिम स्वर प्रगृह्यसंज्ञक होने पर 'इति' से युक्त हो जाता है, तथा वह पद दुहरा दिया जाता है। जैसे– इन्द्रेषिते (सं०पा०) = इन्द्रेषित इतीन्द्रऽइषिते (प०पा०)। अवग्रह के साथ की गयी द्विरुक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि यह पद समस्तपद है एवं प्रगृह्यस्वरान्त भी है।

(१४) 'स्वः' पद के बाद इति लगाकर उसकी द्विरुक्ति कर दी जाती है। 'स्वः' के बाद इति लगने पर 'स्वः' का स्वतन्त्र त्वरित कम्प में परिवर्तित हो जाता है। जैसे– येन स्वः स्तभितं येन नाकः (सं०पा०) = येन १ स्व १ रिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः (प०पा०)। यहाँ भी स्वः का विसर्ग रिफित है।

(१५) यजुर्वेदसंहिता के पदपाठ में प्रत्येक समस्तपद के बाद 'इति' को जोड़ दिया जाता है तथा प्रथम पद को दोहराकर द्वितीय पद को प्रथम से पृथक् करके प्रदर्शित किया जाता है। जैसे– 'आ ब्रह्मन्। ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (सं०पा०) = आ। ब्रह्मन् ब्राह्मणः। ब्रह्मवर्चसीतिब्रह्म। वर्चसी। जायताम् (प०पा०)।

(१६) संहिता में ऐसा समस्त-पद जिसका अन्तिम स्वर प्रगृह्य-संज्ञक हो 'इति' लगाकर दुहरा दिया जाता है तथा दूसरे पद में अवग्रह का प्रयोग किया जाता है। जैसे– वज्रबाहो इति वज्रऽबाहो।

(१७) जहाँ पर पदों के स्वरूप में किसी भी प्रकार का सन्देह हो वहाँ उस पद से बाद इति लगाकर उसें दुहरा देते हैं। जैसे– मर्यायिव कन्या शश्वचै ते (सं०पा०) = मर्यायऽइव। कन्या। शश्वचै। त इति ते (प०पा०)।

(१८) सम्बोधन में पदान्त ओकार प्रगृह्यसंज्ञक होता है। इस प्रकार के ओकार को समस्तपद के अन्त में आने पर उसके बाद इति लगाकर उस पद को दोहरा दिया जाता है तथा दूसरे पद में अवग्रह लगाकर समस्तपद को प्रदर्शित कर दिया जाता है। जैसे– वज्रबाहो इति वज्रऽबाहो।

(१९) रिफित विसर्जनीय के बाद इति लगाया जाता है। यदि ऐसा पद संहिता में स्वरित स्वर से युक्त होता है तो उसे द्विरुक्त भी कर दिया जाता है। जैसे– मा नो नि कः (सं०पा०) = मा। नः। नि। करिति कः (प०पा०)।

# परिशिष्ट-८

## वैदिक छन्द

वेदों में भी छन्दोबद्धता पायी जाती हैं। वैदिक छन्द प्राय: वर्णिक या आक्षरिक ही होते हैं, जिनमें पादों के अनुसार अक्षरों की संख्या निश्चित होती है। वेदों में दो पादों वाले छन्दों से लेकर आठ पादों वाले छन्द उपलब्ध होते हैं। वैदिक छन्दों के पाद आठ अक्षरों से तेरह अक्षरों तक के प्राप्त होते हैं। कतिपय मन्त्र पादबद्धता से रहित भी हैं, जिन्हें गद्यमय मन्त्र कहा गया है। यजुर्वेदसंहिता के कुछ मन्त्र गद्यमय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों आरण्यक-ग्रन्थों तथा उपनिषद् ग्रन्थों में भी गद्यमय मन्त्र प्राप्त होते हैं। कतिपय प्रमुख छन्दों की पादगत अक्षर-संख्या अग्रलिखित है—

| छन्दनाम | पादगत अक्षरसंख्या | कुल अक्षरसंख्या |
|---|---|---|
| (१) द्विपदा गायत्री | ८+८ | १६ |
| (२) त्रिपदा गायत्री | ८+८+८ | २४ |
| (३) अनुष्टुभ् | ८+८+८+८ | ३२ |
| (४) विराट् स्थाना | १०+१०+१०+१० | ४० |
| (५) त्रिष्टुभ् | ११+११+११+११ | ४४ |
| (६) जगती | १२+१२+१२+१२ | ४८ |
| (७) पञ्चपदा जगती | १२+१२+१२+१२+१२ | ६० |
| (८) शक्वरी | ११+११+११+११+११ | ५५ |
| (९) पङ्क्ति | ८+८+८+८+८ | ४० |
| (१०) महापङ्क्ति | ८+८+८+८+८+८ | ४८ |
| | ८+८+८+८+८+८+८ | ५६ |
| (११) आस्तार पङ्क्ति | ८+८+१७+१२ | ४५ |
| (१२) उष्णिह | ८+८+१२ | २८ |
| (१३) स्कन्धोग्रीवी | ८+१२+८+८ | ३६ |
| (१४) सतोबृहती | १२+८+१२+८ | ४० |
| (१५) महाबृहती | ८+८+१२+८+८ | ४४ |
| (१६) बृहती | ८+८+१२+८ | ३६ |
| (१७) प्रेस्तार पङ्क्ति | १२+१२+८+८ | ४० |

| | | | |
|---|---|---|---|
| (१८) | विस्तार पङ्क्ति | ८+१२+१२+८ | ४० |
| (१९) | धृति | १२+१२+८+१२+८+१२+८ | ७२ |
| (२०) | अतिधृति | १७+१७+८+८+८ १२+८+८ | ८६ |

ऋग्वेद में त्रिष्टुप छन्द विपुल मात्रा में प्राप्त होते हैं। आचार्यों के अनुसार वेदमन्त्रों का पाठ करते समय छन्दोगत न्यूनता असह्य है, अतः छन्दोगत न्यूनता दूर करने के लिए भी ऋग्वेदप्रतिशाख्य में अनेक उपाय बतलाये गए हैं। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य ८.४० के अनुसार– 'व्यूहैः सपत्संमीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम्' अर्थात् छन्द के किसी पाद में निश्चित वर्ण का अभाव होने पर क्षैप्र तथा एकीभाव संधि (यण्, दीर्घ, गुण, बृद्धि आदि) में स्थित अक्षरों को पृथक् कर देना चाहिए। इसी प्रकार ऋ०प्रा० १७.२२-२३ के अनुसार– व्यूहेदेकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु सम्पदे। क्षैप्रवर्णाश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः स्वरैः।) अर्थात् जहाँ पर क्षैप्रवर्ण (य् व् र् ल्) की उत्पत्ति हुई हो वहाँ उसी क्षैप्रवर्ण के समान-स्थान वाले स्वर को अतिरिक्त वर्ण-के रूप में जोड़कर पाठ करना चाहिए। इस प्रकार 'य्' के पूर्व इ जोड़कर, 'व्' के पूर्व 'उ' जोड़कर 'र्' के पूर्व ऋ जोड़कर तथ 'ल्' के पूर्व ऌ जोड़कर मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। जैसे वरेण्यम्– वरेणियम्, वीर्याणि– वीरियाणि, (य तथा व को 'इय' तथा 'उव' पढ़ना चाहिए)।

अस्तीत्येनम्– अस्तीति एनम्, वृत्वात्यतिष्ठत्– वृत्वा अत्येतिष्ठत्, महित्वैक– महित्वा एक इत्यादि। यों तो ऋ०प्रा० में छन्दोंगत न्यूनताओं को दूर करने के लिए विविध उपायों को बतलाया गया है परन्तु विस्तारभय से कतिपय प्रमुख उपायों का ही उल्लेख किया जा रहा है—

(क) 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप सन्धि को प्राप्त 'अ' को अवग्रह हटाकर 'अ' के रूप में पढ़ना चाहिए, जैसे विष्णोऽव– विष्णोअव।

(ख) षष्ठी बहुवचन 'आम्' को 'अअम्' पढ़ना चाहिए।

(ग) 'नः' आगे रहने पर त्रिष्टुप् एवं जगती छन्दों में पूर्ववर्ण को दीर्घ पढ़ना चाहिए– जैसे– स्वस्ति नः' इन्द्रोः– 'स्वस्ती नः।

(घ) उपर्युक्त स्थितियों के प्राप्त न होने पर त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दों में आठवें अथवा दशवें तथा अनुष्टुप् छन्द में छठें अक्षर को दीर्घ करके पढ़ना चाहिए। वेदों में अनेक मन्त्र इस प्रकार के प्राप्त होते हैं, जिनमें या तो एक अक्षर कम होता है अथवा एक अक्षर अधिक होता है। कम अक्षर वाले मन्त्रों को 'निचृति' तथा अधिक अक्षर वाले मन्त्रों को 'भुरिक्' कहते हैं।

**तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्** । (कृष्णयजुर्वेदीय) त्रिभाष्यरत्नभाष्ययुतम् 'वन्दिता' हिन्दी व्याख्या च विभूषितम्। व्याख्याकार–पं. सुधीर कुमार पाठक
P. B. 350.00 H. B. (चौ. सं. सी. 130) 475.00

**तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम्** । (कृष्णयजुर्वेदीय)। महिषेयकृत 'पदक्रमसदन' भाष्यसंवलितं 'रिङ्खण' हिन्दी व्याख्योपेतम्। सम्पा. डॉ. जमुना पाठक हिन्दी व्याख्याकारः पं. सुशील कुमार पाठक (चौ. सं. सी. 126) 325.00

**न्यू वैदिक सेलेक्शन** (नवीन वैदिकसञ्चयनम्) सान्वय, पदपाठ, सायणभाष्य, हिन्दी अनुवाद सविमर्श व्याकरणात्मक टिप्पणी सहित । डॉ. जमुनापाठक एवं डॉ. उमेश प्रसाद सिंह (कृ. सं. सी. 197)
प्रथम भाग 150.00 द्वितीय भाग 250.00 सम्पूर्ण 1-2 भाग 400.00

**पंचसूक्तम्** । (पुरुषसूक्तम्, नारायणसूक्तम्, श्रीसूक्तम्, लक्ष्मीसूक्तम्, विष्णुसूक्तम्) । 'सिद्धांतदीपिका' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार— स्वामी रामनारायणदास शास्त्री (ह. सं. सी. 290) 25.00

**पुरुषसूक्तम्** । उत्तरनारायणसूक्त-सहितम् । 'सिद्धांतदीपिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—वैष्णव स्वामी नारायणदास शास्त्री
(कि. ग्र. 24) यन्त्रस्थ

**ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि विचार।** डॉ. नित्यानन्द शुक्ल (कृ. रा. ग्र. 1) 150.00

**रुद्रस्वाहाकारपद्धतिः** । पण्डित गोपालचन्द्र मिश्र (ह. सं. सी. 168) 5.00

**वाराहगृह्यसूत्रम्** । कृष्णयजुर्वेदस्य मैत्रायणीशाखायाः गृह्यकर्मप्रतिपादकम्। हिन्दी अनुवाद सहित। अनुवादक ठाकुर उदयनारायण सिंह
(कृ. प्रा. ग्र. 27) 50.00

**शतपथब्राह्मण** । (शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनीयां शाखामनुसृत्य) सायणाचार्य हरिस्वामिद्विवेदगङ्गकृतभाष्येभ्यः सारमुद्धृत्य डॉ. अल्बेर्तेन वेबरेण शोधितम्
(चौ. सं. सी. 96) 1500.00

**श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीबृहत् मंत्र संहिता** । (पुरुषसूक्त-श्रीसूक्तसहिता मंत्र संख्या 543) संकलनकर्ता श्री उमाशंकर शर्मा सम्पा. डॉ. शिवप्रसाद शर्मा पत्राकार 40.00 (कृ. प्रा. ग्र. 13) सजिल्द 50.00

**शुक्लयजुर्वेदीय-रुद्राष्टाध्यायी** । (गुटका)। सम्पादक—पण्डित श्री जगन्नाथ शास्त्री (वि. वि. ग्र. 14) 10.00

**शुक्लयजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी।** (सर्वाङ्गपूर्ण) विशेष संस्करण सम्पा. एवं व्या. डॉ शिवप्रसाद शर्मा (ह.सं.सी. 353) 50.00

—0—

# रसार्णवसुधाकरः

रसार्णवसुधाकर शिङ्गभूपालकृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रायः कारिका रूप में उपनिबद्ध रञ्जक, रसिक और भावक अभिधान वाले तीन विलासों में विभक्त है। विषयवस्तु की स्पष्टता के लिए इसमें थोड़ी बहुत गद्य विधा का भी प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ में संस्कृतनाट्यों से सम्बन्धित नाट्यकला विषयक सम्पूर्ण तथ्यों का परिनिष्ठता और क्रमबद्ध साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है। प्राचीन आचार्यों ने नाट्यविषयक तीन पक्षों—रचनात्मकता, रसात्मकता और प्रायोगिता का प्रतिपादन किया है। रसार्णवसुधाकर में रचनात्मक स्वरूप के अन्तर्गत नाट्य के दश भेदों का स्वरूप, कथावस्तु तथा उसके भेद-प्रभेदों, सन्धियों, सन्ध्यङ्गों, अर्थप्रकृतियों, छत्तीस भूषणों, इक्कीस सन्ध्यन्तरों का विस्तृत तथा शास्त्रीय निरूपण किया गया है। प्रतिपादित लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थकार ने प्रचुर उदाहरणों को प्रस्तुत किया है जब कि अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थकर्त्ता एक-दो उदाहरण देकर ही संतुष्ट हो गये हैं।

इसके उदाहरण संस्कृत साहित्य के विशाल क्षेत्र से लिये [illegible] हैं। इसमें [illegible]तिपय उदाहरण ग्रन्थकार द्वारा रचित हैं। जिसमें कुछ कुवलयावली और कन्दर्पसम्भ[illegible] उदधृत [illegible] [illegible]था कुछ मुक्तक हैं। रसार्णवसुधाकर में यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों परम्परा का नि[illegible] [illegible]या गया [illegible] फिर भी उसमें समुचित परिवर्तन, परिवर्द्धन और मौलिकता सन्निवेश है।

नाट्यकला की परिकल्पना आचार्यों द्वारा रसोद्बोधन के लि[illegible] [illegible] गयी थी। [illegible] प्रकार रस ही नाट्य का जीवनदायक तत्त्व है। वस्तुतः नाट्य का परमलक्ष्य दर्शकों [illegible] पाठकों [illegible] [illegible]नुरञ्जित करना है। 'विभावानुभावव्यभिचारियोगाद्रसनिष्पत्ति' के अनुसार विभाव[illegible] [illegible]भाव और [illegible]भिचारियों के योग से रस की निष्पत्ति होती है। रसार्णवसुधाकर में विभाव, अनु[illegible] [illegible]र व्यभिचा[illegible]भाव—इन तीन रस के अभिधायक तत्त्वों का विस्तृत और परस्परविरोधी मान्यताओं में औचित्यपूर्ण मान्यता को निःसङ्कोच स्वीकार किया गया है और असङ्गत मतों की समालोचना करते हुए अस्वीकार कर दिया गया है।

रसार्णवसुधाकर में नाट्यकला के रचनात्मक और रसात्मक पक्ष का जितना विस्तृत विवेचन हुआ है उतना प्रायोगिक पक्ष का नहीं, क्योंकि इसमें प्रायोगिक पक्ष—अभिनय, संवाद, वेशभूषा, रङ्गमञ्च-सज्जा इत्यादि का यत्रतत्र नगण्य सङ्केत मात्र प्राप्त होता है। फिर भी शिङ्गभूपाल द्वारा किया गया नाट्यकला का सन्तुलित, विस्तृत, तात्त्विक और स्पष्ट निरूपण अपने आप में महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ से शिङ्गभूपाल की क्रमबद्ध सूक्ष्म विवेचन करने की अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। समालोचनात्मक स्थलों पर पद्य और गद्य दोनों विधाओं का प्रयोग करके पतिपाद्य विषय को स्पष्ट बना दिया गया है। यह ग्रन्थ परवर्ती नाट्यशास्त्रकारों और नाट्यकारों के लिए प्रेरणादायक है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ की अद्यावधि हिन्दी नहीं हो सकी थी जिससे हिन्दी भाषा के माध्यम से संस्कृत के अध्येताओं को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसी अभाव की पूर्ति हेतु यह हिन्दी संस्करण तैयार किया गया है। इससे यदि अध्येताओं का थोड़ा भी लाभ हुआ तो मैं परिश्रम को सार्थक समझूँगा। डॉ. जमुना पाठक

सम्पूर्ण ३००-००

*Also can be had from*
**Chowkhamba Sanskrit Series Office**
Post Box 1008, Varanasi-221 001 (U.P) India

ISBN : 81-218-0182-6 (Second Vol.), 81-218-0183-4 (Set)

designed by Shreyashi GRAPHICS, mo. 9839314784